प्राकृतिक चिकित्सा

सिद्धान्त एवं व्यवहार

डॉ. पी.डी. मिश्रा
डॉ. (श्रीमती) बीना मिश्रा



वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

प्राकृतिक चिकित्सा

सिद्धान्त एवं व्यवहार

प्राकृतिक चिकित्सा

सिद्धान्त एवं व्यवहार

लेखक

डॉ. प्रयाग दीन मिश्र

पूर्व प्रोफेसर, समाज कार्य विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. वीना मिश्र

अधीक्षिका, प्राकृतिक चिकित्सालय एवं योग केन्द्र

समाज कार्य विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

मानव संसाधन विकास मंत्रालय

(माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

प्रकाशकीय

मानव में उसकी शरीर का नियंत्रण प्रकृति से होता है परन्तु उसका केन्द्र, जो आत्मा में है, वह सर्व नियन्त्रक है अतः सन्तों और भक्तों का विश्वास है कि परमात्मा की प्रार्थना से शरीर के समस्त रोग ही नहीं, विश्व के समस्त दोषों का परिहार हो सकता है। इस युग में महात्मा गांधी जी ने भी प्रार्थना की शक्ति पर प्रकाश डाला है। अतः भगवत्प्रार्थना से रोगों के उपचार की बात भी इस ग्रन्थ में की गयी है। जहाँ तक प्राकृतिक नियमों को पहचानने का प्रश्न है तो पहली बात तो यह है कि इसकी सूक्ष्म जानकारी और अनुपालन से मनुष्य कभी रुग्ण ही नहीं होगा।

'प्राकृतिक चिकित्सा : सिद्धांत और व्यवहार' पुस्तक इस अत्यन्त लोकप्रिय चिकित्सा प्रणाली का सारगर्भित और व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत करती है। इसके लेखक द्वय - डॉ. पी.डी. मिश्र एवं डॉ. बीना मिश्र का इस विषय पर भरपूर अधिकार है और उन्होंने पुस्तक के 25 अध्यायों में जिस तरह अत्यन्त व्यवस्थित रूप में पंच तत्वों, योग और उपवास आदि की उपादेयता को शब्द दिये हैं, उसकी जितनी भी सराहना की जाय, कम होगी। पुस्तक के प्रारम्भ में प्राकृतिक चिकित्सा के विकासक्रम, अर्थ, विषय, क्षेत्र, उद्‌देश्य तथा सम्बन्धित सिद्धान्तों आदि को अत्यन्त सरल ढंग से समझाया गया है, तदुपरान्त विभिन्न रोगों से सम्बन्धित प्राकृतिक चिकित्सा विधियों पर प्रकाश डाला गया है।

हिन्दी ग्रन्थ प्रभाग के अन्तर्गत इस सारगर्भित और उपयोगी पुस्तक के चतुर्थ संस्करण का प्रकाशन करते हुए उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान प्रमुदित है। आशा है, प्राकृतिक चिकित्सा के छात्रों के साथ-साथ जिज्ञासु पाठक भी इसे अपनायेंगे और लाभान्वित होंगे।

डॉ. सुधाकर अदीब
निदेशक

प्रकाशक
डॉ. सुधाकर अदीब
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
लखनऊ

ग्रंथमाला संख्या - 301

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय (माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

ISBN - 978-93-82175-59-9

प्रथम संस्करण - 1998
द्वितीय संस्करण - 2009
तृतीय संस्करण - 2012
चतुर्थ संस्करण - 2015

प्रतियाँ - 500

मूल्य : रु० 180=00

मुद्रक
रोहिताश्व प्रिण्टर्स
ऐशबाग रोड, लखनऊ
दूरभाष : 0522-2692973

प्राक्कथन

स्वास्थ्य और सुख की लालसा मानव में स्वाभाविक है, परन्तु आधुनिक जीवन की आपाधापी तथा खानपान, आहार-विहार एवं विश्राम आदि आवश्यक क्रियाओं में प्रकृति के साधारणतम नियमों का निरन्तर दीर्घकालीन उल्लंघन करने से शरीर रोगी हो जाता है। प्रकृति के नियमों की अवहेलना से जीवनीशक्ति का ह्रास होता है, रक्त और लसीका की असाधारण बनावट हो जाती है तथा विजातीय द्रव्य एवं विष शरीर में एकत्रित हो जाते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा की सभी विधियाँ शरीर से दूषित पदार्थ निकालती हैं तथा जीवनी शक्ति को सबल बनाती हैं। प्राकृतिक नियमों का फिर से पालन शुरू करने पर रोगी शीघ्र ही निश्चित रूप से रोगमुक्त हो जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा समग्र स्वास्थ्य उपागम पर आधारित है जिसमें शरीर-मन-आत्मा तीनों को संवर्द्धित किया जाता है। मिट्टी, पानी, धूप, हवा और आकाश इन पाँच तत्त्वों के सामान्य योग से शरीर पुष्ट होता है परन्तु जाने या अनजाने किसी कारण जब यह संतुलन बिगड़ जाता है तो शरीर रुग्ण हो जाता है। इन तत्त्वों को पुनः सम करके शरीर को पुनः निरोगी बनाया जा सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में प्राकृतिक चिकित्सा के सभी पहलुओं को वर्णित करने का प्रयास किया गया है। लेखक ने सर्वप्रथम प्राकृतिक चिकित्सा के विकास, अर्थ, विषय क्षेत्र, उद्देश्य, दर्शन, निपुणताओं तथा सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है। तदुपरान्त स्वास्थ्य एवं रोग के प्रत्यय को वर्णित किया गया है। साथ ही साथ निदान के विविध ढंगों का उल्लेख किया गया है। प्राकृतिक चिकित्सा की विभिन्न विधियों जैसे जल चिकित्सा, मृदा चिकित्सा, वायुतत्त्व चिकित्सा, सूर्यकिरण चिकित्सा, उपवास चिकित्सा, चुम्बक चिकित्सा, मालिश चिकित्सा, आहार चिकित्सा, जड़ी बूटी चिकित्सा, मंत्र चिकित्सा, यज्ञोपचार व्यायाम चिकित्सा, विश्राम चिकित्सा तथा योग चिकित्सा पर प्रकाश डाला गया है।

आधुनिक जीवन में प्राकृतिक चिकित्सा का इतना महत्त्व होने पर भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि अभी तक इस क्षेत्र में हिन्दी भाषा में कोई भी पुस्तक उपलब्ध नहीं है जो सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों पर समानरूप से प्रकाश डालती हो। यह पुस्तक इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर लिखी गयी है जिससे प्राकृतिक चिकित्सा के विद्यार्थियों एवं जिज्ञासुओं को हिन्दी में तथ्य संकलन के लिए इधर-उधर भटकना न पड़े तथा सुचारु रूप से अध्ययन कर सकें। आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक प्राकृतिक चिकित्सा के विद्यार्थियों, अध्यापकों जिज्ञासुओं, रोगियों तथा जन सामान्य सभी के लिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध होगी।

निवेदन

मानव प्रकृति का सर्वोत्तम वरदान है। प्रकृति के साथ ही चेतना भी उसमें सर्वोपरि है। यदि मानव शरीर में प्राकृतिक तत्वों का, साथ ही अपने परिवेश के साथ संतुलन बना रहे तो वह कभी रोगग्रस्त नहीं होगा। यदि इस संतुलन में कहीं बाध ा आती है तो भी प्रकृति में ऐसी विशेषता है कि वह स्वयं अपने प्राकृतिक क्रम में रोगों का उपचार कर देता है। पशु-पक्षियों को प्रकृति के इन रहस्यों का सहज ज्ञान प्राप्त होता है और वे उन उपायों से स्वयं को स्वस्थ कर लेते हैं। जर्मनी में प्राकृतिक चिकित्सा के प्रणेता प्रेसनीज़ ने एक लँगड़ाती हुई हिरनी को प्रतिदिन जल में खड़े देखा, जब तक वह पूरी तरह ठीक नहीं हो गयी।

आज की सभ्यता ने हमसे हमारा प्राकृतिक जीवन ही छीन लिया है। हमारी व्यस्तता ने हमारा समय हम से चुरा लिया है। हमारे सामाजिक सम्बन्धों और व्यवसाय-व्यवहार में इतनी जटिलताएँ आ गयी हैं कि हम प्राकृतिक चिकित्सा को पशु-चिकित्सा मानकर उसे हेय कोटि में डाल बैठे हैं। अतिव्यस्त जीवन में सब कुछ तैयार माल के रूप में प्राप्त हो, इसी शृंखला में उलझे हुए रोगों के लिए विदेशी दवाओं पर आश्रित रहकर तात्कालिक लाभ के हम अभ्यासी हो गये हैं परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि ये औषधियाँ, जो हमें तत्काल वरदान जैसी प्रतीत होती हैं, अपनी प्रतिक्रियाओं से हमारे शरीर-तंत्र को क्षत-विक्षत कर देती हैं। ऐसी स्थिति में 'प्राकृतिक चिकित्सा' जैसे सहज, और स्वस्थ साधनों से प्राप्त होने वाले अमृतोपचार से हम वंचित रह जाते हैं। क्या हम अपने स्वस्थ जीवन के लिए बोझ समय भी नहीं निकाल सकते? यदि हम ऐसा कर सकें तो जीवन को वरदानों से भर सकते हैं। आखिर, हम और आप महात्मा गांधी से अधिक तो व्यस्त नहीं हैं, हाँ, जीवन का एक क्रम तो बनाना ही होगा। यदि ऐसा नहीं हो सकेगा तो और रोग तो उठ खड़े होंगे ही मानसिक तनाव जैसा अनेक रोगों का आधार, हमें न जाने कहाँ ले जाकर पटकेगा।

यदि हम जीवन में 'विश्राम' चाहते हैं, तो प्राकृतिक चिकित्सा के सहज शास्त्र को मित्रभाव से हृदयंगम करें और इसकी विशेषताओं से अवगत होकर व्यवहार में लायें। डॉ. प्रयाग दीन मिश्र एवं वीना मिश्र का ज्ञानवर्द्धक और रोचक यह ग्रन्थ हम सबके लिए अतीव उपयोगी है। अनेक विश्वविद्यालयों में भी 'प्राकृतिक चिकित्सा' का यह विषय पाठ्यक्रम का अंग है। उस दृष्टि से भी यह ग्रन्थ संपूर्णतया उपादेय है। इस महत्वपूर्ण पुस्तक के चौथे संस्करण का स्वागत होगा ऐसा हमारा विश्वास है।

उदय प्रताप सिंह
कार्यकारी अध्यक्ष

द्वितीय संस्करण का प्राक्कथन

प्राकृतिक चिकित्सा जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके ही माध्यम से शारीरिक विकास होता है तथा हमारा जीवन सुखमय रहता है। वैसे तो अनेक प्रकार की बीमारियाँ होती है जिनका अनेक प्रकार से उपचार किया जाता है। लेकिन कुछ बीमारियाँ ऐसी होती हैं जिनके लिये प्राकृतिक चिकित्सा की आवश्यकता होती है। इसके बिना उसका जीवन संकट में पड़ सकता है। इस पुस्तक में इन्हीं सिद्धान्तों का विस्तार से वर्णन किया गया है तथा अनेक प्रकार के रोगों के उपचार की अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। साथ ही साथ इनका उपचार किस विधि से हो इसका भी वर्णन किया गया है।

इस पुस्तक के लिखने में हमारे पुत्र स्क्वॉड्रेन लीडर, प्रकृति प्रकाश मिश्र, हमारी बहूँ, अमिता मिश्रा, डॉ. पियूष मिश्र तथा पौत्री परी मिश्रा ने सहयोग किया है। इसके अतिरिक्त हमारी पत्नी डॉ. वीना मिश्रा ने अनेक प्रकार से सहयोग प्रदान किया है। अतः हम इन सभी का आभार व्यक्त प्रयत्न करते हैं।

– प्रोफेसर पी.डी. मिश्र

इस पुस्तक के लेखन में सबसे अधिक प्रेरणा एवं बल प्रो0 सुरेन्द्र सिंह, निदेशक, प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान तथा योग एवं अध्यक्ष, समाजकार्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय से प्राप्त हुआ। हम प्रो0 सिंह के अत्यन्त ऋणी हैं तथा इस ऋण को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है। डॉ0 ए0 एन0 सिंह, डॉ0 ए0 के0 खेर, डॉ0 ए0 जे0 यादव, डॉ0 एस0 एन0 पाण्डे, डॉ0 यू0 स0 पाण्डेय, श्री अनिल कुमार सिंह तथा श्री सत्येन्द्र कुमार मिश्र ने समय-समय पर सामग्री प्रस्तुत करायी तथा सुझाव दिये जो इसके लेखन में मील का पत्थर सिद्ध हुए, हम इन सभी महानुभावों का हृदय से आभार व्यक्त करते हैं। हम अपने दोनों पुत्रों प्रगति तथा पियूष के भी कृतज्ञ हैं जिनके असीम सहयोग के कारण ही लेखन कार्य सम्भव हो सका है। हमारे प्राकृतिक चिकित्सा के विद्यार्थियों ने प्रोत्साहन की भूमिका निभायी, अतः हम उनके आभारी हैं।

प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान एवं योग इकाई
समाजकार्य विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

पी0डी0 मिश्र
वीना मिश्र

1-12-97

विषय-सूची

अध्याय 1 – प्राकृतिक चिकित्सा – अर्थ एवं प्रणालियाँ 1—16

(1) प्राकृतिक चिकित्सा की परिभाषा (2) नेचर क्योर का विस्तृत अर्थ (3) प्राकृतिक चिकित्सा की आधारभूत विशेषतायें (4) प्राकृतिक चिकित्सा का उद्देश्य (5) प्राकृतिक जीवन पद्धति (6) प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्त (7) प्राकृतिक चिकित्सा का दर्शन (8) प्राकृतिक चिकित्सा की मूल मान्यतायें (9) प्राकृतिक चिकित्सा के कार्य (10) प्राकृतिक चिकित्सा का क्षेत्र (11) प्राकृतिक चिकित्सा में ज्ञान का क्षेत्र (12) प्राकृतिक चिकित्सा में निपुणतायें (13) प्राकृतिक चिकित्सा में चिकित्सा पद्धतियाँ

अध्याय 2 – प्राकृतिक चिकित्सा का इतिहास 17—36

(1) मिश्र, चीन, रोम, अरब, ग्रीस आदि में प्राकृतिक चिकित्सा (2) इंग्लैण्ड में प्राकृतिक चिकित्सा (3) अमेरिका में प्राकृतिक चिकित्सा (4) जर्मनी में प्राकृतिक चिकित्सा (5) भारत में प्राकृतिक चिकित्सा का इतिहास (6) महात्मा गांधी – प्राकृतिक चिकित्सा के जनक (7) महत्त्वपूर्ण योगदान (8) प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान का भारत में शिक्षण एवं प्राशिक्षण (9) लखनऊ विश्वविद्यालय में प्राकृतिक चिकित्सा का शिक्षण तथा प्रशिक्षण (10) भारत सरकार के स्तर पर प्राकृतिक चिकित्सा के प्रचार एवं प्रसार के कार्य (11) केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद् की संरचना एवं कार्य (12) राष्ट्रीय प्राकृतिक चिकित्सा संस्थान (13) पूना की संरचना तथा कार्य (14) भारत में प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र में बाधायें (15) प्राकृतिक चिकित्सा के विकास में बाधायें

अध्याय 3 – प्राकृतिक चिकित्सा का क्षेत्र 37—45

(1) प्रकृति के गुण (2) प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र – (1) स्वास्थ्यवर्द्धन (क) वैयक्तिक स्वास्थ्यवर्द्धन (ख) सामुदायिक स्वास्थ्यवर्द्धन (3) सामान्य रोगों का उपचार (4) जटिल रोगों का उपचार (5) संक्रामक रोगों तथा सम्प्रेषित रोगों का उपचार (6) प्राथमिक उपचार व प्राकृतिक चिकित्सा (7) मानसिक रोगों का उपचार

अध्याय 4 – प्राकृतिक चिकित्सा का उद्देश्य 46–51

(1) स्वस्थपूर्ण जीवन पद्धति के प्रति चेतना जाग्रत करना (2) आहार चिकित्सा को जीवन की शैली के रूप में प्रचारित करना (3) स्वस्थ आदतों का निर्माण एवं जीवन के प्रति सकारात्मक मनोवृत्ति (4) रोगों की रोकथाम (5) उपचार (6) पुनर्स्थापन

अध्याय 5 – प्राकृतिक चिकित्सा का महत्त्व 52–61

(1) प्रसन्नता का आधार (2) प्राणशक्ति का बलवर्द्धन (3) लाभकारी जीवन शैली का विकास (4) सम्पूर्ण शरीर का शुद्धीकरण (5) क्रमबद्ध जीवन का विकास (6) मन तथा शरीर दोनों की चिकित्सा (6) मन तथा शरीर दोनों की चिकित्सा (7) सूक्ष्म अवयवों का सुसंचालन (8) कोषाणुओं की धीमी गति से क्षति (9) कुप्रभावहीन पद्धति (10) सरल चिकित्सा पद्धति (11) कम खर्चीली

अध्याय 6 – प्राकृतिक चिकित्सा दर्शन 62–76

(1) पंचतत्त्वों में समन्वय (2) सार्थक चिकित्सा हेतु सकारात्मक चिन्तन (3) सुनियोजित जीवनक्रम (4) श्वांस-प्रश्वांस का क्रम (5) स्वास्थ्य का एक महत्त्वपूर्ण आधार संयम (6) शरीर माध्यम खलु धर्म साधनम् (7) प्रकृति का निष्पक्ष न्यायाधीश के रूप में (8) पराप्रकृति का अस्तित्व (9) पंचकोश (10) यांत्रिकी और मांत्रिकी का सुव्यवस्थित सुनियोजन (11) शरीर सूक्ष्म ध्वनि प्रवाह का ज्ञान (12) निर्भयजीवन श्रेष्ठ जीवन (13) शरीर का केवल उचित महत्त्व (14) निरोगता के पंचशील (15) स्वस्थ जीवन एवं अध्यात्म का अभिन्न सम्बन्ध (16) नाड़ी गुच्छकों का अस्तित्व

अध्याय 7 – प्राकृतिक चिकित्सा में निपुणतायें 77–86

(1) निपुणता का अर्थ (2) निपुणताओं के प्रकार – (1) साक्षात्कार करने की निपुणता (2) रोगी से अर्थपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की निपुणता (3) रोगी की उपचार हेतु स्वीकृति एवं विश्वास प्राप्त करने की निपुणता (4) रोगी की परिस्थिति से सम्बन्धित आँकड़े प्राप्त करने की निपुणता (5) निदान करने की निपुणता (6) चिकित्सकीय योजना *निर्माण की निपुणता (7) रोगी को प्राकृतिक जीवन शैली अपनाने के* लिए प्रेरित करने की निपुणता (8) रोगी का शंकाओं को समाधान करने

की निपुणता (9) योग का समुचित ज्ञान तथा योगासनों के उपयोग की निपुणता (10) रोगी को नकारात्मक भावनायें स्पष्ट कराने तथा उन्हें सकारात्मक रूप देने की निपुणता (11) अपनी भावनाओं को नियंत्रित करने की निपुणता (12) मनोवैज्ञानिक आलम्बन प्रदान करने की निपुणता (13) संदर्भित करने की निपुणता (14) मूल्यांकन की निपुणता

अध्याय 8 – प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्त 87—100

(1) विजातीय द्रव्य सिद्धान्त (2) रोग द्वारा मानव शरीर के कल्याण का सिद्धान्त (3) पंचमहाभूतों का सिद्धान्त (4) प्राणशक्ति का सिद्धान्त (5) एक ही कारक विकार का सिद्धान्त (6) एक उपचार का सिद्धान्त (7) मनोदैहिक परस्पर निर्भरता का सिद्धान्त (8) रोगी के वैयक्तीकरण का सिद्धान्त (9) भावनाओं के उद्‌देश्यपूर्ण प्रगटन का सिद्धान्त (10) स्वीकृति का सिद्धान्त (11) साधनों के उपयोग का सिद्धान्त

अध्याय 9 – स्वास्थ्य – अर्थ एवं निर्धारक 101—125

(1) स्वास्थ्य की परिभाषा (2) आयुर्वेद में स्वास्थ्य का प्रत्यय (3) प्राकृतिक चिकित्सा में स्वस्थ मनुष्य की विशेषतायें (4) स्वास्थ्य के अंग (5) स्वास्थ्य के क्षेत्र (6) स्वास्थ्य की स्थिति (7) स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारक (8) स्वस्थ व्यक्ति के लक्षण (9) अस्वस्थता के संकेत (10) रोग का स्वयं निदान की प्रश्नावली सूची (11) स्वस्थ जीवन के मूलभूत नियम

अध्याय 10 – रोग 126—139

(1) परिभाषा (2) प्राकृतिक चिकित्सा में रोग का अर्थ तथा कारण (3) जीवन में मल त्याग का महत्त्व (4) एलोपैथी में रोग का कारण (5) रोगों का बहुकारक सिद्धान्त (6) औषधि एवं संस्कृति (7) औषधि एवं सामाजिक व्यवस्था (8) रोग के सामाजिक – मनोवैज्ञानिक कारक

अध्याय 11 – निदान 140—166

(1) मुखाकृति निदान (2) नाड़ी से रोग परीक्षा (3) जिह्वा परीक्षण (4) दाँत व मसूढ़ों का परीक्षण (5) ओंठ परीक्षण (6) आँख परीक्षण (7) कनीनिका निदान (8) मूल परीक्षण (9) रक्त भार तथा रोग (10) वक्ष परीक्षा

अध्याय 12 – जल चिकित्सा 167–189

(1) जल चिकित्सा का अर्थ (2) जल के कार्य (3) जल प्रयोग के अस्थायी प्रभाव (4) स्वास्थ्यवर्द्धन के लिए जल का प्रयोग (5) जल चिकित्सा में जल का प्रयोग

अध्याय 13 – मृदा चिकित्सा 190–202

(1) अर्थ एवं परिभाषा (2) मृदा चिकित्सा की विशेषतायें (3) उपयोग की जाने वाली मिट्टी (4) मिट्टी की तैयारी (5) पट्टी बनाने के तरीके तथा यन्त्र (6) मिट्टी की पट्टी देने के नियम (7) मिट्टी की पट्टी के प्रकार (8) विविध रोगों की मृदा चिकित्सा (9) स्वास्थ्य संवर्द्धन हेतु मिट्टी का उपयोग

अध्याय 14 – वायुतत्त्व चिकित्सा 203–224

(1) प्राणायाम (2) प्राणायाम की विशेषतायें (3) प्राणायाम के उद्देश्य (4) प्राणायाम के विशेष लक्षण (5) प्राणायाम करने की तैयारी (6) प्राणायाम की अवस्थायें (7) क्रियाओं की मात्रा (8) प्राण के तत्त्व (9) प्राणायाम के प्रकार (10) प्राणायाम – अच्छे स्वास्थ्य की कुंजी

अध्याय 15 – सूर्य किरण चिकित्सा 225–246

(1) सूर्य किरण चिकित्सा की परिभाषा (2) अंग तथा रोग (3) सूर्य की किरणों का रंग (4) शरीर में रासायनिक पदार्थ तथा रंगों में रासायनिक पदार्थों की समानता (5) रंग के गुण (6) सूर्य किरणों की प्रयोग विधियाँ (7) सूर्य किरण चिकित्सा चार्ट (8) विभिन्न रोगों में रंगों का प्रयोग

अध्याय 16 – उपवास चिकित्सा 247–260

(1) उपवास का अर्थ (2) उपवास की विशेषतायें (3) उपवास का शरीर पर प्रभाव (4) उपवास की आवश्यक दशायें (5) उपवास की तैयारी (6) उपवास तोड़ने के नियम (7) उपवासकालीन संकट (8) उपवास के प्रकार

अध्याय 17 – चुम्बक चिकित्सा 261–277

(1) मानव पृथ्वी तथा चुम्बक (2) सूर्य और चुम्बक का प्रभाव (3) चंद्रमा और चुम्बक का प्रभाव (4) मानव और चुम्बकतत्त्व (5) बिजली और चुम्बक शक्ति का प्रभाव (6) चुम्बक चिकित्सा का

इतिहास (7) चुम्बक क्या है? (8) चुम्बक के गुण (9) चुम्बक की शक्ति की माप (10) चुम्बक के प्रभाव (11) चुम्बक का प्रयोग (12) चुम्बक चिकित्सा में सावधानियाँ (13) चुम्बक का समय (14) चुम्बक पानी और अन्य द्रव्य

अध्याय 18 – मालिश चिकित्सा 278—289

(1) मालिश चिकित्सा का अर्थ (2) मालिश का महत्त्व (3) मालिश के नियम (4) मालिश के प्रकार (5) शरीर पर मालिश का प्रभाव

अध्याय 19 – आहार चिकित्सा 290—316

(1) भोजन के कार्य (2) भोजन के तत्त्व (3) संतुलित आहार (4) भोजन की पौष्टिकता बढ़ाने के सरलतम नियम (5) पुरुषों के लिए संतुलित आहार योजना (6) शिशुओं के लिए आहार योजना (7) महिलाओं के लिए आहार योजना (8) गर्भावस्था तथा स्तनपान के दौरान महिलाओं के लिए अतिरिक्त आहार (9) कुपोषण की समस्या (10) कुपोषण से सम्बन्धित रोग (11) शिशुओं के लिए भोजन (12) स्कूल न जाने की अवस्था में बच्चों का भोजन (13) स्कूल जाने वाले बच्चों का भोजन (14) वृद्धावस्था का भोजन (15) रक्त की कमी के रोगी का भोजन (16) कब्ज की दशा में भोजन (17) अतिसार की दशा में भोजन (18) पीलिया की दशा में भोजन

अध्याय 20 – जड़ी बूटी चिकित्सा 317—329

(1) तुलसी (2) नीम (3) आँवला (4) बेल (5) पुनर्नवा (6) ब्राह्मी (7) शंखपुष्पी (8) अश्वगंधा (9) शतावर (10) मुलहठी (11) हरण

अध्याय 21 – मंत्र चिकित्सा 330—342

(1) मंत्र का महत्त्व (2) मंत्र के आधार (3) मंत्र का तत्त्व ज्ञान (4) मंत्र विज्ञान (5) भौतिकवाद में मंत्र

अध्याय 22 – यज्ञोपचार 343—347

(1) महत्त्व (2) शरीर पर यज्ञ का प्रभाव

अध्याय 23 – व्यायाम चिकित्सा 348—361

(1) व्यायाम के नियम (2) व्यायाम के प्रकार

अध्याय 24 – विश्राम चिकित्सा 362-377

(1) विश्राम चिकित्सा का अर्थ (2) विश्राम की प्रविधि

अध्याय 25 - योग चिकित्सा 378-443

(1) योग का अर्थ (2) विभिन्न धर्मों के अनुसार (3) योग के विभिन्न अर्थ (4) योग का लक्ष्य (5) योग - मनो-सामाजिक समन्वय (6) योग के उद्देश्य (7) पतंजलि का योग दर्शन (8) चित्त की वृत्तियों को नियंत्रित करने के साधन (9) मन तथा मन का स्वरूप (10) मन को वश में करने के साधन (11) योग के अंग :-

(1) यम (2) नियम (3) आसन (4) प्राणायाम (5) प्रत्याहार (6) धारणा (7) ध्यान (8) समाधि (9) बंध (10) मुद्रा (11) सूर्य नमस्कार (1) यौगिक षटकर्म (2) षटचक्र

❑❑❑

अध्याय-1

प्राकृतिक चिकित्सा–अर्थ तथा प्रणालियाँ

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि आज की सभ्यता की घुड़दौड़ में मानव समुदाय शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से जर्जर, दिनोंदिन दुर्बल एवं मानसिक रूप से असंतुष्ट होता चला जा रहा है। इतना ही नहीं उसका दिन का चैन एवं रात की नींद भी प्रभावित होते चले जाने से तनावजन्य रोगों एवं मनोविकारों में बड़ी तेजी से अभिवृद्धि हुई है। सभ्यता की दिशा में प्रगति से आधुनिक विज्ञान ने अनेकानेक साधन मुनष्य को उपलब्ध कराये हैं। द्रुतगामी वाहन, ऐशोआराम के साधन जहाँ एक समुदाय को अकर्मण्य बनाते चले जा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर स्वास्थ्य के आहार-विहार सम्बन्धी नियमों की जानकारी के अभाव में एक बहुसंख्यक समुदाय जो गाँवों या कस्बों में निवास करता है, अपेक्षाकृत अधिक जल्दी रोगी एवं बूढ़ा होता चला जा रहा है।

आधुनिक विज्ञान ने बहुत प्रगति की है। उसने हमें अनेको अनुदान दिये हैं। चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में निरोग बनाने एवं आयु बढ़ाने सम्बन्धी जितने प्रयोग पिछले दो-तीन दशकों में सारे विश्व में हुए हैं, उतने संभवतः गत पाँच शताब्दियों में भी नहीं हुए। फिर क्या कारण है, कि मनुष्य अपनी जीवनी-शक्ति निरन्तर खोता चला जा रहा है। मनोशारीरिक एवं असहाय शारीरिक व्याधियों तथा कैंसर, हृदयरोग, मधुमेह, क्षय रोग, गठिया, मानसिक विक्षिप्तता एवं गुप्त रोगियों की संख्या दिनोंदिन बढ़ रही है। गाँवों में आज भी 50% से अधिक मौतें दूषित जल, अज्ञानता, स्वच्छता का अभाव तथा समय पर औषधि न मिलने से होती है। आँकड़े बताते हैं कि एलोपैथिक चिकित्सालयों के इतनी संख्या होने पर भी रोगियों की संख्या में कमी नहीं हुई, बल्कि सामान्य जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात में रोगियों की संख्या का अनुपात दिनोदिन बढ़ रहा है । फिर किस प्रकार से 2000 ई0 तक हम सभी के स्वास्थ्य की गारंटी ले सकते हैं, बहुत ही विचारणीय प्रश्न है। समस्या का समाधान केवल चिकित्सालयों के खोलने से ही नहीं हो सकता, क्योंकि स्वास्थ्य और रोग दोनों अलग अलग महत्त्व के विषय हैं । यदि स्वास्थ्य अच्छा होगा, जीवनी शक्ति अधिक होगी तो रोग पनपेंगे ही नहीं और तब चिकित्सालयों की आवश्यकता एवं उनपर खर्च करने की आवश्यकता ही नहीं होगी। अभी तक जो भी पद्धतियाँ इस दिशा में अपनायी गयी हैं, तथा उनपर बल दिया गया, उससे यद्यपि लाभ तो हुआ,

लेकिन जिस लाभ की आशा समाज विशेषरूप से ग्रामीण समाज एवं निर्बल समाज करता था वह नहीं प्राप्त हो सका। आज ऐसी स्वास्थ्य नीति अपनाने तथा उसके उचित कार्यान्वयन की आवश्यकता है, जिससे न केवल चिकित्सालयों की संख्या बढ़ायी जाय, और बजट का प्रावधान किया जाय एवं ऐसा करके संतोष कर लिया जाय, बल्कि ऐसी विधि का समावेश किया जाय, जिसके माध्यम से न केवल रोगों का स्थायी समाधान प्राप्त हो, साथ ही साथ जनमानस को सामान्य रूप से ग्रामीण समुदाय को अपने स्वास्थ्य को बनाये रखने तथा छोटे-मोटे रोगों को दूर करने की परम्परागत कला का भी ज्ञान हो। ऐसा होने पर ही स्वस्थ समाज की रचना हो सकती है तथा समाज का सामाजिक-आर्थिक उत्थान संभव है।

यह प्रमाणित हो चुका है कि अधिकांश रोगों की उत्पत्ति व्यक्ति की अपनी त्रुटियाँ होती हैं। उसकी व्यावहारिक त्रुटियाँ तथा दैनिक चर्या की प्रतिकूलता रोग के बीज बोती हैं। आज मानव जानबूझ कर या अनजाने दोनों रूपों में प्रकृति के नियमों की अवहेलना खान-पान, रहन-सहन, व्यवहार, वाणी, कर्म सभी प्रकार से कर रहा है, जिसके कारण उसकी जीवनी-शक्ति निरन्तर क्षीण होती चली जा रही है। एलोपैथी रोग के कारणों की उत्पत्तिमाइक्रोब्स या सूक्ष्म जीवाणुओं को मानती है। यह पद्धति दावा करती है कि यदि इनपर नियंत्रण पा लिया गया, तो रोगों को समाप्त किया जा सकता है, लेकिन कभी-कभी लोग टाइफाइड, कालरा, मलेरिया इत्यादि से जब मरने लगते हैं, तो उसका कारण दूषित जल, दूषित भोजन, गन्दगीयुक्त वातावरण बताया जाता है, और उसके सुधार का प्रयास तीव्र गति से किया जाता है। हजारों लोगों की मृत्यु इसलिए हो जाती है कि वे नहीं जानते हैं कि शुद्ध जल क्यों आवश्यक है, स्वच्छता क्यों आवश्यक है तथा किस प्रकार से अपनी रक्षा करें। उनमें स्वास्थ्य के नियमों एवं स्वास्थ्यरक्षक उपायों की अनभिज्ञता है। इस प्रकार गरीबों में रोग का कारण उनकी गरीबी, स्वास्थ्य तथा रोगों को रोकने व उनके उपचार के प्रति अज्ञानता एवं साधनों की कमी है । इनमें रोग दर व मृत्यु दर को 50% से अधिक कम किया जा सकता है यदि उन्हें परम्परागत चिकित्सा विधि जो कि सीधी साधी, कम खर्चीली तथा सहज है, से परिचित करा दिया जाय एवं स्वास्थ्य के प्रति जागरूक कर दिया जाय। शेष 50% के लिए परम्परागत चिकित्सा विधियों जिनपर उनका सदैव विश्वास रहा है तथा उनका प्रभाव स्थायी होता हैं, के उपयोग के लिए प्रशिक्षित कर्मियों की व्यवस्था कर दी जाय। प्राकृतिक चिकित्सा व रोग ऐसी ही चिकित्सा पद्धति है, जिसके आगे बढ़ने से स्वास्थ्य की समस्या का स्थायी समाधान ढूँढ़ा जा सकता है।

भारतीय मनीषी आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व वर्तमान उत्पन्न परिस्थितियों से परिचित हो गये थे, इसी कारण षट्कर्म, नेति, वस्ति, द्यौति, नौलि, त्राटक, कपालभाति जैसी क्रियाओं की खोज की थी, जिससे शरीर में रोग के लक्षण ही न उत्पन्न हों और यदि किसी भूल के कारण रोग हो जाय तो प्राकृतिक तत्वों जैसे जल, मिट्टी,

हवा, धूप, जड़ी बूटी आदि द्वारा तुरन्त उन पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया जाय। इसी पद्धति को प्राकृतिक चिकित्सा एवं योग चिकित्सा पद्धति के नाम से जाना गया।

(1) प्राकृतिक चिकित्सा की परिभाषा (Definition)

यहाँ पर हम कुछ प्रमुख परिभाषाओं का उल्लेख कर रहे हैं:-

कुने, लोइस (Kuhne, Louis)

प्राकृतिक प्रणाली जिसका कि चिकित्सा के रूप में उपयोग करते हैं तथा जो दूसरी पद्धतियों से गुण में बहुत अच्छी है, बिना औषधि या आपरेशन के उपचार की आधार शिला है।[1]

जुस्सावाला, जे०एम० (Jussawalla, J.M.)

प्राकृतिक चिकित्सा एक विस्तृत शब्द है, जो रोगोपचार के उन सभी प्रणालियों के लिए उपयोग किया जाता है, जिसका उद्देश्य प्राकृतिक शक्ति एवं शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता के साथ सहयोग करना है. । यह व्याधि से मुक्त करने का एक भिन्न तरीका है, जिसका जीवन, स्वास्थ्य एवं रोग के सम्बन्ध में अपना स्वयं का एक दर्शन है।[2]

इसे एक कला, एक विज्ञान, एक दर्शन तथा एक अभ्यास के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो कि निश्चित भौतिक, रासायनिक, जैविकीय, मानसिक तथा आध्यात्मिक नियमों का स्वास्थ्य के रख-रखाव, पुनर्प्राप्ति तथा शारीरिक व्याधियों के उपचार में विषैली औषधियों के उपयोग में लाये बिना करती है।[3]

1- The Natural Method as hither to applied , which for excells the other systems, is the foundation of the new art of healing without drugs or operations.
Kuhne, Louis; New-Naturopathy- The New Science of Healing, kitabistan, Allahabad, 1967, P. 12

2- Nature cure is a comprehensive term applied to all methods of treating diseases which aims at co-operating with the natural forces and defensive mechanism of the body. It is a distinct system of healing based upon its own philosophy of life, health and disease.
Jussawalla, J.M. : Healing From Within
Manaktalas, Bombay, 1966, P. 6

3- It may be defined as an art, a science, a philosophy, and a practice following definite physical, chemical, biological, mental and spiritual law for the restoration and maintenance of health and the correction of bodily disorders without the use of poisonous drugs.
Ibid, P. 6

प्राकृतिक चिकित्सा हवा, प्रकाश, जल, ताप तथा अन्य प्राकृतिक तरीकों एवं पद्धतियों की किसी भी मानव रोग, कष्ट, चोट, विकृति, किसी भी शारीरिक, रासायनिक या मानसिक दशा के निदान, उपचार एवं उपयोग की सलाह देने की औषधि शास्त्र की एक व्यवस्था है।[4]

बेनजामिन, हेरी (Benjamin Harry)

प्राकृतिक चिकित्सा व्याधि से मुक्त करने तथा रोग का दर्शन है।[5] प्राकृतिक चिकित्सा शरीर की स्वयं की आंतरिक सफाई एवं शुद्धिकरण की स्वीकृति देती है । इस प्रकार यह अशुद्धता एवं अनुपयोगी पदार्थ जो कि अधिक वर्षों के कारण एकत्र हो गया था, तथा जो सामान्य कार्य में बाधा उत्पन्न करता था, उसे निकाल फेंकता है।[6]

यदि हम उपरिलिखत परिभाषाओं का विश्लेषण करें, तो ज्ञात होता है, कि प्राकृतिक चिकित्सा मानव की वास्तविक रूप से जीने की कला है, जिसका अनुसरण करने से व्यक्ति सदैव सुखी तथा निरोगी रह सकता है। साथ ही साथ रोगावस्था होने पर प्रकृति प्रदत्त मूल साधनों -हवा, मृदा, जल, अग्नि, उपवास आदि के द्वारा उपचार भी किया जा सकता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्राकृतिक चिकित्सा एक विज्ञान एवं कला है जिसमें प्राकृतिक साधनों का उपयोग करके शरीर से विजातीय द्रव्यों को बाहर निकालते हुये, जीवनी शक्ति में वृद्धि करते हैं जिसके स्वास्थ्यवर्धन होता है।[7]

(2) नेचर क्योर का विस्तृत अर्थ

यदि नेचर क्योर का विश्लेषण करें, तो प्राकृतिक चिकित्सा का स्वरूप बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है ।

4- Naturopathy is a system of medicine to diagnose, treat and prescribe for any human disease, pain, injury, deformity for any physical, chemiacl or mental condition through the use of air, light, water, heat and all natural methods and modalities.

Jussawala, J.M. The Key to Nature Cure
Sangam Books, Bombay, 1992, P2

5- Nature cure is a philosophy of disease and healing built up.

Benjamin, Harry : Every Body's guide to Nature cure,
Kitabistan, Allahabad, 1943. P. 9

6- .....it allows the body to cleanse and purify itself internally, and thus throw off the impurities and waste matter which year of *wrong living had accumulated therein, and which were interfering* with proper functioning.

Ibid, P. 6

N A T U R E C U R E

N = Nascency (begining of life)
A = Absolute (pure or perfect)
T = Tabling (setting in order)
U = Umbrella (alround security)
R = Rational (always do justice)
E = Effectiveness (helpful activities)
C = Conscientization (to make aware)
U = Unity of disease and unity of treatment
R = Right habit
E = Elimination of foreign matter

इस विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राकृतिक चिकित्सा मानव जीवन के प्रारम्भ से शुरू होती है। यह सभी प्रकार से सम्पूर्ण होती है। इसका लक्ष्य जीवन को क्रमागत करते हुये सभी प्रकार से सुरक्षा पहुँचाना है। प्रकृति के नियमों का पालन करने से सदैव लाभ होता है। प्राकृतिक चिकित्सक इस प्रणाली के द्वारा दो कार्य करता है, (i) शरीर के विजातीय द्रव्यों को शरीर से बाहर करना (ii) उसे सही जीवन शैली अपनाने के लिए प्रेरणा देना।

(3) प्राकृतिक चिकित्सा की आधारभूत विशेषताएँ

प्राकृतिक चिकित्सा की आधारभूत निम्न विशेषतायें हैं:-

1- प्रकृति स्वयं चिकित्सक है (Nature is a great physician)

साधारणतः प्रकृति प्रतिदिन मलमूत्र, पसीना और श्वांस के द्वारा हमारे शरीर के विकारों को बाहर निकाल कर तथा कुछ को शरीर के भीतरी अवयवों द्वारा ही उनको नष्ट करके व्यक्ति को स्वस्थ रखती है। रोग उत्पन्न होने पर प्रकृति की इसी पद्धति का सहारा लेकर व्यक्ति को रोगमुक्त भी कर सकते हैं। इसी विधि को प्राकृतिक चिकित्सा कहते हैं। यह कार्य प्रकृति के साथ सहयोग करके ही सम्भव है।

प्रकृति स्वयं चिकित्सक है! उदाहरण के लिए यदि पानी पीते सयम हवा की नली में चला जाता है, तो प्रकृति खाँसी पैदा करके उसे ठीक कर देती है। जहरीली चीज पेट में चले जाने पर वमन के द्वारा प्रकृति उसे बाहर निकालती है। घाव हो जाने पर प्रकृति ही उसे भरती है। इसी प्रकार सभी रोगों में प्रकृति के ही प्रयास से शरीर स्वस्थ होता है। प्राकृतिक चिकित्सा में यह विश्वास किया जाता है, कि रोगी को रोग से मुक्ति अपने आपसे ही मिलती है, अर्थात रोगी के रोग का निवारण

7- Naturopathy is a science and art in which natural neans are applied to eliminate foreign matter from the body and thereby increasing vitality power which leads to health promotion.

उसका शरीर स्वयं करता है। प्राकृतिक चिकित्सक का कार्य केवल इस कार्य में सहायता करना होता है।

2- रोग की उत्पत्ति का कारण प्रकृति के कार्यो में बाधा उत्पन्न करना है

(Diseae appears in the body when nature's way of working is obstructed)

प्रकृति नियमित रूप से मल, दूषित पदार्थ तथा विषैले द्रव्यों को निरन्तर निकालती रहती है, लेकिन जब व्यक्ति के शरीर में अप्राकृतिक भोजन एवं अप्राकृतिक जीवन शैली के कारण सामान्य से अधिक मल व दूषित पदार्थ बनने लगता है, तो उसके निष्कासन में बाधा महसूस करती है, वह शरीर में एकत्रित होने लगता है। अवसर पाकर यह रोग के रूप में उभर कर सामने आता है।

3- मानव स्वयं रोग के लिए उत्तरदायी है :

(It is human being himself responsible for his diseased state)

प्रकृति ने मानव जीवन को सुखमय बनाने तथा निरन्तर समृद्धि की दिशा में आगे बढ़ने के लिए कुछ नियमों का निर्धारण किया है। उदाहरण के लिए श्वास प्रक्रिया जीवन का आधार है, इसकी पर्याप्त पूर्ति होने के लिए स्वच्छ एवं शीतल वायु की आवश्यकता होती है, लेकिन व्यक्ति ने अपने पूरे वातावरण को दूषित कर दिया है, जिसके कारण आज का मानव अनेक प्रकार के श्वसन के रोगों से ग्रस्त है। इसी प्रकार प्रकृति ने भोजन के सम्बन्ध में भी नियमों का निर्धारण किया है। शांत चित्त होकर धीरे-धीरे खाने एवं पाचनयुक्त भोजन शरीर के लिए लाभकारी होता है । लेकिन आज मानव के पास भोजन करने के लिए पर्याप्त समय की कमी हो गयी है, तथा उसकी जीभ भ्रष्ट हो गयी है। उसे चटपटे, मसालेदार एवं झारयुक्त खाद्य पदार्थ ही अच्छे लगते हैं। परिणामस्वरूप पाचन सम्बन्धी रोगों से ग्रसित व्यक्तियों की संख्या दिनोदिन बढ़ रही है।

4- रोग के कारण कीटाणु नहीं है :

(Diseases are not caused by germs or bacteria)

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान (एलोपैथी) की यह धारणा है, कि प्रत्येक रोग का कारण कोई सूक्ष्म कीटाणु या वैक्टीरिया होता है। लेकिन प्राकृतिक चिकित्सा पूर्ण विश्वास के साथ इस बात को मानती है, कि रोग का कारण शरीर में एकत्र दूषित मल होता है। *शरीर में स्वयं ऐसी व्यवस्था है, जिसमें जब कीटाणु-परमाणु किसी* कारण प्रवेश कर जाते हैं, तो स्वयं नष्ट हो जाते हैं, लेकिन जब इस व्यवस्था को अनियमित खान-पान, रहन-सहन से बाधा पहुँचाते हैं, तो इस कार्य में बाधा

पहुँचाती है। इसके साथ ही साथ यह एक प्राकृतिक नियम है, कि सृष्टि में जितने पदार्थ हैं, इनके सूक्ष्म परमाणु अनवरत रूप से गतिशील रहते हैं, उनमें परस्पर आकर्षण होता है, और विपरीत गति वाले परमाणु एक दूसरे से दूर भागते हैं। अतः इस सिद्धांन्तानुसार रोग के कीटाणुओं का अस्तित्व उन्हीं शरीरो में सम्भव है जिनमें पहले से ही रोग का कारण विजातीय द्रव्य विद्यमान होता है, या जो रोगग्रस्त हैं, या जिनमें रोग को ग्रहण करने की क्षमता है, लेकिन जिन शरीरों के भीतर कीटाणुओं के विपरीत पोषक तत्त्व विद्यमान होगें, अर्थात जो विजातीय द्रव्यों से सर्वथा मुक्त होंगे उन पर कीटाणुओं का आक्रमण होना असम्भव है। स्वस्थ शरीर में रोगाणु शक्तिहीन हो जाते हैं।

5- सभी रोगों का कारण शरीर में एकत्रित विजातीय तत्त्व है :

(All diseases are caused by accumulated foreign matter in the body)

यद्यपि भौतिक रूप से सभी व्यक्ति लगभग समान होते हैं, लेकिन मानसिक सांवेगिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक रूप से कोई भी दो व्यक्ति समान नहीं हैं। यही कारण है कि विजातीय द्रव्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न रोग उत्पन्न करते हैं।

6- प्राकृतिक चिकित्सक शरीर की प्राकृतिक शक्ति की कार्यक्षमता को बढ़ाने में सहायता करता है:

(Naturopath assists the natural force of the body to function more effectively)

शरीर में स्वयं ऐसी शक्ति होती है जो वातावरण के प्रति समुचित प्रत्युत्तर देती है, और शरीर की हर प्रकार से रक्षा करती है। लेकिन जब शरीर में मल, विषयुक्त पदार्थ तथा विजातीय तत्त्व अधिक मात्र में एकत्र हो जाते हैं तो उसके कार्य में बाधा पहुँचती है। प्राकृतिक चिकित्सा की विभिन्न पद्धतियों के द्वारा इन विजातीय द्रव्यों को शरीर से बाहर निकालने में प्रकृति की सहायता की जाती है। प्राकृतिक चिकित्सक रोगी को सामान्य स्वास्थ्य के नियमों से एक ओर जहाँ अवगत कराता है, वहीं दूसरी ओर शरीर में पहले से एकत्रित मल को चिकित्सा की विभिन्न पद्धतियों के द्वारा बाहर निकालने में अपना योगदान देता है।

7- रोग शत्रु नहीं मित्र होते हैं:

(Diseases are not enemies but they are our friends)

शरीर में सदैव विजातीय द्रव्य, मल, विषयुक्त पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं, जिसको हमारे शरीर के मल मार्ग जैसे गुर्दे, रोमकूप, गुदा आदि बाहर निकालते रहते हैं। यदि किसी कारण से मल को बाहर निकल जाने का रास्ता नहीं मिलता है,

तो शरीर में रोग उत्पन्न करके बाहर निकल जाने की कोशिश होती है। अतः रोगों का होना आवश्यक है, जिससे विजातीय द्रव्य शरीर से बाहर निकल सके। इस प्रकार जिसे हम रोग कहते हैं वह वास्तव में चिकित्सा है। इसलिए शारिरिक शक्ति की सहायता प्राकृतिक चिकित्सा की विधियों द्वारा की जाती है। अन्य पद्धतियाँ रोग को शत्रु मानती है, और उसके लक्षणों को दबाने का प्रयत्न करती हैं।

8- प्राकृतिक चिकित्सा किसी रोग की न होकर पूरे शरीर की चिकित्सा होती है :

(Naturopathy is not concerned with the treatment of any particular disease but with the whole body)

चिकित्सा की अन्य पद्धतियों में रोगी के रोग की चिकित्सा पर जोर दिया जाता है, परन्तु प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति में रोगी के पूरे शरीर की चिकित्सा करके और उसे स्वस्थ तथा कायत्मिक बनाया जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली से प्रत्येक रोग अच्छा किया जा सकता है, पर प्रत्येक रोगी नहीं, क्योंकि रोगी का अच्छा होना या न होना कई बातों पर निर्भर करता है : जैसे रोगी के शरीर में विजातीय द्रव्य (मल) की मात्र कितनी है, यथेष्ठ जीवन शक्ति है या नहीं, रोगी में धैर्य की सीमा कितनी है, उसकी मनोस्थिति कैसी है, तथा उसको पारिवारिक सहायता कितनी मिल रही है।

9- प्राकृतिक चिकित्सा की प्रभावपूर्णता रोगी के सहयोग तथा उसकी मनोतत्परता पर आश्रित है :

(Effectiveness of naturopathic treatment requires patients cooperation and his psychological readiness)

यद्यपि प्राकृतिक चिकित्सा प्रत्येक स्थिति में रोगी की सहायता करती है, लेकिन यह कितनी प्रभावपूर्ण है, इस बात पर निर्भर करता है, कि रोगी अपने रोग को दूर करने में प्राकृतिक चिकित्सा के नियमों को कितना पालन कर रहा है, तथा इसके प्रति मन से कितना लगाव उत्पन्न कर पाया है।

10- प्राकृतिक चिकित्सा एक कला के साथ ही साथ विज्ञान भी है:

(Naturopathy is not only an art but also a science)

जिस प्रकार अन्य विज्ञानों के नियमों को सर्व सत्य होना बताया जाता है, उसी प्रकार प्राकृतिक चिकित्सा के नियमों का कहीं भी परीक्षण किया जा सकता है और वे सदैव सही होते हैं।

(4) प्राकृतिक चिकित्सा का उद्देश्य

वास्तव में प्राकृतिक चिकित्सा एक चिकित्सा पद्धति न होकर एक जीवन पद्धति है– जिसका अनुसरण कर व्यक्ति स्वस्थ, सुखी तथा प्रसन्न रह सकता है। इस प्रकार प्राकृतिक चिकित्सा का उद्देश्य व्यक्ति को स्वास्थ्य की दृष्टि से स्वावलम्बी बनाता है। सामान्यरूप से प्राकृतिक चिकित्सा के निम्न उद्देश्य हैं

1- स्वस्थ जीवन पद्धति से अवगत कराना।

2- प्राकृतिक रहन-सहन के महत्त्व के विषय में बताना।

3- शाकाहारी भोजन तथा स्वस्थ शरीर में सम्बन्ध को स्पष्ट करना।

4- स्वस्थ आदतों एवं सकारात्मक मनोवृत्ति के विकास में सहयोग देना।

5- रोगों की रोकथाम करना।

6- सामान्य तथा जटिल रोगों का उपचार करना।

7- शरीर की जीवनी-शक्ति को सबल बनाना।

8- मानसिक स्वास्थ्य को ऊँचा उठाना।

(5) प्राकृतिक जीवन पद्धति

कुछ लोगों को भ्रम हैं, कि प्राकृतिक जीवन-पद्धति का तात्पर्य जंगली जीवन व्यतीत करना तथा कच्चे खाद्य पदार्थों का सेवन करना है। वास्तव में प्राकृतिक जीवन पद्धति एक सरल सामान्य, कम खर्चीली तथा जन सामन्य के लिए उपयोगी है। यहाँ पर हम कुछ प्रमुख प्राकृतिक नियमों एवं जीवन-पद्धति का उल्लेख कर रहे हैं।

1- श्वसन के नियम

वायु जीवन का आधार है। शरीर तभी स्वस्थ रह सकता है, जब शरीर के सभी कोषाणुओं में आवश्यक वायु आपूर्ति होती रहे। प्रातःकाल की वायु सबसे अधिक लाभकारी बतायी गयी है। अतः प्रातःकाल का टहलना आवश्यक है। पूर्णश्वाँस के लिए आवश्यक है कि हमारी नासिका साफ हो तथा चित्त शान्त हो, लेकिन आज न तो किसी के पास प्रातःकाल टहलने का समय है, और न ही चित्त शान्त रहता है। इसके साथ ही साथ प्रदूषित वातावरण के कारण शुद्ध वायु कम होती जा रही है। ऐसी दशा में रोग होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है।

2- भोजन सम्बन्धी नियम

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राकृतिक भोजन बलवर्धक, ज्ञानवर्धक, शक्तिवर्धक एवं रक्तवर्धक, होता है। लेकिन आज अप्राकृतिक भोजन, खट्टे कड़वे, अत्यंत मसालेयुक्त, गुणहीन, तथा माँसाहारी भोजन करने की आदत बढ़ती जा रही है। इस चिकित्साशास्त्र का मानना है, कि यदि उच्च रक्तचाप, मधुमेह, दमा

आदि रोगों को दूर करना है, तो शाकाहारी भोजन करना आवश्यक है । लेकिन इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ रहा है। भोजन करने का एक समय निश्चित होना चाहिए तभी भोजन शरीर के लिए लाभकारी होता है। साथ ही साथ भोजन के समय शान्त चित्त होकर भोजन करना चाहिए, लेकिन आज सबसे अधिक शीघ्रता भोजन करने में ही की जाती है, जिसके परिणामस्वरुप पाचन के लिए समुचित इन्जाइम्स भोजन के साथ नहीं मिल पाते हैं। यही कारण है कि आज अधिकांश व्यक्ति पेट के रोगों से ग्रस्त रहते हैं। प्राकृतिक नियम है कि भोजन करने से पहले शरीर व वस्त्र स्वच्छ एवं साफ होने चाहिये तथा भोजन करने के पात्र शुद्ध हों, लेकिन आज सफाई के प्रति कई प्रकार की उदासीनता देखने को मिलती है। उदाहरण के लिये बिना हाथ धोये नाश्ता करना, अधिकतम कपड़े पहन कर भोजन करना, इत्यादि।

3- जल पीने का नियम

प्राकृतिक नियम के अनुसार जल पीने से शरीर की सफाई का कार्य, सुचारुरूप से चलता रहता है । प्रातःकाल उठकर जल का सेवन करना शरीर तथा मन दोनों के लिए लाभकारी होता है, लेकिन आज प्रातःकाल चाय पीना आवश्यक हो गया है, तथा यह प्यास बुझाने के लिए भी उपयोग में लायी जाने लगी है। परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के रक्त सम्बन्धी व पाचन सम्बन्धी विकार उत्पन्न हो रहे हैं ।

4- वस्त्र धारण के नियम

शरीर के लिए सूती वस्त्र सबसे अधिक उपयोगी एवं लाभप्रद होते हैं, लेकिन आज सूती वस्त्र अधिक मंहगे होते जा रहे हैं। सर नंगा रखना आवश्यक हो गया है, तथा महिलाएँ अंग प्रदर्शन में ज्यादा विश्वास करने लगी हैं।

5- कार्य के नियम

प्राकृतिक जीवन पद्धति प्रत्येक कार्य के समय का निर्धारण करती है। कार्य स्थल पर परस्पर प्रेम, सहयोग, तथा आत्मीयता का भाव रखने की सलाह देती है। व्यक्ति उसी स्थान पर ठीक प्रकार से मन लगाकर काम कर सकता है, जहॉं उसकी प्रतिष्ठा हो, वातावरण शान्त हो तथा उन्नति के अवसर हो। आज इन सभी कारकों का अभाव होता चला जा रहा है। प्रत्येक क्षण व्यक्ति चिंतातुर भयभीत एवं शंकालु रहता है। वह अपने कार्यो को पूरा न करने में तथा दूसरों को धोखा देने में अपना मान समझता है।

6- सम्पति एकत्र करने के नियम

आज व्यक्ति धन को ही सब कुछ मानने लगा है। उसके लिए वह रात की नींद तथा दिन की चैन खोता जा रहा है। प्राकृतिक नियम यह है कि इतनी सम्पत्ति एकत्र कीजिए जो सही रास्ते पर चलकर मन तथा शरीर का स्वस्थ रखते हुए प्राप्त की जा सके। सदैव कमजोर लोगों के प्रति उदारता का भाव रखें तथा क्षमतानुसार

सहायता करें। लेकिन आज व्यक्ति स्वार्थी तथा लोभी दोनों होता जा रहा है।

7- सोने के नियम

शाम को जल्दी सोना तथा प्रातःकाल जल्दी उठना, प्राकृतिक नियम है। इससे शरीर स्वस्थ रहता है। लेकिन आज देर रात तक जागना तथा प्रातःकाल देर तक सोना लोगों की आदत बनती जा रही है।

8- विश्राम के नियम

व्यक्ति जब शारीरिक रूप से थकान अनुभव करे, तो उसे आराम करना चाहिए। साथ ही साथ एक निश्चित अवधि के उपरान्त शारीरिक विश्राम आवश्यक है। मानसिक शान्ति के लिए सत्संग व परमसत्ता की याद करनी चाहिए। लेकिन आज व्यक्ति के शरीर में जब तक शक्ति रहती है, तब तक विश्राम करना नहीं चाहता। मानसिक शान्ति के लिए सर्वोच्च सत्ता की याद भी नहीं करता। परिणामस्वरूप सदैव अतृप्त बना रहता है।

9- विचारों की शुद्धता संबंधी नियम

शरीर विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए व्यक्ति के विचारों को सकारात्मक होना आवश्यक है। उसे सदैव सकारात्मक मनोवृत्ति रखनी चाहिए। आज व्यक्ति नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाता चला जा रहा है। दूसरों की सहायता के स्थान पर हानि पहुँचाने की अधिक सोचता है। इसके परिणामस्वरूप उसकी अपनी विचारशैली दूषित हो जाती है।

10- सामाजिक तथा नैतिक व्यवहार सम्बन्धी नियम

व्यक्ति को सुःख-दुःख, लाभ-हानि, सभी परिस्थितियों में अपने को नियंत्रित रखना चाहिए। जहाँ तक हो सके मानव की सेवा करना अपना धर्म समझना चाहिए। अपने माता-पिता, वृद्ध, गुरु आदि का सम्मान करना चाहिए। अधिक स्वार्थी नहीं होना चाहिए। सादा जीवन उच्च विचार में विश्वास रखना चाहिए। सच्चाई में विश्वास करना चाहिए, तथा सदैव अच्छी संगति करनी चाहिए। लेकिन आज इन नियमों का खुल्लम-खुल्ला उल्लंघन हो रहा है। इसी कारण वास्तव में आज संसार दुःखालय होता जा रहा है। शरीर तथा मन दोनों ही अस्वस्थ होते जा रहे हैं, क्योंकि जैसी पृष्ठभूमि होगी, उसी के अनुरूप परिणाम मिलेंगा।

(6) प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धांत

प्राकृतिक चिकित्सा के तीन प्रमुख सिद्धांत है जो निम्न प्रकार हैं :-

1- सभी रोगों का कारण एक ही है- शरीर मे विजातीय द्रव्यों का संचरण।
2- प्रकृति सदैव व्यक्ति का हित सोचती है, अर्थात् शरीर की यंत्र रचना सदैव सकारात्मक कार्य करती है, जिससे व्यक्ति का हित हो। इस अर्थ में रोग शत्रु न होकर मित्र का काम करते हैं।

3- शरीर में स्वयं शक्ति होती है, जो सामान्य स्वास्थ्य के लिए उत्तरदायी है। चिकित्सक चिकित्सा करता है, प्रकृति रोगमुक्त करती है।

1- All forms of diseases are due to the same cause: accumulation of waste matter in the body system.

2- The body is always strive for the ultimate good of the individual.

3. The body contains within itself the power to bring about a return to normal health.

(7) प्राकृतिक चिकित्सा का दर्शन

प्राकृतिक चिकित्सा निम्नलिखित मूल दार्शनिक तत्वों पर आधारित हैः-

1- रोग मानवजनित है पाप का परिणाम नहीं, अतः उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

2- सभी रोगों की उत्पत्ति प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन से होती है।

3- जब शरीर में अधिक मल, दूषित पदार्थ व विषैले द्रव्य एकत्र हो जाते हैं, तो रोग प्रकट होता है।

4- शरीर में जीवनी-शक्ति होती है, जो सदैव शरीर के कल्याण के लिए कार्य करती रहती है।

5- साधारण रोग प्रकृति की शोधक एवं रोगमुक्त करने की प्रक्रिया का द्योतक हैं।

6- शरीर की जीवनी-शक्ति रोगमुक्त करने की प्रक्रिया में तभी असफल होती है, जब इसकी शक्ति या तो बहुत क्षीण हो जाती है, या शरीर में विजातीय तत्वों की अधिकता होती है।

7- आधुनिक जीवन पद्धति (बनावटी जीवन) या संस्कृति के कारण भयानक रोगों की उत्पत्ति होती है।

8- शरीर पूर्णता में कार्य करता है अतः उपचार कार्य किसी एक अंग का न होकर पूरे शरीर का होना चाहिए।

9- रोग उपचार का तात्पर्य-जीवनी-शक्ति को बढ़ाने, रक्त को शुद्ध करने तथा विजातीय तत्वों को शरीर से बाहर निकालने से है।

10- निरोगी शरीर के लिए निरोगी मन होना अत्यन्त आवश्यक होता है।

(8) प्राकृतिक चिकित्सा की मूल मान्यताएँ

प्राकृतिक चिकित्सा की निम्नलिखित मूल मान्यताएँ हैं :

1. रोग तथा जीवनशैली में परस्पर निर्भरता है। अतः रोगग्रस्त व्यक्ति को रोगमुक्त करने के लिए उसकी जीवन शैली का अवलोकन एवं अध्ययन करना आवश्यक होता है ।

2. सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक कारक व्यक्ति के स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। प्रतिकूल कारक रोग उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। अतः उपचार में सामाजिक एवं मनौवैज्ञानिक चिकित्सा का महत्त्वपूर्ण योगदान है।
3. प्राकृतिक चिकित्सा यद्यपि सभी रोगों की उत्पत्ति का कारण शरीर में विजातीय तत्त्वों, मल, विषैले द्रव्य आदि का संचय मानती है, लेकिन सभी रोगियों को समान नहीं मानती है। व्यक्ति व्यक्ति में अंतर होता है। क्योंकि उनकी सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ भिन्न -भिन्न होती हैं। अतः प्रत्येक रोगी का सम्पूर्ण अध्ययन करना आवश्यक होता है। वैयक्तीकरण की आवश्यकता अंतर के कारण ही होती है।
4. रोगी के रोग का पूर्ण निराकरण तथा भविष्य की रोग से सुरक्षा तभी सम्भव है, जब रोगी चिकित्सा प्रक्रिया में पूर्ण सहयोग दे। इस चिकित्सा पद्धति में रोगी से सम्बन्ध का विशेष महत्व है। रोगी से सांवेगिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक ऐसे पर्यावरण का निर्माण करना आवश्यक होता है, जिसमें रोगी अपनत्व की भावना का विकास कर सके।
5. रोगी, सम्पूर्ण इकाई है। अतः आन्तरिक एवं वाहय दोनों प्रकार की शक्तियों का मूल्यांकन करना आवश्यक होता है। दोनों की सहायता से ही प्राकृतिक चिकित्सा रोगी की समस्याओं का निराकरण कर सकती है।

(9) प्राकृतिक चिकित्सक के कार्य

प्राकृतिक चिकित्सक व्यक्ति को रोगमुक्त करने तथा उसके स्वास्थ्य का संवर्धन करने के लिए निम्नलिखित कार्य करता है :-

01. वह प्राकृतिक चिकित्सा की विधियों जैसे जल चिकित्सा, मृदा चिकित्सा, भाप चिकित्सा, रंग चिकित्सा, मालिश आदि के द्वारा शरीर तंत्र में संचित मल एवं दूषित पदार्थ को शरीर से बाहर निकालने का प्रयास करता है जिससे शरीर स्वच्छ एवं शुद्ध हो सके।
02. शरीर के उन अंगों को जो मल मूत्र शरीर से बाहर निकालते हैं जैसे गुर्दे, यकृत आदि को शक्ति प्रदान करता है, जिससे वे अपने अतिरिक्त कार्यों को अधिक क्षमता के साथ सम्पन्न कर सकें।
03. रक्त शिराओं तथा नलिकाओं एवं तंत्रुओं पर पड़ने वाले आवश्यकता से अधिक दबाव को कम करने के लिए चिकित्सक योग तथा अन्य सम्बन्धित प्रविधियों का सहयोग प्राप्त करता है।
04. शरीर के सभी अंगों तथा कोषाणुओं को सामान्य रक्त की आपूर्ति करने का प्रयास करता है।
05. रोगी के स्नायुविक तथा माँसपेशीय तनाव को कम करता है।

06. नलिकाविहीन ग्रन्थियों के कार्यों को सामान्य बनाने का प्रयास करता है।
07. व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाने के लिए मंत्रणा देता है।
08. जीवनशैली के परिवर्तन के लिए मनोवैज्ञानिक सहायता देता है।
09. प्राकृतिक जीवन शैली को अपनाने के लिए रोगी की मनोवृत्ति में परिवर्तन लाता है।

(10) प्राकृतिक चिकित्सा का क्षेत्र

प्राकृतिक चिकित्सा निम्नक्षेत्रें में अपनी भूमिका सम्पादित कर रही है :-

1. स्वास्थ्य का संवर्धन (Promotion of health)

प्राकृतिक चिकित्सा पहले एक जीवन पद्धति है, बाद में चिकित्सा पद्धति। अतः इसका मूल उद्देश्य सामान्य जनता के स्वास्थ्य के स्तर को ऊँचा उठाना है। इसके लिए स्वास्थ्य शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार करना आवश्यक अंग समझा जाता है। लोगों को उचित भोजन, सफाई एवं स्वच्छता, मल का निष्कासन, वैक्टीरिया की रोकथाम कराने के उपायों का ज्ञान कराया जाता है। वैयक्तिक स्वास्थ्य पर विशेष बल दिया जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा में मुख्य रूप से शारीरिक तंत्रों की शुद्धता एवं सफाई पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

2. रोगों की रोकथाम (Prevention of diseases)

रोगों की रोकथाम के लिए तीन उपायों को मुख्यरूप से उपयोग में लाया जाता है :-

1. शरीर की जीवनीशक्ति को बढ़ाना।
2. शरीर से विजातीय पदार्थो को बाहर निकालना।
3. हाँनिकारक वैक्टीरिया बढ़ने से रोकना।

3. रोगों का उपचार (Treatment of diseases)

प्राकृतिक चिकित्सा के द्वारा न केवल सामान्य अपितु जटिल रोगों का उपचार सम्भव है। आज वैज्ञानिक एवं चिकित्सीय दोनों स्तर पर प्रमाणित हो चुका है कि प्राकृतिक चिकित्सा एक अत्यन्त उपयोगी पद्धति है, जिसके द्वारा उन रोगों का उपचार सम्भव है जो अन्य चिकित्सा पद्धतियों द्वारा ठीक नहीं किये जा सकते हैं।

4. पुनर्वासन (Rehabilitation)

प्राकृतिक चिकित्सा में पुनर्वासन का कार्य एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। रोगी को चिकित्सीय, सामाजिक,शैक्षिक, सांवेगिक तथा मनोवैज्ञानिक सभी प्रकार से स्वस्थ बनाने का प्रयास किया जाता है।

(11) प्राकृतिक चिकित्सा में ज्ञान का क्षेत्र

प्राकृतिक चिकित्सा को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करने के लिए निम्नलिखित क्षेत्रों का ज्ञान होना आवश्यक होता है :-

1. मानव शरीर रचना तथा उसके विभिन्न अंगों का ज्ञान।
2. समुदाय में उपलब्ध चिकित्सकीय सेवाओं का ज्ञान।
3. व्यक्ति की मनोवृत्ति, सम्प्रेरणा, तथा व्यक्तित्व आँकलन का ज्ञान।
4. अहं की कार्यात्मकता का ज्ञान।
5. समाज के मूल्यों, प्रथाओं, जनरीतियों, प्रतिबंधों, तथा समस्याओं का ज्ञान।
6. पुनर्वासन के विभिन्न क्षेत्रों का ज्ञान।
7. प्राकृतिक चिकित्सा की प्रतिविधियों के उपयोग का ज्ञान।

(12) प्राकृतिक चिकित्सा में निपुणताएँ

प्राकृतिक चिकित्सक में निम्नलिखित निपुणताओं का होना आवश्यक होता है :-

1. रोगी से अर्थपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने में निपुणता।
2. रोगी की उपचार हेतु स्वीकृति एवं विश्वास प्राप्त करने की निपुणता।
3. मनो-सामाजिक तथ्यों को संकलित करने की निपुणता।
4. रोग से सम्बन्धित सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक कारकों के विश्लेषण की निपुणता।
5. रोगी को प्राकृतिक जीवन-शैली अपनाने के लिए प्रेरित करने की निपुणता।
6. प्राकृतिक चिकित्सा की विभिन्न पद्धतियों के समुचित उपयोग की निपुणता।
7. योगासनों का समुचित ज्ञान तथा उनके उपयोग की कुशलता।
8. रोगी को अपनी भावनाएँ तथा समस्याएँ वास्तविक रूप से स्पष्ट कराने की निपुणता।
9. रोगी की भावनाओं को सकारात्मक रूप देने की निपुणता।
10. स्वास्थ्य उन्नति तथा संवर्धन के मापन की निपुणता।

(13) प्राकृतिक चिकित्सा में चिकित्सा पद्धतियाँ

प्राकृतिक चिकित्सा की निम्न प्रमुख पद्धतियाँ हैं :-

1. जल चिकित्सा

जल नेति, आँख-स्नान, कुंजल, गर्म जल-पाद, ठंडा जल-पाद, कटि स्नान, जननीय स्नान, काम्प्रेस, गर्म पैक्स, बर्फपैक्स, ठंडा सिज़ स्नान, भाप स्नान, औषधीय भाप, एनिमा, पूर्ण चादर लपेट, रीढ़ स्नान, आदि ।

2. मृदा चिकित्सा

नाभिपैक, उदर पैक, स्पाइनलपैक, आँखों के लिए पैक, मस्तक का पैक, सर के लिए पैक, पूरे शरीर के लिए पैक, मृदा स्नान ।

3. रंग चिकित्सा, 4. सूर्य किरण चिकित्सा, 5. मालिश चिकित्सा, 6. उपवास चिकित्सा, 7. भौतिक चिकित्सा, 8. ओस्टिओपैथी, 9. चीरो-चिकित्सा, 10. विद्युत चिकित्सा, 11. आहार चिकित्सा, 12. जड़ीबूटी चिकित्सा, 13. मंत्र चिकित्सा, 14. विश्वास चिकित्सा, 15. संगीत चिकित्सा, 16. मनोचिकित्सा, 17. विश्राम चिकित्सा, 18. व्यायाम चिकित्सा, 19. योगचिकित्सा।

●●●

अध्याय-2

प्राकृतिक चिकित्सा का इतिहास

मानव जीवन की प्रगति के साथ ही साथ चिकित्सा प्रणालियों में भी परिवर्तन, परिवर्धन तथा विशेषीकरण आता गया। सभ्यता की प्रगति के साथ ही साथ रहन-सहन के ढंग बदलने लगे। पहले सादी जड़ी बूटियाँ व्यवहार में लायी गयीं फिर उनसे तरह-तरह की औषधियां बनने लगीं। विश्व में सबसे पहले औषधियों तथा शल्य चिकित्सा का कार्य भारत में ही आविष्कृत हुआ। सन् 1808 में प्रकाशित पुस्तक ''हिस्ट्री आफ मेडिसिन एमाँग एशियाटिक्स'' (History of Medicine among Asiatics) में वाइज (Wise) ने लिखा है कि आयुर्वेदीय औषधियों का प्रचार कार्य धार्मिक उपदेशों के साथ-साथ सबसे पहले भारत में प्रारम्भ हुआ।

1. मिश्र, चीन, रोम, अरब, ग्रीस आदि में प्राकृतिक चिकित्सा

ईसा के जन्म से चार सौ वर्ष पहले ग्रीस के हिपोक्रेट्स ;भ्पचवबतंजमेद्ध प्राकृतिक चिकित्सा के जनक कहे जाते हैं। उनकी लिखी पुस्तकों से ज्ञात होता है कि उनके समय तक २६५ औषधियों का आविष्कार हो चुका था, लेकिन ये औषधियाँ मुख्यतः कुछ नये रोगों में ही प्रयोग की जाती थीं। यद्यपि हिपोक्रेट्स इन औषधियों में विश्वास रखता था, लेकिन उनकी धारणा थी कि प्रकृति में ही रोग निवारण करने की शक्ति है तथा सामान्य रोग ;ब्नजम क्पेमेंमेद्ध स्वयं ही शरीर में प्राकृतिक तरीके से उभार लाकर ,ब्नतंजपअम बतपेपेद्ध शरीर के भागों में से एक अधिक के द्वारा विकारों को बाहर कर देते हैं। हिपोक्रेट्स का कहना था कि चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि वह रोगी में आये बदलाव का अनुमान पहले से कर ले, जिससे वह उन प्राकृतिक तरीकों को सहज सफल होने में सहायता दे तथा रोगी चिकित्सक की मदद से रोग निवारण कर सके। हिपोक्रेट्स ने यह इसलिए कहा क्योंकि उभाड़ के समय रोगी परेशान हो जाता है तथा अपना उपचार बदलने पर होता विवश है। हिपोक्रेट्स और उनके शिष्य चिकित्सा के समय भोजन देने में भी विशेष घ्यान रखते थे और विविध रोगों में न्यूनाधिक हेरफेर कर के भोजन देते थे।

हिपोक्रेट्स को जल की भौतिक विशेषताओं का पूरा-पूरा ज्ञान था। उन्होंने ऊष्ण तथा शीतल दोनों प्रकार के जल का उपयोग ज्वर, अल्सर, हैमरेज तथा अन्य

रोगों में किया। उन्होंने कहा कि शीतल जल का स्नान लघुकालीन (Short duration) होना चाहिये उसके तुरन्त बाद या घर्षण स्नान करना चाहिए। लघुकालीन शीतल स्नान से शरीर गर्म रहता है। इसके विपरीत ऊष्ण जल के स्नान से विपरीत प्रभाव पड़ता होता है।

रोम में जल स्नान पर विशेष महत्त्व दिया जाता था। राजा जन सामान्य के स्नान के लिए बड्ले-बड़े स्नानागार बनवाते थे, जिनमें हजारों लोग एक साथ स्नान कर सकते थे। शीतल तथा ऊष्ण दोनों प्रकार के जल की व्यवस्था होती थी। एक्लेपियाडेस (Asclepiades) ने रोगों के उपचार के लिए जल का विभिन्न रूपों जैसे ऊष्ण तथा शीतल स्नान, डूसेज, कम्प्रेसेज आदि में प्रयोग किया। उनका एक शिष्य अटोनियस मूसा (AutOnious Musa) ने अगस्त्स (Augustus) राजा की ऑख की बीमारी शीतल जल से दूर करके विशेष ख्याति प्राप्त की। पुरस्कारस्वरूप उनकी एक मूर्ति इस्कूलेपियस (Esculapious) मंदिर में बनायी गयी।

बवेरिया (Bavaria) के फादर नीप (Father Kneipp) ने प्राकृतिक चिकित्सा का उपयोग बड़े उत्साह से किया और जड़ी बूटी व जल के प्रयोग सम्बन्धी बहुमूल्य आविष्कार किये।

प्लिनी (Pliny) के अनुसार पॉचवी शताबदी में रोम में वाथ्स (Baths) ही एक मात्र रोगों के उपचार का तरीका था। सेलसस (Celxus) तथा अन्य रोम के चिकित्सकों ने बाथ्स का उल्लेख अपनी कृतियों में किया है।

मध्यकाल में अरब के चिकित्सकों ने जल चिकित्सा को महत्त्व दिया। रेजेज (Rhazes) ने ज्वर के ताप को कम करने के लिए बर्फीला जल थोड़ा पीने की सलाह दी। एवीसेना (Avicenna) ने कब्ज निवारण हेतु शीतल जल का स्नान तथा मट्टी को लाभकारी बताया।

लयोन्स (Lyons) के एम० वारा (M. Barra) ने 1675 में एक पुस्तक (L'usages dela gluce, de la. Neige, et Du Froid)The use of ice, of snow and of cold) प्रकाशित की। इस पुस्तक में उन्होंने बर्फ, तथा शीतल जल का विविध प्रकार से उपयोग करने की तकनीक का वर्णन किया। एक इटली के चिकित्सक लानजानी (Lanzani) अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ज्वर के उपचार हेतु अंदरूनी तरह से जल के उपयोग पर एक शोध निबन्ध लिख डाला। उन्हीं दिनों बरनारडिनों (Bernardino) ने अपच, स्नायुविक विकार, हैमरोग आदि में जल चिकित्सा का इतना अधिक उपायोग करना प्रारम्भ किया कि उन्हें "कोल्डवाटर डाक्टर" के नाम से जाना जाने लगा।

कुलेन (Cullen) ने चिकित्सक के रूप में जल के संदर्भ में कुछ व्यावहारिक अवलोकन प्रस्तुत किये। उन्होंने ज्वर के उपचार के लिए जल के प्रभाव के

सम्बन्ध में कहा कि जब प्रतिक्रिया की हिंसा को कम करने के लिए (Moderate the violence of reaction) जल का उपयोग किया जाता है, तो उसका प्रभाव शांतिदायक (Sedetive) होता है, लेकिन जब हृदय और धमनियों के कार्यों को बढ़ाने तथा संबल देने के लिए जल का उपयोग किया जाता है, तो वह टॉनिक का कार्य करता है।

2. इंग्लैण्ड में प्राकृतिक चिकित्सा

सन् 1697 ई0 में सर जान फ्लोयर (Sir John Floyer) ने "हिस्ट्री आफ कोल्ड वेदिंग (History of Cold Bathing) नामक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने शीतल जल के महत्व स्नान पर विस्तार से प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि शीतल जल के स्नान देने से पहले रोगी को पसीना अवश्य आना चाहिये। इसके लिए रोगी को एक गीली चादर से लपेट कर कम्बल से ढक देना चाहिये। इसके बाद पसीना आ जायेगा, तब स्नान कराना चाहिए। उन्होंने लिचफील्ड (Litchfeld) में वाटर क्योर केन्द्र बनाया। इसमें दो कमरे हुआ करते थे। एक कमरे में रोगी को ऊष्ण स्नान तथा शुष्क लपेट पसीना लाने के लिए दी जाती थी, दूसरे कमरे में शीतल जल की स्नान करवायी जाती थी। दोनों कमरे एक दूसरे से बिल्कुल बगल-बगल थे।

जान हनकाक (John Han Cock) ने 1923 ई0 में एक पुस्तक फेब्रीफूगल मैगनम (Febrifagal Magnum) प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने जल के पीने से ज्वर, चेचक, खसरा आदि में कितना लाभ होता है, विवरण प्रस्तुत किया। उन्होंने पानी अधिक पिलाकर तथा कम्बल लपेट कर कितने ही रोगियों को अच्छा किया।

अट्ठारहवी शताब्दी के अन्तिम वर्षों में कुरी (Currie) तथा जैक्सन (Jackson) ने ज्वर पर जल चिकित्सा का वैज्ञानिक अध्ययन किया। उनके प्रयास से इंग्लैण्ड में प्राकृतिक चिकित्सा का प्रभाव बढ़ा। कुरी ने जल चिकित्सा के अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उदाहरण के लिए उन्होंने कहा कि ज्वर में जल चिकित्सा विशेषकर ऊष्ण तथा शीतल (बदल-बदल) के प्रयोग से –

1. ठंड स्तर से ठंड कम हो जाती है।
2. ऊष्ण स्तर से ऊष्ण कम हो जाती है।
3. रक्त वाहिनियों की ऐंठन समाप्त हो जाती है।
4. जीवनी शक्ति को सहायता मिलती है।

उन्होंने अधिक से अधिक शीतल जल के पीने की सलाह दी। जहाँ पर जल का तापक्रम 90 डिग्री फारेन हाइट से कम न हो वहाँ पूर्ण शरीर स्नान (Immersion) की सलाह दी। उन्होंने कहा कि पूर्ण शरीर स्नान के बाद रोगी को खुली हवा में रखना चाहिये, जिसमें शरीर में वाष्पीकरण से अधिक शीतल हो सके। उन्होंने आगाह किया कि अधिक समय तक स्नान करने से थकान आ जाती है। अतः रोगी को स्नान के बाद शीघ्रता से तौलिये के द्वारा रगड़ कर सुखा देना चाहिए। जब बहुत

ही अधिक अवसाद हो गया हो तो ऊपरी तथा नीचे के धड़ को खूब रगड़कर पेट पर ऊष्ण जल से भरी रबर की थैली रखनी चाहिये।

कुरी ने ज्वर जल चिकित्सा की प्रतिक्रियाओं का भी अवलोकन किया और कहा कि उच्च ज्वर में लघुकालीन ठंडे जल का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे ज्वर बढ़ जाता है। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि रोगियों के ठंडे जल के बाद ऊष्ण जल के प्रयोग का भी विपरीत प्रभाव हो सकता है। उन्होंने गीले कम्बल लपेट (wetblanket) को ज्वर में उपयोग की सलाह दी। उन्होंने फेफड़े के हैमरेज में ठंडे जल से स्नान को प्राथमिकता दी। हृदय धमनियों के हैमरेज (Pulmonany Hamorrhage) में कमर तक ठंडे पानी में डुबाने के लिए कहा।

क्राफोर्ड (Crawford) ने भी 1781 में शीतल जल के शरीर पर प्रभाव का अध्ययन किंया तथा उपचार हेतु उपयोग भी किया।

डा0 हेनरी बेन्जामिन (Henry Benjamin) प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उनके द्वारा रचित पुस्तक इवरी बडी गाइड टू नेचर क्योर (Every body 's Guide to Nature Cure) एक प्रसिद्ध पुस्तक है।

3. अमेरिका में प्राकृतिक चिकित्सा

डा0 बेन्जामिन रश (Benjamin Rush) जो फिलेडोल्फिया के रहने वाले थे, उन्होंने जल का सफल प्रयोग किया और उन्होंने सन् 1794 में ज्वर की दशा में सिर पर बर्फ की थैली रखने की प्रथा प्रारम्भ की। उन्होंने गठिया, वातरोग, चेचक, खसरा, तथा अन्य रोगों में भी जल चिकित्सा का सफल प्रयोग किया। न्यूयार्क चिकित्सालय में 1795 के लगभग डा0 बार्ड तथा होसेक(Bard and Hosack ने ज्वर में ठंडे जल का प्रयोग करना आरम्भ किया। मिट्टी चिकित्सा का भी उपयोग ध ीरे-धीरे बढ़ा। वरजाइना (Virginia) के डा0 हेनरी विल्सन लाकेटी (Henry Wilson Lockette) ने सन् 1801 ई0 में ऊष्ण जल से स्नान पर अपने प्रयोगों का एक निबन्ध लिखकर पेन्सिलवानियन (Pennsylvania) विश्वविद्यालय के मेडिकल फैकल्टी के ट्रस्टियों के समक्ष प्रस्तुत करके डाक्ट्रेट की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने मुख्य रूप से निम्नलिखित बातों एवं प्रतिक्रियांओं का अवलोकन किया।

01. 110 डिग्री फारेन्हाइट तापक्रम का पाव स्नान नाड़ी की गति को प्रति मिनट 92 से 96 तक कर देता है। पैरों में लाली आ जाती है तथा पाँव की शिरायें फैल जाती हैं। हल्का किन्तु कुछ समय के लिए सिर दर्द होता है। इससे स्पष्ट होता है कि इस उपचार का प्रभाव रोग पर उत्तेजक (Exciting) हुआ है।
02. 109 डिग्री फारेनहाइट तापक्रम पर जल स्नान से नाड़ी प्रति मिनट गति

92 से बढ़कर 114 तक हो जाती है। शिराओं में रक्त संचय, नींद की अवस्था (Drowsiness) तथा काफी पसीना आता है। इस प्रकार की स्थिति स्नान के 15 मिनट बाद तक बनी रहती है।

03. 96 डिग्री फारेनहाइट तापक्रम पर जल स्नान से 10 मिनट के अन्दर नाड़ी की गति 79 से 64 हो जाती है। जबकि 100 डिग्री तापक्रम 80 नाड़ी गति तापक्रम हो जाती है।120 डिग्री होने पर नाड़ी की गति 15 मिनट के अन्दर 92 से अधिक हो जाती है।

डा0 लाकेट ने इसी प्रकार के अनुभव वाष्प स्नान (Steam Bath) से भी किये जिसके कारण वाष्प स्नान द्वारा पसीने निकालने की नयी विधि अपनायी गयी।

आज अमरीका में प्राकृतिक चिकित्सा एक चिकित्सा विज्ञान के रूप में कई विश्वविद्यालयों में पढ़ायी जा रही है। तथा अनेक चिकित्सालय महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। डा0 जान बेल (Johan bell) द्वारा रचित पुस्तक ''वाथ'' एक प्रसिद्ध कृति है।

डा0 हेनरी लिण्डलहार (Henry Lindlhar) ने अमरीका में प्राकृतिक चिकित्सा का खूब प्रचार प्रसार किया। उन्होंने प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र में क्रान्ति ला दी। उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण साहित्य का लेखन किया, जिनमें फिलॉसफी आफ नेचुरोपैथी तथा प्रेक्टिस आफ नेचुरल थेराप्यूटिक्स (Philodophy of Naturopathy, Practice of Natural Therapeutics) अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं।

डा0 केलाग (J.K. Kellogg) ने रेशनल हाइड्रैथेरैपी (Rational Hydro Therapy) नामक पुस्तक लिखकर प्राकृतिक चिकित्सा के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। डा0 केलाग ने आहार चिकित्सा, मालिश, धूप चिकित्सा, आदि अनेक विषयों पर अनेकानेक पुस्तकें लिखीं। आपका अपने ढंग का एक ही सेनेटोरियम है, जहाँ पर संसार में प्रचलित सभी चिकित्सा प्रणालियों जैसे जल चिकित्सा, आहार चिकित्सा, शल्य चिकित्सा, विद्युत चिकित्सा, द्वारा रोगों का उपचार होता है। वहाँ यह भी बताया जाता है कि उत्तम स्वास्थ्य तथा लम्बी आयु कैसे प्राप्त करें।

डाक्टर मैकफेडन (Macfadden) ने प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने ''फास्टिंग फार हेल्थ, '' तथा '' मैकफेडेन इन्साइक्लोपीडिया फार फिजिक्ल कल्चर'' जैसी अनेको पुस्तकें लिखीं।

वेनेडिक्ट लुस्ट (Benedict Lust) अमेरिका के एक जाने माने प्राकृतिक चिकित्सक रहे हैं। उन्होंने ''नीप वाटर क्योर'' (Kneipp Water cure) नामक एक मासिक पत्रिका निकाला तथा न्यूयार्क में नेचुरोपैथी का एक स्कूल तथा कालेज

स्थापित किया। आपने अमेरिकन स्कूल आफ नेचुरोपैथी तथा अमेरिकन स्कूल आफ कैरोप्रेक्टिस की भी स्थापना की।

4. जर्मनी में प्राकृतिक चिकित्सा

आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सा के प्रणेता विनसेन्ज प्रेसनीज (Vincenz preissnitz) माने जाते हैं। प्रेसनीज पढ़ा लिखा न होने के कारण अपने गाँव के आसपास पहाड़ी जंगलों में दिन में गायें चराया करता था। एक दिन जब वह केवल आठ वर्ष का ही था, अपनी गायों को चराते हुये उसने देखा कि एक हिरनी बुरी तरह आधे घन्टे पानी में खड़े होने के बाद पानी से निकलकर जिधर से आयी थी उधर ही चली गयी। दूसरे दिन भी हिरनी करीब उसी समय आयी और इस बार आधे घन्टे से कुछ अधिक समय तक पानी में रुकने के पश्चात् पुनः चली गयी। प्रिसनीज ने देखा कि तीन सप्ताह तक हिरनी इसी प्रकार आती रही। उन्होंने पाया कि हिरनी का लँगड़ाना धीरे-धीरे कम हो गया था। आखिर में सामान्य रुप से दौड़ने लगी थी। इस घटना का प्रिसनीज पर जल का प्रभाव अंकित हो गया।

प्रेसनीज जब सोलह वर्ष का था, तो एक दिन जंगल से लकड़ी काट कर लौटते समय बर्फ गिरने लगी। वह आंधी तूफान में फँसकर चार पसलियाँ तोड़ बैठा। पसलियाँ बुरी तरह कुचल गयी थीं। उसने अपनी चिकित्सा हिरनी की तरह जल से की। सूती कपड़े की गद्दी पानी में भिगोकर वह अपने आहत अंग पर रखने लगा और गद्दी जब सूख जाती तो फिर उसे पानी में भिगोकर रख लेता। इस तरह कुछ समय के पश्चात् वह बिल्कुल स्वस्थ हो गया। प्रिसनीज सन् 1829 में जल चिकित्सा प्रणाली की स्थापना की। इनकी नयी विधि से अच्छा होने के लिए बहुत संख्या में दूर-दूर से रोगी आने लगे। प्रिसनीज की चिकित्सा प्रणाली में प्रधानता जल के व्यवहार और भोजन के सादगी की थी। इनका आधारभूत सिद्धांत पसीना निकाल कर ठंडे जल का प्रयोग था। इसके बाद वह रोगी की प्रतिरोधक क्षमता शक्ति को भी बढ़ाने में सहायता करने लगा।

प्रेसनीज के बाद जोहानेस श्रोथ (Johannes Schroth) ने इस कार्य को आगे बढ़ाया।

प्राकृतिक चिकित्सा को पुनर्विकास करने तथा वर्तमान उन्नति के शिखर पर लाने का श्रेय लूइस कुने (Louis Kuhne) को जाता है। कुने की लिखी जर्मन भाषा में अनेक पुस्तकों में "दि न्यू साइन्स आफ हीलिंग (The New Science of Healing) तथा दि साइन्स आफ फेसिफल इक्सप्रेसेन (The Science of Facial Experession) विश्व में प्रसिद्ध है। कुने 20 वर्ष की आयु में फेफड़े ,पेट तथा मस्तिष्क के रोगी हो गये थे अनेक उपचार के पश्चात् जब प्राकृतिक चिकित्सा को

अपनाया तो पूर्ण स्वस्थ हो गये। इसके बाद स्वयं इसके महान बनाने वाले बन गये तथा प्रचार व प्रसार का अद्भुत कार्य किया। हेनरिक लैमैन (Heinrich Lamann) ने मानव स्वास्थ्य के लिए आवश्यक पोषक तत्त्व से सम्पन्न प्राकृतिक भोजनों के महत्त्व का अनुसंधान करके आहार विज्ञान में बड़ी सहायता पहुँचायी।

प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र में एडोल्फ जुस्ट (Adolf Just) का नाम प्रसिद्ध है। उन्होंने रिटर्न टु नेचर (Return to Nature) नामक पुस्तक लिखकर प्राकृतिक चिकित्सा में नये विचार प्रस्तुत किये। उन्होंने साधारण मिट्टी के प्रयोग द्वारा सभी रोगों को दूर किया जाना सम्भव बताया।

5.भारत में प्राकृतिक चिकित्सा का इतिहास

प्राकृतिक चिकित्सा रोगों को दूर करने का एक अति प्राचीन विज्ञान और जीने की कला है। यह विज्ञान इतना ही पुराना है जितना मानव जीवन। प्रकृति के तत्त्व जिनसे जीवन की उत्पत्ति होती है, सदैव वही तत्त्व रोगों को दूर करने में सहायक रहे हैं। भारत में प्राचीनकाल से ही तीर्थ स्थानों में घूमना, नदी तट पर आश्रमों में रहना, उपवास रखना, सादा भोजन करना, पेड़ पौधों की पूजा करना, सूर्य, अग्नि तथा जल की पूजा करना आदि कर्म के अंग माने जाते रहे हैं। यदि किसी प्राकृतिक नियम के तोड़ने में कोई कभी अस्वस्थ हो जाता था तो उपवास, जड़ी बूटियों तथा अन्य प्राकृतिक साधनों का प्रयोग कर वह फिर स्वस्थ हो जाता था।

वेदकाल के वेदों तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में इसके संदर्भ मिलते हैं। ऋग्वेद में कहा गया हैः

आयो इदां उभेषजोरायो अभीव चातकीः।
आपस सर्वस्प भेषजो स्तास्तु कृष्णान्तु भेषजः।।

जल ही औषधि है, जल रोगों का दुश्मन है। यह सभी रोगों का नाश करता है, इसलिये यह तुम्हारा भी रोग दूर करें।

अथर्ववेद में भी कहा गया हैः

आपो इदा भेषजोरायो अभीवचातनी।
आपस सर्वस्य भेषजो स्तास्ते मुअ्जन्त सोत्रमः।।

जल ही औषधि है, जल रोगों को दूर करता है, जल सभी रोगों का संहार करता है। इसीलिए यह जल तुम्हें भी कठिन रोग के पंजे से छुड़ा ले।

अथर्ववेद में आगे कहा गया है :

अप्स्वन्तरय मृतमप्नु।

जल में अमृत है। जल में औषधियाँ हैं। ऋग्वेद में कहा गया है

सर्वेषाम भैषजम् अंप्सुमे।

हे मनुष्यों, सभी प्रकार की औषधियाँ तुम्हारे लिये जल में मैंने रखी हैं।

वायु चिकित्सा सम्बन्धी अनेक ऋचायें वेदों में मिलती हैं। ऋग्वेद में कहा गया है:

वात आ वात भेषजुं शंभु मयोभुनोहृदे।
प्रण आयूषि तारिषत्।। (ऋग्वेद 10/186/3)

वायु हमारे हृदयों में शांति पैदा करे। वह सुख देने वाला होकर हमारे पास बहती रहे। वह हमारी आयु को दीर्घ करे।

आगे कहा गया है-

यद्यो वात ते गृहे अमृतस्य निधिर्हितः ततोनोदेहि जीवसे।
(ऋग्वेद 10/186/3)

हे वायु ! तेरे घर में जो वह अपूर्व अमृत का खजाना है, उसमें से हमारे दीर्घ जीवन के लिए थोड़ा सा भाग दें।

अग्नि तत्त्व चिकित्सा के सम्बन्ध में ही वेदों में वर्णन मिलता है

नः सूर्याय शांताप सर्व रोग विनाशिने।
आपुरारोग्यमैश्वर्य देहि देव नमोऽस्तुते।।

शांति प्रदान करने वाले, सर्व रोग नाश करने वाले सूर्य भगवान को नमस्कार है। सूर्य देव आयु, आरोग्य और ऐश्वर्य हमें दो, आपको नमस्कार है।

वेदों में सूर्य जो कि अग्नि तत्त्व का मूल है की उपासना सम्बन्धी अनेक ऋचायें हैं, जो इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं, कि भारतवासी अनादिकाल से ही सूर्य की उपयोगिता को मानते रहे हैं। सूर्य को अग्निदेवता के रूप में पूजते हैं।

मिट्टी के महत्त्व के विषय में लिखा है–

यद्धो देवा उपजी का आसिंच्चन धन्वन्युदकेय।
तेन देव सुतनेदं दूषयिता विषम।।

हे मनुष्यों ! मुंह में लाई गई मिट्टी और उसमें अपने मुंह के मिलाये जल से दीपक को जो विमोट (वल्मीकि) बनाती है इस देव रचित (प्राकृतिक) भेषज से रोग- रूपी विष को नष्ट करो।

आयुर्वेद में कहा गया है:

कर्दमों दाह, पिन्ताति शोध हनः शीतल सरः।

नंगे पैरों से जल में सनी हुई मिट्टी ठंड देने वाली होती है। शौच साफ लाती है। जलन, पित्त की पीड़ा और सूजन को दूर करती है।

कृष्णमृत ज्ञतदाहास्त्र प्रदरश्लेष्म पित्तनुत।।

काली मिट्टी, घाव, दाह, रक्तविकार, प्रदर, कफ तथा पित्त को मिटाती है।

(ख) वेदकाल के बाद पुराण काल

पुराण काल में प्राकृतिक चिकित्सा का उपयोग रोगों को दूर करने तथा स्वास्थ्यवर्धन के लिए किया जाता है। प्रसंग आता है, कि राजा दिलीप दुग्ध कल्प

एवं फल सेवन द्वारा तथा राजा दशरथ की रानियों ने फल कल्प द्वारा संतान लाभ प्राप्त किया था। उपवास सभी रोगों से मुक्त होने का बेजोड़ उपचार माना जाता था।

रावण के समय जड़ी बूटियों का औषधि के रूप में प्रयोग होने लगा, क्योंकि वह उपवास नहीं कर सकता था। वैद्यों ने जड़ी बूटियों की खोज की और उनका काढ़ा अथाव लेह का उपयोग होने लगा।

(ग) महाबग्ग नामक बौद्ध ग्रन्थ

इस ग्रन्थ में लिखा है कि एक बार भगवान बुद्ध श्रावस्ती नगर से राजगृह जाते हुये कलंद निवाद नामक संघ में रुके थे। वहाँ एक बौद्ध भिक्षु को सांप ने काट खाया। इसकी सूचना भगवान बुद्ध को मिली। उन्होंने सलाह दी कि विष-नाश करने के लिए चिकनी मिट्टी, गोबर, मूत्र और राख का उपयोग किया जाय। इसी प्रकार यह भी प्रसंग मिलता है कि पिलीद वक्क नामक भिक्षु के बीमार होने पर भगवान बुद्ध ने भाप स्नान तथा जल स्नान की सलाह दी थी।

(घ) सिन्धु घाटी की सभ्यता

इस काल में प्राकृतिक चिकित्सा का उपयोग होता था। मोहनजोदड़ों में पाये गये वृहद और सर्वसुलभ स्नानागार, जिसमें गरम-ठंडे दोनों ही प्रकार के स्नान का प्रबन्ध था। इससे ज्ञात होता है, कि 350 ई0 पूर्व जल चिकित्सा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी।

(च) चरक संहिता

चरेसंहिता में जल के महत्त्व का वर्णन मिलता है। जल के दोष से अनेक रोग हो जाते है

विविधों हेतुर्व्याधिजनकः प्राणिनां भवतिः साधारणः

जीवधारियों में दो प्रकार के कारक रोग उत्पन्न करते हैं : साधारण तथा असाधारण।

साधारण के अन्तर्गत वायु, जल, भूमि तथा समय कारक आते हैं, जो सभी को प्रभावित करते हैं। जब इनकी कमी हो जाती है, तो रोग हो जाता है। असाधारण में आहार आता है।

इसी प्रकार चरक संहिता में रोगो को दूर करने के लिए गरम- ठंडे द्रव से स्नान करने की सलाह दी गयी है।

हर्ष के समय भी प्राकृतिक चिकित्सा का अस्तित्व मिलता है। चीनी-यात्री ह्वेनसांग ने जलाशयों, स्नानागारों तथा उपचार हेतु जलस्नानों का वर्णन किया है। इसी प्रकार मुस्लिमकाल में भी प्राकृतिक चिकित्सा का नाम मिलता है।

लेकिन उसके बाद प्राकृतिक चिकित्सा लुप्त हो गयी और यलोपैथी का प्रभाव बढ़ने लगा। अंग्रेजी शासनकाल में प्राकृतिक चिकित्सा के यदा-कदा अन्य स्थानों पर संदर्भ मिलते हैं।

6. महात्मा गांधी– प्राकृतिक चिकित्सा के जनक

वर्तमान शताब्दी में प्राकृतिक चिकित्सा को नया जीवन देने का श्रेय राष्ट्रपिता महात्मागाँधी को जाता है। उन्हें भारत का प्रथम प्राकृतिक चिकित्सक या जनक कहा जाता है। उन्होंने इस चिकित्सा पद्धति का गहरायी से अध्ययन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धति -सभी- चिकित्सा विधाओं से उत्तम तथा कम खर्चीली है। उन्होंने सर्वप्रथम प्राकृतिक चिकित्सकीय विधियों का अपने तथा अपने परिवारजनों और आश्रमवासियों पर प्रयोग किया। महात्मा गांधी ने अपनी पुस्तक की "टु हेल्थ" में लिखा हैं कि यद्यपि मै 1901 तक कभी भी बीमार पड़ने पर चिकित्सकों के पास नहीं गया। उनके द्वारा बताये गये उपचारों को कर लेते थे। कब्ज के लिए फ्रूटसाल्ट ले लेते थे। लेकिन कब्ज की शिकायत बनी रही तथा उन्हें प्राकृतिक चिकित्सा की विधियों में रुचि बढ़ती गयी। उन्होंने लूइस कुने की पुस्तक-"न्यू साइन्स आफ हीलिंग" पुस्तक पढ़ी और कब्ज के लिए कटि स्नान का सहारा लिया। इससे लाभ तो हुआ, लेकिन आशातीत सफलता नहीं मिली। फिर एक मित्र ने उन्हें जुस्ट (Just) की पुस्तक "रिर्टन टू नेचर" दी। उसमें मिट्टी चिकित्सा का वर्णन पढ़ करके गाँधी जी ने मिट्टी का उपचार फौरन प्रारम्भ कर दिया। मिट्टी चिकित्सा का प्रभाव अद्भुत हुआ। गाँधी जी साफ खेत की लाल या काली मिट्टी ठंडे पानी से सानकर साफ पतले भीगे कपड़े पर रखकर पेट पर लगाकर ऊपर से पट्टी बांध लेते थे। रात में जब जगते तो पट्टी हटा देते थे। इससे गाँधी जी का कब्ज जाता रहा। इसके पश्चात् मिट्टी तथा जल को चिकित्सा के रूप में गाँधी जी आश्रमवासियों पर करने लगे। जिसके परिणाम उत्साहवर्धक मिले। गाँधी जी ने अपने ऊपर किये गये मिट्टी के प्रयोगों के विषय में लिखा है:

"I made a mud poultice by mixing clean dry earth with water,packed it in a piece of thin cloth and kept it on the abdomen throughout the night. The result was most satisfactory. I had a natural well formed motion the next morning and from that day onwards I have hardly ever touched fruitsalt." [1]

उन्होंने आगे लिखा है कि-

"It is my experience that a mud poultice applied to the head, relieves headache in most cases, I have tried it in hundred cases." [2]

1- Gandhi, N. 11 Key to Health, Navjivan, Publishing House, Ahemdabad, 1948, P.31

2- Ibid, P. 31

''मेरा यह अनुभव है कि सिर पर मिट्टी की पुल्टिस बाँधी जाय, तो सिर दर्द चला जाता है। मैंने सैकड़ो लोगों पर करके अजमाया है।''

मिट्टी की पट्टी फोड़ों पर भी असर करती हैं। घाव भर देती है। गाँधी जी ने लिखा हैं:-

" I have applied mud to discharging abscesses as well for these cases. I prepare the poultice by packing the mud in a clean piece of cloth dipped in potassium permagnet lotion, andd apply it to the abscess after washing clean with permaganate lotion. In the majority of cases this treatment results in complete cure." [3]

यदि कोई विषैला जन्तु, डंक मार देता है तो मिट्टी की पुल्टिस से तुरन्त आराम होता है। बिच्छू के डंक मारने पर जो प्रभाव अन्य दवाओं का होता है वही प्रभाव मिट्टी की पट्टी का होता है। उच्च ज्वर में उदर तथा सिर पर मिट्टी की पट्टी रखने से बहुत लाभ होता है। यद्यपि ज्वर कम अपने समय से होता है, लेकिन रोगी को कष्ट अनुभव नहीं होता है। गाँधी जी ने लिखा है कि सेवाग्राम के टाइफाइड ज्वर के 10 रोगियों पर मिट्टी का उपयोग किया और सभी पूर्णतया अच्छे हो गये। इन रोगियों को कोई दवा नहीं दी।

" We have had about ten cases of typhoid in Sevagram with complete recovery in every case, so that the inmates of the Ashram are no longer afraid of typhoid fever. I have not used any drugs in the treatment of these cases." [4]

मिट्टी कैसी हो? गाँधी जी का विचार था कि मुलायम दोमट मिट्टी उपचार के लिए अधिक उपयुक्त होती है। लेकिन मिट्टी में कूड़ा करकट मलमूत्र आदि बिल्कुल नहीं मिला होना चाहिये। जहाँ पर रसायनिक खाद का उपयोग किया गया हो वह भी मिट्टी इलाज के लिए अनुपयुक्त होती है। मिट्टी सूखी होनी चाहिये, गहरायी से निकली हो तथा उस मिट्टी से मानव सम्पर्क कम से कम हो। यदि मिट्टी की स्वच्छता एवं सफाई के विषय में कोई सन्देह है तो सूर्य की रोशनी में विषाणयुक्त कर लेनी चाहिए।

पुल्टिस के रूप में उपयोग की गयी मिट्टी को फेंक नहीं देना चाहिए। इसका दुबारा उपयोग अच्छी तरह सुखाकर किया जा सकता है। क्योंकि सूखने के बाद उस मिट्टी में वहीं गुण पुनः आ जाते हैं। गाँधी जी के शब्दों में :

" It is safe to use soft alluvial clay, which is neither gritty not sticky. One should never use earth taken from manured soil. Earth should be dried, pounded, and passed through a fine sieve. If there is any doubt as to its cleanliness, it should be well heated and thus

---

3- Ibid, P. 31

4- Ibid, P. 32

sterilized. Mud used as a poultice on a clean surface need not be thrown away after use. It can be used again and again after drying it in the sun or on fire and pounding and sieving it. I am not aware that mud poultice made out of the same earth again and again as decribed above, is any way the less efficacious. I have myself used it in this way and did not find it any the less efficacious for repeated use." [5]

जल चिकित्सा के सम्बन्ध में गाँधी जी के विचार

गाँधी जी का विचार था कि कटि स्नान (Hip Bath) से ज्वर, अपच, कब्ज, आदि में लाभ होता है। स्नान से तापक्रम कम हो जाता है, भूख लगने लगती है तथा अपच दूर हो जाती है। रोगी तरोताजा महसूस करता है, तथा शरीर में स्फूर्ति आ जाती है। गाँधी जी ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने कटि स्नान का बृहद् स्तर पर उपयोग किया और, 95 प्रतिशत रोगियों में इससे काफी लाभ हुआ। सिज बाथ तथा फ्रिक्सन बाथ से जननीय सम्बन्धी रोगों में लाभ होता है। गाँधी जी का विचार था कि चादर लपेट (Sheet Packs) अनिद्रा में बहुत ही गुणकारी है, यद्यपि रोगी को पहले जब चादर लपेटा जाता है, तो सदमा लगता है, लेकिन बाद में उसे सुख मिलता है। धूप की गर्मी तथा त्वचा के रोगों में भी लाभकारी है। चेचक तथा खसरा में लाभ होता है। जिन रोगियों का रक्त परिभ्रमण ठीक प्रकार से न हो रहा हो, पाँव की माँसपेशियों में दर्द होता हो, पाँव में अजीबोगरीब परेशानी महसूस हो रही हो, उनमें बर्फ की मालिश (Ice massage) लाभकारी होती है। यह उपचार गर्मियों में ही लाभकारी होता है। जाड़ों में इससे कष्ट बढ़ सकता है। उष्ण जल के सम्बन्ध में गाँधी जी का विचार है कि उष्ण जल से बहुत रोगों को लाभ मिलता है। बिच्छू के डंक मारने पर उस अंग को ऊष्ण जल में कुछ समय तक रखने पर रोगी का कष्ट दूर होता है। भाप स्नान का महत्त्व बताये हुये गाँधी जी ने कहा कि यह गठिया तथा जोड़ों में दर्द के रोगों में विशेष लाभकारी है।

सूर्यकिरण चिकित्सा पर गाँधी जी के विचार

सूर्य की किरणें स्वास्थ्य के लिए बड़ी लाभकारी होती हैं। रोगों के रोगाणुओं को समूल नष्ट कर देती हैं। प्रातःकाल की सूर्य किरणों में अल्ट्रावाइलेट रेंज अधिक होती है, जो शरीर के लिए बहुत ही लाभकारी हैं। सूर्य किरण स्नान से क्षय रोग को काफी लाभ होता है। अज्ञात अल्सर के रोग में भी यह लाभकारी है।

वायु चिकित्सा पर गाँधी जी के विचार

गाँधी जी का विचार था कि स्वस्थता के लिए शुद्ध वायु नितान्त आवश्यक है। अतः प्रातःकाल का टहलना, कुछ आसनों का अभ्यास करना तथा प्राणायाम करना प्रत्येक के लिए आवश्यक माना जाना चाहिए।

5- Ibid, PP. 32-33

महतत्व चिकित्सा पर गाँधी जी का विचार

प्राकृतिक चिकित्सा का मूलाधार महतत्व अथवा ईश्वर श्रद्धा है। गाँधी जी का कहना है कि श्रद्धा से मनुष्य रोगमुक्त हो जाता है। उसका रहस्य यही है कि ईश्वर जिसकी हम उपासना करते हैं, स्वयं स्वस्थ, सत्य तथा प्रेम है और वह तो वैद्य भी है, इसलिए रामनाम का आश्रय लेने से हर प्रकार के रोग शोक दूर होने में देर नहीं लगती है।

गाँधी जी चाहते थे कि प्राकृतिक चिकित्सा विधि भारतवासियों के जिए उपयुक्त है, अतः इसका जन-जन तक प्रचार होना चाहिये। उन्होंने "नवजीवन" तथा "हरिजन" साप्ताहिक में प्राकृतिक चिकित्सा के सम्बन्ध में अनेक लेख लिखे तथा कई पुस्तकें भी लिखीं। उन्होंने अपने कार्यक्रमों में प्राकृतिक चिकित्सा को जोड़ा। उन्होंने 1946 में पूना के समीप उरली कांचन में एक प्राकृतिक चिकित्सालय की स्थापना की जो आज बहुत बड़ा प्राकृतिक चिकित्सालय है। उस चिकित्सालय के वे प्रथम चिकित्सक थे।

7. महत्त्वपूर्ण योगदान

गाँधी जी के प्रयासों से प्रभावित होकर अनेक प्राकृतिक चिकित्सा-प्रेमियों ने प्राकृतिक चिकित्सा के प्रचार व प्रसार का कार्य प्रारम्भ किया। डा० कृष्णम् राजू ने विजयवाड़ा से कुछ दूर भीमावरम नामक स्थान पर एक विशाल चिकित्सालय की स्थापना की। आपके अतिरिक्त स्व० डा० लक्ष्मीनारायण चौधरी, डा० जानकीशरण शर्मा, डा० खुशीराम दिलकश, डा० महावीरप्रसाद पोद्दार, डा० गंगाप्रसाद गौड़ 'नाहर', डा० विट्ठलदास मोदी, डा० हीरालाल, डा० एस.जे. सिंह, डा० जे.एस. जस्सावाला, डा० मेहता, डा० कुलरंजन मुखर्जी, डा० वी० वेंकटराव, मोरार जी भाई, श्री करण भाई, डा० गौरीशंकर मिश्र, डा० नरेशकुमार शास्त्री, डा० एस० एन पाण्डेय, डा० मधु गुप्ता, डा० वाई०एन० मिश्र, डा० रामशीष मिश्र, कुछ ऐसे प्राकृतिक चिकित्सक हैं, जिन्होंने प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है। आज भारत में अनेक स्वैच्छिक संस्थायें, प्राकृतिक चिकित्सालय चला रही हैं, तथा जनसामान्य की सेवा कर रही हैं।

8. प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान का भारत में शिक्षण एवं प्रशिक्षण

वर्तमान समय में 5 वर्षीय डिग्री कोर्स गाँधी प्राकृतिक चिकित्सा विद्यापीठ, अमीरपेठ, (वेगमपेठ) आन्ध्र प्रद्रेश तथा डी.एम. कालेज आफ नेचुरोपैथी एण्ड योगिकसाइन्सेज, उजेरे (कर्नाटक) में चल रहा है। इसके अतिरिक्त अनेक स्वैच्छिक संस्थायें डिप्लोमा कोर्स चला रही हैं। जैसे नेशनल इंस्टीट्यूट आफ नेचुरोपैथी, लखनऊ, राष्ट्रीय प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान संस्थान, लखनऊ, गाँधी स्मारक

निधि, राजघाट, नई दिल्ली योग प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र, देसराजपरिसर, नई दिल्ली, अखिल भारतीय प्राकृतिक चिकित्सा परिषद, नई दिल्ली आदि।

9. लखनऊ विश्वविद्यालय में प्राकृतिक चिकित्सा का शिक्षण तथा प्रशिक्षण

लखनऊ विश्वविद्यालय में प्राकृतिक चिकित्सा का सूत्रपात 2 अक्टूबर, 1992 को हुआ जब अध्यक्ष, डा सुरेन्द्र सिंह , समाज कार्य विभाग के निर्देशन में डा0 पी0 डी0 मिश्र (लेखक) के आग्रह पर गाँधी जयन्ती के दिन स्वास्थ्य तथा प्राकृतिक चिकित्सा पर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की गयी। इस संगोष्ठी में प्रो0 एम0 एस0 सोढा, कुलपति, लखनऊ विश्वविद्यालय ने प्राकृतिक चिकित्सा में डिप्लोमा कोर्स चलाने की स्वीकृति दी। एक वर्षीय पाठ्यक्रम सम्बन्धी सभी कार्यवाहियाँ पूरी की गयीं और सन् 1993-94 से एक वर्षीय पी0जी0 डिप्लोमा इन नेचुरोपैथिक साइंस ऐण्ड योग का शुभारम्भ किया गया। लेखक जो एक स्वयं मनोचिकित्सक हैं, को पाठ्यक्रम समन्वयक (कोर्स कोभाड़ीजेटर) बनाया गया। डा0 सुरेन्द्र सिंह, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष समाज कार्य जिसके अन्तर्गत यह पाठ्यक्रम चलाया गया, निदेशक बने। 22 मई, 1994 को वाह्य रोगी प्राकृतिक चिकित्सालय का शुभारम्भ हुआ। लेखक (डा0 पी0डी0 मिश्र) को इस चिकित्सालय को चलाने का कार्यभार दिया गया। 1 जनवरी, 1995 को एक सुपरिन्टेण्डेन्ट डा0 श्रीमती वीना मिश्रा तथा दो प्राकृतिक चिकित्सक श्री अनिलकुमार सिंह व श्री सत्येन्द्रकुमार मिश्र की नियुक्ति की गयी। लेखक पी0डी0 मिश्र को मुख्य प्राकृतिक चिकित्सक एवं योग विशेषज्ञ के रूप में कार्य भार दिया गया। यह पहला विश्वविद्यालय है, जहाँ पर विश्वविद्यालय परिसर में प्राकृतिक चिकित्सा की शिक्षा दी जा रही है। आशा है कि शीघ्र ही यहाँ पर डिग्री कोर्स प्रारम्भ होगा तथा उच्चतर शिक्षा की व्यवस्था होगी।

10. भारत सरकार के स्तर पर प्राकृतिक चिकित्सा के प्रचार एवं प्रसार के कार्य

भारत सरकार ने देश में भारतीय चिकित्सा पद्धतियों तथा होम्योपैथी के विकास के लिए क्रमिक अनुसंधान की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए स्वास्थ्य मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संस्था के रूप में भारतीय चिकित्सा पद्धति की केन्द्रीय अनुसंधान परिषद की स्थापना 1969 में की, जो 1978 तक आयुर्वेद, सिद्ध, यूनानी, योग तथा होम्योपैथी में वैज्ञानिक अनुसंधान कराती रही। इस पूरे समय में प्राकृतिक चिकित्सा के विकास की देख-रेख स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय सीधा स्वयं ही करता रहा। मार्च, 1978 में चार स्वतंत्र अनुसंधान परिषदों के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करने के लिए संयुक्त संस्था को भंग कर दिया गया। प्रत्येक के लिए अलग-अलग एक-एक परिषद का गठन किया गया।

केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद (Central Council for Research in Yoga and Naturopathy) 30 मार्च, 1978 को एक पंजीकृत संस्था के रूप में स्थापित की गयी। इसके शासी निकाय के अध्यक्ष स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्री तथा उपाध्यक्ष, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण राज्यमंत्री पदेन होते हैं।शासी निकाय के अन्य सदस्यों में स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय के तीन उच्च अधिकारी एवं 13 अशासकीय सदस्य हैं, जिनमें योग प्राकृतिक चिकित्सा तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के विशेषज्ञ आते हैं। परिषद के कार्यकलापों का प्रबन्ध एवं नियंत्रण, नीति निर्देशन तथा सम्पूर्ण मार्ग दर्शन शासी निकाय द्वारा ही किया जाता है।

11. केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद के शासी निकाय की संरचना (Composition of the Governing body of the Central Council For Research in Yoga and Naturopathy)

अध्यक्षः- केन्द्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मन्त्री।

उपाध्यक्षः- केन्द्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण राज्य मंत्री।

सदस्य

(अ) अशासकीय

सचिव, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय।

संयुक्त सचिव, (मनोविज्ञान चिकित्सा परिषद) स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय।

निदेशक, केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद सदस्य सचिव।

(ब) अशासकीय

चार योग विशेषज्ञ।

चार प्राकृतिक चिकित्सा विशेषज्ञ।

एक शिक्षा मंत्रालय का प्रतिनिधि।

दो आधुनिक आयुर्विज्ञान विशेषज्ञ।

निदेशक, राष्ट्रीय प्राकृतिक चिकित्सक संस्थान, पूना।

योग/ प्राकृतिक चिकित्सा में रुचि रखने वाले एक सदस्य।

केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद् के कार्य एवं उद्देश्य

1. योग तथा प्राकृतिक चिकित्सा में वैज्ञानिक अनुसंधान के उद्देश्यों तथा पैटर्न को तय करना।
2. योग तथा प्राकृतिक चिकित्सा में किसी भी शैक्षिक, प्रशिक्षण अथवा, अनुसंधान कार्यक्रम का निष्पादन करना।
3. देश की ग्रामीण जनसंख्या पर विशेष बल देते हुए रोगों के अध्ययन, निवारण एवं उपचार सम्बन्धी अनुसंधान के निष्पादन, ज्ञान के विस्तार तथा प्रायोगिक परीक्षण में निरन्तर संस्थाओं को बढ़ावा और सहयोग देना।
4. योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा की मौलिक एवं प्रायोगिक पहलुओं पर वैज्ञानिक अध्ययन का प्रारम्भ, अभिवर्धन, विकास तथा समन्वय करना।
5. परिषद के उद्देश्यों की अभिवृद्धि में शोध एवं अनुसंधान को आर्थिक सहयोग देना, तथा समान उद्देश्य रखने वाले संस्थानों, संस्थाओं, संगठनों का आदान-प्रदान।
6. परिषद के उद्देश्यों की अभिवृद्धि के लिए पत्रिकाओं, पोस्टरों, प्रदर्शनी सामग्री तथा इस प्रकार के अन्य साहित्य का निर्माण मुद्रण, प्रकाशन एवं संवर्धन करना।
7. परिषद के उद्देश्यों की अभिवृद्धि में छात्रवृत्ति एवं पुरस्कार प्रदान करना है।

12. राष्ट्रीय प्राकृतिक चिकित्सा संस्थान, पूना

राष्ट्रीय प्राकृतिक चिकित्सा संस्थान, ''बापूभवन'' पूना में स्थित है। इस स्थान पर 1929 से 1952 तक डा0 दिनशाह के मेहता द्वारा एक प्राकृतिक चिकित्सालय चलाया जाता था। गांधी जी भी यहाँ आकर ठहरते थे, तथा सलाह मशविरा देते थे। डा0 मेहता ने भारत सरकार को ''बापूभवन'' में महात्मा गांधी की स्मृति में राष्ट्रीय प्राकृतिक चिकित्सा संस्थान स्थापित करने के लिए आग्रह किया।

भारत सरकार ने डा0 मेहता का सुझाव मान लिया और 29 सितम्बर, 1984 को एक स्वतंत्र संस्थां के रूप में भारत सरकार राष्ट्रीय प्राकृतिक चिकित्सा संस्थान बनाया।

संरचना

केन्द्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्री राष्ट्रीय प्राकृतिक चिकित्सा संस्थान का अध्यक्ष होता है तथा इसी मंत्रालय का राज्य मंत्री उपाध्यक्ष होता है। इसी मंत्रालय के दो उच्च पदाधिकारी सदस्य होते हैं तथा वित्त मंत्रालय का संयुक्त सचिव भी सदस्य होता है। इसके अतिरिक्त छः अन्य प्रतिष्ठित प्राकृतिक चिकित्सक

सदस्य होते हैं। संस्थान का निदेशक पदेन सचिव होता है।

कार्य-कलाप

1. देश में चल रहे प्राकृतिक चिकित्सा संस्थानों को बढावा देना।
2. प्राकृतिक चिकित्सकों की गुणवत्ता में वृद्धि करना।
3. प्राकृतिक चिकित्सालय, क्लिनिक, प्रशिक्षण केन्द्र खोलने के लिए सहायता देना।
4. प्राकृतिक चिकित्सा में लगे कर्मियों के ज्ञानवृत्ति के लिए कार्यक्रम आयोजित करना।
5. सामान्य जनता को प्राकृतिक चिकित्सा विधा को और आकृष्ट करने के कार्यक्रम आयोजित करना।
6. जन चेतना जागृति के कार्यक्रम बनाना तथा चलाना।
7. पत्र, पत्रिकाओं, दूरदर्शन, रेडियो आदि के द्वारा प्राकृतिक चिकित्सा का प्रसार करना।
8. कुछ पदाधिकारियों को प्राकृतिक चिकित्सा की आवश्यकता का ज्ञान कराना।
9. विश्वविद्यालयों को डिग्री कोर्स चलाने तथा प्राकृतिक चिकित्सा के विभाग खोलने के लिए प्रोत्साहित करना।
10. समय-समय पर संगोष्ठी, कार्यशाला तथा वार्तालाप आयोजित करना।

13. भारत में प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र में समस्यायें

प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति प्राचीनतम होने के बावजूद भी इसका प्रचार एवं प्रसार तथा संतोषप्रद शिक्षण तथा पशिक्षण का प्रबन्ध नहीं हो सका है। ९० करोड जनसंख्या वाले देश में विधिवत रूप से कोई भी विश्वविद्यालय प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में उच्च शिक्षा का प्रबन्ध नहीं कर सका है। अनुसंधान कार्य निम्न स्तर के हो रहे हैं। इसे न तो सरकार का पर्याप्त समर्थन मिल पा रहा है और न ही सामान्य जनता व अन्य चिकित्सा प्रणाली के विशेषज्ञों का पूरे देश में शायद ही कोई देश प्राकृतिक चिकित्सालय हो जो सामान्य जनता की सेवा निःशुल्क कर रहा हो। यह बड़ी विडम्बना है कि प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति सस्ती होने के बावजूद भी व्यवहार में मंहगी होती जा रही है। निजी क्षेत्र के प्राकृतिक चिकित्सालयों में केवल पूँजीपति तथा धनिक वर्ग ही पहुंच पा रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र में प्राकृतिक चिकित्सालयों का अभाव है। ऐसी स्थिति में किस प्रकार भारत की ग्रामीण, गरीब, तथा दुर्बल जनता को प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति की ओर आकृष्ट किया जाय, विचारणीय प्रश्न है। प्राकृतिक चिकित्सा जिसकी हम दुहाई देते हैं कि यह अत्यन्त सस्ती तथा जन साधारण के लिए सबसे उपयुक्त है, किस प्रकार अपने गन्तव्य मार्ग तक पहुँचे, हम सभी को इस दिशा में सोचना होगा। यहाँ पर हम कुछ

महत्त्वपूर्ण अवरोधों का उल्लेख कर रहे हैं।

14. प्राकृतिक चिकित्सा के विकास में बाधायें

1. प्राकृतिक चिकित्सकों में आपस में मतभेद

प्राकृतिक चिकित्सकों के आगे बढ़ने का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण प्राकृतिक चिकित्सकों का आपस में मतभेद होना है। वे एक दूसरे की कमियों को उजागर करने में पीछे नहीं रहते हैं। एक दूसरे का ज्ञान, चिकित्सा विधि, व्यवहार आदि की खुली आलोचना करते हैं, जिससे वास्तविक स्थिति का सही आँकलन करना कठिन होता हैं। प्रत्येक चिकित्सक आगे बढ़ने की एन-केन प्रकारेण सभी उपाय करना चाहता है, लेकिन वे इसी पैथी के विकास में कम रुचि लेते हैं। गाँधी जी के शब्दों में–

" Each one is self satisfied and works by himself instead of all pooling their resources for the advancement of this system." [6]

2. ज्ञान की कमी

ऐसा शायद ही कोई प्राकृतिक चिकित्सक हो जो अपने को अपूर्ण कहता हो तथा ज्ञान प्राप्ति के लिए दूसरे से जानने की इच्छा रखता हो। अधिकांश प्राकृतिक चिकित्सक अपने को सर्वगुण सम्पन्न समझते हैं। इसके परिणामस्वरुप प्राकृतिक चिकित्सा विधा के ज्ञान में वृद्धि बहुत ही धीमी गति से हो रही है। कुछ प्राकृतिक चिकित्सकों का मानना है कि इसमें किसी प्रकार की शिक्षा तथा अनुसंधान की आवश्यकता ही नहीं है। इसी कारण अब तक औपचारिक शिक्षा का शुभारम्भ वास्तविक रूप में नहीं हो पाया है। गाँधी जी ने स्वयं लिखा है :

"Inspite of their limited scientific knowledge, they make all claims."[7]

आज विज्ञान का युग है। अतः प्राकृतिक चिकित्सा को भी विज्ञान की दृष्टि से खरा उतरना होगा। यह तभी हो सकता है जब प्राकृतिक चिकित्सकों में वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने की आन्तरिक प्रेरणा हो।

3. सिद्धांत तथा व्यवहार में अन्तर

''पर उपदेश कुशल बहुतेरे'' वाली बात प्राकृतिक चिकित्सा में शत् प्रतिशत सत्य है। कुछ ही ऐसे प्राकृतिक चिकित्सक हैं, जो प्रकृति के अनुकूल आचरण, खानपान तथा व्यवहार करते हैं। यह ऐसी विधा है जिसमें सत्य, अहिंसा तथा प्रेम का विशेष महत्त्व है। जब तक ये तत्त्व नहीं होंगे, प्राकृतिक चिकित्सा आगे नहीं बढ़ सकेगी।

---

6. Ibid P. 35
7. Ibid P. 35

4. अन्य प्रणालियों से सहयोग न लेना

कोई भी चिकित्सा प्रणाली अपने में पूर्ण नहीं है, उसे किसी न किसी स्थिति में दूसरी विधाओं से सहायता लेना होता है। लेकिन प्राकृतिक चिकित्सक स्वयं को सर्वगुण सम्पन्न मानते हैं, तथा अन्य विधाओं की भरपूर निन्दा करते हैं। गांधी जी ने स्वयं महसूस किया कि–

" Nature curists nurse a feelng of grievance against the medicos."[8]

5. एलोपैथी का विरोध

एलोपैथी के चिकित्सक इस पैथी का छ्दम् वेष में विरोध करते हैं। आज उन्हीं का हर जगह बोलबाला है। प्रशासन में वहीं हैं। अतः आगे बढ़ने में रुकावट उत्पन्न हो जाती है। गांधी जी के शब्दों में:-

" Although the medical professional have taken up some things from nature cire methods, on the whole they have given a cold shoulder to naturopathy, In my opinion both the parties are to be blamed for this state of affairs. The medical profession have got into the habit of confining themselves to whatever is included in their own curriculum. They present an attitude of indifferance, if not that of contempt, for anything that lies outside their groove."[9]

6. सरकारी संरक्षण का अभाव

यद्यपि चिकित्सा परिषद द्वारा प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली को मान्यता प्राप्त है, लेकिन कुछ प्रदेशों की सरकारों को छोड़कर अन्य प्रदेशों में न तो रजिस्ट्रेशन की सुविधा है, और न ही किसी प्रकार का सहयोग प्राकृतिक चिकित्सा को दिया जा रहा है। प्राकृतिक चिकित्सा के विकास के लिए राज्य स्तर पर कोई इकाई नहीं है, जो इस कार्य को प्रथक रूप से करें। उत्तर प्रदेश सरकार इसमें बहुत पीछे हैं।

7. उच्च शिक्षा का अभाव

जब तक उच्च शिक्षा का प्रबंध नहीं होगा, तब तक वैज्ञानिक रूप से प्राकृतिक उपचार का प्रभाव प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है। एलोपैथी के प्रश्न का उत्तर भी तभी संभव है, जब तक इस क्षेत्र में उच्च शिक्षा प्रदान की जाए। आज पूरे भारत में एक-दो गिनी चुनी संस्थाएं हैं, जहाँ उच्च शिक्षा की कुछ व्यवस्था है।

8. किसी एक राष्ट्रीय मंच का अभाव

कहने के लिए तो कई राष्ट्रीय स्तर के संगठन बने हैं, जैसे आल इंडिया नेचरक्योर फेडरेशन, आल इंडिया प्राईवेट प्रेक्टिशनर्स एसोशियेशन, आदि, परन्तु

8. Ibid P. 35
9. Ibid P. 35

इनका कार्यक्षेत्र सीमित होने तथा आपसी मतभेद होने के कारण प्रभावी ढंग से काम नहीं कर पा रहे हैं। छोटे-छोटे कई संगठन बने हैं। प्रादेशिक स्तरों पर भी संगठन है, लेकिन आवश्यकता एक जुट कार्य करने की है।

9. मनोचिकित्सा की कमी

अभी तक भारत में यह पद्धति आश्रमों में अधिकांशतः प्रचलित थी। आश्रमों में ऋषि, महात्मा, तथा समाज कल्याणकर्ता रहा करते थे। उनके प्रति लोगों में श्रद्धा थी, विश्वास था। अतः जो कह देते थे, बता देते थे कि लोग विश्वास कर लेते थे। उनका आचरण अनुकरणीय था। इसीलिए उनकी बातों पर जनता को भरोसा था। आज भी विश्वास चिकित्सा अपना महत्त्व रखती है। लेकिन समय के साथ-साथ प्राकृतिक चिकित्सा का कार्य जनसामान्य के हाथों आ गया जो लाभ को अधिक देखने लगी। अतः लालच आने लगा। दूसरी ओर विश्वास भी कम होने लगा।

दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू है मनोचिकित्सा पद्धति में प्राकृतिक चिकित्सकों का निपुण न होना। आज विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है, कि अधिक रोगों का कारण मनोवैज्ञानिक है। मानसिक तनाव, चिन्ता, अवसाद आदि के कारण शारीरिक रोग हो जाते हैं। वे तब तक दूर नहीं होते जब तक रोगी को मनोवैज्ञानिक उपचार न किया जाय। इसी कारण आज प्राकृतिक चिकित्सा उपचार का प्रभाव कम हो रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि प्राकृतिक चिकित्सकों को मनोचिकित्सा विधि का ज्ञान कराया जाय।

10. प्राकृतिक चिकित्सा को एक मिशन के रूप में न लेना

आज भारत में कोई प्राकृतिक चिकित्सक नहीं है जिसमें इस प्रणाली के उत्थान के लिए काम करने की अदम्य उत्साह तथा इच्छा हो। गांधी जी के शब्दों में :

"It is my conviction that so long as some dynamic personality, from-among the naturopaths themselves, does not come forward with the zeal of a missionay, things will contitnue as they are."[10]

इन कमियों के बावजूद भी प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य हुये हैं। उपरोक्त कमियों को यहाँ पर लिखने का तात्पर्य प्राकृतिक चिकित्सकों के कार्यों तथा उपलब्धियों को कम नहीं आंकना है। बल्कि मेरी इच्छा है कि प्राकृतिक चिकित्सा वास्तविक स्वरूप में वैज्ञानिक रूप ग्रहण करते हुये सभी चिकित्सा विधाओं से आगे हो। गाँधी जी ने स्वयं लिखा कि –

" I have not said all this in order to be little the work of the naturopaths. As a lay co- worker I wish to see things in their true colour so that they may make improvements wherever possible.[11]

---

10. Ibid P. 35

11. Ibid P. 35

अध्याय-3

प्राकृतिक चिकित्सा का क्षेत्र

हर मनुष्य की प्रवृत्ति स्वस्थ और निरोग रहने की होती है। यह प्रवृत्ति मनुष्य में आदिमकाल से ही है। प्राचीनकाल में मनुष्य का जीवन उसके स्वास्थ्य और शारीरिक शक्ति पर ही निर्भर था। जो लोग कमजोर और अस्वस्थ हो जाते थे, उनके जीवन का अंत समझा जाता था। किन्तु मनुष्य का जीवन इतना प्राकृतिक था कि वे रोगों से मुक्त रहते थे। स्वच्छ हवा में घूमना, शीतल छाया में विश्राम करना, कंदमूल और फल खाना, मिट्टी से सीधा सम्बन्ध बनाये रखना उनका जीवन था। फलतः लोग व्याधिमुक्त होते थे। जैसे–जैसे सभ्यता विकसित होती गयी, जनसंख्या बढ़ती गयी, रहने के लिए नगरों व गाँवों का निमार्ण हुआ, वैसे–वैसे स्वास्थ्यवर्धक वातावरण दूषित होने लगा। मनुष्य की क्रियायें भी अस्वस्थकारी होने लगी। उनके जीवन में न तो नैसर्गिक स्वच्छंदता रह गयी और न प्राकृतिक वातावरण रहा। फलतः उनमें रोगों का धीरे-धीरे आगमन होता गया।

1. प्रकृति के गुण

प्रकृति के गुणों को ज्ञात कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त करने के लिए किस प्रकार की जीवनशैली अपनानी चाहिये, जिससे जीवन के सभी सुखों का आनन्द लिया जा सके।

प्रकृति के निम्नलिखित गुण हैं :

1. प्रकृति निष्पक्ष, न्यायप्रिय, आत्मःअनुशासित तथा मूल स्वरूपधारी है। इसके नियम सदैव अटल तथा सार्वभौमिक होते हैं। भौतिक विज्ञानों की तरह इनके विषयं में भविष्यवाणी की जा सकती है।
2. वह प्रत्येक जीवधारी चाहे मनुष्य हो अथवा कोई भी जीवजन्तु माता के समान देखभाल करती है। वह उन प्रयत्नों को उपयोग में लाती है, जिनसे शरीर की स्थिति स्वास्थ्यपूर्ण बनी रहती है। प्रकृति के नियम सदैव स्वास्थ्य-वर्धक होते हैं। इनकी प्रभावपूर्णता मनुष्य की जीवनशैली तथा पर्यावरण की किस्म पर निर्भर होती है।
3. प्रकृति ने मनुष्य को पर्याप्त शारीरिक यांत्रिकी एवं बुद्धि दी है और जिसको

डी0 एन0 ए0 और आर0 एन0 ए0 के रूप में सुरक्षित कर दिया है, जिसके माध्यम से वह अपने कार्यों को स्वस्थ रहते हुये सम्पन्न कर सकता है। अतः यदि वाह्य तत्त्वों का जो अप्राकृतिक है, शरीर के अंदर प्रवेश न करें, तो शरीर में निरन्तर शक्ति बनी ही रहती है।

4. प्रकृति के कार्य अनन्त है तथा वे सभी मानव के हित के लिए हैं। व्यक्ति यदि उन नियमों से समझौता करके जीवनयापन करता है तो सुखी रहता है। अतः यह मानव के हित में है, कि वह प्रकृति के सूक्ष्म नियमों की खोज करे, जिससे स्वस्थ जीवन जीने की कला का विशेषज्ञ बन सके।
5. प्रकृति के विषय में व्यक्ति का ज्ञान अभी बहुत थोड़ा है। यद्यपि वह अणु, जीन्स तथा सूक्ष्मतर विशेषज्ञताओं का वह अपने को ज्ञाता कहता है, तथा प्रत्येक नर्ष नोबुल पुरस्कार के लिए पात्र बनता है, लेकिन वह स्वास्थ्य और प्रकृति के बीच अनेक महत्त्वपूर्ण सम्बन्धों को वह नहीं जानता है। क्या वह जानता है कि कितने प्रकार के रसायन यकृत से निकलते हैं, क्या वह जानता है कि मस्तिष्क में रसायन कैसे, कितने तथा क्यों निकलते हैं, इत्यादि ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर प्राकृतिक चिकित्सकों को देना होगा।
6. प्रकृति की सत्ता प्रत्येक जीवधारी में विद्यमान होती है। अतः यदि उसके विपरीत कार्य किये जाते हैं, तो वह प्रतिक्रिया करती है, परिणामस्वरूप रोग के लक्षण परिलक्षित होते हैं।
7. सभी जीवधारियों के लिए एक ही प्रकार का विजातीय तत्त्व नहीं होता है। एक जीवधारी के लिए वही विष हो सकता है परन्तु दूसरे के लिए पोषण हो सकता है। उदाहरण के लिए मानव के लिए आक्सीजन परमावश्यक है तथा मिथैन गैस मृत्युकारी होती है। परन्तु विभिन्न प्रकार की वैक्टीरिया आक्सीजन में मर जाती है तथा उनकी उत्पत्ति ही दूषित पदार्थों से होती है। प्रकृति इस प्रकार संतुलन बनाये रखती है।
8. मानव अपने स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोग की मुक्ति प्राकृतिक जीवन शैली से ही कर सकता है। यदि वह शारीरिक शुद्धीकरण के साधन उपयोग में लाता है, शरीर के लिए आवश्यक पोषकों का सेवन करता है, शारीरिक अंगों की सक्रियता बनाये रखता है, मन को भी विश्राम देता है तथा भोजन प्राप्त करते समय नकारात्मक संवेगों को अपने से दूर रखता है तो उसके शरीर में प्रकृति विजातीय तत्त्वों को रहने नहीं देती है।
9. शारीरिक दर्द प्रकृति द्वारा दिया गया दण्ड नहीं है, बल्कि यह एक संकेत है कि अब शरीर को विश्राम की आवश्यकता है, आन्तरिक सफाई की आवश्यकता है। किसी प्रकार की औषधियाँ लेने से यह संकेत समाप्त हो जाता है, और खतरे की घंटी बजनी बंद हो जाती है। तभी एकाएक कोई भयंकर रोग उत्पन्न हो जाता है।

2. प्रकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र

1. स्वास्थ्यवर्धन

प्राकृतिक चिकित्सा मे उपचार की तुलना में स्वास्थ्यवर्धन पर अधिक महत्त्व दिया जाता है, क्योंकि स्वस्थ्य रहने से रोगी होने तक की कई स्थितियाँ है जो सामान्य व्यक्ति को ज्ञात नहीं होती हैं। जब वह रोगी हो जाता है तो एक तो उसको कई तरह की हानियाँ उठानी पड़ती हैं, दैनिक चर्या में बाधा उत्पन्न हो जाती है, मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है, सम्बन्धों में धीरे-धीरे गतिरोध उत्पन्न होने लगते हैं, तथा मनोवृत्ति में परिवर्तन आता है। इस प्रकार रोगी उस स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ पर उसमें शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक सभी प्रकार के अवरोध उत्पन्न हो जाते हैं। इन अवरोधों को एक साथ दूर करने व सम्मिलित कष्टों से रोगी को छुटकारा दिलाने में अधिक लम्बे समय की आवश्यकता होती है। लेकिन यदि स्वास्थ्य में गिरावट को रोकने के निरन्तर प्रयास किये जायें तो इन सभी हानियों से बचा जा सकता है।

उत्तम स्वास्थ्य, व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनों के लिए महत्त्वपूर्ण है। यह अमूल्य निधि है, तथा वास्तविक प्रसन्नता एवं खुशहाली है। यदि स्वास्थ्य उत्तम न हुआ तो सभी प्रकार की सुविधायें उसके लिए निरर्थक प्रतीत होती हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्ति और देश की उन्नति को नापने का यह एक यन्त्र एवं तरीका है। इस पर ही व्यक्ति, समुदाय तथा राष्ट्र का भविष्य निर्मित होता है। इन महत्त्वपूर्ण तथ्यों के कारण प्राकृतिक चिकित्सा में स्वास्थ्यवर्धन को सदैव प्राथमिकता दी गयी है।

स्वास्थ्य रोगों तथा शारीरिक निर्बलताओं की अनुपस्थिति मात्र ही नही है, बल्कि शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक कल्याण की सम्पूर्ण व्यवस्था है। स्वास्थ्य उस स्थिति का नाम है जहाँ पर शरीर व मन के सभी तन्त्र समन्वित एवं सामंजस्य पूर्णता के साथ कार्य करते हैं तथा सामाजिक कार्यों की पूर्ति सामान्य रूप से होती है। स्वास्थ्य के तीन महत्त्वपूर्ण अंग हैं -शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य, तथा सामाजिक स्वास्थ्य। शारीरिक स्वास्थ्य का तात्पर्य अच्छी शरीरिक रचना, स्वच्छ त्वचा, साफ सुथरे बाल, उचित वेष भूषा, हृष्ट-पुष्ट शरीर, न अधिक दुबले न अधिक मोटे, अच्छा पाचन तंत्र, गहरी नींद, सामान्य मलमूत्र की निकासी, शरीर के सभी अंगों का उचित एवं सामान्य कार्य, पर्यावरण से समायोजन। मानसिक स्वास्थ्य का तात्पर्य समस्या समाधान करने की योग्यता तथा क्षमता, इच्छित कार्यों को पूर्ण होने पर संतुष्टि, उत्तरदायित्वों को पूरा करने की क्षमता, आत्म-निर्भरता, उचित प्रत्यक्षीकरण, इच्छाओं, मनोवृत्तियों का समुचित विकास आदि से होता है। सम्पूर्ण सामाजिक परिस्थितियों से उचित समायोजन, उत्तरदायित्वों का सम्पूर्ण निर्वाह, समस्याओं का उचित समाधान तथा प्रसन्नता का जीवन व्यतीत करना, सामाजिक स्वास्थ्य के अन्तर्गत आता है।

प्राकृतिक चिकित्सा में स्वास्थ्यवर्धन का कार्य दो स्तरों पर किया जाता है -

(1) वैयक्तिक स्तर।

(2) सामुदायिक स्तर।

(क) वैयक्तिक स्वास्थ्य का स्तर

इस स्तर पर प्राकृतिक चिकित्सक निम्न क्षेत्रों में अपना योगदान करता है :

(1) शारीरिक शुद्धि

स्वास्थ्य के लिए शरीर की स्वच्छता नितान्त आवश्यक है। इसलिए शरीर के प्रत्येक अंगों की सफाई भी आवश्यक है। हमारे देश में गर्मी अधिक पड़ती है, इसलिए पसीना अधिक निकलता है और त्वचा सदैव गंदी होती रहती है। यदि गंदगी त्वचा पर जमा हो जाती है, तो पसीना निकलना बंद हो जाता है, इसलिए मल शरीर से बाहर नहीं निकल पाता। फलस्वरूप त्वचा के तथा अन्य नाना प्रकार के रोग हो जाते हैं। यदि त्वचा को प्रत्येक दिन साफ करते रहे तथा रोमकूप खुले रहें तो स्वास्थ्य में वृद्धि होती है। इसीलिए प्राकृतिक चिकित्सा में विभिन्न प्रकार के स्नान का वर्णन किया गया है। प्राकृतिक चिकित्सा वैज्ञानिक स्नान का ज्ञान कराकर शरीर की स्वच्छता को बनाये रखने पर बल देती है।

(2) तेल मालिश

हमारी त्वचा के भीतर दो प्रकार की ग्रन्थियां हैं, पहली तेल की ग्रन्थि तथा दूसरी पसीने की ग्रन्थि। तेल की ग्रन्थि शरीर को चिकना और मुलायम बनाकर रखती है। जाड़े के दिनों में चर्म शुष्क और रूखी हो जाती है। अतः तेल मालिश जरूरी हो जाती है। साथ ही रक्त संचालन भी सही रहता है। प्राकृतिक चिकित्सा में मालिश एक चिकित्सा पद्धति भी है। प्राकृतिक चिकित्सक लोगों को वैज्ञानिक मालिश का महत्त्व तथा तकनीक ज्ञान कराता है।

(3) नख

नख को काट कर सदा छोटा रखना चाहिये। नख में मैल जमा होने से वह जीवाणुओं का निवास स्थान हो जाता है, जो भोजन के साथ अमाशय में जाकर में जाकर विभिन्न रोग उत्पन्न करते हैं। इनकी सफाई पर ध्यान देने पर बल दिया जाता है।

(4) पैरों की सफाई

गर्म जल से पैरों की सफाई करनी चाहिये। पाँव की अंगुलियों मे जमा हो जाने से चर्म रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(5) आँख, कान और नाक की सफाई

हवा के माध्यम से धूल कान और जीवाणु हमारी आँखों, नाक तथा कानों में पड़ते हैं। कुछ आँसू के द्वारा आँखों से बाहर निकल जाते हैं, परन्तु कभी-कभी उनमें भी रोगाणु पहुँच जाते हैं, और अचेत अवस्था में रहते हैं। अतः एक विशेष कप आँख धोने के लिए आता है, उससे आँखे धोने से एक ओर आँख की सफाई हो जाती है, दूसरी ओर आँख के स्नायुतन्त्रों के द्वारा मस्तिष्क को अतिरिक्त बल मिलता है, शान्ति मिलती है। आँखों की तथा मस्तिष्क की थकान दूर हो जाती है। नाक की सफाई भी अत्यंत आवश्यक होती है, क्योंकि नाक के दोनों छिद्रों में एक ऐसा तरल पदार्थ लगा होता है, जो बाहर से प्रवेश करने वाले रोगाणुओं को नष्ट कर देता है। लेकिन यदि मैल तथा गंदगी जम जाती है, तो उनका प्रभाव कम हो जाता है। अतः प्राकृतिक चिकित्सा में जलनेति पर विशेष बल देते हैं जिससे नाक के दोनों छिद्र साफ रहें तथा पूरी वायु फेफड़ों को मिलती रहे।

(6) उदर की सफाई

समय-समय पर उदर की सफाई होना आवश्यक होता है, जिससे पाचन तन्त्र सामान्य रूप से कार्य करता रहे। उदर की सफाई के लिए कुंजल क्रिया सिखायी जाती है, जिससे उदर स्वच्छ एवं साफ रहता है।

(7) सही आदतें

प्राकृतिक चिकित्सा का कार्यक्षेत्र व्यक्ति में सही आदतों का विकास करना है। इस क्षेत्र को निम्न भागों में विभाजन कर सकते हैं -

1. स्वच्छ वायु तथा सूर्य रश्मि का सेवन।
2. गहरी श्वास।
3. निरंतर व्यायाम।
4. आराम, विश्राम, तथा मनोरंजन।
5. पर्याप्त निद्रा।
6. उचित तथा नियंत्रित भोजन।

(8) स्वच्छ वायु सेवन

स्वच्छ वायु में काम करना, रहना तथा खेलना सभी कुछ लाभकारी होता है। स्वास्थ्य के लिए स्वच्छ वायु तथा सूर्य प्रकाश-शक्तिवर्धन का कार्य करता है। शरीर के प्रत्येक अंग प्रत्यंग के लिए आक्सीजन की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही साथ यह विजातीय तत्त्वों को जलाने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यदि स्वच्छ वायु न मिले तो न तो अच्छा स्वास्थ्य बना रह सकता न ही मानसिक क्रिया सामान्य रूप से कार्य कर सकती है। इसीलिए प्रातःकाल का टहलना स्वास्थ्य के लिए अत्यंत लाभकारी माना गया है। पवन चिकित्सा के अन्तर्गत वायु का सेवन

करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक बताया जाता है।

(9)सूर्य प्रकाश सेवन

सूर्य प्रकाश अनेकानेक रोगों को नष्ट करता है तथा स्वास्थ्य को सम्पन्न बनाने में अनेक पोषक तत्वों को प्रदान करता है। स्वास्थ्य लाभ ऊष्णता से नहीं बल्कि किरणों से होता है। अतः शीतल किरणों का उपयोग करना बताया जाता है। प्रातः काल का समय प्रकाश सेवन के लिए उत्तम होता है।

(10) गहरी श्वास-प्रश्वास

बिना भोजन के व्यक्ति कुछ दिनों तक जीवित रह सकता है, लेकिन हवा के बिना कुछ मिनट भी जीवित रह सकता है। श्वास ही जीवन है गहरी श्वास उसी प्रकार शरीर को शक्ति प्रदान करती है, जैसे- धौंकनी आग को प्रज्जवलित कर देती है। गहरी श्वास से अधिकाधिक आक्सीजन शरीर के विभिन्न अंगों को जाती है साथ ही गहरी प्रश्वास से अधिकाधिक कार्बन डाईआक्साइड बाहर निकलती है।

(11) निरन्तर व्यायाम

मनुष्य स्वभावतः बली और शक्तिशाली होना चाहता है, पर इच्छा के होते हुये भी अधिकांश लोग लापरवाह होते हैं, और शरीर को ढीला-ढाला और निःशक्त होते देखते रहते हैं। उन्हें शायद यह आशा रहती है कि शक्ति और स्वास्थ्य आकाश से बरस पड़ेगा, और इसके लिए कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। पर ऐसा कभी नहीं होता। शरीर में भीतरी और सब मिलाकर चार सौ से अधिक मांसपेशियाँ हैं, और इन दोनों प्रकार की पेशियों का आपस में गहरा सम्बन्ध है। अंदर के अंगों की सारी क्रियायें बाहरी पेशियों की क्रियाओं से प्रभावित होती हैं। इसलिए उनका उचित रूप में सक्रिय रहना और दोनों प्रकार की पेशियों का सम्बन्ध ठीक रहना जीवन सम्बन्धी क्रिय़ाओं के, जिनसे नये कोषाणुओं का निर्माण, कोषाणुओं की क्रिया में उत्पन्न मल का निष्कासन और कोषाणुओं का नाड़ियों से उचित सम्बन्ध मुख्य है, ठीक तरह से चलने के लिए परमावश्यक है। स्वास्थ्य इन्हीं दोनों के सम्मिलित शक्ति का परिणाम है। व्यायाम ही यह शक्ति बनाये रखकर स्वास्थ्य की रक्षा कर सकता है। इस प्रभाव के कारण ही व्यायाम शारीरिक अक्षमता और रोगों का निवारण करने का प्राकृतिक उपाय माना गया है। यही कारण है कि प्राकृतिक चिकित्सक स्वास्थ्य सुधार की योजना में विभिन्न प्रकार के व्यायामों तथा योगासनों पर महत्त्व देता है।

(12) आराम, विश्राम तथा मनोरंजन

शरीर के लिए जितना व्यायाम आवश्यक है, उतना ही आराम भी आवश्यक होता है। इससे शरीर में शक्ति का संचार होता है, थकान समाप्त हो जाती है एवं शरीर को स्फूर्ति प्राप्त होती है। विश्राम से मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार की

ऊर्जा प्राप्त होती है। मनोरंजन भी उनकी शक्ति को प्राप्त करने में सहायता करता है। प्राकृतिक चिकित्सा में विश्राम के वैज्ञानिक आधार बताये जाते हैं, जिससे अधिकाधिक शक्तिवर्धन होता है।

(13) पर्याप्त निद्रा

नींद जीवन के लिए आवश्यक है। अतः नियमित तथा समयानुसार सोना आवश्यक होता है। शारीरिक मानसिक जो भी कार्य करने से क्षति हुई है उसकी पूर्ति नींद में होती है। अतः गहरी नींद आना आवश्यक होता है।

(14) उचित भोजन तथा नियमित आहार

इस पृथ्वी पर जितने भी जीव हैं सभी किसी न किसी रूप में आहार ग्रहण करते हैं। इसके अभाव में किसी भी प्राणी का अस्तित्व कायम नहीं रह सकता है। वैज्ञानिक अनुसंधानों से यह स्पष्ट हो गया है कि सारे जीवों की रचना न्यूनाधिक रूप में समान तत्वों से ही हुई है, और अधिकांश तत्त्व आहार के रूप में पृथ्वी से ही प्राप्त होते हैं। मानव शरीर का रसायनिक विश्लेषण करने पर उसमें ओषजन, कार्बन हाइड्रोजन, कैलसियम, फासफोरस, क्लोरीन, नाईट्रोजन, मैगनीसियम, गंधक, फ्लारिन, सिलिकॉन, पोटैशियम, लोहा, सोडियम, आयोडीन, और मैगनीज, ये 16 तत्त्व पाये जाते हैं, इन तत्त्वों का अनुपात बराबर सदैव बना रहना चाहिए।

आहार के रूप में मनुष्य के शरीर का निर्माण करने वाले ये पदार्थ प्रोटीन, कर्बोज बसा तथा खनिज लवण इन चार वर्गों में विभक्त किये गये हैं।

प्रोटीन का निर्माण कार्बन हाईड्रोजन, आक्सीजन, नाइट्रोजन, गंधक और फासफोरस के योग से होता है। प्रोटीन सारे शरीर में पाया जाता है, और उसके लिए बहुत उपयोगी होता है। क्योंकि श्रम आदि के कारण जो क्षय होती है उसकी पूर्ति यही करता है। शरीर को शक्ति प्रदान करता है, रक्त का निर्माण करता है। दूध-दही, सेम, मटर, मॉस, अंडे, सभी तरह की दालों आदि में यह विशेष रूप में पाया जाता है।

कार्बोज, कार्बन, ओषजंन, और हाईड्रोजन के संयोग से बनता है। और भोजन में प्रायः इसी की अधिकता रहती है। शर्करा, जो शुद्ध कार्बोज है, फलों के रसों में भी मिलती है शरीर इसे बड़ी आसानी से पचा लेता है। शरीर की शक्ति का यही मुख्य श्रोत है। यह गेहूँ, खजूर, गुड़, जौ, बाजरा, आलू, अमरूद, केला, चीनी तथा अन्य मीठे पदार्थों में पाया जाता है।

वसा का निर्माण कार्बन हाइड्रोजन तथा आक्सीजन के मेल से होता है। यह शरीर में त्वचा के नीचे रहती है, और उसे ऊष्णता प्रदान करती है। घी, तेल, इसकी प्राप्ति के मुख्य साधन हैं।

शक्ति या ऊष्णता की दृष्टि से खनिज लवणों और विटामिनों की कोई विशेषता नहीं है, लेकिन शरीर के लिए आवश्यक है, क्योंकि ये शरीर को क्षार

प्रदान करते हैं, जो शरीर में बढ़े हुये अम्ल का शमन करने के लिए बहुत आवश्यक है तथा शरीर को रोगी होने से भी बचाते हैं। इनकी प्राप्ति तरकारियों, दूध और फलों से होती है। परन्तु ये उचित रूप में तभी प्राप्त होते हैं, जब ये पदार्थ यथासम्भव अपने प्राकृतिक रूप में ग्रहण किये जाएँ। इन खाद्य पदार्थों के अतिरिक्त शरीर के लिए जल भी आवश्यक है। शरीर का लगभग तीन चौथाई हिस्सा यही होता है, और शरीर की अधिकांश क्रियायें इसी के माध्यम से होती हैं। जल ही शरीर का सारा मल और विष बहा देता है और शरीर की आर्दता बनाये रखकर ताप का नियंत्रण करता है।

(ख) सामुदायिक स्वास्थ्यवर्धन

प्राकृतिक चिकित्सा सामुदायिक स्वास्थ्यवर्धन के लिए निम्न क्षेत्रों में अपनी भूमिका निभाती है :

1. स्वास्थ्य शिक्षा।
2. समुचित पोषण।
3. स्वच्छता एवं सफाई का प्रबन्ध।
4. सुरक्षित जल आपूर्ति।
5. मल मूत्र का उचित निष्कासन।
6. जीवाणुओं तथा रोगाणुओं पर नियंत्रण।
7. शारीरिक शिक्षा।
8. विद्यालय स्वास्थ्य शिक्षा।
9. विवाह मंत्रणा।
10. परिवार मंत्रणा।
11. बाल निर्देशन।
12. मनोरंजनात्मक सेवाओं का प्रबन्ध।

3. सामान्य रोगों का उपचार

प्रायः यह सोचा जाता है, कि प्राकृतिक चिकित्सा केवल असाध्य रोगों में ही कार्य करती है, साधारण प्रकार के रोगों के लिए यह पद्धति नहीं है। यह विचार भ्रमपूर्ण है। प्राकृतिक चिकित्सा की विधियों का प्रयोग साधारण रोगों जैसे सर दर्द, जुकाम, बुखार, कब्ज, हाथ पैरों में दर्द, अरुचि, कमजोरी आदि में पूर्णरूपेण होता है।

4. जटिल रोगों का उपचार

जटिल रोगों जैसे, दमा, टी०बी०, मधुमेह, बुखार, अतिसार, स्पांडिलाइटिस, उच्चरक्तचाप, वृक्क की समस्यायें, पोषण से सम्बन्धी रोग, आदि अनेकानेक रोगों

का उपचार प्राकृतिक चिकित्सा में किया जाता है और यदि रोगी का सहयोग मिलता रहे तो शीघ्र ही रोग पर नियंत्रण भी पा लिया जाता है।

5. संक्रामक रोगों तथा सम्प्रेषित रोगों का उपचार

प्राकृतिक चिकित्सा, मलेरिया, विसूचिका (कालरा) अतिसार, यक्ष्मा, रक्ताभिसार, प्लेग, कंठरोहिणी, सन्निपात ज्वर, चेचक, इन्फ्लून्जा, कुष्ठरोग, पीलिया, अदि रोगों के निवारण में महत्त्वपूर्ण योगदान करती है।

6. प्राथमिक उपचार व प्राकृतिक चिकित्सा

प्राकृतिक चिकित्सा के तरीके जिस प्रकार विषम रोगों में काम करते हैं, उसी प्रकार आकस्मिक अवसरों पर प्राथमिक उपचार में भी सहायक होते हैं। अनेक अवसरों पर प्राथमिक उपचार रोग की विषमता को कम कर देता है तथा रोगी में ठीक होने की आशा बहुत बढ़ जाती है।

7. मानसिक रोगों का प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा उपचार

विज्ञान तथा प्रोद्योगिकी ने जहां एक ओर मनुष्य को अनेकानेक सुख-सुविधा के साधन उपलब्ध कराये हैं वहीं पर मानसिक अस्वस्थता के लिए पृष्ठभूमि भी तैयार कर दी है। प्रत्येक व्यक्ति चिंतातुर, व्याकुल परेशान, मानसिक तनाव से ग्रसित परिलक्षित होता है। भय, आशंका तथा त्रास के लक्षण दिखायी देते हैं। शारीरिक रूप से सरदर्द, कमरदर्द, जोड़ों में दर्द, अधिक पसीना, तीव्र हृदयगति, श्वास की तीव्रगति, भूख की कमी, खट्टी-डकार, सीने में जलन, मूत्रावरोध, शारीरिक शिथिलता आदि परिलक्षित होती है। मनोस्नायु विकृति तथा मनो विकृति दोनों प्रकार के मानसिक रोग प्रचुरता में हो रहे हैं। इन रोगों के उपचार में प्राकृतिक चिकित्सा बड़ी उपयोगी एवं हितकारी है।

●●●

अध्याय-4

प्राकृतिक चिकित्सा के उद्देश्य

प्रत्येक ज्ञान की शाखा का एक विशिष्ट उद्देश्य होता है तथा उस विशिष्ट उद्देश्य से सम्बन्धित कई उद्देश्य होते हैं। इन उद्देश्यों की स्पष्टता कार्य सम्पन्नता के लिए नितान्त आवश्यक होती है। ये कुतुबनुमा के समान है, जो हमें दिशाबोध कराते हैं। अतः उद्देश्यों को सदैव ज्ञान एवं आवश्यकता के आधार पर पूर्णरूपेण विकसित होना चाहिये। प्राकृतिक चिकित्सकों को इसके उद्देश्यों की पूर्ण जानकारी आवश्यक है।

उद्देश्य का अर्थ एवं महत्त्व

उद्देश्य हमें इस बात की जानकारी कराते हैं, कि हम प्राकृतिक चिकित्सा में क्या करने की कोशिश कर रहे हैं, किसलिये कर रहे हैं। उद्देश्य ऐसे कथन हैं, जो हमें इस बात की जानकारी कराते हैं, कि हम किन बातों को पूरा करने का प्रयत्न प्राकृतिक चिकित्सा के माध्यम से कर रहे हैं। जब तक उद्देश्य निश्चित नहीं होते, तब तक उसे पूरा करने का तथा सही दिशा प्रदान करने में सफलता प्राप्त करना सम्भव नहीं होता है। जब उद्देश्य स्पष्ट होते हैं, तो हम उनके लिए उचित कार्यक्रम निश्चित कर सही दिशा में कार्यान्वित करने का प्रयत्न करते हैं। उद्देश्य और कार्य करने का ढंग एक दूसरे पर निर्भर होता है। जान डेवी के अनुसार- उद्देश्य क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित क्रिया है, जिससे विकासात्मक प्रक्रिया के रूप में कार्य सम्पादित किये जाते हैं। उद्देश्य क्रिया को दिशा निर्देशित करते हैं। इसके अन्तर्गत वर्तमान परिस्थितियों का सूक्ष्म अवलोकन किया जाता है। यह भी देखा जाता है कि उद्देश्य तक पहुँचने के कौन-कौन साधन उपलब्ध हैं, तथा कौन-कौन सी कठिनाइयाँ होती हैं। उद्देश्य साधनों के उपयोग की प्राथमिकता निर्धारित करते हैं। इससे साधनों का मितव्ययतापूर्ण चुनाव तथा प्रबन्ध सम्भव होता है।[1]

डोनाल्ड के डेविड के अनुसार- उद्देश्य केवल लक्ष्य नहीं है, वे क्रिया के लिए सम्प्रेरक शक्ति हैं।[2]

1- Devey, John : Democracy and Education
Macmillan Comp. Newyork 1916, PP. 119-121

2- David, Arnoald, k. : the objectives of Professional Education, the carnegie Institute & Technology, Pittsburgh, 1948

प्राकृतिक चिकित्सा का उद्देश्य

प्राकृतिक चिकित्सा न केवल उपचारात्मक विधि है बल्कि यह एक जीवन पद्धति पहले है। प्राकृतिक चिकित्सा का मूल उद्देश्य सही दिशा का ज्ञान कराना है, जिसे पूर्ण स्वास्थ्य एवं प्रसन्नता प्राप्त हो सके। मानव आज ऐसी अनेक शारीरिक व्याधियों से ग्रस्त होता जा रहा है, जिनका प्रभाव न केवल व्यक्ति विशेष पर पड़ता है बल्कि उनके द्वारा समाज की सामाजिक-आर्थिक दशा प्रभावित होती है। अनुसंधानों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि यदि पर्याप्त स्वास्थ्य सुविधायें जन-जन तक पहुँचायी जा सकें तो अधिकांश बीमारियों को रोका जा सकता है। साथ ही साथ यह भी प्रमाणित हो चुका है कि जब तक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में लोगों को शिक्षित नहीं किया जायेगा तब तक कोई भी स्वास्थ्य कार्यक्रम सफल नही हो सकता है। अतः लोगों को रोगों के कारणों तथा स्वस्थ आदतों के विषय में ज्ञान कराना आवश्यक होता है।

अधिकांश बीमारियों के होने के दो कारण प्रमुख होते हैं -

1. अस्वस्थ जीवन दशायें, 2. अज्ञानता तथा रोगों के प्रति त्रुटिपूर्ण अभिवृत्ति।

प्राकृतिक चिकित्सा दोषपूर्ण एवं हानिकारक जीवन आदतों में सुधार लाने का प्रयत्न करती है, साथ ही साथ स्वस्थ जीवन दशाओं का संवर्धन करती है। इसका उद्देश्य व्यक्ति को आत्म नियंत्रण, उचित आदतों का निर्माण रोगों की रोकथाम तथा शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को संवर्धित करने के तरीकों का ज्ञान कराना है। इससे प्रकृति के रोगों के रोकथाम तथा उपचार कार्य में अत्यधिक सहायता प्राप्त होती है।

प्राकृतिक चिकित्सा के निम्नलिखित प्रमुख उद्देश्य है -

1. स्वस्थ पूर्ण जीवन पद्धति के प्रति चेतना जाग्रत करना

प्राकृतिक चिकित्सा का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति तथा समुदाय को स्वास्थ्य के प्रति सजग बनाना है। जैसा कि गांधी जी ने कहा था कि सबसे पहले हमें अपने शरीर, अपने घर, अपने गाँव तथा पर्यावरण के विषय में ज्ञान प्राप्त करना चाहिये फिर दूसरी बातों की जानकारी प्राप्त करें। इससे जीवन में सम्पन्नता आती है। प्राकृतिक चिकित्सा का दृढ़ विश्वास है कि स्वास्थ्य शिक्षा से लोगों के भ्रमों, रूढ़ियों,विश्वासों, अंधविश्वासों को बदला जा सकता है, और इससे रोगों की रोकथाम, उपचार तथा स्वास्थ्य संवर्धन में बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। स्वास्थ्य शिक्षा का प्रथम उद्देश्य व्यक्तियों को स्वास्थ्य की आवश्यकता तथा महत्त्व को समझना है। जब तक इस क्षेत्र में ज्ञान नहीं होगा तब तक स्वास्थ्य के स्तर को ऊँचा उठाया नहीं जा सकता है। लोगों को समझना होगा कि जिस प्रकार भोजन आवश्यक होता है, उसी प्रकार यह भी आवश्यक होता है, कि किस प्रकार

बनाया जाये। इसका दूसरा उद्देश्य उन तरीकों को बताना जिससे वे अपने स्वास्थ्य स्तर को ऊँचा उठा सकते हैं। स्वास्थ्य शिक्षा के द्वारा प्राकृतिक चिकित्सक अज्ञानता व गलत धारणाओं को समाप्त करने तथा ऐसे ज्ञान को प्रदान करने का प्रयास करता है जिससे व्यक्ति की आदतों, व्यवहार तथा दृष्टिकोण में परिवर्तन हो सके। प्राकृतिक चिकित्सक निम्न तथ्यों की जानकारी देता है -

1. स्वास्थ्य का तात्पर्य क्या है?
2. स्वास्थ्य के कितने अंग हैं?
3. स्वास्थ्य किन-किन बातों से प्रभावित होता है?
4. व्यक्तिगत स्वास्थ्य को किस प्रकार संवर्धित करें?
5. वायु का स्वास्थ्य से क्या सम्बन्ध है?
6. जल का स्वास्थ्य से क्या सम्बन्ध है?
7. पृथ्वी का स्वास्थ्य से क्या सम्बन्ध है?
8. सूर्य प्रकाश का स्वास्थ्य पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है?
9. आकाश तत्त्व क्या है तथा उससे स्वास्थ्य किस प्रकार सम्बन्धित है?
10. शारीरिक स्वास्थ्य कैसे बनता है तथा कैसे बिगड़ता है?
11. शरीर के विभिन्न अंग किन दशाओं में उचित कार्य करते हैं?
12. मानसिक स्वास्थ्य के लिए किन-किन नियमों का पालन करना चाहिये?
13. परिवार से समायोजन क्यों करना चाहिये, उसका स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है?
14. मानसिक स्वास्थ्य तथा शारीरिक स्वास्थ्य में क्या सम्बन्ध हैं?
15. मलमूत्र निस्तारण क्यों आवश्यक है? इनके निस्तारण के अभाव में क्या हानियाँ होती हैं?
16. रोगों को किस प्रकार पनपने से रोका जा सकता है?
17. प्राकृतिक विसंक्रमण किस प्रकार किया जाता है?
18. प्राकृतिक रोगों को बढ़ने से किस प्रकार से रोका जा सकता है?
19. रोग प्रतिरोधक क्षमता किसे कहते हैं?
20. रोग प्रतिरोधक क्षमता को किस प्रकार सबल बनाया जा सकता है?
21. कृतिम क्षमता किस प्रकार उत्पन्न की जाती है?
22. नैसर्गिक क्षमता कितने प्रकार की होती है?

2. आहार चिकित्सा को जीवन की शैली के रूप में प्रचारित करना

जैसा कि हम् जानते हैं कि स्वास्थ्य के तीन अंग हैं:– शारीरिक, मानसिक,

सामाजिक या आध्यात्मिक। इन तीनों की पुष्टि होना अच्छे स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। भोजन का उद्देश्य भूख को शांत करना या जिह्वा की परितृप्ति नहीं है। बल्कि इसका उद्देश्य शरीर पोषण के साथ-साथ मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य में भी वृद्धि हो, क्योंकि शरीर, मन और आत्मा तीनों ही स्वास्थ्य के प्रमुख स्तम्भ हैं। जब तक तीनों स्वस्थ नहीं होंगे, तब तक पूर्ण स्वास्थ्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। भारतीय शास्त्रों में भोजन को तीन भागों में विभक्त किया गया है : सात्विक, राजसिक तथा तामसिक। यह बताया गया है, कि जो शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक रूप से अच्छा स्वास्थ्य चाहते हो, उन्हें सात्विक भोजन करना चाहिये। जिनका उद्देश्य शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार से स्वस्थ रखना हो, तो राजसिक भोजन करें। आहार शुद्ध होने से मन की शुद्धि होती है। अर्थात् व्यक्ति का अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण रहता है तथा एकाग्रता आती है। शरीर के लिए हितकर भोजन वह है, जो शरीर को बल देने वाला हो, क्षय का निवारण करने वाला हो, उचित ताप प्रदान करने वाला हो, सुपाच्य हो, अनुत्तेजक हो तथा स्मृति, आयु, सत्व, साहस, दया, सहयोग आदि बढ़ाने वाला हो।

प्राकृतिक चिकित्सक का उत्तरदायित्व है कि भोजन के सम्बन्ध में निम्न प्रश्नों का उत्तर दे तथा सम्बन्धित शंकाओं का समाधान करें –

1. भोजन का शरीर से क्या सम्बन्ध है?
2. कैसा भोजन शरीर के लिए हितकर होता है, और क्यों हितकर होता है?
3. भोजन के किन-किन तत्त्वों की कमी से रोग उत्पन्न हो जाते हैं?
4. संतुलित भोजन की क्या आवश्यकता है, तथा संतुलित भोजन निर्धारित करने के लिए किन-किन बातों को ध्यान में रखना चाहिये?
5. भोजन में रेशेदार पदार्थ क्यों आवश्यक हैं?
6. विटामिन क्या होते हैं, तथा विटामिन की कमी से कौन-कौन बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं?
7. किस भोज्य पदार्थ से कौन-सा विटामिन अधिक मिलता है?
8. भोजन किन-किन कारणों से दूषित होता है?
9. बासी भोजन में क्या-क्या हानियाँ होती हैं?
10. किन-किन परिस्थितियों में भोजन विषाक्त हो जाता है?
11. भोजन को दूषित होने से किस प्रकार से बचाया जा सकता है?
12. भोजन करते समय प्रसन्नचित्त रहना क्यों आवश्यक होता है?
13. मानसिक तनाव, चिन्ता, क्रोध, आदि को प्रबलता की दशा में भोजन क्यों नहीं करना चाहिये?
14. भोजन को अधिक चबाकर क्यों खाना चाहिये?
15. भोजन साफ स्थान पर क्यों करना चाहिये?

3. स्वस्थ आदतों का निर्माण एवं जीवन के प्रति सकारात्मक मनोवृत्ति

स्वस्थ्य आदतों का होना शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक होता है। रोग का कारण ही अस्वस्थ आदते हैं। हम सभी जानते हैं, कि चाय, काफी, बीड़ी, सिगरेट, पान-मसाला, तम्बाखू, भाँग, चरस, गाँजा, अफीम, शराब आदि स्वास्थ्य के घोर शत्रु हैं। अतः उनका सेवन नहीं करना चाहिए, इसी प्रकार प्राकृतिक वेगों को रोकने की आदत नहीं डालनी चाहिए, क्योंकि अधोवायु, मूत्र, छींकें, डकार, वमन, भूख, प्यास, नींद, आदि रोकने से नाना प्रकार के रोग होते हैं। परन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, निन्दा, कटुवचन आदि धारणीय वेग हैं, इनको उचित प्रकार से रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। किसी भी प्रकार से अति नहीं करनी चाहिए। भोजन में अनियमितता, बिना भूख, या कम भूख में खाना आवश्यकता से अधिक खाना, गरिष्ठ भोजन करना, पानी 3 कि. से कम पीना, भोजन जल्दी-जल्दी करना, व्यायाम की उपेक्षा करना, रात्रि में देर से सोना, तथा प्रातः देर से जागना, आदि अस्वस्थकर आदते हैं।

मनोवृत्ति का स्वास्थ्य पर विशेष प्रभाव पड़ता है। नकारात्मक मनोवृत्ति से दूसरे को हॉनि तो नहीं होती है, पहले स्वयं को शारीरिक हॉनि होती है। नकारात्मक मनोवृत्ति की दशा में उदर में हाइड्रोक्लोरिन एसिड अधिक निकलता है इससे एसिडिटी हो जाती है, अपच रहती है, तथा नाना प्रकार के रोगों की नींव मजबूत होती है। प्राकृतिक चिकित्सक का उत्तरदायित्व होता है कि वह भोजन, सफाई, व्यवहार, कार्य आदि के सम्बन्ध में सही आदतों के विकास के लिए सहायता करे। वह निम्न प्रश्नों का उत्तर देता है तथा सहायता करता है :

1. श्वांस -प्रश्वास का महत्त्व क्या है तथा स्वस्थ रहने के लिए इसका नियमन क्यों आवश्यक है?
2. भोजन कैसा, कब, कैसे, कितना करें?
3. जल का सेवन कितना करें, तथा उसकी क्या उपयोगिता है?
4. कार्य को बटवारा इस प्रकार कैसे करें, जिससे शरीर पर अनावश्यक दबाव न पड़े?
5. विभिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार दूसरों के साथ सामञ्जस्य रखें?
6. सोने का क्या समय निर्धारित करे, तथा उनका पालन करें?
7. सोने में किन-किन बातों का ध्यान रखें?
8. कौन-कौन से विचार स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होते हैं?
9. विश्राम का शरीर को क्या आवश्यकता है तथा उचित विश्राम कैसे करें?

10. अपने कर्त्तव्यों का पालन करना स्वास्थ्य के लिए क्यों आवश्यक है?

11. व्यक्तिगत स्वास्थ्य को कैसे संवर्धित करें?

4.रोगों की रोकथाम

जब शरीर में रोगप्रतिरोधक क्षमता की कमी हो जाती है, तो शरीर में रोग पनपते हैं। रोग प्रतिरोधक क्षमता की कमी के कई कारण हैं। अतः उन कारणों का बताना तथा रोग प्रतिरोधक क्षमता की कमी न आने देने के उपायों की उचित जानकारी देना प्राकृतिक चिकित्सक का उद्देश्य होता है। प्राकृतिक चिकित्सा शिविरों का आयोजन इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर किया जाता है कि लोगों को रोगों के विषय में जानकारी हो सके तथा उनसे कैसे बचा जाय, ज्ञान प्राप्त कर सकें।

5. उपचार

प्राकृतिक चिकित्सा की कई विधियां हैं, जिनका उपयोग सामान्य तथा जटिल सभी प्रकारों के रोगों के उपचार के लिए किया जाता है। जल-चिकित्सा, मृदा चिकित्सा, जड़ी बूटी चिकित्सा, सूर्य किरण चिकित्सा, विद्युत चिकित्सा, मालिश, चुम्बक चिकित्सा, रेफ्लेक्सोथैरेपी, आहार चिकित्सा, भौतिक चिकित्सा, रंग चिकित्सा, आदि प्राकृतिक चिकित्सा की विधियाँ हैं, जो आवश्यकतानुसार उपयोग में लायी जाती है।

6. पुनर्स्थापन

रोगी के पुनर्स्थापन के लिए चिकित्सीय, सामाजिक, शैक्षिक, व्यावसायिक, सभी प्रकार की सेवाओं एवं प्रशिक्षण की सुविधा का प्रबन्ध किया जाता है ।

●●●

अध्याय -5

प्राकृतिक चिकित्सा का महत्त्व

मानव सभ्यता के प्रारम्भ से ही व्यक्ति तथा प्रकृति में अभूतपूर्व सम्बन्ध रहा है। प्रकृति ही मानव को जीवन रक्षा, व्यक्तित्व विकास एवं प्रभावकारी ढंग से कार्य करने के लिए विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ एवं श्रोत प्रदान करती है। यह मानव की जननी है जो उसकी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति एवं उसकी रुचियों का संवर्धन बिना किसी दुष्परिणाम के शदियों से करती चली आयी है। शरीर में एक प्रकार की जीवनीशक्ति या जिसे प्राकृतिक शक्ति कहते हैं, होती है, जो शरीर व मन की हर प्रकार से रक्षा करती है व शरीर को स्वस्थ बनाये रखने की शक्ति देती है। स्वास्थ्य एक स्वाभाविक अवस्था है, ओर इस अवस्था को सामान्य बनाये रखने का यत्न सदैव प्रकृति करती रहती है। यदि व्यक्ति रोगी हो जाता है, तो उसका कारण उसकी स्वयं की भूल होती है। वह भूल न करें इसीलिए हमारे पूर्वजों ने खान-पान, आहार, व्यवहार, आदि सभी के लिए नियमों का निरूपण किया था। इन्होंने प्राकृतिक जीवन पद्धति एवं प्राकृतिक उपचार पर बल दिया था। उनका यह दृढ़ विश्वास था, कि मनुष्य प्रकृति से जितना समीप रहेगा, वह उतना ही शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक रूप से स्वस्थ रहेगा। परन्तु आज मानव प्रकृति से निरन्तर दूर होता चला जा रहा है। उसकी सम्पूर्ण जीवन शैली बनावटी हो गयी है। उसका खान-पान, रहन-सहन, विचार पद्धति सभी कुछ जाने या अनजाने प्रकृति के विपरीत होती जा रही है। इसी कारण व्यक्ति आज अनेकानेक शारीरिक व मानसिक व्याधियों से ग्रसित होता जा रहा है।

प्राकृतिक चिकित्सा एक ऐसी चिकित्सा पद्धति है, जिसमें प्राकृतिक साधनों एवं श्रोतों का उपयोग व्यक्ति को निरोगी एवं स्वस्थ बनाने के लिए किया जाता है। इस पद्धति का यह विश्वास है कि व्यक्ति प्रकृति का अभिन्न अंग है तथा प्रकृति के तत्त्वों से ही बना है। पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश एवं वायु तत्त्व मिलकर शरीर की रचना करते हैं। जब शरीर में इन तत्त्वों में असंतुलन उत्पन्न हो जाता है तो दूषित पदार्थ एकत्रित होने लगते हैं, और व्यक्ति रोगी हो जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा में मिट्टी, जल, वायु, भाप आदि का उपयोग रोग को दूर करने में किया जाता है। एलौपैथिक चिकित्सा पद्धति में रोग तथा उसके लक्षणों को दवा, शल्य चिकित्सा, टीकाकरण आदि के द्वारा दबाने का प्रयास किया जाता है। एलोपैथी पद्धति मे रोग

को रोग से, जहर को जहर से तथा कीटाणुओं को कीटाणुओं से परास्त किया जाता है। लेकिन इस प्रकार दवाओं के द्वारा रोग व उसके लक्षणों का अर्न्तमन (सप्रेशन) असाध्य रोगों की आधारशीला रखता है। प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा रोग व उसके लक्षणों को दबाया नहीं जाता है। बल्कि उसे जड़ से निर्मूल किया जाता है। व्यक्ति में जीवन शक्ति को शक्तिमान बनाकर रोग को दूर करने का प्रयास किया जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति स्वास्थ्य की रक्षा करने तथा रोगों को दूर करने के लिए शरीर में संचित विजातीय तत्वों एवं जहरीले पदार्थों को शरीर से बाहर निकालती है , तांत्रिकाओं, धमनियों तथा रक्त प्रवाह, में उत्पन्न गतिरोधों को दूर करती है, एवं उन पर अनावश्यक पड़ने वाले दबाओं को कम करती है, रक्त शुद्धिकरण करने वाले अंगों को अतिरिक्त शक्ति प्रदान करती है, स्नायु संस्थान को सबल बनाती है, एवं शरीर में जिन तत्वों की कमी होती है उन्हें पूरा करती है।

1. प्रसन्नता का आधार

संसार में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिलेगा, जिसे प्रसन्नता, सुख और शान्ति अभीष्ट न हो। सारे जीवन का ताना-बाना इस केन्द्र बिन्दु के दायें -बायें घूमता रहता है। इस प्रयास में जो जितना सफल हो जाता है, वह उतना ही सौभाग्यवान तथा जो असफल हो जाता है वह उतना ही हत्भाग्य समझ लिया जाता है। जीवन की प्रसन्नता को एक प्रकार से भाग्य और दुर्भाग्य का मापदण्ड समझ लिया गया है। और यह विश्वास कर लिया गया है कि उनमें से जो भी उपलब्ध हो वह ईश्वर की देन होनी चाहिये। किन्तु यह बात पूर्ण सत्य नहीं है। ईश्वर ने सभी के एक ही स्थिति में जन्म दिया है। यह उसके अपने वश की बात है कि प्रसन्नता की स्थितियाँ (पूर्ण स्वास्थ्य) पैदा करके जीवन के सुखों का भोग करें, या आजीवन रोगी रह कर दुर्भाग्य का रोना रोता रहे।

वास्तविक प्रसन्नता पूर्ण स्वास्थ्य में ही है। आर्थिक रूप से कमजोर रहकर भी प्रसन्नता का सुख प्राप्त कर सकता है, यदि वह शारीरिक तथा मानसिक रूप से सुखी है। संसार में साधन सम्पन्न और धनवान व्यक्तियों को कभी भी वास्तविक प्रसन्नता की स्थिति में नहीं देखा जाता है। प्रसन्नता तो मनुष्य की परछाई की तरह है। हम इसके पीछे जितने भागते हैं, उतनी यह हम से दूर होती चली जाती है। वस्तुतः प्रसन्नता कोई बाहरी साधनों या परिस्थितियों द्वारा प्राप्त होने वाली चीज नहीं है। यह हमारे अन्तःकरण में ही है, ओर हमें नित्य उपलब्ध है। यदि हम प्राकृतिक नियमों का जीवन में पालन करें, तो प्रसन्नता स्वतः अनुगमन करेगी।

2. प्राणशक्ति का बलवर्धन

प्राणशक्ति सारे जगत में विस्तृत और प्रशस्त है। इसी शक्ति से जीवभाग की स्थिति है। खनिज, वनस्पति, पशु, पक्षी, मनुष्य, बराबर इसी शक्ति के सहारे जीते

हैं, और सभी के लिए जीवनकाल की जो मर्यादा रखी गयी है वह प्राकृतिक है। किन्तु इस मर्यादा के भीतर घटने या बढ़ने की भी गुंजाइश है। प्राणी इस मर्यादा के भीतर रहते हुए भी अपने जीवन को घटा या बढ़ा सकता है। मानव शरीर सूक्ष्म अणुओं से बना है और प्राणशक्ति इनके ऊपर नियंत्रण तथा संचय रखती है, और उन्हें अपने अनुकूल चलाती रहती है। जब प्राणशक्ति का ह्रास होता है, तब शरीर अपने कार्यों को सम्पादित नहीं कर पाता है।

हमारे शास्त्रों में लिखा हुआ है कि "प्राण जीवयति इति प्राणः" अर्थात जो जीवात्मा के जीवन का आधार बना हुआ है, वह "प्राण" है। इसके दो भेद हैं : स्थूल और सूक्ष्म। ये दोनों पाँच-पाँच है। अर्थात प्राणशक्ति पाँच-पाँच ढंगों से सक्रिय है। स्थूल शरीर के पाँच -अंग हैं :

1. अपान।
2. समान।
3. प्राण।
4. उदान।
5. व्यान।

ये पाँचों स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने से नश्ट हो जाते हैं। सूक्ष्म शरीर के पाँच प्राण हैं–

1. देवदत्ता,
2. कूकल,
3. कूम,
4. नाग,
5. धनंजय,

ये पाँचों प्राण सूक्ष्म शरीर को जीवित और सक्रिय रखते हैं। जब तक कारण शरीर (causal body) रहता है तब तक सूक्ष्म शरीर (Abstract body) के ये पाँचों प्राण भी विद्यमान रहते हैं। ये दसों प्राण मिलकर, पाँच कोशों में से दूसरे कोश, "प्राणमय कोश" का निर्माण और निर्वाह करते हैं। इन पाँच कोशों के नाम है–

1. अन्नमय कोश।
2. प्राणमय कोश।
3. मनोमय कोश।
4. विज्ञानमय कोश।
5. आनन्दमय कोश।

अपान प्राण (प्राण)

अपान प्राण वायु का कार्यक्षेत्र नाभि के नीचे के पूरे शरीर का हिस्सा है। शरीर से मलों को बाहर निकालना तथा अंगों को गति व शक्ति देना इसका कार्य है।

समान प्राण (वायु)

समान प्राण वायु का कार्य क्षेत्र नाभि से ऊपर हृदय तक के भाग में रहता है। आहार से रस का निर्माण करना और यथा -स्थान वितरित कर देना इसका कार्य है। इसका सम्बन्ध शरीर के पाचन-संस्थान से होता है।

प्राण वायु

प्राण वायु का कार्य क्षेत्र हृदय से लेकर मुँह तक रहता है। बाहर से श्वांस और भोजन जल आदि पर्दार्थों को भीतर खींचना और पूरे शरीर में व्याप्त करना ही इसका कार्य है।

उदान प्राण

कण्ठ में रहकर कार्य करता है। जो शरीर को उठाये रखे, संतुलित रखे, इधर-उधर गिरने न दें, वह उदान प्राण वायु है। वमन के समय आमाशय से बाहर को ऊपर उठाकर बाहर फेकना, बोलना, खाया पिया पदार्थ कण्ठ से नीचे धकेल कर अमाशय तक पहुँचाना आदि इसके कार्य हैं।

ब्यान प्राण वायु

ब्यान प्राण का कार्यक्षेत्र पूरा शरीर है। यह पूरे शरीर में व्याप्त रहकर कार्य करता है। ज्ञानवाहक, सन्देशवाहक सभी सूक्ष्म नाड़ियों को गतिशील बनाये रखना एवं नियंत्रित करना इसका कार्य है।

नासिका और कण्ठ में रहकर छींक और उवासी (जमुहाई) लाने वाला उपप्राण ''देवदन्त'' है। कण्ठ कूप के निचले भाग में रहने वाला उपप्राण कूकल है, यह भूख प्यास पर नियंत्रण रखता है। नेत्रों में रहकर पलकों को छपकाने व बंद रखने का कार्य करने वाला उपप्राण ''कूर्म'' है। मुख में रहकर डकार, हिचकी आदि लेने वाला उपप्राण 'नाग' है। समस्त शरीर में व्यापत रहकर कार्य करने वाला गमन-आगमन एवं शरीर पोषण में सहायक रहने वाला उपप्राण ''धनंजय'' है।

हम शरीर को तो आहार देते हैं पर ''प्राण शक्ति'' को आहार देने की चिंता नहीं करते हैं। इसके कारण प्राण शक्ति घटती रहती है और व्यक्ति आलसी तथा निर्बल होता जाता है। गलत आहार विहार और आचार विचार करने से दूषित मानसिक -तरंगे पैदा होती हैं, जो जीवनी शक्ति (प्राणशक्ति) का क्षय करती हैं। इसकी अपेक्षा अच्छा आहार-विहार और अच्छा आचार-विचार रखने, करुणा, ममता, सेवा, भक्ति, उत्तम आचरण, शान्ति और प्रेम की भावना आदि सद्गुणों को धारण करने से शक्तिप्रद तरंगे उत्पन्न होती हैं, जो जीवनी शक्ति (प्राणशक्ति) को शक्तिशाली बनाती हैं।

उचित आहार विहार, योगासन, प्राणायाम, शुद्ध वातावरण और श्रेष्ठ आचार-विचार तथा ध्यान जो प्राकृतिक चिकित्सा के यंत्र हैं, के द्वारा प्राणशक्ति को प्रबल एवं सक्षम बनाया जाता है। इसके परिणामस्वरूप वह आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन पाँच तत्त्वों से भी ऊर्जा प्राप्त करने लगती है। इससे शरीर में इतनी रोग प्रतिरोधक क्षमता उत्पन्न हो जाती है कि व्यक्ति दूषित प्रभाव का सामना करके भी रोगी नहीं होता। प्राकृतिक चिकित्सा में प्राणायाम को बहुत महत्त्व दिया जाता है। इससे पूरी श्वास लेने की कला आती है। अधूरी साँस लेने से फेफड़े पूरी तरह से फैल नहीं पाते और प्राण वायु से पूरी तरह भर नहीं पाते इसलिए उसमें भरी हुई विषाक्त वायु पूरी तरह बाहर नहीं निकल पाती जिससे रक्त दूषित होता रहता है, और शरीर में रोग पैदा होते रहते हैं।

3. लाभकारी जीवन शैली का विकास

जीवन तो सभी प्राणियों में होता है, परन्तु मनुष्य को छोड़कर सभी प्राणी नैसर्गिक जीवन ही व्यतीत करते हैं। यही एक ऐसा प्राणी है, जो प्राकृतिक बंधनों से भागता है, परिणामस्वरूप शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार के कष्ट पाता है। प्राकृतिक चिकित्सा के द्वारा व्यक्ति को जीने की कला सिखायी जाती है। समय का सदुपयोग तथा शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य की सभी आदतों का निर्माण कराया जाता है जिससे वांछित सभी उत्तरदायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वाह कर सके। जीवनशैली के चार प्रमुख अंग हैं –

1. किन नियमों का पालन करें, जिससे शारीरिक स्वास्थ्य उत्तम बना रहे।
2. जीवन के प्रति कैसा दृष्टिकोण रखें जिससे मानसिकता सही बनी रहे तथा मनोवैज्ञानिक क्रियाकलापों का सम्पादन सही हो।
3. किन गुणों का विकास करें, जिससे समाज में प्रतिष्ठा, सम्मान, एवं आवश्यकता बनी रहे।
4. कौन सी पद्धति अपनायें जिससे आपत्तिकाल में अधिक मानसिक क्लेश न हो साथ ही साथ बुरे कार्यों का भय बना रहे। प्राकृतिक चिकित्सा में इन चारों क्षेत्रों में सहयोग दिया जाता है। शरीर के लिए प्राकृतिक आहार, व्यायाम, प्राणायाम, शुद्धिकरण की क्रियायें उपयोग में लायी जाती हैं। उचित मानसिकता के लिए मनोचिकित्सा की जाती है। उत्तम स्वास्थ्य शैली के लिए सामाजिक समायोजन पर बल दिया जाता है। योग के माध्यम से शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा अध्यात्मिक जीवन जीने की कला सिखायी जाती है।

4. सम्पूर्ण शरीर का शुद्धिकरण

हम सभी जानते हैं कि रोग का कारण विकार है। विकार, पाँच प्रकार के होते हैं–

1. मल विकार।
2. रक्त विकार।
3. नाड़ी विकार।
4. मनविकार।
4. बुद्धि विकार।

इन विभिन्न प्रकार के उत्पन्न विकारों के कारण शरीर में नाना प्रकार के कष्ट चिन्ह उत्पन्न हो जाते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा के अतिरिक्त अन्य चिकित्सा पद्धतियों में दमनात्मक या, शमनात्मक औषधियों का सहारा लेते हैं। फलस्वरूप वह रोग उस समय के लिए भले ही ठीक हो जाता है, किन्तु कुछ समय बाद कभी-कभी, तो तुरन्त उसी रूप में या उससे अधिक उग्र रूप में अथवा किसी अन्य रोग के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा में विकारों को हटाने का प्रयास किया जाता है। जिसके द्वारा सम्पूर्ण शरीर की सफाई की जाती है। प्राकृतिक चिकित्सा में शरीर शुद्धि की छः विधियाँ अपनायी जाती हैं–

1. जलनेति।
2. वस्ति (एनिमा)।
3. धौति (कुंजल)।
4. नौलि (पेट व्यायाम)।
5. त्राटक।
6. कपाल भांति।

सिर शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। जिसके अन्तर्गत मस्तिष्क कान, आँख, दाँत, जीभ आदि अंग आते हैं। इन अंगों में जब किसी कारण से विकार एकत्र हो जाते हैं, तो विभिन्न प्रकार के रोग के लक्षण प्रकट होते हैं। इन अंगों की गंदगी हटाने के लिए नेति करते हैं। बड़ी आँत में अवशेष मल एकत्र होता है, और नियमित रूप से निकलता रहता है। यदि यह मल समय पर न निकला तो नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। एनिमा के द्वारा इसकी सफाई करते हैं। आमाशय शरीर का वह अंग है, जिसमें खाये हुये भोजन का पाचन होता है। यह स्थान अवश्य साफ सुथरा होना चाहिए अन्यथा भोजन विकार युक्त हो जाता है। कुंजल क्रिया के द्वारा आमाशय की सफाई की जाती है। उदर के अन्तर्गत आमाशय, यकृत, प्लीहा, छोटी आंत, बड़ी आंत, आती हैं। इनमें मल अथवा चर्बी आ जाने से नाना प्रकार के कष्ट होने लगते हैं। इन अंगों में रुके विकार को निकालने के लिए नौलि क्रिया उपयोग में लायी जाती है। एकाग्रता प्राप्त करने के लिए त्राटक क्रिया करायी जाती है। मस्तिष्क से सूक्ष्म विकारों को दूर करने के लिए कपाल भाँति क्रिया उपयोग में लायी जाती हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर का शुद्धिकरण हो जाता है।

5. क्रमबद्ध जीवन का विकास

प्रकृति नियमों से बंधी होकर कार्य करती है। इसी कारण शरीर भी नियमतः में विशवास रखता है। शरीर की आंतरिक सभी क्रियायें एक लय में होती हैं। रक्त संचार प्रक्रिया, पेशियों का आकुचन तथा प्रकुचन, श्वास, प्रश्वास आदि सभी क्रियायें सुनिश्चित रूप से होती रहती हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका जीवन क्रम निश्चित है। उठना, भोजन ग्रहण करना, श्रम करना, योग्यता का विकास करना, सोना आदि सभी में एक क्रम होता है। आधिव्याधियाँ इसके अव्यवस्थित होने की फलश्रुति हैं। पेट की पाचन क्रिया एक निश्चित भागों में आहार लेने से अच्छी तरह सम्पन्न होती है। अन्यथा खट्टी डकार से लेकर कोष्ठवद्धता तक स्थिति पहुँच जाती है। प्राकृतिक चिकित्सा के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को किस प्रकार जीवन यापन करना चाहिये, सिखाया जाता है।

6. मन तथा शरीर दोनों की चिकित्सा

प्राकृतिक चिकित्सा के अतिरिक्त कोई चिकित्सा नहीं है, जिससे शरीर तथा मन दोनों का एक साथ उपचार किया जाता है। शरीर और मन के बीच एक पारस्परिक सम्बन्ध है। अनुसंधान के दौरान शरीरवेत्ताओं को अनेक ऐसे तथ्य उपलब्ध हुये हैं, जिसने इस बात को बल प्रदान गया कि शरीर तंत्र को नियमित कर लिया जाय तो समय-समय पर होने वाली आन्तरिक प्रणाली की विभिन्न गड़बड़ियों और व्याधियों से बचा जा सकता है। शरीर संस्थान को स्वस्थ ओर निरोग रखने वाला तंत्र प्रतिरक्षा प्रणाली है। यह पूरी तरह मन के अधीन है। मन यदि स्वस्थ रहा, तो केवल रोग विरोधी क्षमता ही सबल बनी रहती है वरन् समस्त अंग प्रत्यग संतुलित बने रहते हैं। मन यदि गड़बड़ाया, तो शरीर भी लड़खडाने लगता है।

मन का उद्‌भव आत्मशक्ति से होता है। गीता के अनुसार मन आठ आधार भूत तत्त्वों में से एक है। आठ तत्त्वों के नाम हैं–

पृथ्वी, अग्नि, वायु, गगन, अधोमन, बुद्धि और अहम्।

मन इन्द्रियों और बुद्धि के बीच कड़ी का काम करता है। यद्यपि मन के चार पक्ष हैं, लेकिन यह एक इकाई है। एक वृक्ष के समान है। यद्यपि मन भूत, भविष्य और वर्तमान में विचरण करता है, लेकिन रहता एक है। मन विचारों और आदतों का संग्रह है। संसार की विभिन्न शक्तियों के सम्पर्क में आने से उत्पन्न इच्छाओं के विशाल ढेर को मन कहते हैं। क्योंकि मन का स्वभाव ही ऐसा है कि वह सांसारिक हलचलों के कारण उत्पन्न भावनाओं को संग्रह करता है।

मन के तीन प्रकार के कार्य होते हैं–

1. संवेदनाओं का अनुभव करना।

2. विचार करना।
3. संकल्प करना।

इनकी तीन अवस्थायें होती हैं: सक्रिय, निष्क्रिय तथा निरपेक्ष या तटस्थ। सामान्य रूप से मन के तीन पक्ष हैं: चेतन, अचेतन, तथा अतिचेतन।

भौतिक शरीर एक ऐसा उपकरण है कि उसके द्वारा मन शरीर की पॉच ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से सांसरिक वस्तुओं का अनुभव प्राप्त करता है। मन शरीर का जीवन धारक उपकरण है तथा उन सूचनाओं के आधार पर अंगों का संचालन करता है जो उसे ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त होती है। शरीर मन का प्रक्षेपण है और मन शरीर का सूक्ष्म रुप है। मन शरीर पर विचार करते हुये स्वयं शरीर बन जाता है और बाद में इसी से पीड़ित होता है। मन भौतिक शरीर का सूक्ष्म प्रतिभाग है। और भौतिक शरीर मन की अभिव्यक्ति है। इसलिए मन में जब तनाव होता है तो मानव में तनाव उत्पन्न हो जाता है और जब मन को विश्राम होता है तो शरीर भी विश्राम करता है। विचार, संवेग और भावनायें स्पष्ट रूप से चेहरे पर प्रभाव छोड़ देते हैं।

मन और शरीर में पारस्परिक सम्बन्ध है। मन शरीर पर प्रभाव डालता है तथा शरीर मन पर प्रतिक्रिया करता है। एक स्वस्थ मन से ही स्वस्थ शरीर सम्भव है। मनुष्य के मन में जो कुछ होता है उसका प्रभाव शरीर पर पड़ता है। उदाहरण के लिए क्रोध के उग्र रूप से मस्तिष्क के कोषों को क्षति पहुँचाती है, रक्त में विषैला तत्त्व प्रवेश करता है, स्नायु प्रणाली को आघात लगता है, पाचन रसों का निकलना बंद हो जाता है, शरीर की ऊर्जा नष्ट होती है। फलतः क्रोधी व्यक्ति रोगी रहता है। प्राकृतिक चिकित्सा में शरीर की शुद्धिकरण के साथ मन एवं विचारों के शुद्धिकरण पर समान रूप से बल दिया जाता है।

7- सूक्ष्म अवयवों का सुसंचालन

शरीर को स्वस्थ और चुस्त दुरुस्त बनाये रखने के लिए पौष्टिक आहार और अनुकूल जलवायु तो आवश्यक है ही पर इसके साथ ही व्यायाम की आवश्यकता है। मशीन यदि बहुत अच्छी भी हो, पर लम्बे समय तक वह बंद पड़ी रहे, तो उसकी गुणवत्ता प्रभावित होती है, और कल पुर्जे ठीक ढंग से काम नहीं कर पाते हैं। यही बात शरीर के साथ भी है। यदि अंग संचालन की प्रक्रिया नियमित रूप से सम्पन्न नहीं हो पा रही हो, तो अंग-अवयव जकड़ने लगते हैं तथा विवशता प्रकट करने लगते हैं। इसीलिए प्राकृतिक चिकित्सा में व्यायाम आवश्यक माने गये हैं। सामान्यतः चलने, दौड़ने, और प्रतिदिन की भाग-दौड़ से कसरत तो हो जाती है, पर इन प्रक्रियाओं का कुछ खास अंगों पर ही ज्यादा प्रभाव पड़ता है। शेष अंग या तो अप्रभावित बने रहते हैं अथवा प्रभाव इतना कम होता है उसे नगण्य कहा जा सके। विशेषकर शरीर के भीतर छोटे अवयवों तक इनका प्रभाव

नहीं पहुँच पाता। इसलिए वे जंग लगे चाकू की सी स्थिति में धीरे-धीरे आने लगते हैं। इन कठिनाइयों को ध्यान में रखकर हीं प्राचीन शरीर-शास्त्रियों ने योगासनों की विशेष व्यवस्था की थी, ताकि उनसे सम्पूर्ण शरीर के बड़े-छोटे सभी अंगों की कसरत बराबर होती रह सके। योगासनों से ग्रन्थियों पर प्रभाव पड़ता है। जिससे वे सामान्य रूप से कार्य करती रहती है, और शरीर को स्वस्थ रखने में सक्रिय रहती है। प्राकृतिक चिकित्सा में योगासनों तथा अन्य शारीरिक व्यायाम की क्रियाओं द्वारा यह लाभ प्राप्त करते हैं।

8. कोषाणुओं की धीमी गति से क्षति

यद्यपि यह प्रकृति का नियम है कि जो जन्मा है, उसकी मृत्यु अवश्य होगी। परन्तु यह भी सत्य है कि यदि स्वस्थ भोजन एवं स्वस्थ वातावरण प्राप्त हो तो वह दीर्घायु, होता है। प्राकृतिक चिकित्सा में आहार, बिहार, जीवनशैली, शारीरिक व्यायाम, योग, प्राणायम, पर जोर दिया जाता है। इससे शरीर के प्रत्येक कोष को निरन्तर पर्याप्त जल, वायु, भोजन मिलता रहता है तथा मल पदार्थ सामान्य गति से बाहर निकलता रहता है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप कोष स्वस्थ बने रहते हैं, तथा उनकी आयु अधिक होती है।

9. कुप्रभावहीन पद्धति

प्राकृतिक चिकित्सा में कोई औषधि दी नहीं जाती है। अतः उसके कुप्रभाव होने के कोई अवसर नहीं होते हैं। आज व्यक्ति एलोपैथी के कुप्रभावों के कारण अनेक भयंकर रोगों का शिकार होता चला जा रहा है। क्योंकि इसमे दमनात्मक साधनों का सहारा लिया जाता है। रोग को दबाने से कभी न कभी उसके कुप्रभाव अवश्य प्रगट होते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा में शोधन क्रिया प्रमुख होती है तथा रोग के कारणों को दूर करने का प्रयास किया जाता है। लेकिन इसका यह तात्पर्य भी नहीं कि बिना समुचित ज्ञान के इसका प्रयोग कोई भी कर सकता है। यदि ऐसा किया जाता है तो या तो कोई प्रभाव नहीं होगा या फिर स्थिति बिगड़ भी सकती है। अतः चिकित्सा पद्धति का समुचित ज्ञान होना आवश्यक होता है।

10. प्राकृतिक चिकित्सा एक सरल चिकित्सा पद्धति

प्राकृतिक चिकित्सा में केवल प्रकृति, प्रदत्त पदार्थों यानी पंच तत्त्वों का उपयोग होता है, तथा जड़ी बूटी भी आवश्यकतानुसार उपयोग में लायी जाती है। अतः अनेक नाम याद करने की आवश्यकता नहीं होती है। साथ ही साथ व्यावहारिक ज्ञान होने पर कम शिक्षित व्यक्ति भी रोगों को दूर करने में प्राकृतिक चिकित्सा का उपयोग कर सकता है।

11. प्राकृतिक चिकित्सा कम खर्चीली है

प्राकृतिक चिकित्सालय को यदि राजकीय संरक्षण मिले तो चिकित्सा के

उपयोग पर कोई विशेष खर्चा नहीं आता है। दूसरी चिकित्सा पद्धतियों से 10 गुना कम खर्चे पर ही प्राकृतिक चिकित्सालय चलाया जा सकता है। अतः जन साधारण के लिए जो गरीब हैं तथा रोगों के उपचार हेतु बड़े चिकित्सालयों में नहीं जा सकते हैं, उनके लिए प्राकृतिक चित्सिालय अधिक सुविधाजनक होंगे। दुर्भाग्य इस बात का है कि सरकार प्राकृतिक चिकित्सालयों के विकास पर कोई ध्यान नहीं दे रही है।

मानसिक चिंता एवं तनाव को कम करने के लिए जल चिकित्सा, मृदा-चिकित्सा, जड़ी बूटी चिकित्सा, आहार चिकित्सा, मनोचिकित्सा तथा योगासनों का उपयोग करते हैं। इन विधियों को सीखकर कोई भी व्यक्ति अपने घर पर उपचार कर सकता है और अनेक भयंकर रोगों से ग्रसित होने से बच सकता है।

जलनेति, कुंजल, एनिमा, फुटबाथ, मेरुदण्ड स्नान का उपयोग मानसिक तनाव को कम करने के लिए करते हैं। जलनेति का मानसिक रोगों के उपचार में महत्त्वपूर्ण योगदान है। हम सभी जानते हैं, कि वायु जीवन का आधार है। शरीर के प्रत्येक कोष को आक्सीजन की आवश्यकता होती है। आवश्यक वायु का प्रवेश नाक के दो छिद्रों द्वारा होता है। यदि उसमें दूषित पर्दाथ जम जाता है तो वायु प्रवेश में रुकावट आती है। फेफड़ों को पूरी आक्सीजन नहीं मिल पाती। जिससे प्रत्येक कोश प्रभावित होता है। यदि जलनेति करते हैं, तो न केवल पर्याप्त आक्सीजन मिलती है, अपितु मस्तिष्क की चंचलता कम हो जाती है, फलस्रुप चिंता एवं तनाव कम हो जाता है। कुंजल क्रिया से जहाँ एक ओर उदर की सफाई होती है, वहीं दूसरी ओर उदरीय माँसपेशियों को सेंक मिलता है, जिससे उनमें शिथिलता आती है। ठंडे जल का पाव स्नान कराने पर त्वचा के द्वारा रक्त को शीतलता प्राप्त होती है, हृदय की धड़कन सामान्य हो जाती है, मानसिक थकान दूर होती है तथा अनुकम्पित तंत्र प्रभावित होता है। मेरुदण्ड के सेक्रेल क्षेत्र से सिम्पेथेटिक फाइवर्स शरीर के सभी अंगों को जाते हैं। कटि स्नान के द्वारा सेम्पेथिकरिक तंत्र की उत्तेजना को कम किया जाता है। इसी प्रकार मेरुदण्ड स्नान भी लाभ पहुँचाती है।

मृदा चिकित्सा भी मानसिक रोगों में अत्यन्त लाभकारी है। इसी प्रकार जड़ी बूटी, व आहार को भी मानसिक रोगों के उपचार के कार्य में लाते हैं।

योगासन मानसिक कष्टों को दूर करने के लिए सबसे अच्छा उपाय है। शशांकासन, योग मुद्रा, शवासन विशेष रूप से लाभकारी है। प्राणायाम से श्वास का संयम एवं नियंत्रण होता है। प्राणायाम प्राण, चेतना, इंद्रिय मन, चिंता सभी को प्रभावित करता है। नाड़ी शोधन प्राणायाम, उज्जापी प्राणायाम तथा गर्मियों में शीतली प्राणायाम अधिक लाभकारी है। इससे मस्तिष्क की तरंगों, हारमोन स्त्राव, तथा चयापचय क्रिया पर नियंत्रण होता है, जिनसे स्नायु संस्थान संतुलित रूप से कार्य करता है।

●●●

अध्याय-6

प्राकृतिक चिकित्सा दर्शन

1. पंचतत्त्वों में समन्वय

सृष्टि की रचना पंचतत्त्वों से हुई है। इन्हीं पंचतत्त्वों से मानव शरीर भी बना है। मिट्टी, पानी, हवा, अग्नि और आकाश–इन पाँच तत्त्वों का ही सभी कुछ सप्रसार है। वस्तुओं का परिवर्तन, उत्पत्ति, विकास तथा विनाश इन तत्त्वों की मात्रा में परिवर्तन आने से ही होता है। शारीरिक अस्वस्थता भी इन्हीं के असंतुलन के कारण उत्पन्न होती है। यदि इस असंतुलन को सदैव संतुलित बनाये रखा जाय, तो शरीर स्वस्थ और निरोग बना रहता है। आहार-विहार की असावधानी के कारण तत्त्वों का नियत परिणाम घट-बढ़ जाता है। फलस्वरूप रोग उत्पन्न हो जाता है। वायु की मात्रा में अंतर आ जाने से गठिया, लकवा दर्द, कंप, अकड़न, नाड़ी विक्षेप आदि कठिनाइयाँ हो जाती है। अग्नि तत्त्व के विकार से फोड़े, फुन्सी रक्तपित्त, हैजा, दस्त, क्षय, श्वास, पीलिया आदि रोग हो जाते हैं। जल तत्त्व की गड़बड़ी से जलोदर, पेचिश, संग्रहणी, बहुमूत्र, प्रमेह, प्रदर, जुकाम, आदि रोग हो जाते हैं। पृथ्वी तत्त्व बढ़ जाने से फीलपाँव, तिल्ली, जिगर, रसौली, मोटापा, आदि व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। आकाश तत्त्व के असंतुलन से मूर्च्छा, मिर्गी, उन्माद, पागलपन, अनिद्रा, भ्रम , घबराहट, आदि लक्षणों का आक्रमण होता है। दो, तीन या पाँचों के मिश्रित विकारों की मात्रा के अनुसार एक या अधिक रोग हो सकते हैं।

इसी प्रकार यदि इन तत्त्वों की मात्रा कम हो जाय तो दूसरे प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अग्नितत्त्व की कमी से शीत, जुकाम, नपुंसकता, गठिया, मंदाग्नि, शिथिलता जैसे लक्षण प्रकट होते हैं। वायुतत्त्व की कमी होने से दमा, शारीरिक दुर्बलता, मानसिक उलझन, रोगप्रतिरोधक क्षमता की कमी आदि लक्षण परिलक्षित होते हैं। पृथ्वी तत्त्व की कमी से सूखारोग, बेरी-बेरी, अंगों की शिथिलता तथा कमजोरी आ जाती है। इसी प्रकार जल तत्त्व से व आकाश तत्व की कमी से अनेक रोग हो जाते हैं।

शरीर पंचतत्त्वों से बना है। यदि सब तत्त्व अपनी नियत मात्रा में यथोचित रूप से रहें, तो बीमारियों का कोई कारण नहीं रहता। जैसे ही इनके उचित अनुपात में अन्तर आ जाता है, वैसे ही रोगों का उद्‌भव होने लगता है। इस स्थिति से बचने

के लिए दैनिक कार्यक्रम इस प्रकार रखा जाना चाहिये कि सभी तत्त्व आवश्यक मात्रा में उचित रूप से प्राप्त होते रहें।

पृथ्वी तत्त्व को ग्रहण करने के लिए प्रतिदिन प्रातःकाल किसी, पार्क, मैदान, अथवा किसी स्वच्छ स्थान पर प्रतिदिन आधा घन्टा नंगे पाँव टहलना चाहिये। इससे पैरों द्वारा शरीर का संचित विजातीय तत्त्व खींचकर जमीन में चला जाता है, और घास की तरावट से पैरे ठंडे होते हैं। यह ठंडक मस्तिष्क तक पहुँचती है, और शीतल बनाये रखती है। भ्रमण के समय यदि यह भावना भी रहे कि पृथ्वी की जीवनी शक्ति पैरों द्वारा अवशोषित होकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो रही है और समस्त शरीर का विष खींचकर पृथ्वी माता हमें निर्मल व स्वस्थ बना रही है तो अधिक लाभ होता है।

नित्य स्वच्छ और ताजे पानी से स्नान करना चाहिए। इससे शरीर को स्फूर्ति चैतन्यता और सजीवता मिलती है। जलनेति से मस्तिष्क ठंडा रहता है। एनिमा लेने से पेट साफ रहता है। पानी अधिक से अधिक परन्तु धीरे-धीरे पीना चाहिये जिससे उनमें आवश्यक लार मिलती रहे, नहीं तो कोष्ठवद्धता की शिकायत हो सकती है। अग्नितत्त्व को ग्रहण करने के लिए प्रातः काल का धूप स्नान अच्छा साधन है।

नंगे बदन बैठने से आवश्यक विटामिन और अन्य तत्त्व शरीर के सभी अवयवों को समान रूप से मिलते हैं। वायु तत्त्व की पूर्ति प्रातःकाल के टहलना तथा प्राणायाम के द्वारा करनी चाहिये। आकाश तत्त्व की प्राप्ति उपवास से की जा सकती है।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि पंचतत्त्वों में असंतुलन से ही तरह-तरह की व्याधियाँ तथा विकार उत्पन्न होते हैं। अतः इस असंतुलन को मिटाना ही स्वास्थ्य को लौटाना है तथा संतुलन बनाये रखना स्वास्थ्यवर्धन है।

2. सार्थक चिकित्सा हेतु सकारात्मक चिन्तन

"जो जैसा सोचता है और करता है वह वैसा ही बन जाता है।" वाली चिरपुरातन युक्ति को अब वैज्ञानिक प्रमाण भी उपलब्ध होने लगे हैं। चिकित्साशास्त्री अब इस निष्कर्ष पर पहुँचने लगे हैं कि मानवी मस्तिष्क से उत्पन्न होने वाली विद्युत सम्पूर्ण शरीर का कार्य संचालित करती रहती है। अवचेतन मस्तिष्क से सम्बन्धित असंख्य स्नायु तंत्र शरीर के प्रत्येक घटक तक पहुँचते, इसकी सुव्यवस्था बनाये रखते, आवश्यक निर्देश देते और समग्र स्वास्थ्य संवर्धन का सत्प्रयोजन सतत् पूरा करते हैं।

इच्छाशक्ति के अनुरूप ही व्यक्ति की कायिक संरचना का निर्माण होता है। यह शक्ति -सामर्थ्य चिंतन में उगती -फूलती, और शरीर में कई तरह के रासायनिक स्राव उत्पन्न करती है, जो मानव स्वास्थ्य के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित करते हैं।

रोगों की उत्पत्ति तथा उनकी मुक्ति भी इसी की घटबढ़ सामर्थ्य पर निर्भर करती है। रोगियों के चिंतन में यदि सकारात्मक सोच का प्रादुर्भाव किया जा सके, तो रोगी को अधिक लाभ होता है। इच्छा शक्ति की पवित्रता एवं प्रखरता के कारण विचार व परिकल्पनायें शरीर की जैविक रासायनिक प्रक्रियाओं को सक्रिय बनाती और इन सक्रिय उद्दीपनों के माध्यम से ही "मस्तिष्क सन्देश" कोशिकाओं तक जा पहुँचते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण कायिक ढाँचे को सुदृढ़ चिकित्सकीय गुणवत्ता प्रदान करने की प्रक्रिया स्वतः संचालित हो उठती है।

इच्छा शक्ति के सामर्थ्य के अनुरूप ही मस्तिष्क में होने वाले रासायनिक परिवर्तन प्रतिरक्षातंत्र का नियंत्रण करते हैं। वरन् उस तंत्र को अनुप्राणित कर सकने की क्षमता भी रखते हैं। इन रासायनिक संदेशों का मूलभूत प्रयोजन सम्पूर्ण शरीर को जीवाणु, विषाणु, और संक्रमकता के बारे में सूचित करने का है। इन प्रतिरक्षा कोशिकाओं का सीधा सम्पर्क मस्तिष्क के भाव संवेदना वाले केन्द्र से स्थापित हो जाता है। रोगी में मानसिक संतुलन बढ़ता है, उत्साह तथा उमंग का प्रादुर्भाव होता है और आरोग्य लाभ मिलने लगता है। चेतना का सहज स्वाभाविक गुण, स्नेह, सद्भाव और संयम का प्रादुर्भाव होता है। ईर्षा, द्वेष और असंयम बरतने पर मस्तिष्क पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, और एक विशिष्ट प्रकार के हारमोन्स का स्त्राव होता है, जो रोगों की उत्पत्ति का कारण बन जाता है।

व्यक्ति की भाव-संवेदनायें कुंठित होने के कारण कुछ ऐसे न्यूरोपेट्इड्स का शरीर में निर्माण होना आरम्भ हो जाता है जिनसे मानसिक संतुलन विगड़ता है और विविध विधि रोगों की उत्पत्ति का कारण बनता है।

3. सुनियोजित जीवनक्रम

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक निश्चित निर्धारित क्रम में गतिशील होता है। सभी के भीतर प्राकृतिक ताल एवं लय का सम्बन्ध दिखायी पड़ता है। यह नियमितता विश्व-ब्रह्माण्ड से लेकर प्रकृति, मानवीय शरीर में अनिवार्य रूप से परिलक्षित होती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि नियमितता-ताल लय ही जीवन है, विश्व रचना है और प्रकृतिगण गुण है। मानव शरीर भी एक निर्धारित क्रम में विकसित होता है। शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, उसी की परिणति है। रक्त संचार प्रक्रिया, पेशियों का आकुंचन प्रकुंचन, श्वास-प्रश्वास सभी में लय का अस्तित्व स्पष्ट होता है। हृदय की धड़कन लय-द्वय की ध्वनि एवं उसके बीच क्षण भर का विश्राम यही है। जीवन प्राण, जिससे सम्पूर्ण जीवन तंत्र सुसंचलित होता है इस ताल में यदि क्षण भर भी व्यतिरेक हो जाय, तो अनेक शारीरिक बीमारियाँ हो जाती है। निम्न रक्त चाप, उच्चरक्तचाप आदि इसी व्यतिक्रम का प्रतिफल है। यह सुनियोजित सत्ता मानव जीवन में भी इसे सम्मिलित कर गतिशील रखने की आशा करती है। उठना, भोजन ग्रहण करना, श्रम करना,

योग्यता विकसित करना, सोना, आदि में नियमितता होनी चाहिये। आधिव्याधियाँ इसमें अव्यवस्थित होने की फलश्रुति हैं। पेट की पाचन क्रिया एक निश्चित मात्रा में आहार लेने से अच्छी तरह सम्पन्न होती है, अन्यथा खट्टी डकार से लेकर कोष्ठतद्धता तक स्थिति पहुँच जाती है।

इस तरह नियमितता के रूप में सुनियोजित जीवन व्यतीत करना प्राकृतिक गुण है। इसे अपने जीवनक्रम में स्थान देना आवश्यक है।

4. श्वाँस-प्रश्वाँस का क्रम

शरीर में प्राण का एक छोटा सा अंश कार्यरत है। प्रचुर, परिणाम में यह अंतरिक्ष की वायु में घुला रहता है। मनुष्य के चारों ओर सूक्ष्म वातावरण में प्राण का सागर फैला है जिससे मनचाही मात्रा में विशेष पद्धति द्वारा खींचा और अपने भीतर भरा-अवधारित किया जा सकता है। सामान्य श्वसन प्रक्रिया द्वारा जो आक्सीजन भीतर आती है उसमें प्राण का उतना अंश ही विद्यमान होता है जिससे किसी तरह शरीर का कार्य चल सके। अधिक परिमाप में प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक विधि अपनानी पड़ती है, जिसे योग साधनाओं में "प्राणायाम" कहा गया है।

शरीर के अवयवों पर नियंत्रण करने वाले अचेतन मन की दक्षता और व्यावहारिक जीवन की समस्यायें सुलझाने वाले चेतन मस्तिष्क का समुचित परिपोषण प्राण तथा श्वास पर निर्भर रहता है। इसकी उपेक्षा करके मानसिक विकास की समग्रता सम्भव नहीं हो सकती। अतः जितना प्रयास अध्ययन, अनुभव तथा सम्पर्क द्वारा ज्ञान अर्जन के लिए किया जाता है, उतना ही इस बात के लिए भी किया जाना चाहिए, कि शरीर और मन की समर्थता– स्वच्छता बनाये रखने की पृष्ठभूमि के प्रति आवश्यकता सतर्कता बरती जाती रहे।

शरीर का कार्य उसके अंगों द्वारा होता है, पर ये अंग भी मस्तिष्क तंत्र के अधीन काम करते हैं। मस्तिष्क द्वारा विद्युतीय संचालन शरीर का होता है। रक्त सप्लाई हृदय से होती है, लेकिन मस्तिष्कीय क्षेत्र में जो कल्पना तरंग उठती रहती है, उसकी क्षमता ब्रह्मरंध्र से उठती है। इसी के इर्द-गिर्द बुद्धि विवेचना, सूझ-बूझ आदि के भी केन्द्र हैं। अतः इसे भी स्वच्छ रखने की आवश्यकता है। लेकिन जिस प्रकार शरीर के अंग प्रत्यंगों को व्यायाम द्वारा सक्रिय बनाया जाता है, इस प्रकार का व्यायाम मस्तिष्क का नहीं हो सकता, फिर इस क्षेत्र की गंदगी साफ करने, निष्क्रियता को सक्रियता में बदलने और चेतनात्मक आहार उपलब्ध कराने का प्रयोजन किस प्रकार पूरा किया जाय? यह कार्य श्वास-प्रश्वास द्वारा होता है। जीवकोशों को रक्त, वायु और विद्युत इन तीनों की आवश्यकता पड़ती है। इसकी पूर्ति जितनी अच्छी तरह होती रहती है उसी अनुपात में घटक सजीव होते हैं, सुदृढ़ रहते हैं, और अपने निर्धारित क्रिया-कलाप उचित प्रकार से कर पाते हैं। इन तीनों

में से एक की भी कमी पड़ जाय, तो दुर्बल, निस्तेज एवं रुग्ण रहने लगते हैं।

इस हेतु रक्त को शुद्ध और पर्याप्त मात्रा में शरीर के अन्दर बनाये रखने के लिए भोजन का सही और उसके पचाने के लिए परिश्रम की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये, वायु की पूर्ति के लिए साँस को उथला नहीं गहरा लिया जाना चाहिये, ताकि उसका वेग और अनुपात फेफड़ों और जीवकोषों के समुचित मात्रा में उपलब्ध होता रहे। यदि सांस उथली ली जाती है, तो समूचे शरीर को निर्बल होना पड़ेगा। इसलिए शरीर विद्या के विशेषज्ञों ने गहरी साँस लेने पर जोर दिया है। प्राणायाम इसी विधि का नाम है। लेकिन वायु स्वच्छ हो। अतः अन्न के संतुलित और जल के स्वच्छ होने की तरह शरीर में प्रवेश करने वाली वायु की स्वच्छता और पूर्णता पर भी समुचित ध्यान देना आवश्यक होता है!

चिकित्सा के नवनीतम शोध निष्कर्षों के अनुसार श्वास-प्रश्वास शरीर की एक ऐसी जटिल किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, जो विभिन्न तंत्रों एवं उनकी गतिविधियों पर सीधा प्रभाव डालती है। साँस लेने की शैली पर भी बहुत कुछ स्वास्थ्य एवं आरोग्य निर्भर करता है। श्वसन मस्तिष्क के ऐच्छिक तथा अनैच्छिक क्रियाओं के बीच सम्पर्क सूत्र को भी स्थापित करता है। अन्य शारीरिक क्रियाओं की तरह उसका नियमन नियंत्रण तो तंत्रिका तंत्र द्वारा होता है, पर तंत्रिका तंत्र से नियंत्रित उन समस्त क्रियाओं में से एक श्वसन क्रिया ही ऐसी है जिसमें व्यक्ति स्वयं भी अपना चेतनात्मक नियंत्रण रख सकता तथा उसमें समय-समय पर परिवर्तन ला सकता है। प्राणायाम प्रक्रिया द्वारा इस एक तंत्र का नियंत्रण सीख कर शरीर के अन्य तंत्रों पर भी नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है, जिसमें मस्तिष्कीय तंत्र, हारमोन स्राव चयापचय क्रियायें आदि मुख्य हैं।

5. स्वास्थ्य का एक महत्त्वपूर्ण आधार संयम

जीवन के दो पक्ष हैः चिंतन तथा चरित्र दुष्प्रवृत्ति का निरोध और सत्प्रवृत्तियों का अभ्यास। चार प्रकार के संयम प्रमुख हैं - इन्द्रिय संयम, समय संयम, अर्थ संयम तथा विचार संयम। इनके अभाव में व्यक्ति का अस्तित्व मिट जाता है, शरीर रोगी हो जाता है। तथा मस्तिष्क सामान्य रूप से कार्य नहीं करता है। इन्द्रिय संयम में जीभ का चटोरापन तथा कामुकता को अधिक विनाशकारी माना गया है। स्वाद के नाम पर चटोरा व्यक्ति अधिक मात्रा में अभक्ष्य खाना खाता और पेट पर असह्य भार लाद कर न केवल पाचन तंत्र को वरन् समूचे कार्यतंत्र को गड़बड़ा देता है। दुर्बलता और रुग्णता इसी आचरण के अभिशाप हैं। कामुकता के माध्यम से शरीर समय से पहले ही जीर्ण-शीर्ण हो जाता है।

समय का मूल्य न समझने वाले, श्रम से जी चुराने वाले, समय को आलस्य एवं प्रमाद में गवांने वाले दरिद्र बनने, पिछड़ेपन का त्रास सहने और उपहास,

तिरस्कार के भाजन बनते हैं। असंयम का अर्थ है फिजूलखर्ची। जो आनन्द सादा जीवन तथा उच्च विचार में है वह किसी में भी नहीं। विचार संयम का तात्पर्य है चिंतन को अनगढ़ अनैतिक तथा कुकल्पनाओं से रोककर सुनियोजित विधि व्यवस्था का ताना-बाना बुनने में जुटाये रखना। एकाग्रता, मनोयोग, तन्मयता इसी को कहते हैं। चंचल चिन्तावृत्ति का नियंत्रण ही मनोनिग्रह है।

शरीर के स्वास्थ्य को पूर्णतः बनाये और स्थिर रखने के लिए जीवन को ऐसे संयमित ढंग से ढालना चाहिये, कि जिसका मानव जीवन के कल्याण के सम्बन्ध रखने वाले प्राकृतिक विधानों के साथ पूरा-पूरा सामंजस्य हो। इसका तात्पर्य सब तरह की अतियों, बुरी आदतों और व्यसनों से दूर रहना है जो हमारी जीवनी शक्ति का शोषण और शरीर में आरोग्य प्रदान करने वाली एवं स्वस्थ रखने वाली शक्ति को क्षीण किया करते हैं। संतुलित जीवन और संयम एक दूसरे पर आश्रित हैं। एक का दूसरे के बिना काम नहीं चल सकता। खान-पान, रहन-सहन, विचार-व्यवहार आदि संतुलित जीवन के समस्त कार्य-कलाप में संयम की मर्यादा का पालन कर मनुष्य शरीर, चित्त और मस्तिष्क से स्वस्थ और सुखी बना रह सकता है।

संयम मन, वाणी तथा कर्म तीनों का होना चाहिये। बुद्धि से मन पर नियंत्रण करने की कला सीखना आवश्यक होता है। इन्द्रियों पर नियंत्रण तभी सम्भव है, जब बुद्धि द्वारा मन पर अंकुश लगाया जाय। वाणी का भी संयम कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वाणी में इन्द्रियों को चलायमान करने की शक्ति होती है। व्यर्थ विवाद, बक्वास, गाली गलौज, असत्य भाषण आदि असंयमित वाणी के लक्षण हैं। इससे वैमनस्यता की उत्पत्ति होती है, वैरभाव बढ़ता है, जीवन में कटुता आती है। इसके विपरीत प्रेम भरे, मीठे वचन और सत्य भाषण से मैत्री बढ़ती है, वातावरण में प्रसन्नता आती है, और जीवन में आनंद की लहर उमड़ पड़ती है।

सत्कर्म और असत् कर्म को समझना तथा तद्नुसार आचरण करना कर्म का संयम कहलाता है। इस कार्य में विवेक-बुद्धि की सहायता आवश्यक होती है। अपनी जीवन यात्राा को सुगम, सरल और सुखद बनाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है, कि हम यथासम्भव कर्तव्यपरायण बनें।

6. शरीर माध्यम खलु धर्म साधनम्

शरीर के माध्यम से ही समस्त क्रियाकलाप सम्भव होते हैं। स्वस्थ रहने पर ही कोई अपना और दूसरों का भला कर सकता है। जिसे दुर्बलता और रुग्णता घेरे रहेगी, वह दूसरों पर आश्रित रहेगा। परावलम्बन एक प्रकार से अपमानजनक स्थिति है क्योंकि ऐसे लोग कहीं भी सम्मान नहीं पाते हैं। मानव अगणित विशेषताओं और विभूतियों से भरा पूरा है। कोई भी जितना चाहे उतना उत्कर्ष कर सकता है। पर यह तभी सम्भव है जब शरीर और मन पूर्णतया स्वस्थ हों। जो

जितनों के लिए जितना उपयोगी और सहायक सिद्ध होगा उसे उसी अनुपात में सम्मान और सहयोग मिलता है। अपने तथा दूसरों के अभ्युदय में योगदान करते उसी से बन पड़ता है जो अपने को स्वस्थ रहने की स्थिति बनाये रहता है। इसीलिये दुखद, दुर्भाग्यों और अभिशापों में प्रथम अस्वस्थता को ही माना गया है। कुछ अपवादों को छोड़कर अस्वस्थता अपनी निज की उपार्जित है। चाहे यह जानबूझ कर की गयी हो, या अनजाने में हो। स्वच्छंद जीवन जीने वाले पशु पक्षियों में कभी किसी को बीमार नहीं पाया जाता है।

मनुष्य की उच्छृंखल आदत ही उसे बीमार बनाती है। जीभ पर नियंत्रण न होने, अखाद्य खाने से तथा समय का ध्यान न रखने से पाचन सम्बन्धी समस्यायें उत्पन्न होने लगती हैं। कामुकता मस्तिष्क को संज्ञाहीन बना देती है। नशेबाजी शरीर को जर्जर कर देती है। खुलीहवा और रोशनी का अभाव तथा घुटन भरा वातावरण भी रुग्णता का एक बड़ा कारण है। भय तथा आक्रोश व्यक्ति को कमजोर एवं बीमार बना देते हैं। अवसाद तथा चिंता रहितजीवन स्वस्थता का मूल आधार है। यदि अपने ऊपर औचित्य का अंकुश लगायें तो बीमार पड़ने का अवसर ही न आवे।

रुग्णता न केवल व्यक्ति को हानि पहुँचाती है, अपितु उससे सामाजिक सम्बन्धों पर भी प्रभाव पड़ता है। सम्बन्धों में कटुता आती है और सम्बन्ध विच्छेद तक हो जाते हैं।

मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय कहा गया है। जिस प्रकार बीमार व्यक्ति की सभी इन्द्रियाँ असमर्थता अनुभव करती हैं इसी प्रकार शारीरिक अस्वस्थता की स्थिति में मन भी अस्वस्थ, अस्तव्यस्त एवं विकृत होने लगता है। शरीरगत अशक्तता, रुग्णता, पीड़ा, बेचैनी तो स्वयं ही सहन करनी पड़ती है। पर मानसिक अस्तव्यस्तता का नया दौर चल पड़ने पर एक नया उपद्रव सामने आता है। पीड़ित स्थिति में कुछ महत्त्वपूर्ण उपार्जन तो बन नहीं पड़ता साथ ही चिकित्सा, पथ्य आदि का अतिरिक्त व्यय भार बढ़ जाने पर सामान्य स्तर के लोगों के सामने आर्थिक कठिनाई भी दिनोदिन बढ़ती जाती है। इससे परिवार पर दोहरा दबाव पड़ता है।

समर्थ स्वास्थ्य के आधार पर समस्त राष्ट्र समर्थ बनता है। वहीं रोगियों की संख्या बढ़ने से अवनति का प्रवाह चल पड़ता है। आय कम होने से राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित होता है, इसीलिए वैयक्तिक रुग्णता सामाजिक क्षति के रूप में फलित होती है।

7. प्रकृति एक निष्पक्ष न्यायाधीश के रूप में

प्रकृति उदंडता, अंकुशहीनता, उश्रृंखलता आदि को सहन नहीं करती है। ऐसे व्यक्ति को दण्ड देने में निष्पक्ष न्यायधीश की तरह न्याय करती एवं कठोर है। किन्तु साथ ही साथ इतनी दयालु भी है कि गलती मान लेने, आदत सुधार लेने और

रास्ता बदल लेने पर क्षमा भी कर देती है। जो व्यक्ति प्राकृतिक नियमों की अवहेलना करता है, अर्थात् प्राणवायु को अर्जित करने में असयंम दिखाता है, भोजन में अपाच्य एवं मसालेदार खाद्य पदार्थ खाता है, जल का पर्याप्त सेवन नहीं करता तथा शुद्ध व अशुद्ध जल का ध्यान नहीं रखता, मौसम के अनुकूल वस्त्रों को न पहनता, विश्राम का समय नहीं निश्चित करता, कार्य सम्पादन में नियमन नहीं रखता, विचारों पर संयम नहीं रखता, तथा व्यक्तिगत शारीरिक व मानसिक स्वच्छता पर ध्यान नहीं देता, प्रकृति उसे अपने अनुकूल दण्ड देती है। उसे पहले आलस्य, कमजोरी, भूख की कमी, मन न लगने आदि के रूप में चेतावनी देती है, फिर रोगी बना देती है। लेकिन यदि व्यक्ति पुनः प्राकृतिक जीवन अपनाने के लिए तैयार हो जाता है, अपना खान-पान, रहन-सहन विचार आदि में परिवर्तन कर लेता है, तो फिर स्वस्थ हो जाता है।

8. पराप्रकृति का अस्तित्व

प्रकृति के दो स्तर हैं- परा तथा अपरा। अपरा वह प्रकृति है जिसे पंच भौतिक कह सकते हैं। जो इन्द्रिय चेतना से अनुभव की जा सकती है। अथवा यंत्र उपकरणों की सहायता से प्रत्यक्ष हो सकती है। भौतिक विज्ञान का कार्यक्षेत्र यहीं तक सीमित है। कुछ समय पूर्व तक वैज्ञानिक इतने तक को ही सब कुछ मानते थे और परा शक्ति अथवा ब्रह्माण्डीय चेतना से इन्कार करते थे। परन्तु प्राकृतिक चिकित्सा शास्त्र सदैव इस बात को मानती रही है कि पराप्रकृति है, जिसे ज्ञात करने की अत्यंत आवश्यकता है। अब वैज्ञानिक भी इसे मानने लगे हैं, क्योंकि जैसे-जैसे उनकी गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती जा रही है, वे स्वीकार कर रहे हैं, कि पदार्थ की परा प्रकृति जैसी कोई सत्ता अवश्य है। यह सत्ता आणविक गतिविधियाँ नहीं कहीं जा सकती हैं। वह इनसे कुछ और भिन्न व सूक्ष्म हैं। भौतिक विज्ञान दिनोंदिन स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवेश करता जा रहा है। इस क्रम में आज वह इस स्थिति में पहुँच गया है, जंहाँ उसने चारों भौतिक शक्तियों स्ट्रांग-न्यूक्लियर फोर्स, विकन्यूक्लियर फोर्स, इलेक्ट्रोमैगनेटिक फोर्स, ग्रेविटेशन फोर्स, को एक सूत्र के माध्यम से मिलाकर एक कर दिया। यह सभी कुछ अचेतन मन का खेल है। चेतन मन की बुद्धि का अपना महत्त्व है पर उसका अधिक महत्त्व अचेतन की सामर्थ्य है। मानवी प्रयोजन शरीर को सुखी तथा सक्रिय बनाये रहना भर प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर मुख्य है और उसकी तृप्ति, तुष्टि, सुरक्षा एवं प्रगति के लिए सामग्री जुटाने भर के लिए उसका सृजन एवं उदय हुआ है। उपयोग भी इसी स्तर पर होता है। गहराई में जाने पर कुछ दूसरी ही बात दृष्टिगोचर होती है। मस्तिष्क चेतना के निवास का केन्द्रीय शक्ति-संस्थान है। यहाँ ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ जीव -चेतना का मिलन संगम होता है, और उस आदान-प्रदान के आधार पर प्राणि जगत को अनेकानेक सुविधायें एवं संवेदनायें उपलब्ध होती हैं। यह मस्तिष्कीय केन्द्र इतना अधिक शक्तिशाली है कि उसके माध्यम से पिंड और ब्रह्माण्ड की एकता का

अधिकाधिक अनुभव एवं लाभ प्राप्त किया जा सकता है। योग साधनाओं में यही किया जाता है। अतः प्राकृतिक चिकित्सा में योगाभ्यास एक आवश्यक अंग है।

9. पंचकोश

मानवीय सत्ता जड़ शरीर तथा चेतन आत्मा के समन्वय से बनी है। इन दोनों खण्डों के पाँच-पाँच भाग हैं। शरीर के जड़ पदार्थ को तत्व कहते हैं। तत्त्व पाँच हैं- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। जीवन चेतना को प्राण कहते हैं। प्राण के पाँच भाग हैं। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान। पाँच तत्त्व और पाँच प्राणों के समन्वय से पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बनी हैं। पदार्थों की इन्द्रियों द्वारा जो अुनभूति होती है, उन्हें तन्मात्रायें कहते हैं। तन्मत्राायें पाँच हैं। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श। इन्हीं का विस्तार शरीर में दृष्टिगोचर होता है।

कोश विज्ञान के अनुसार जीवनसत्ता का विभाजन पाँच वर्गों में हुआ है। बीज के भीतर वृक्ष बनने की क्षमता तो आरम्भ से ही विद्यमान रहती है पर वह प्रकट तभी होती है जब उसे विधिवत बोया उगाया जाता है। पाँच कोश भी तिजोरी के भीतर पाँच तालों के भीतर सम्पत्ति की तरह समझे जा सकते हैं। ऊपरी परतों की अपेक्षा नीचे की परतें अधिक बहुमूल्य हैं एवं स्तर के अनुरूप वे एक के बाद एक ऊँचे होते चले गये हैं। तद्नुरूप उनकी शक्तियाँ एवं सिद्धियाँ भी अधिक उच्चस्तरीय अधिक महत्त्वपूर्ण होती चली गयी हैं।

10. यांत्रिकी और मान्त्रिकी का सुव्यवस्थित सुनियोजन

यांत्रिकी ओर मान्त्रिकी के कार्यक्षेत्र अलग-अलग होते हुये भी दोनों के उद्देश्य एक हैं। प्रकृति के अन्तराल में छिपी हुई भौतिकशक्तियों को प्रत्यक्ष करने तथा प्रयोग में लाने के लिए विभिन्न उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। इन्हें यंत्र कहते हैं, और प्रयुक्त करने को यांत्रिकी कहते हैं। चेतना के अन्तराल में छिपी हुई दिव्य शक्तियों को प्रकटीकरण एवं प्रयोग के लिए जिन माध्यमों को अपनाया जाता है, उसे मंत्र कहते हैं। शरीर ओर मन की संरचना बड़ी रहस्यमय है। साधारणतया शरीर अपने जीवन धारण और निर्वाह साधन का परिश्रम करने में लगा रहता है पर यदि उसकी सूक्ष्म संरचना पर ध्यान दिया जाय, तो एक नये विलक्षण प्रकार का ढाँचा उसके भीतर फिट किया हुआ परिलक्षित होता है।

शरीर की संरचना पंचतत्त्वों एवं विभिन्न रसायनों से हुई है। इसीलिए इसमें पदार्थ जगत में पायी जाने वाली शक्तियों का समस्त तारतम्य बीजरूप में विद्यमान रहता है। चिनगारी को प्रयत्नपूर्वक प्रचण्ड ज्वाला में प्रकट किया जा सकता है। इसी प्रकार शरीर में समाहित प्रकृति शक्तियों के प्रकटीकरण में शरीर साधना के रूप में बने हुये अनेक उपचार काम दे सकते हैं। आसन, प्राणायाम,

बन्ध, मुद्रा, नेति, धौति, वस्ति, उपवास, आदि के द्वारा शरीर को निरोग, समर्थ तथा शक्तिशाली बनाया जाता है।

11. शरीर सूक्ष्म ध्वनि प्रवाह का ज्ञान

मानव शरीर अनंत शक्तियों का भण्डार है। इसका सूक्ष्म ढाँचा वीणा सितार के ढाँचे से मिलता जुलता है। जिस प्रकार काष्ठ एवं तारों से बनी वीणा एवं सितार के भिन्न-भिन्न अंग हैं। ठीक उसी प्रकार हमारे शरीर में सिर, जिहवा, उदर, तंत्रिकायें, त्वचा आदि अंग अवयव हैं। संगीत में जिसे स्वर कहा जाता है, शरीर के सम्बन्ध में चक्र या फ्लेक्सेस कहा जाता है। इन्हें यदि जगा दिया जाय, तथा उनकी प्रवृत्तियों को रुपान्तरित कर दिया जाय, तो न केवल शारीरिक और मानसिक जगत की सूक्ष्म शक्तियों को जगाया, और उनसे लाभ उठाया जा सकता है, वरन् आध्यात्मिक जगत की विभूतियों से भी लाभान्वित हुआ जा सकता है। प्राकृतिक चिकित्सक इन आतंरिक हलचलों का निरीक्षण परीक्षण कर उपचार का तारतम्य बिठाते हैं। माँसपेशियाँ देखने में भले ही रक्त माँस के रेशे भर लगती हैं, पर उनसे निकलने वाली ध्वनियाँ इतनी अद्‌भूत एवं आश्चर्यजनक होती हैं जिन्हें सही प्रकार सुनने समझने पर विलक्षण रूप प्रकट होता है। शारीरिक स्वस्थता एवं मानसिक प्रसन्नता की दशा में ये ध्वनियाँ कर्णप्रिय लगती हैं, परन्तु उत्तेजना एवं तनाव ग्रस्तता आदि की स्थितियों में बेसुरी हो जाती हैं। शरीर की स्थूल ध्वनियों को व्यवस्थित एवं लयबद्ध कर लेने पर न केवल शरीरिक आरोग्य लाभ प्राप्त किया जा सकता है वरन् मानसिक एवं आध्यात्मिक विभूतियाँ भी अर्जित की जा सकती हैं।

12. निर्भय जीवन श्रेष्ठ जीवन

निर्भीकता मानव जीवन की सर्वोपरि सम्पदा है। भयग्रस्त रहना एक ऐसी निकृष्ट मानसिक स्थिति है जिसमें व्यक्ति का आत्मिक बल गिर जाता है। शारीरिक कष्ट भौतिक दुष्परिणाम की आशंका से उसकी इन्द्रिय और काया शिथिल पड़ जाती है। भय के निम्नलिखित कारण मनीषियों ने बताये हैं।

1. कर्त्तव्य में आस्था न होना तथा आदर्श कर्त्तव्य का अभाव।
2. संसार के अटल नियमों की या तो जानकारी न होना या और उसके दृढ़ विश्वास में आस्था का अभाव।
3. भौतिक पदार्थो में सुख की अनुभूति तथा उसके वियोग में दुख का भाव।
4. ईश्वर की न्याय व्यवस्था में अविश्वास।

शास्त्रकारों ने संसार के पाँच अटल नियम बताये हैं –

1. भौतिक जगत में निरन्तर परिवर्तन के फलस्वरूप जन्म के बाद मृत्यु, और मृत्यु के बाद जन्म, सुख के बाद दुख और दुख के बाद सुख, हॉनि के बाद

लाभ, और लाभ के बाद हानि, विजय के बाद पराजय और पराजय के बाद जय, यश के बाद अपयश और अपयश के बाद यश, इत्यादि होते हैं।

2. केवल आत्मा या विश्व की संचालन शक्ति ही अजर, अमर, और अपरिवर्तशील है। आत्मा में स्थित हो जाने पर भय नहीं लगता।
3. जीवन, मृत्यु संसार का नियम है। इसे जानने के बाद भय नहीं लगता।
4. संसार के सारे काम सहयोग, प्रेम, सद्भावना, विश्वास, ईमानदारी से चलते हैं। इनके विपरीत आचरण से भय लगता है।
5. जैसा कार्य किया जाता है, उसी के अनुसार फल मिलता है। बुरा कार्य करने वाले को दुष्परिणाम भुगतने का भय सताता है।

निर्भीकता तीन प्रकार से आती है –

1. ज्ञानार्जन
2. विवेकशीलता
3. ईश्वरनिष्ठा।

जीवन में अनेक कठिनाइयाँ एवं खतरे आते हैं जिनमें मनुष्य को भय लगता है। यदि वह उन खतरों एवं कठिनाइयों के समाधान का मार्ग जान लेता है, तो वह उनकी ओर से निर्भीक हो जाता है। वस्तुतः मनुष्य में अनन्त शक्तियों का भण्डार भरा पड़ा है। जब वह संकल्पबद्ध हो जाता और सुनियोजित ढंग से आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है, तो पर्वत जैसी अंधी बाधायें भी अपने बीच में से मार्ग देने के लिए बाध्य हो जाती हैं। जो व्यक्ति विवेक से काम लेते हैं, सत् असत् को जानता है, मन तथा बुद्धि को संतुलित रखता है, उसमें इतना आत्मविश्वास विकसित हो जाता है। कि फिर उसे किसी प्रतिकूल परिस्थिति से भय नहीं लगता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति को ईश्वर की सर्वव्यापकता, दया और न्याय पर पूर्ण विश्वास है, वह सदैव निर्भीक रहता है, जो प्रत्येक प्राणी में ईश्वर का स्वरूप देखता है, जो सृष्टि को ईश्वर की अभिव्यक्ति मानता है, भय उसके पास तक नहीं फटकता।

मानव जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए निर्भीकता परम आवश्यक है। निर्भयता व्यक्ति और समाज के लिए सबसे बड़ी सम्पत्ति है। निर्भीकता से मनुष्य को इतना बल मिलंता है कि वह बड़े सा बड़ा त्याग कर सकता है और कठिन से कठिन परिस्थितियों का भी सामना करने में सक्षम हो सकता है। गम्भीर रोगों में निर्भीक व्यक्ति ही शीघ्र रोग मुक्त हो पाते हैं।

13. शरीर का केवल उचित महत्त्व

शरीर का महत्त्व बहुत है, लेकिन जब इसको आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे दिया जाता है, तब यही शरीर हमारा शत्रु बन जाता है। अधिकार से अधिक शरीर की परवाह करने और उसकी इन्द्रियों की सेवा करते रहने से शरीर और उसके

विषयों के अतिरिक्त और कुछ भी याद न रहने से वह हमें हर ओर से अपना दास बना लेता है। उसका सारा ध्यान शरीर और उसकी आवश्यकताओं तक ही केन्द्रित हो जाता है। वह शरीर और इन्द्रियों की दासता में फँसकर अपनी शक्ति, शरीर सेवा में समाप्त कर देता है। इस प्रकार उसका जीवन व्यर्थ चला जाता है, और उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसके हृदय में एक पश्चाताप रह जाता है, जिसके लिए यह बहुमूल्य मानव जीवन प्राप्त हुआ है। इसलिए मनुष्य को इस विषय में पूरी तरह से सावधानी रखने की आवश्यकता है कि शरीर का कितना महत्व है, और अपनी सेवा पाने का उसे कितना अधिकार है।

मानव जीवन का लक्ष्य आत्म कल्याण है। इस लक्ष्य को पाने के लिए आवश्यक है कि आत्मा को शरीर के ऊपर प्रधानता दी जाय। यह क्रिया, दृष्टिकोण बदल देने से सहज में पूरी हो सकती है। आत्मा को मानना होगा ओर उसके कल्याण के लिए उपाय करने होंगे। उसे दुर्गुणों को दूर करके श्रेष्ठ संस्कारों को धारण करना होगा। भोग-विलास की लालसा कम करनी होगी। सत्य, अहिंसा, प्रेम, त्याग, सेवा, उत्साह, धैर्य, स्वाध्याय, संयम, सदाचार आदि के द्वारा आत्मकल्याण के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

14. निरोगता के पंचशील

स्वस्थ बने रहने के लिए जिन मर्यादाओं का पालन करना होता है वे मात्र पाँच हैं। इन्हें निरोगता के पंचशील कह सकते हैं–

1. सात्विक भोजन
2. उपयुक्त श्रम
3. गहरी नींद
4. स्वच्छता
5. मन शांत रखना

इन पाँच नियमों के पालन करने से स्वास्थ्य अक्षुण्ण बना रहता है। यदि किसी कारणवश बिगड़ गया है, तो भूल सुधार लेने से प्रकृति क्षमा कर देती है, और खोया हुआ स्वास्थ्य फिर वापस लौट आता है।

सात्विक भोजन से तात्पर्य है बिना भूख के कभी न खाना। खाने की मात्रा इतनी सीमित रखना जिसमें आधा पेट आहार से भरे, चौथाई पानी से और चौथाई हवा से भरे। लोगों को भ्रम है कि ज्यादा खाना खाने से रक्त माँस बनता है। लेकिन यह सत्य है कि जो पच सके वह अमृत और बिना पचा पेट में पड़ा रहे, वह विष होता है। भोजन जीवित हो अर्थत् भुना तला न गया हो। सुपाच्य भोजन ही शरीर के लिए उपयुक्त होता है। अंकुरित अन्न भोजन जीवित भोजन है। अतः अधिक से अधिक अकुंरित भोजन लेना चाहिये।

खाने के बाद पचाने की आवश्यकता होती है, अतः श्रम करना आवश्यक होता है। अवयवों को पुष्ट रखने के लिए शारीरिक श्रम का अभाव हो तो व्यायाम करना आवश्यक होता है। अंग संचालन के ऐसे तरीके निकालने चाहिए जिससे अंग अवयवों को पसीना निकाल देने वाला श्रम करने का अवसर मिल सके। योगाभ्यास एक महत्त्वपूर्ण तरीका है जिससे पूरे शरीर के अवयवों की क्रियाशीलता हो जाती है।

समय पर सोना तथा गहरी नींद लेना स्वास्थ्य के लिए आवश्यक होता है। ऐसा जीवन क्रार्यक्रम बनाना चाहिये, कि जिसमें जल्दी सोने और जल्दी उठने का क्रम सतत् बना रहे।

स्वास्थ्य को बिगाड़ने में एक कारण गंदगी है। शरीर, वस्त्र, घर, आहार आदि के माध्यम से विषाणु शरीर में प्रवेश करते हैं। और ये अपना विस्तार करके ऐसी परिस्थिति पैदा करते हैं, जिससे मनुष्य अस्वस्थ रहने लगता है। अतः घर की सफाई वस्त्रों की सफाई, शरीर की सफाई, भोजन सामग्री परमावश्यक है।

स्वास्थ्य रक्षा का पाँचवाँ आधार विचार तंत्र है। मस्तिष्क पर कुविचारों का अनावश्यक तनाव न पड़ने देना चाहिये। चिंता, क्रोध, आवेश, भय, निराशा आदि विचार जिस मस्तिष्क में जमा होते रहेंगे वह शरीर निरोगी नहीं रह सकता। यदि मस्तिष्क उत्तेजित एवं आवेशग्रस्त रहेगा, तो सारे शरीर पर उसका बुरा असर पड़ेगा। अनैतिक विचारों के सम्बन्ध में भी यही बात है। ईर्ष्या, डाह, प्रतिशोध, आदि की प्रतिक्रिया से स्वास्थ्य बिगड़ता है। अनैतिक तथा आवेशग्रस्त विचार मस्तिष्क में भरे रहकर कोई व्यक्ति शरीर को स्वस्थ नहीं रख सकता है।

स्वास्थ्य को अच्छा बनाये रखने के लिए उपरोक्त पाँच नियमों को यदि सर्तकता-पूर्वक पालन किया जाय तो शरीर ऐसा बना रहेगा, जिस पर दुर्बलता व रुग्णता आक्रमण नहीं कर सकेगा। अन्य पाँच नियमों का पालन करने से रुग्णता अवस्था में पुनः स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर सकता है। यदि व्यक्ति इन नियमों पर चले तो निश्चय ही निरोग एवं दीर्घजीवी बना रहकर वह सब कुछ कर सकता है जिसके लिए वह धरती पर आया है।

15. स्वस्थ जीवन एवं आध्यात्म का अभिन्न सम्बन्ध

मानव जीवन का प्रत्येक क्षेत्र आज कंट्काकीर्ण और असुविधाओं से भरा हुआ है। जो आधार हमें प्रगति और प्रसन्नता में सहायक सिद्ध होने चाहिये थे, वे ही हमें शोक और संताप देकर दुखों में वृद्धि कर रहे हैं। शरीर रुग्ण, मन अशान्त, परिवार उद्विग्न, धन अपर्याप्त, विज्ञान घातक, राजनीति विस्फोटक, शिक्षा अनुपयुक्त हो रही है। सुख-शान्ति के सारे आधार उलट कर दुःख-दैन्य के कारण बन गये हैं। इस विडम्बना का एक मात्र कारण अध्यात्म की उपेक्षा है। अध्यात्म मानव

जीवन का प्राण है। उसे जिस क्षेत्र में तिरस्कृत किया जायेगा, उसी में विपन्नता उत्पन्न हो जायेगी। अध्यात्म की उपेक्षा कर मानवीय शान्ति बनी नहीं रह सकती है।

गिरते हुये स्वास्थ्य का एक महत्त्वपूर्ण कारण व्यक्ति का अध्यात्म से दूर होना है। जब तक विलासिता और वासना के प्रति वर्तमान आकर्षण बना रहेगा, जब तक आहार विहार की मर्यादाओं को तोड़कर अप्राकृतिक रीति-नीति को अपनाये रहा जायेगा, सार्वजनिक स्वास्थ्य की स्थिति निरंतर गिरती ही जायेगी। औषधि उपचार से स्वास्थ्य संरक्षण एवं संवर्धन की भ्रांत धारणा मृगतृष्णा की तरह है। उससे मन बहलाव तो हो सकता है पर प्रयोजन की पूर्ति सम्भव नहीं। अस्वस्थता जन्म कष्ट बढ़ते ही जायेंगे। बीमारियों का प्रकोप और प्रवाह दिन-दिन प्रबल होता चला जायेगा।

मनुष्य जब कभी सच्चे मन से स्वास्थ्य की कामना करेगा, और सशक्त शरीर का महत्व समझेगा, तब उसे अध्यात्म की ही शरण में आना पड़ेगा। वर्तमान अस्तव्यस्त और अप्राकृतिक रहन-सहन अपनाये रहा गया तो जन स्वास्थ्य में गिरावट आती चली जायेगी। और अंततः जीवित रहना एक भार मात्र बन जायेगा। इस दुष्परिणाम से उबरने का उपाय चिकित्सा विज्ञान की प्रगति नहीं, संयम शिक्षा ही है, जिसे अध्यात्म की शरण में गये बिना पा सकना असम्भव है।

मानसिक शान्ति वैभव पर आधारित नहीं है। वह तो सोचने की सही दिशा पर अवलम्बित है। जिसे विचारों को क्रम से सजाना, सम्भालना, मोड़ना, बदलना, एवं सुधारना आता है, केवल वही सुखी, संतुष्ट और हर्षोल्लास से भरा जीवन जी सकता है। यह स्थिति आध्यात्मिक आस्थायें अपनाने से ही उपलब्ध हो सकती है। दृष्टिकोण की परिष्कृति, विवेकशीलता और दूरदर्शिता आदि यदि व्यक्ति में हो, तो वह सभी स्थिति में समर्थ संतुष्ट और सुसम्पन्न अनुभव करता रह सकता है। यह मनःस्थिति आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर ही निर्भर है।

16. नाड़ी गुच्छकों का अस्तित्व

शारीरिक स्वस्थता और अस्वस्थता हाड़माँस की देह में प्रकट और प्रत्यक्ष दिखती है। इतने पर भी तथ्य यह है कि इसका मूल कारण न तो शरीर में निहित है, न किसी स्थूल अवयव में। जिस स्थूल शरीर को सजाते, सवांरते और सुधारने का प्रयत्न करते हैं वह सम्पूर्ण नहीं है। उसकी परिपूर्णता स्थूल के मूल में निहित सूक्ष्म परिष्कार में है। समग्र स्वास्थ्य का यही मूलाधार है। हमारे शरीर में नाड़ियों का एक प्रकार का जाल बिछा हुआ है। इसकी संख्या 72 हजार बतायी जाती है। आध्यात्मविदों का कहना है कि स्वास्थ्य की वास्तविक कुंजी यही है। उपचार इन्हीं का होना चाहिये। जो रोग की जड़ में जीवाणुओं और विषाणुओं को कारण मूल

मानते हैं, विशेषज्ञों के अनुसार वे भूल करते हैं। इसका आधारभूत कारण यही नाड़ी सम्बन्धी विकृति में अन्तर्निर्हित है। इस विकृति के फलस्वरूप शरीर में व्याप्त प्राण जर्जर हो जाता है। जिसके कारण शरीर में रोगाणु यत्र-तत्र अपना अड्डा बना लेते हैं। इनका उपचार तो होना चाहिये पर वास्तविक स्थिति की यदि उपेक्षा की गयी तो लाभ न हो सकेगा।

जिस प्रकार शरीर के तापक्रम को देखकर शारीरिक स्वस्थता अस्वस्थता का पता चल जाता है, उसी प्रकार नाड़ी गुच्छकों के गुण दोषों के आधार पर सूक्ष्म शरीर की स्थिति ज्ञात होजाती है। किसी एक वर्ग की नाड़ी की अधिकता इस बात की प्रतीक है कि सूक्ष्म शरीर असंतुलन की ओ बढ़ रहा है। इंधिका गति की नाड़ी गुच्छकों की अधिकता व्यक्ति में चंचलता, अस्थिरता तथा उदिग्नता पैदा करती है। दीपिका की अधिकता से त्वचा के रोग हो जाते हैं। मोचिकाओं की वृद्धि से दस्त, जुकाम, कफ आदि समस्यायें हो जाती हैं। घूसार्वि गुच्छक क्रोध और श्वास-प्रश्वास की तीव्रता को बढ़ाता है।

●●●

अध्याय -7

प्राकृतिक चिकित्सा में निपुणतायें

किसी भी व्यवसाय के लिए निपुणताओं का होना उसके स्वरूप व महत्त्व को स्पष्ट करता है। प्राकृतिक चिकित्सा की उन्नति और विकास में निपुणताओं का एक विशेष महत्व है, क्योंकि ये स्वास्थ्य एवं मानव व्यवहार की समस्याओं के समाधान से सम्बन्धित है, और वे समस्यायें तब तक समाधान नहीं हो सकती हैं, जब तक प्राकृतिक चिकित्सक में विशेष योग्यता एवं कौशल का समावेश न हो। निपुणताओं एवं कौशल की उपस्थिति ही यह निश्चित करती है कि वह अपने उद्देश्य में यानी रोगी के उपचार में कहाँ तक सफल होगा।

I. निपुणता का अर्थ

सामान्यतया निपुणता का तात्पर्य कार्य करने की क्षमता से है। बैवेस्टर शब्द कोश के अनुसार निपुणता का तात्पर्य कार्य के क्रियान्वयन व उसे पूर्ण करने के ज्ञान एवं दक्षता से है। यह प्राकृतिक चिकित्सक की विशेष परिस्थितियों में ज्ञान एवं समय के उपयोग की क्षमता है। प्राकृतिक चिकित्सक निपुणताओं की प्राप्ति, ज्ञान वृद्धि एवं कार्य अनुभव से करता है। जब वह चिकित्सा कार्य में सत्त लगा रहता है तो निपुणतायें स्वतः आ जाती हैं। यदि प्राकृतिक चिकित्सक अपने रोगी की सहायता प्रभावकारी ढंग से करना चाहता है तो स्वास्थ्य से सम्बन्धित व सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रत्ययों का जानना आवश्यक होता है। उसे यह भी ज्ञान आवश्यक है कि सामाजिक एवं मनौवैज्ञानिक परिस्थितियाँ किस प्रकार से रोग की दशा में प्रभावकारी होती हैं। निपुणता के तीन अंग हैं : ज्ञान, भावना तथा क्रिया (Knowledge, Feeling and Acting) अतः प्राकृतिक चिकित्सक मानव शरीर रचना शरीर, क्रिया, व्याधिकी, मानव व्यवहार, मनो-सांवेगिक तत्त्वों एवं वैज्ञानिक रूप से कार्य करने के ढंगों से परिचित हों।

II. निपुणताओं के प्रकार

प्राकृतिक चिकित्सक में निम्न निपुणतायें होना आवश्यक होती हैं :-

1. चिकित्सकीय साक्षात्कार करने की निपुणता

साक्षात्कार व्यक्ति के पारस्परिक सम्पर्क की क्रमबद्ध प्रणाली है, जिसके

माध्यम से दूसरे व्यक्ति के अपरिचित तथ्यों का ज्ञान प्राप्त होता है। व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के आन्तरिक जीवन में अधिक या कम काल्पनिकता से प्रविष्ट होता है।

चिकित्सकीय साक्षात्कार का तात्पर्य प्राकृतिक चिकित्सक का रोगी से साक्षात्कार इस प्रकार से प्रारम्भ करना है, जिसमें वह आराम का अनुभव करे, अपनापन प्रतीत हो, तथा विश्वास का सूत्र जाग्रत हो कि यहाँ पर उसके रोग का उपचार सम्भव है।

प्राकृतिक चिकित्सक को मानव की प्रकृति सम्बन्धी कुछ तथ्यों को जानना आवश्यक होता है।

(क) मानव सम्प्रेरणायें

प्रत्येक प्रकार के व्यवहार का श्रोत सम्प्रेरणायें हैं। रोगग्रस्त व्यवहार का कारण भी रोगी की चेतन तथा अचेतन सम्प्रेरणा ही होती है। यही कारण है कि कभी-कभी रोगी की समस्या के कारणों का जानना अत्यन्त कठिन होता है। व्यक्तित्व एक जटिल संरचना है, जिसमें अनेक अन्तर्संगठन होते हैं। उस संगठन के भीतर समस्या का कारण छिपा रहता है। रोग समस्या का कोई एक कारण न होकर कारणों का एक समूह होता है। फ्रायड ने व्यक्तित्व के सिद्धांत में यह स्पष्ट कर दिया है कि व्यक्ति का व्यवहार अचेतन सम्प्रेरणाओं से अधिक नियंत्रित एवं निर्देशित होता है। अतः चिकित्सक को रोगी के प्रति अधिक सहिष्णु होना चाहिये और जहाँ तक सम्भव हो, रोगी की अधिक से अधिक सहायता प्रारम्भ से ही करनी चाहिए।

(ख) वस्तुगत तथा विषयगत तथ्य

प्रत्येक स्थिति के दो पक्ष होते हैं– वस्तुगत (Objective) तथा विषयगत (Subjective) एक व्यक्ति क्षय रोग से पीड़ित है यह चिकित्सकीय तथ्य है। परन्तु प्रत्येक बीमार व्यक्ति अपने रोग से सम्बन्धित विचार एवं भावनायें रखता है, यह विषयगत तथ्य है। क्षय रोग के कई स्तर हैं, जिनसे व्यक्ति प्रभावित होता है, परन्तु इससे भी अधिक इस रोग से सम्बन्धित प्रतिक्रियायें हैं। इस प्रकार से यह एक चक्र है। जहाँ पर वस्तुगत तथ्य होगा, विषयगत तथ्य भी कई रूपों में उपस्थित होगा। प्रकृतिक चिकित्सक के लिए आवश्यक होता है, कि वह रोगी की विषयगत स्थिति से अवश्य भलीभाँति परिचित हो, तभी वह वस्तुगत स्थिति से निपटने के लिए उपचार कार्यक्रम बना सकेगा।

वस्तुगत तथा विषयगत तथ्य जान लेने के पश्चात भी प्राकृतिक चिकित्सक को मनोवृत्ति सम्बन्धी ज्ञान भी होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए किसी सांवेगिक रूप से अस्त-व्यस्त रोगी से यदि कहा जाये कि आप शांत होकर बात करें तो वह वास्तविक तथ्यों को छिपा जायेगा।

एक स्थिति के प्रति प्रत्येक रोगी की प्रतिक्रियायें भिन्न-भिन्न होती हैं।

उदाहरण के लिये चिकित्सालय से सहायता प्राप्त करने के लिए कुछ आवश्यक नियमों तथा आवश्यक परिसीमाओं को पूरा करना आवश्यक है। एक रोगी इन औपचारिकताओं को पूरा करना मानहाँनि, आत्मग्लानि या अहम पर दबाव अनुभव करता है, जबकि दूसरा रोगी यह सामान्य प्रक्रिया मानता है। एक रोगी सोचता है कि उसके व्यक्तिगत मामलों को जानना चिकित्सक के लिए आवश्यक नहीं है। अतः उस पर अनुचित दबाव डाला जा रहा है। दूसरा सोचता है कि उससे इतनी कम ही सूचना क्यों ली जा रही है। अतः चिकित्सक उचित या अनुचित दृष्टिकोण पर निर्णय न देकर रोगी के दृष्टिकोण के कारणों पर अपना ध्यान देना चहिये।

2. रोगी से अर्थपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की निपुणता

प्राकृतिक चिकित्सा का आधार चिकित्सकीय साक्षात्कार, निपुणतायें तथा सम्बन्ध का रचनात्मक उपयोग एवं मानव व्यवहार का स्वास्थ्य एवं रोगों पर प्रभाव के कार्यात्मक ज्ञान पर आधारित है। प्रत्येक जीव के विकास के लिए दो दशाओं का होना आवश्यक होता है– पोषण तथा जन्मगत शक्तियों का उपयोग। मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक जटिलता के कारण उनका उपयोग अत्यधिक जटिल है। शारीरिक तथा मानसिक पूर्ण स्वास्थ्य के लिए उसको न केवल शारीरिक बल्कि मनोवैज्ञानिक पोषण की भी आवश्यकता होती है। अतः संतुलित स्वास्थ्य के विकास के लिए पोषण एवं संवेगात्मक सम्बन्धों की आवश्यकता होती है। रोगी अपने रोग की समस्या को लेकर प्राकृतिक चिकित्सालय में आता है, परन्तु उसके रोग समस्या का सम्बंध उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व अर्थात् शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, विगत जीवन के अनुभव, वर्तमान क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं तथा भविष्य की आशाओं से होता है। अतः रोग को पूर्ण रूप से समझने के लिए इन सभी कारकों को समझना आवश्यक होता है, परन्तु ये कारक वास्तविक रूप में तभी समझे जा सकते हैं, जब रोगी तथा चिकित्सक में घनिष्ठ सम्बन्ध हो। चिकित्सकीय सम्बन्धों के निम्न विशेष तत्त्व है।

1. घनिष्ठ सम्बन्ध में स्वीकृति एवं भविष्य की आशाओं का तथा सम्बद्धता व उद्दीपन के तत्त्व पाये जाते हैं।
2. सम्बन्ध स्वयं उद्देश्य होता है।
3. सम्बन्ध का प्रारम्भ साक्षात्कार के पहले चरण से ही प्रारम्भ हो जाता है।
4. घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर रोगी की चिन्ता, निराशा, दुःख, क्लेश, मानसिक दबाव तथा तनाव कम होता है।

3. रोगी की उपचार हेतु स्वीकृति एवं विश्वास प्राप्त करने की निपुणता

प्राकृतिक चिकित्सालय में रोगी जब आता है, तो प्रायः अनेक चिकित्सकीय विधियों के उपयोग के बाद आता है। उसे किसी अन्य चिकित्सा प्रणाली से लाभ

नहीं होता है, तब वह निराश होकर थोड़ी सी उम्मीद लेकर आता है। उसमें अनिश्चितता के लक्षण मौजूद होते हैं। इस अवस्था में उसमें शारीरिक और मानसिक थकान इतनी अधिक हो जाती है, कि उसे प्राकृतिक चिकित्सालय में आना केवल एक औपचारिकता लगती है। इन परिस्थितियों में प्राकृतिक चिकित्सक का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। उसका पहला उत्तरदायित्व होता है कि वह प्राकृतिक चिकित्सक में अपनायी जाने वाली विधियों के विषय में रोगी को जानकारी दे तथा वे किस प्रकार शरीर पर प्रभाव डालते हैं, इससे भी अवगत कराये। उदाहरण के लिए यह सामान्य धारणा है कि ऊष्ण जल स्नान के बाद शीतल जल स्नान हानिकारक होती है। परन्तु प्राकृतिक चिकित्सा में ऐसा नहीं है। गर्मजल स्नान के बाद शीतल जल स्नान कराना आवश्यक प्रक्रिया है। इसी प्रकार मिट्टी का उपयोग भी जनसाधारण में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता है, लेकिन प्राकृतिक चिकित्सा का विश्वास है कि मिट्टी के उपयोग से अधिकांश रोगों का उपचार सम्भव हैं। दूसरे चूँकि प्राकृतिक चिकित्सा का लाभ थोड़ा विलम्ब से होता है अतः रोगी को समझना, उसे अपने विश्वास में लेना तथा उसकी इच्छा पर ही चिकित्सा प्रारम्भ करना आवश्यक होता है।

4. रोगी की परिस्थिति से सम्बन्धित आँकड़े प्राप्त करने की निपुणता

प्राकृतिक चिकित्सा का उद्देश्य रोगी की शारीरिक तथा मनो-सामाजिक समस्याओं के निदान तथा उपचार में सहायता करना है। मानव प्रकृति की विशेषता है कि वह अपनी मूल समस्या के श्रोत को जहाँ तक सम्भव होता है छिपाने के उपाय करता है और समस्या के कारण को दूसरे कारक पर प्रक्षेपित कर देता है जिसके कारण रोगी की मनोस्थिति तथा वाह्य परिस्थिति का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना कठिन हो जाता है। यह सर्वविदित है कि मनोसामाजिक दशायें रोग तथा स्वास्थ्य पर प्रभाव डालती है। अतः इनका अध्ययन करना प्राकृतिक चिकित्सक के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है, जितना कि रोग के विषय में जानकारी प्राप्त करना। रोगी से सम्बन्धित आंकड़े एकत्र करने के निम्नलिखित श्रोत है :

1. रोगी स्वयं

रोगी का साक्षात्कार किया जाता है जिससे रोग तथा उससे सम्बन्धित समस्या का ज्ञान होता है।

2. व्यक्तिगत प्रलेख

इसके अन्तर्गत रोगी की रिपोर्ट्स आती हैं। जिसके आधार पर शारीरिक रोग का ज्ञान होता है। साथ-साथ कुछ लोग जीवन सम्बन्धी घटनाओं के विषय में डायरी बनाते हैं, इनका भी अध्ययन लाभकारी होता है।

3. जीवन इतिहास

रोगी का पूर्ण अध्ययन जीवन इतिहास द्वारा सम्भव है, क्योंकि इसमें व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का तत्व सम्मिलित होता है। जीवन इतिहास के अन्तर्गत रोगी की पारिवारिक पृष्ठभूमि, जीवन को प्रभावित करने वाली घटनायें दिशा निर्देशित करने वाले कारक, रोगी की क्रियायें तथा प्रतिक्रियायें, परिवर्तित परिस्थितियों तथा उनका प्रभाव, वर्तमान स्थिति तथा भावी जीवन लक्ष्य एवं धारणायें, भावनायें ज्ञात होती है।

वैयक्तिक अध्ययन की विषय वस्तु

निम्न तथ्यों का एकत्रीकरण होता है :

1. परिचयात्मक आँकड़े

इसके अन्तर्गत रोग का नाम, आयु, लिंग, जाति, धर्म, व्यवसाय, आय, शिक्षा का स्तर, वैवाहिक जीवन की स्थिति, रहने की दशायें आदि सम्मिलित हैं।

2. रोग का स्पष्ट चित्रण

रोग क्या है, रोग का रूप क्या है, रोग से सम्बन्धित क्या-क्या शिकायतें एवं परेशानियाँ हैं, रोग किस प्रकार प्रारम्भ हुआ है, रोग उत्पन्न करने वाली कौन-कौन सी दशायें थीं, कौन-कौन से कारक वर्तमान समय में रोग से सम्बन्धित हैं। रोगी की सामाजिक, आर्थिक तथा सांवेगिक स्थिति पर रोग का क्या प्रभाव पड़ा है, रोग के कारण रोगी की दैनिक चर्या में क्या-क्या परिवर्तन हुये हैं, शारीरिक दोष एवं व्याधियाँ किस प्रकार की हैं, रोगी सेस्वास्थ्य एवं स्नायुविक प्रक्रिया कितनी प्रभावित हुई है, आदि का ज्ञान प्राप्त करता है।

3. उपचार

रोगी कहाँ-कहाँ, किस-किस के पास चिकित्सा हेतु गया है, किस प्रकार का उपचार प्राप्त किया है, रोग पर उसका क्या प्रभाव पड़ा है, रोगी ने उस उपचार को किस-रूप में स्वीकार किया है, उसके प्रति उसका क्या मूल्यांकन रहा है, वह पूर्ण चिकित्सा अनुभवों को वर्तमान पद्धति के सम्बन्ध में किस प्रकार प्रत्युत्तर कर रहा है, अभी तक उपचार में कितना समय व्यतीत किया है तथा वर्तमान समय में रोगी का दृष्टिकोण क्या है आदि का अध्ययन प्राकृतिक चिकित्सक करता है।

4. भावनायें तथा विचार

रोगी का अपने रोग के प्रति दृष्टिकोण, रोग का रोगी द्वारा विश्लेषण, रोगी द्वारा बताये गये रोग के कारण, रोग का रोगी से संम्बन्ध, रोगी की क्षमताओं एवं कमियों का अध्ययन प्राकृतिक चिकित्सक करता है।

5. विकासात्मक स्थिति का अध्ययन

जीवन की महत्त्वपूर्ण दशायें, जन्म के समय शारीरिक व मानसिक अवस्था, माँ में शारीरिक दोष, बचपन की बीमारी, रोग, व्यावहारिक दोष, मानसिक अक्षमतायें, आदि का अध्ययन होता है।

6. पारिवारिक इतिहास

परिवार का प्रकार, सदस्य संख्या, सेवार्थी का भाई बहनों में स्थान, माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी आदि की आयु, शिक्षा, व्यवसाय, शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य का अध्ययन करते हैं। रोगी का माता-पिता से सम्बन्ध, माता-पिता का व्यक्तित्व, उनमें आपस में सम्बन्ध, परिवार में अनुशासन के तरीके, परिवार में प्रभावकारी व्यक्ति तथा उसके व्यक्तित्व का अध्ययन करते हैं। घर की आर्थिक स्थिति, सांवेगिक दशायें, मद्यपान आदि को भी जानने का प्रयत्न करते हैं। परिवार की सामाजिक दशायें भी अध्ययन का विषय हैं।

7. वैवाहिक इतिहास

विवाह की अवस्था, विवाह का प्रकार, पति-पत्नी में लैंगिक सम्बन्ध, लैंगिक बाधायें तथा समस्यायें आदि भी जानी जाती हैं।

8. व्यावसायिक इतिहास

रोगी के व्यावसायिक इतिहास को भी जानने का प्रयत्न करते हैं। उसके पद तथा कार्य की प्रकृति, कार्य करने की अवधि, व्यावसायिक कमियाँ, कार्य छोड़ने का कारण, सहयोगीकर्ताओं से सम्बन्ध, उच्चस्थ अधिकारियों से सम्बन्ध, वर्तमान सेवा स्थान की स्थिति, कार्य की दशायें, आदि का अध्ययन किया जाता है।

9. व्यक्तित्व की विशेषतायें

रोगी के चेहरे का हाव-भाव, शारीरिक लय, बातचीत का ढंग, बातचीत में तारतम्यता, चिंता का स्तर, भाग्यशा, आत्मशील आदि का अध्ययन होता है।

5. निदान करने की निपुणता

यद्यपि प्राकृतिक चिकित्सा रोग का एक ही कारण मानता है, तथा उसका उपचार भी एक ही बताता है। रोग का कारण शरीर में विषों का इकट्ठा होना और उपचार है उन्हें बाहर निकालकर शरीर को साफ करना। ऐसी दशा में निदान की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। लेकिन रोग पर अनेक सांवेगिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, वैयक्तिक कारकों का प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त निदान की कुछ थोड़ी बहुत आवश्यकता चिकित्सा में भी पड़ती है। जब हम जान लेते हैं, कि विष किस अंग में किस रूप में इकट्ठा है तो हम विचार करके उसके निकलने के लिए कोई आसान उपाय भी कर सकते हैं, जिससे प्रकृति को पूरी सहायता मिले। रोगी की वास्तविक दशा का पता लगा लेने से उसकी साध्यता व असाध्यता पर विस्तृत रूप में विचार विमर्श हो सकता है। कभी-कभी प्राकृतिक चिकित्सा करने वाले के पास रोगों के निदान के समबन्ध में अनेकानेक प्रश्न आ पड़ते हैं। एक ही रोगी का होम्योपैथ, हकीम, एलोपैथ, वैद्य सभ्री उसका निदान अपने-अपने ढंग से करते हैं। प्राकृतिक चिकित्सक को अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में कोई कठिनाई

न हो इसलिए निदान की सभी रीतियाँ जानना तथा उनके द्वारा रोगी का परीक्षण करना जरूरी होता है। उसे नाड़ी विज्ञान, नेत्र विज्ञान, मुखाकृति विज्ञान तथा जाँच के ढंगों का ज्ञान एवं उनके उपयोग की कुशलता आवश्यक है।

6. चिकित्सकीय योजना निर्माण की निपुणता

प्राकृतिक चिकित्सा का उद्देश्य चिकित्सा प्रक्रिया द्वारा प्राप्त किया जाता है। चिकित्सा प्रक्रिया में जल चिकित्सा, मृदा चिकित्सा, जड़ीबूटी चिकित्सक, भाप स्नान, सूर्य किरण चिकित्सा, योगासन आदि का उपयोग कैसे तथा कितना किया जाय, इसका वैज्ञानिक ज्ञान तथा उसके उपयोग की कुशलता प्राकृतिक चिकित्सक में आवश्यक है। प्राकृतिक चिकित्सक का सम्बन्ध न केवल रोगी के रोग से होता है, बल्कि उसकी सामाजिक, सांवेगिक तथा सम्बन्धित समस्याओं के उपचार से भी होता है। अतः उसे एक ऐसी चिकित्सा योजना तैयार करने की आवश्यकता होती है, जिसके द्वारा रोग एवं सम्बन्धित शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक पहलुओं पर एक साथ प्रभाव डाला जा सके। ऐसा इसलिए आवश्यक है क्योंकि प्राकृतिक चिकित्सा का उद्देश्य केवल रोग की ओर ही ध्यान नहीं आकृष्ट करना है बल्कि शारीरिक क्षणिता को रोकना है, सामाजिक क्षीर्णता को रोकना है, मनोवैज्ञानिक क्षतिपूर्ति करनी है तथा सामाजिक कार्यों का पुनर्स्थापन करना है।

7. रोगी को प्राकृतिक जीवन शैली अपनाने के लिए प्रेरित करने की निपुणता

रोग का कारण ही अप्राकृतिक जीवन शैली होती है। जब तक रोगी अपनी पूर्व अभ्यस्थ जीवनचर्या को बदलेगा नहीं तब तक उसका रोग जा नहीं सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि रोग पुनः न उभरे अतः उसे ऐसी प्राकृतिक जीवन शैली, जो रोग की शत्रु हो को अपनाना भी आवश्यक होता है। प्राकृतिक चिकित्सक को न केवल चिकित्सा पद्धति में दक्ष होना चाहिए बल्कि उसे रोगी को प्राकृतिक जीवनशैली अपनाने में भी सम्प्रेषित करने की योग्यता होनी चाहिए। उसे आत्म नियंत्रण विशेष कर जिह्वा पर नियंत्रण का पाठ पढ़ाना प्राकृतिक चिकित्सा का प्रथम कर्त्तव्य होता है। सही आदतों की दशायें तथा उनके महत्त्व को भी वह अवश्य स्पष्ट करें। वह यह भी बतायें कि किस प्रकार विभिन्न रोगों को प्राकृतिक जीवन शैली के पास आने नहीं देती हे। रोगी की मनोदशा में सुधार लाने तथा पूर्ण आराम प्राप्त करने के तरीके को बताना चाहिए। उसे जलनेति, आँख सफाई, प्रातःकाल का टहलना, अंकुरित भोजन, व्यायाम संतुलित एवं प्राकृतिक भोजन, पूर्ण निद्रा, समय का पालन आदि कितने महत्त्वपूर्ण साधन हैं, जिनसे स्वास्थ्य के स्तर को ऊँचा उठाया जा सकता है तथा शरीर निरोगी रह सकता है।

8. रोगी की शंकाओं को समाधान करने की निपुणता

प्राकृतिक चिकित्सा की सेवायें प्राप्त करने के लिए जब रोगी आता है, तो वह नाना प्रकार की शंकाओं से ग्रस्त रहता है, अनेकानेक प्रश्न पूंछता है तथा प्रत्येक तरीके के उपयोग तथा उसके प्रभाव के सम्बन्ध में जानना चाहता है। अन्य किसी भी चिकित्सा पद्धति में रोगी इतने प्रश्न नहीं करता है, जितने कि प्राकृतिक चिकित्सक से। प्राकृतिक चिकित्सक तभी सारी शंकाओं का समाधान कर सकता है, जब वह विभिन्न क्षेत्रों का वैज्ञानिक ज्ञान रखता हो। यदि प्राकृतिक चिकित्सक रोगी के प्रश्नों का उत्तर नहीं देता है, तो रोगी की चिकित्सा में रुचि कम हो जाती है।

9. योग का समुचित ज्ञान तथा योगासनों के उपयोग की निपुणता

प्राकृतिक चिकित्सक को न केवल प्राकृतिक चिकित्सा की प्रविधियों का बल्कि उसे योग का भी पूर्णज्ञान आवश्यक है। क्योंकि योग ही ऐसा नैसर्गिक साधन है जिसके द्वारा मन की वृत्तियों पर नियंत्रण पाया जा सकता है तथा मानसिक स्वास्थ्य के स्तर को ऊँचा किया जा सकता है। योग के माध्यम से शारीरिक क्षमता को उच्चतम स्थिति तक पहुँचाया जा सकता है। यह वह साधन है जिसकी सहायता से शरीर के आंतरिक तथा वाह्य अंगों की सफाई सम्भव होती है। मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक तीनों पक्षों पर योग का प्रभावकारी असर होता है।

इसके द्वारा रोगी की प्राणशक्ति को सुदृढ़ बनाया जा सकता है। मनोशक्ति की सही दिशा निर्देशित की जा सकती है। योगिक शुद्धिकरण के साधनों, नेति,धौती, नौलि, वस्ति, कपाल भांति तथा नाटक, का प्राकृतिक चिकित्सक कुशलतापूर्वक उपचार कार्य में उपयोग करता है। वह अष्टांग योग को स्वास्थ्य का आधार मानकर रोगी को यम -अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य तथा नियम-शौच, संतोष, स्वाध्याय; तप तथा ईश्वर प्राणिधान को अपने जीवन में पालन करने की मंत्रणा देता है।

10. रोगी की नकारात्मक भावनायें स्पष्ट कराने तथा उन्हेंसकारात्मक रूप देने की निपुणता

रोगावस्था में रोगी को अधिकांश प्रवृतियों पर कमजोरी का आवरण पड़ जाता है। अतः वे भी स्वतंत्र होकर रोगी को व्याकुल, परेशान करती रहती है। रोगी भी समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग होता है। अतः उसके सम्बन्ध में परिवर्तन आना स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। कभी-कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसके प्रति न तो वह स्पष्ट कह सकता है, और न ही उसे स्वाभाविक रूप में मान सकता है।

अतः मानसिक तनाव उत्पन्न हो जाता है। रोगावस्था की दूसरी विशेषता होती है कि रोगी में अनावश्यक माँगे बढ़ जाती हैं, वह दूसरों से अपने प्रति विशेष लगाव, देखभाल, सेवा आदि चाहता है और यदि जरा सी असावधानी होती है, तो खीझने लगता है, झुंझलाने लगता है तथा शंका भी करने लगता है। रोगावस्था का तीसरा महत्त्वपूर्ण अंग रोग के प्रति रोगी की अपनी भावना है। अधिक समय तक रोगग्रस्तता के कारण वह समझने लगताहै, कि अब वह ठीक नहीं होगा। बेकार में ये सभी प्रयत्न किये जा रहे हैं। इस प्रकार की भावनायें रोगी में आंतरिक प्रक्रियायें करती हैं जो प्रकृति को रोगमुक्त के कार्य में बाधा पहुँचाती हैं।

अतः प्राकृतिक चिकित्सक का उत्तरदायित्व होता है कि नकारात्मक भावनाओं को सकारात्मक में बदल दे। केवल सकारात्मक दृष्टिकोण से ही कोशाणुओं का कार्य बढ़ जाता है। रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है और रोग के लक्षण दूर होने लगते हैं।

10. अपनी भावनाओं को नियंत्रित करने की निपुणता

प्राकृतिक चिकित्सक भी एक -मनोसामाजिक व्यक्ति होता है, उसकी भी अपनी रुचि, कार्य करने का ढंग, मनोवृत्ति, मन आदि होता है। वह भी प्रेम वात्सल्य, लगाव, अपनापन, हार्दिक सौहार्द आदि चाहता है। रोगी में परावलम्बन की भावना अधिक होने से वह कभी चिकित्सक पर निर्भर हो जाता है। उसकी हर बात को मानता है तथा इतना प्रेम करना चाहता है कि उसकी उपस्थिति उसे सुख देती है। ऐसी स्थिति में चिकित्सक में दो प्रकार की प्राकृतिक प्रतिक्रियायें होती हैं। एक तो वह स्वयं रोगी से प्रेम करने लगता है और उस दशा में रोगी को स्वस्थ होने में बाधा पहुँचती है दूसरे कभी-कभी प्रेम जाल में फंसकर अपनी सीमा का अतिक्रमण करता है। इसके विपरीत जब रोगी पूर्णतया चिकित्सक पर निर्भरता प्रदर्शित करता है, तो उसे झुंझलाहट होती है। उसका प्रभाव रोगी पर प्रतिकूल पड़ता है। अतः प्राकृतिक चिकित्सक को सदैव अपनी भावनाओं पर नियंत्रण रखना आवश्यक होता है।

11. मनोवैज्ञानिक आलम्बन प्रदान करने की निपुणता

मनोवैज्ञानिक अवलम्बन प्राकृतिक चिकित्सा का एक अंग है। ऐसी दशा में चिकित्सक तथा रोगी के मध्य घनिष्ठ तथा पिता-पुत्र ऐसे सम्बन्ध होते हैं। इसका उपयोग रोगी में पुनः विश्वासीकरण द्वारा तनाव को दूर करके उसकी अहं शक्ति को पुष्ट किया जाता है। रोगी में ग्लानि भावना कम होती है, चिन्ता कम होती है, अपनी शक्ति में विश्वास जाग्रत होता है तथा चिकित्सा में रुचि बढ़ती है।

11. संदर्भित करने की निपुणता

यह आवश्यक नहीं कि सभी प्रकार के रोगियों का उपचार प्राकृतिक चिकित्सालय में सम्भव हो। चिंकित्सा के मध्य भी दूसरे चिकित्सा विशेषज्ञों की सलाह आवश्यक हो जाती है, या निदान के लिए रोग विशेषज्ञ की राय भी महत्त्वपूर्ण होती है। अतः प्राकृतिक चिकित्सक जहाँ आवश्यक समझे रोगी को दूसरे स्थानों पर सेवायें ग्रहण करने के लिए संदर्भित कर दें। प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र में इसका अभाव है। यह भी एक महत्त्वपूर्ण बाधा है।

12. मूल्यांकन की निपुणता

प्राकृतिक चिकित्सक का यह भी एक आवश्यक कार्य एवं निपुणता है कि वह रोगी की दशा का निरन्तर सही मूल्यांकन करता रहे। कभी-कभी जब -उभार की स्थिति है अथवा हीलिंग क्राइसेस होती है, तो रोग बढ़ जाता है, उस समय परेशान होने की आवश्यकता नहीं है, यह सही दिशा में उपचार का एक लक्षण है।

प्राकृतिक चिकित्सा न केवल औषधीय अपितु मनोसामाजिक चिकित्सा है अतः उपरोक्त वर्णित निपुणतायें, प्राकृतिक चिकित्सक के कार्य को अधिक प्रभावकारी एवं लाभकारी बना देती हैं।

●●●

अध्याय-8

प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्त

सिद्धान्त अर्थात सामान्य नियम या कानून, प्रत्यय, मूलभूत सत्यतायें, सामान्य रूप से माने गये मत, वे साधन हैं जिनके द्वारा हम एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति की ओर बढ़ते हैं। एक सिद्धान्त अवश्य ही उप कल्पना समझी जानी चाहिये जिसका इस प्रकार से निरीक्षण अथवा/और प्रयोग करके परीक्षण किया गया है कि उसको बुद्धिमतापूर्वक क्रिया के पथ-प्रदर्शक के रूप में या ज्ञान के साधन के रूप में रखा जा सकता है।

सिद्धान्तों का पालन करना प्राकृतिक चिकित्सक के लिए अनिवार्य होता है-तभी वह अपने अभीष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।

1. विजातीय द्रव्य का सिद्धान्त

यदि भोजन आवश्यकता से अधिक अथवा गलत तरीके का भोजन किया जाता है, तो पाचक तंत्र पर विशेष रूप से दबाव पड़ता है। कुछ समय के बाद पाचनतंत्र के अंग अपना कार्य सुचारु रूप से करने में असमर्थ होने लगते हैं। मल बाहर निकलने में विलम्ब होने लगता है। शरीर में रोग का सूत्रपात शरीर में विजातीय द्रव्य से ही होता है। मल संचय जब शरीर की मर्यादा बिंदु को पार कर जाता है, तो रोग आ जाता है। शरीर शुद्धि के चार मार्ग या संस्थान हैं, जो अपने ढंग से विजातीय पदार्थ बाहर निकालते हैं। श्वसन मार्ग दूषित वायु के रूप में, मूत्रमार्ग तरल मूत्र के रूप में, त्वचा मार्ग तरल पसीने के रूप में तथा मल या गुदा मार्ग ठोस मल रूप में। अर्थात त्वचा, वृक फेफड़े तथा आँतों से विजातीय पदार्थ शरीर से बाहर निकलता है। हम जानते हैं, कि हमारा शरीर कोषाणुओं से निर्मित है। प्रत्येक कोष को जीवित रहने के लिए बाहर से भोजन की आवश्यकता होती है, उसे पचाना तथा उसका अभिशोषण भी करना होता है। इन कामों से कुछ कचरा या मल जो विषैला होता है वह भी पैदा होता है। अतः उसको शरीर से बाहर निकालने की आवश्यकता होती है। इसके अलावा कोष को हवा की भी जरूरत होती है। आक्सीजन लेने की जरूरत होती है। आक्सीजन के ग्रहण करने के बाद कार्बनडाईआक्साइड निकालने की जरूरत होती है। इसी प्रकार यह भी सत्य है कि कोष स्वयं जीवनलीला समाप्त करते रहते हैं। अतः विषैले तत्त्व को भी निकालना आवश्यक है। यदि सफाई करने

वाले इन अंगों – फेफड़े, त्वचा, गुर्दे और आंतों पर अधिक भोजन या अपाच्य भोजन के द्वारा एवं अनुपयुक्त जीवन पद्धति के द्वारा दबाव डाला जाता है तो विजातीय पदार्थ शरीर में संचय होने लगता है, और सामान्य कार्य में अवरोध उत्पन्न करने लगता है।

शरीर से विजातीय तत्त्व या पदार्थ जो विषैला होता है, उसका निकलना क्यों आवश्यक होता है इसे हम स्वयं एक मिनट में अनुभव कर सकते हैं। यदि हम श्वास निकालना एक मिनट के लिए रोक लें तो दम घुटने लगता है, कुछ समय पश्चात प्राणों का संकट छा जायेगा। इसी प्रकार यदि त्वचा का कार्य 24 घण्टे तक बंद हो जाय, पसीना निकलना बंद हो जाय, तो मनुष्य जीवित नहीं रह सकता है। पेशाब निकलना यदि तीन दिन तक बंद हो जाय, तो मृत्यु निश्चित है। आंतों की क्रिया एकबारगी बंद हो जाय जैसाकि आंतों में सूखा मल या कोई कड़ी चीज अटक जाने आदि की दशा में हो सकता है, और चीरा लगाकर वह अवरोध दूर न कर दिया जाय, तो व्यक्ति दो-चार दिन से अधिक जीवित नहीं रह सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि फेफड़ा मलोत्सर्ग का सर्वप्रधान अंग है– उसके बाद त्वचा, गुर्दे और आंतों का नम्बर आता है। यदि व्यक्ति स्वयं कोई बाधा इनके कार्यों में न पहुँचाये तो जीवन भर सुचारु रूप से कार्य करते रहते हैं। इन अंगों का समुचित उपयोग तथा उनकी क्षमता में वृद्धि करने के नियमों का पालन करने से शरीर से मल बाहर निकालता रहता है, और शरीर स्वच्छ, निर्मल एवं दोषहीन बना रहता है, लेकिन जब इनके कार्यों में जाने या अनजाने में बाधा पहुँचायी जाती है, तो विजातीय दृव्य संचित होने लगता है और रोग का कारण बनता है।

वास्तव में अधिकांश लोग फेफड़ों का उचित उपयोग ही नहीं करते। श्वास से बहुत थोड़ी हवा भीतर ले जाते हैं। ऐसा इसलिये होता है, क्योंकि वह प्रत्येक क्षण मानसिक तनाव एवं चिन्ता से ग्रसित रहता है। इस दशा में वह पूरी श्वास लेने में असमर्थ होता है। दूसरे शारीरिक श्रम न करने से हमें गहरी सांस लेने की जरूरत नहीं होती है। परन्तु उथली सांस से जितनी हवा फेफड़ों में जाती है, वह रक्त को साफ करने के लिए पर्याप्त नहीं होती है। अतः सभी कोष इससे प्रभावित होते हैं, और सुचारुरूप से कार्य करने में बाधा अनुभव करते हैं। इसके अतिरिक्त पर्यावरण में वायु प्रदूषण से गंदी हवा में श्वास लेते हैं। नतीजा यह होता है कि जो हवा सांस के जरिये फेफड़ों में पहुँचती है वह विषैली होती है। अतः स्वयं में हानिकारक होती है।

शरीर की सफाई करने वाले अंगों में त्वचा का दूसरा स्थान है। हमारी त्वचा से सदैव पसीना निकलता रहता है, चाहे गरम हो, या ठंडा। इसी प्रकार त्वचा के रोम के माध्यम से वायु का भी प्रवेश होता है, त्वचा के द्वारा शरीर का विष बाहर निकलता रहता है। यदि इस पर गंदगी का लेप बढ़ जाता है, और रोमकूप साफ नहीं

रहते हैं, तो त्वचा के कार्य में बाधा उत्पन्न होती है। आजकल जो भी वस्त्र धरण किये जाते हैं वह त्वचा के अनुकूल न होने से उसके कार्य में बाधा पहुँचती है।

वृक्क या गुर्दे का कार्य शरीर में जल संतुलन की क्रिया को नियंत्रित करना है, साथ ही साथ दूषित दृव्य व पदार्थों का अधिक भाग को शरीर से बाहर निकालना है। प्रतिमिनट लगभग 1 लीटर रक्त वृक्क से गुजरता है, और इसका लगभग 10 प्रतिशत फिल्टर होता है। इस फिल्टर किये गये प्लाज्मा में लवण, ग्लूकोज़ तथा अन्य सूक्ष्म तत्त्व विद्यमान होते हैं। जिन तत्त्वों की शरीर को आवश्यकता होती है, वे अवशोषित (absorb) हो जाते हैं, तथा अवशेष मूत्र के साथ बाहर निकल जाते हैं, यदि ऐसे तत्त्वों को भोजन के रूप में ग्रहण किया जाता है, जिनसे यूरिया अधिक बनती है, तो रक्त में यूरिया अधिक हो जाती है, और वृक्क द्वारा यूरिया (समान्यतः 20 से 40 मि. ग्रा. प्रति 100 मि. ली. है) का पर्याप्त मात्रा में विसर्जन होने से यह स्तर बढ़ जाता है उससे नाना प्रकार के रोग हो जाते हैं।

पाचन तंत्र के अन्तिम भाग में बड़ी आंत और मलाशय रहते हैं। इनका कार्य भोजन के मल अंश को बाहर निकालना होता है। इस हिस्से में रहने वाला पदार्थ बहुत ही विषैला व हानिकारक होता है। अतः 24 घन्टे से अधिक शरीर के अन्दर किसी भी प्रकार से इसे रहने नहीं देना चाहिये। नहीं तो वह रुक कर सड़ने लगता है, विषैली गैस निकलने लगती है। यह रक्त आदि में मिलकर रोग का कारण बनती है।

पाचन के अन्य अंग, मुख, आमाशय और छोटी आंत मिलकर भोजन के पाचन और अभिशोषण का कार्य करती हैं। भोजन मुँह में डाले जाने पर उसे अच्छी तरह चबाने में और उसमें मुँह की लार अच्छी तरह मिलने देने में कुछ मिनट लगते हैं तब वह आमाशय में पहुँचता है, जहाँ इसके पाचन में तीन-चार घन्टे लगते हैं। फिर वह धीरे-धीरे छोटी आंत में पहुँचता है। और यहाँ भी इसके पचने की क्रिया चलती है। छोटी आंत में भोजन तरल अवस्था में रहता है और यहाँ पचते हुये भाग का अभिशोषण छोटी आंत धीरे-धीरे करती है। अभिशोषण हो लेने पर भोजन का बचा हुआ भाग, जो अभी भी तरल अवस्था में रहता हैं, बड़ी आंत में लगभग 12-14 घन्टे में पहुँचता है। बड़ी आंत केवल जलीय भाग सोखती है। इससे उस समय मल की तरलता कम होती जाती है, और जब वह बड़ी आंत के अन्तिम भाग में जिसे मलाशय कहते हैं, पहुँचता है तो वह कड़ा सा हो जाता है उस समय उसकी सूचना स्नायुतंत्र को जाती है, और शौच का अनुभव होता है। किसी कारण जब पाचन तंत्र सुचारुरूप से कार्य करने में समर्थ नहीं होता है, और मल संचय होने लगता है तो रोगों की उत्पत्ति होती है।

शरीर में विजातीय पदार्थों के संचय से रोगों का प्रारम्भ होता है। पहले-पहल यह संचय पेडू में एकत्र होता है। निष्कासन मार्ग के नजदीक जमा होना शुरू होकर

विकार दूर तक बढ़ने लगता है, जैस सिर तथा हाथ पैरों की ओर। कोई विशेष परिस्थिति पैदा न होने पर यह क्रिया बहुत धीरे-धीरे होती है। दृव्य का झुकाव प्रायः शरीर के ऊपरी भाग की ओर जाने का रहता है। इस प्रयास में वह अपना मार्ग गर्दन के तंत्र भाग से बनाता है। पहले यह भाग बढ़ा हुआ लगता है और फिर सूजा सा लगता है। आगे चलकर वह पिंड के रूप में सूजन, अंग को बिल्कुल ढक लेते हैं और उन भागों का संकोचन होने लगता है। त्वचा का रंग भी बदलने लगता है। पेडू के भाग में भी परिवर्तन आता है। इस प्रकार शरीर की पूरी आकृति प्रभावित होती है। विजातीय पदार्थ शरीर में धीरे-धीरे संचित होता है, अतः शरीर में बदलाव भी धीरे-धीरे होता है। जिसके कारण रोग के प्रारम्भ में यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होता है। यद्यपि शरीर रोगग्रस्त हो जाता है लेकिन कष्ट के न होने से उसे रोग की अनुभूति नहीं होती है। जब वह अनुभव करने लगता है, कि उसे भूख कम लगती है, थकान अधिक अनुभव होती है तथा मानसिक अशान्ति बनी रहती है तब वह महसूस करता है कि उसके शरीर में कोई असामान्यता आ गयी है। यदि टट्टी पेशाब ठीक होती रहती है, फेफड़े ठीक काम करते रहते हैं, तब तक वह चिन्ता नहीं करता है। लेकिन जब ये अंग प्रभावित होते हैं, तब वह अपनी शारीरिक स्थिति के प्रति चिंतित हो जाता है।

शरीर में गैसों का बनना चार कारणों से होता है :–

1. तापक्रम में परिवर्तन।
2. मन की दशा में परिवर्तन।
3. मानसिक तनाव।
4. आदत में एकाएक परिवर्तन।

विजातीय पदार्थ पहले पेडू के पास संचय होता है तथा धीरे-धीरे दूसरे अंगों के पास पहुँच जाता है, लेकिन जब फरमेन्टेशन होता है, तो पदार्थ ऊपर की ओर जैसा कि गैसों का ऊपर उठने का स्वभाव होता है, बढ़ता है। इसी कारण सबसे पहले रोग की अवस्था में शरीर के ऊपरी भाग में प्रभाव देखते हैं, और सर दर्द की शिकायत होती है। फरमेन्टेशन उष्णता लाता है। रक्त का तापक्रम बढ़ने लगता है, इस कारण बुखार आ जाता है। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है, कि ज्वर तभी आता है, जब शरीर में दोष संचित होता है तथा मल निष्कासन के तरीके अवरुद्ध हो जाते हैं, पेट साफ नहीं होता है, मूत्र कम निकलता है, त्वचा के रोमकूप बाधित होते हैं तो श्वसन तंत्र प्रभावित होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि रोग का कारण शरीर में दोष संचय है। जब विजातीय पदार्थ शरीर तंत्र में **संचित** होते हैं, तथा जब फरमेन्टेशन होता है, तो वह पूरे शरीर में फैल जाते हैं। फरमेन्टेशन से शरीर अस्वस्थ हो जाता है और यह विजातीय दृव्य शरीर से मल निष्कासन यंत्रों द्वारा बाहर नहीं निकल पाता है।

2. रोग द्वारा मानव शरीर के कल्याण का सिद्धान्त

शरीर में सदैव विजातीय पदार्थ उत्पन्न होता रहता है, जिसे शरीर के मल मार्ग– रोमकूप, गुर्दे, गुदा आदि, प्रत्येक क्षण बाहर निकालते रहते हैं। यदि किसी कारण से उस मल को बाहर निकल जाने का रास्ता अवरुद्ध हो जाता है, तो वह शरीर में रोग उत्पन्न करके बाहर निकल जाने का स्वतः प्रयास करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आवश्यकता पड़ने पर शरीर में रोग होना कितना आवश्यक होता है। दूसरे शब्दों में कहा जाता है, कि रोग हमारे शत्रु न होकर मित्र भी होते हैं। जो शरीर को स्वस्थ बनाने के लिए ही उत्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए पेट में संचित मल को निकालने के लिए दस्त की बीमारी हो जाती है। इसी प्रकार ज्वर के द्वारा भी मल निष्कासित होता है। रोग चिकित्सा का कार्य करते हैं। मान लीजिये कि कोई रोग न हो और शरीर में मल संचित होता रहे तो भविष्य में महान घातक परिणाम हो सकता है। इसीलिए प्राकृतिक चिकित्सा में रोगों को शत्रु समझ कर उनसे लड़ा नहीं जाता है, स्वास्थ्य निर्माण की कोशिश की जाती है। लेकिन एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि यदि रोग विशेष कर तीव्र रोग शरीर की सफाई के लिए होने वाले प्रकृति के प्रयत्न के रूप में होते हैं, तो उनके कारण लोगों की मृत्यु क्यों होती है। इसका समुचित उत्तर यह है कि जब रोगी में जीवनी शक्ति बहुत कम रह जाती है, या शरीर में संचित मल या विजातीय पदार्थ की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है, या उपचार अपर्याप्त होता है, प्रकृति अपनी सफाई का कार्य करने में असफल रहती है, तो रोगी की मृत्यु हो जाती है।

3. पंचमहाभूतों का सिद्धान्त

मानव शरीर की रचना पाँच तत्त्वों– मिट्टी, जल, वायु, अग्नि और आकाश से हुई है। इन पाँच महाभूतों का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। जैसे तुलसीकृत रामायण में लिखा है– '**छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित यह अधम शरीरा।।**' अधम का तात्पर्य भौतिक अर्थात् भौतिक शरीर की रचना पाँच तत्त्वों से मिलकर हुई है। ये ही प्राकृतिक उपचार के साधन हैं। इनमें से चार तत्त्व, पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि भोजन की श्रेणी में आते हैं। और पाँचवा तत्त्व आकाश उपवास के द्वारा प्राप्त किया जाता है। शरीर रचना में प्रमुख तत्त्व आकाश है, और इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका जीवनी शक्ति की वृद्धि करने में देखी जा सकती है। प्राचीन भारतीय धर्मग्रन्थों एवं शास्त्रों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है। मिट्टी, जल और वायु और अग्नि तत्त्व शरीर निर्माण में प्रत्यक्ष परिलक्षित होते हैं। जबकि अति उपयोगी एवं प्रभावकारी आकाश तत्त्व अप्रत्यक्ष रूप से शरीर को निर्मल, शुद्ध एवं दीर्घजीवी बनाता है। जब तक इन पाँचों तत्त्वों का समुचित संतुलन बना रहता है तब तक व्यक्ति निरोगी रहता है।

यहाँ पर इन पाँच महाभूतों का वर्णन प्रथक-प्रथक कर रहे हैं।

पृथ्वी

मानव का निर्माण इसी से होता है, इसीलिए पृथ्वी को माता कहते हैं। इसका सम्बन्ध जल, वायु, अग्नि तथा आकाश से हैं। मानव के जीवन के लिए समस्त खाद्य पदार्थ चाहे अनाज हो या विविध प्रकार की फल-सब्जी अथवा पशुओं द्वारा दिया गया दूध, दही-मक्खन आदि सब इसी की देन है। मिट्टी और मानव का सम्बन्ध शाश्वत है और यही कारण है कि मिट्टी जीवन के लिए अनिवार्य है। इसमें अनेकानेक गुण विद्यमान हैं। दुर्गन्ध मिटाने के लिए मिट्टी अति उत्तम वस्तु है। मिट्टी में सर्दी और गर्मी रोकने की असीमित शक्ति होती है। विलक्षण विद्रावक (Dissolving) क्षमता के कारण बड़े से बड़े फोड़े पर मिट्टी की पट्टी रखने से वह उसे पका देती है, बहा देती है तथा घाव को भर भी देती है। मिट्टी में विषादि को शोषण करने की क्षमता होती है। इसमें रोगों को दूर करने की क्षमता होती है, क्योंकि मिट्टी में संसार के सभी वस्तुयें, रसायनिक मिश्रण मिले होते हैं, जबकि किसी भी दवाओं के मिक्सचर में उतने रसायनिक नहीं हो सकते हैं।

जल

जल सभी प्राणियों का आधार है। यह सभी-प्राणियों की अमूल्य औषधि है। प्रत्येक जीव जन्तु तथा प्रत्येक वनस्पति में जल की पर्याप्त मात्राा विद्यमान होती है। क्योंकि कोई भी शारीरिक क्रिया चाहे वह भोजन पाचन की हो, रक्त संचार की हो, इस दृव्य के बिना सम्भव नहीं हो सकती है। यह संसार का अनिवार्य तत्त्व है, जिसमें असीम शक्ति निहित है और जिसका उपयोग मानव विभिन्न प्रकार से करता चला आ रहा है। चिकित्सा के रूप में भी जल का उपयोग सृष्टि के प्रारम्भ से ही होता आया है। व्यक्ति यदि शुद्ध जल का समुचित और संतुलित उपयोग करता रहे, तो वह पूर्ण शक्ति, स्फूर्ति एवं स्वास्थ्य का उपयोग करते हुये दीर्घजीवी और निरोगी रह सकता है।

अग्नि

अग्नि का तात्पर्य उष्मा या सूर्य़ से है, और जिसके अभाव में जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। सूर्य की उपासना का तात्पर्य यही रहा होगा। क्योंकि दृष्टि के सभी पदार्थ सूर्य-रश्मि के विभिन्न प्रकार के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं। इसमें स्वास्थ्यवर्धक शक्ति होती है। कहा जाता है कि जहाँ सूर्य प्रकाश का प्रवेश नहीं होता है, वहाँ डाक्टर का प्रवेश होता है। इस कहावत में तथ्य है क्योंकि रोग के कीटाणु अंधकार में ही बढ़ते हैं, प्रकाश उनके लिए काल है। सूर्य प्रकाश से शरीर में प्राणों का संचार होता है। विभिन्न रोगों में सूर्य किरण चिकित्सा और रंगीन रश्मि चिकित्सा बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई है।

वायु

वायु प्राणों का सबसे मूल आधार है। इसके बिना व्यक्ति कुछ मिनट ही जीवित रह सकता है। अतः अन्न जल शुद्धि की अपेक्षा प्राणदायक वायु की शुद्धि अधिक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक है। वायु की सहायता से फेफड़े रक्त को शुद्ध कर देते हैं। इसका उपचार कार्य में भी उपयोग करते हैं। बीमारी को दूर करने के लिए वायु स्नानों तथा मंत्रों द्वारा ठंढी अथवा गरम हवा की शरीर पर फेंक कर उपचार कार्य किया जाता है। प्रातः भ्रमण, सायं-भ्रमण, वायु स्नान के ये दो रूप बहुत लाभकारी हैं।

आकाश

आकाश तत्त्व पाँचवाँ, परन्तु प्रधान तत्त्व होता है। आकाश का अर्थ है खालीपन अथवा शून्य। जिस प्रकार मछली पानी में और पानी मछली में होता है, उसी प्रकार मानव आकाश में और आकाश मानव में होता है। मानव शरीर के अंदर खाली जगह के रूप में आकाश का निर्माण किया है। शरीर के भीतर असंख्य जीवित कोष हैं, जो गतिमान हैं। रक्त संचार तथा वायु संचार के लिए शरीर में रिक्त स्थान अर्थात आकाश की आवश्यकता होती है। इसी कारण उपवास का महत्त्व सभी धर्मों में बताया गया है। क्योंकि उपवास से आकाश तत्त्व की प्राप्ति होती है।

मानव रोगों के उपचार के लिए यह जान लेना आवश्यक होता है, कि शरीर के किस अंग में कौन सा पंच तत्त्व अधिक प्रभावकारी है। यदि इसकी जानकारी प्राकृतिक चिकित्सक को होती है, तो वह उपचार योजना बनाने में शत-प्रतिशत सफल होगा। डॉ० हीरालाल ने अपनी पुस्तक ''साइन्टिफिक नेचर क्योर'' के पृष्ठ 9-10 पर इसका वर्णन किया है।

मानव शरीर के अंग	प्रभावकारी पंचतत्त्व	विशेष उपचार
अस्थियाँ	मृदा	प्राकृतिक लवणयुक्त भोजन तथा मृदा का बाह्य उपयोग
रक्त	जल	जल चिकित्सा-स्नान, गीली लपेट, फोमेन्टेशन
		आहार-फल, सब्जियाँ, जूस तथा अधिक जल
त्वचा तथा फेफड़े	हवा	शुद्ध वायु उपचार, वाह्य उपयोग, शुद्ध वायु स्नान

		आन्तरिक उपयोग : गहरी श्वास प्राणायाम, खुली हवा में सोना तथा रहना।
स्नायु	सूर्य प्रकाश (ऊष्मा)	वाह्य उपयोग : प्रातः काल सूर्य रश्मि स्नान, आंतरिक उपयोग-स्वच्छ भोजन
माँसपेशियाँ	वृहद विस्तार जंगल के पेड़ों की तरह सभी तत्त्व	आन्तरिक उपयोग – संतुलित आहार तथा पूर्ण आहार, विशेषकर वाह्यभोजन जिससे सूर्य रश्मियाँ अभिशोषित हो।
गति योगासन	गति	शारीरिक कार्य, व्यायाम तथा
शरीर ढाँचा	अणु	उपवास, जूस आहार,
विश्राम	शान्ति	निद्रा, तथा पूर्ण विश्राम

प्रकृति तथा शरीर में तुलना

वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा परीक्षणों से सिद्ध हो चुका है कि एक समय पूरा ब्रह्माण्ड शून्य था। प्रकृति में खालीपन था। सबसे पहले वायु का प्रादुर्भाव हुआ। वायु से अग्नि और उसके उपरान्त जल की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी की रचना उसके बाद हुई, जिससे पेड़ पौधे और जीवित प्राणी पैदा हुये। सांख्ययोग में लिखा है कि महान शक्ति के द्वारा शब्द की उत्पत्ति हुई। उससे वायु उत्पन्न हुई, वायु से अग्नि, पृथ्वी से पेड़ पौधों, पेड़ पौधों से भोजन, भोजन से शक्ति (सीमन) तथा सीमन से मानव की उत्पत्ति हुई। अतः शरीर में पृथ्वी तत्त्व प्रधान होता है। वेदों में कहा गया है कि 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' अर्थात जैसी सूक्ष्म स्थिति वैसी वृहद स्थिति। मानव शरीर तथा प्रकृति में बहुत कुछ एकरूपता तथा समानता है। शरीर में अस्थियों का वही महत्त्व है, जो प्रकृति में मृदा का है। अस्थियों का निर्माण प्रकृति में पायी जाने वाले इन आर्गनिक लवण से होता है। ये लवण फलों, सब्जियों के द्वारा सूर्य के प्रकाश जल तथा वायु की सहायता से आर्गनिक में बदल दिये जाते हैं। ये लवण फलों तथ सब्जियों में पाये जाते हैं। जब इनका भोजन किया जाता है, तो प्राकृतिक लवण विटामिन तथा अन्य पोषक तत्त्व शरीर में अभिशोषित हो जाते हैं तथा शरीर के रचना एवं वृद्धि विशेषकर अस्थियों की रचना में सहायता करते हैं।

प्रकृति में पदार्थों का आवागमन जल के माध्यम से होता है। उदाहरण के लि नदियाँ पर्वतों से निकलकर समुद्र में मिलती हैं। इनके जल के प्रवाह के साथ अनेव

तत्त्व एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं। इसी प्रकार रक्त जिसमें अधिकांश जल होता है शरीर के विभिन्न अंगों में विभिन्न तत्त्वों को ले जाता है। जल वाह्य तथा आंतरिक दोनों प्रकार से सफाई करता है। विजातीय पदार्थों को शरीर से बाहर निकाल देता है। जब जल की मात्रा कम हो जाती है तो शरीर के विभिन्न कोष रोगग्रस्त होने लगते हैं। इसी प्रकार जब प्रकृति में जल की कमी होने लगती है, तो वनस्पति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

जिस प्रकार प्रकृति के लिए वायु जीवन का आधार है, हवा के बिना वनस्पति जीवित नहीं रह सकती, उसी प्रकार बिना वायु के मानव शरीर जीवित नहीं रह सकता है। हवा से ही उत्साह आता है, सक्रियता आती है, शरीर तथा मन चेतन होते हैं।

मानव शरीर में स्नायु तंत्र का वही कार्य है, जो सूर्य रश्मियों का प्रकृति में है। बिना सूर्य प्रकाश के सम्पूर्ण प्रकृति शव के समान लगती है। उसी प्रकार यदि स्नायु तंत्र ठीक प्रकार से कार्य न करें तो शरीर भार स्वरूप हो जाता है। जीवित तथा मृत्यु में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। सूर्य की रश्मियों से स्नायु तंत्र को उत्तेजना मिलती है। सूर्य किरण स्नान अनेक रोगों को दूर करता है।

शरीर में आन्तरिक गति की एक व्यवस्था होती है। उसी प्रकार प्रकृति में भी अणु की गति होती है। शरीर में कोश तथा प्रकृति में अणु की गति एक समान है। अणु शक्ति का श्रोत है। इसी प्रकार कोश शरीर में शक्ति का श्रोत है। अणु एक दूसरे को गतिमयी बनाते हैं। इसी प्रकार कोश भी शरीर में गति उत्पन्न करते हैं।

4. प्राणशक्ति का सिद्धान्त

प्राण वह जीवनी शक्ति है, जो शरीररूपी यंत्र को इंजन की भाँति चलाती रहती है। इसी शक्ति से ही शरीर के भीतरी अंग, हृदय, यकृत, वृक्क आदि अबाध रूप से सतत् क्रियाशील रहते हैं। प्राणशक्ति ही शरीर के विभिन्न अंगों को आवश्यकतानुसार शक्ति देती है, तथा इनके कार्यों को संचालित करती रहती है तथा एक दूसरे से समन्वय बनाये रखती है। जो चेतनाशक्ति या ज्योति इस विशाल ब्रह्माण्ड में विद्यमान है, वही शक्ति इस लघुपिण्ड शरीर में पायी जाती है। इस शक्ति के द्वारा ही मन तथा इन्द्रियाँ अपना काम करती रहती हैं। प्राण से ही शरीर में उष्णता, कम्पन, स्फूर्ति और चेतना आदि प्रकट होती है। यही वह शक्ति है जो शरीर के सभी तंत्रों को चलाती है। प्राणशक्ति को संयम, नियम, शुद्ध आहार, मन पर नियंत्रण आदि के द्वारा बलवान बनाया जा सकता है। लेकिन जब व्यक्ति प्रकृति के विपरीत आचरण करने लगता है, तो प्राणशक्ति क्षीण होने लगती है। प्राणशक्ति *क्षीण होने से शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती है, और शरीर रोगी* रहने लगता है। मृत्यु का कारण कोई रोग नहीं होता, बल्कि प्राण को जब शरीर में रहना मंजूर नहीं होता, चाहे शरीर की खराबी के कारण, या शरीर में प्राण का कार्य

पूरा हो जाने के कारण, तब मृत्यु हो जाती है। अतः प्राणशक्ति को सबल, शक्तिदायी बनाने के लिए प्राकृतिक नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है।

5. एक ही कारक विकार का सिद्धान्त

प्राकृतिक चिकित्सा का दृढ़ विश्वास है कि सारे रोगों का एक ही कारण है- शरीर में विजातीय पदार्थों का या मल का संचय हो जाना। मनुष्य शरीर प्रकृति के नियमों के अनुसार अपने अंदर के मल, कचरा, विजातीय तत्त्व को बाहर निकालने का सदैव प्रयत्न करता रहता है।

शरीर के अन्दर की गंदगी को दूर करने के चार रास्ते हैं- फेफड़े के द्वारा गंदी वायु बाहर निकाली जाती है, त्वचा से पसीने के रूप में गंदगी बाहर निकलती है। इसी प्रकार गुदा के द्वारा भोजन से उत्पन्न मल तथा वृक्क द्वारा मूत्र के माध्यम से अनेक प्रकार का मल बाहर निकलता है। यदि इन साधारण ढंगों से शरीर के अन्दर का विकार नहीं निकल पाता है, तो असाधारण ढंगों से काम में लाये जाते हैं। शरीर की शक्ति तेजी से दूसरे ढंगों से सफाई का कार्य प्रारम्भ कर देती है। या तो शरीर के अन्दर की गर्मी को जला देती है, या दस्त आने लगते हैं, या ऐसी कोई स्थिति आती है, जिससे शरीर के अन्दर की सफाई हो जाती है। इससे स्पष्ट होता है- कि शरीर की रक्षा के लिए शरीर के अन्दर के दोषों का निकलना आवश्यक होता है अतः रोगों की उत्पत्ति तभी होती है, जब शरीर के अन्दर की गर्मी ज्वर के रूप में बढ़कर शरीर के अन्दर शरीर की गंदगी या विजातीय तत्त्व प्राकृतिक ढंग से बाहर ही निकल पाते हैं। इस अर्थ में रोग विकारों को बाहर निकालने के साधन हैं। विकारों की किस्म पर रोगों की उत्पत्ति निर्भर करती है।

जितने भी तीव्र रोग(Acute Diseases) होते हैं, जैसे, जुकाम, बुखार, अतिसार, पेचिश, फोड़ा फुन्सी, ये सभी विजातीय तत्त्वों को शरीर से निकाल देने के लिए होते हैं। स्थायी रोगों का कारण इन तीव्र रोगों का दमन कर दिया जाना होता है।

6. एक उपचार का सिद्धान्त

जब शरीर पूर्णतया स्वस्थ होता है, वहीं मानव शरीर की प्राकृतिक स्थिति होती है। प्रत्येक जीवित अवयव में जीवनी शक्ति होती है, जो सदैव सम्पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त करने का प्रयत्न करती रहती है। शरीर में स्वयं चिकित्सात्मक शक्ति होती है। जैसे ही कोई ऐसी दशा उत्पन्न होती है, जो शरीर के लिए अस्वस्थ्यकारी है, तो आंतरिक शक्ति स्वतः पूर्ण स्वास्थ्य का प्रयास प्रारम्भ कर देती है। आवश्यकता इस बात की होती है, कि इस जीवनी शक्ति को प्राकृतिक ढंगों के आधार पर बढ़ाया जाय, रक्त को शुद्ध किया जाय, विजातीय तत्त्वों को शरीर से बाहर निकाला जाय, तथा मल निकालने वाले अंगों को सबल बनाया जाय।

अतः प्राकृतिक चिकित्सा का मानना है कि चाहे कोई रोग हो अथवा अस्वस्थता, उसे प्राकृतिक तरीके से ही बाहर निकाला जाय। शरीर के सभी तंत्रों को सबल बनाया जाय, जिससे वे अपना कार्य करने में सक्षम हो सकें।

प्राकृतिक चिकित्सा में चूँकि यह विश्वास किया जाता है, कि रोग के अनेकानेक आकार-प्रकार होते हुए भी वास्तव में रोग एक ही है- शरीर के अंदर का विकार, अतः चिकित्सा भी एक ही है- विकार का या विजातीय पदार्थ को बाहर निकाल देने का सही ढंग। उदाहरण के लिए यदि सिर में दर्द है, तो चिकित्सा केवल सिर की नहीं बल्कि सारे शरीर की की जायेगी, क्योंकि सिर दर्द का वास्तविक कारण पेट की खराबी पेट की खराबी से खून की खराबी और खून की खराबी से स्नायु संस्थान का ठीक हालत में न होना है। अतः यदि केवल सिर दर्द का उपचार किया जाता है, तो रोग नहीं जा सकता है। अतः सभी रोगों का एक ही उपचार है, सही ढंग से शरीर के अन्दर के विजातीय तत्वों, दूषित पदार्थों, मल आदि को बाहर निकालना।

7. मनोदैहिक परस्पर निर्भरता का सिद्धान्त

शरीर की रचना पाँच तत्त्वों तथा मन से हुई है, अर्थात् मानव शरीर की क्रियात्मकता मनोवैज्ञानिक कारकों तथा शारीरिक कारकों दोनों की स्थिति पर निर्भर करती है। यदि शरीर स्वस्थ नहीं है, तो उसका प्रभाव मानसिक स्थिति पर पड़ता है। और व्यक्ति की मानसिक क्षमता प्रभावित होती है। इसी प्रकार यदि मानसिक तनाव है, क्लेश है, अवसाद है, तो शारीरिक क्रियायें सामान्य रूप से सम्पादित नहीं हो पाती हैं। शरीर और मन के सम्बन्ध का आधार नाड़ी तंत्र है, वह शरीर को आदेश देता है और शरीर उसका पालन करता है। किसी में उत्तेजक के संकेत मस्तिष्क के हाइपोथेलयस में जाते हैं वहाँ से सेरेब्रल कारटेक्स के विशिष्ट भागों में अध्ययन के लिए जाते हैं अध्ययन होने के बाद उन्हें स्मृति क्षेत्र में भेज दिया जाता है, जहाँ पर विगत अनुभव से अनुमन्य स्थापित होता है। जैसी स्थितियाँ होती हैं, उसी के अनुरूप-न्यूरोट्रान्स मीटर के द्वारा संकेत मस्तिष्क के मोटर क्षेत्र में जाते हैं और शारीरिक क्रियायें होती हैं। जब तनावपूर्ण स्थिति होती है, तो शरीर के दो प्रकार के आन्तरिक परिवर्तन होते हैं। एक संकेत हाइपोथेलेमस से पीयूष (Pituitory gland) ग्रन्थि की जाता, जहाँ से विभिन्न नलिकाविहीन ग्रन्थियों को हारमोन स्नायु के संकेत जाते हैं। हाईपोथेलेमस से दूसरे संकेत स्वतंत्रस्नायु संस्थान (Autonomous system) को जाते हैं, जहाँ पर अनुभूतिक (Sympathetic) तथा पराअनुभूतिक (Parasympathetic) तंत्र प्रभावित होता है। यदि परिस्थिति का सामना करने का निर्णय हाइपोथेलेमस मे लिया जाता है, तो अनुभूतिक तंत्र सक्रिय हो जाता है। इसके स्नायु पूरे शरीर में अंगों में फैले हैं। इसलिए ये स्नायु, हृदय की गति को बढ़ा देते हैं, उसमें संकुचन बढ़ जाता है, जिससे कारडियक

आऊटपुट बढ़ जाता है। हृदय की धमनियों में रक्त का दबाव बढ़ जाता है, जिससे रक्तचाप अधिक हो जाता है। यदि अधिक उत्तेजना होती है, तो दिल का दौरा पड़ जाता है। अनुभूतिक तंत्र की उत्तेजना से अधिकांश रक्त अपरीय माँसपेशियों में आ जाता है, जिससे उदरीय क्षेत्र की माँसपेशियों में रक्त की कमी हो जाती है, फलस्वरूप उनमें खिचावट आती है तथा पाचनक्रिया शिथिल हो जाती है। ब्रान्कोडाईलेशन भी होता है। जिससे वेन्टीलेशन आयतन बढ़ जाता है। तभी श्वास की गति तेज हो जाती है। पसीना निकालने वाली ग्रन्थियाँ, सक्रिय होने से पसीना अधिक निकलता है, जिससे शरीर में जल की कमी हो जाती है। इस कारण विजातीय तत्त्व बाहर नहीं निकल पाते हैं। अधिक ऊर्जा उत्पादन से शरीर का तापक्रम बढ़ जाता है। नलिकाविहीन ग्रन्थियों से भी हारमोन्स निकलते हैं, जो शरीर को प्रभावित करते हैं। उत्तेजना की स्थित में एड्रीनल ग्रन्थि से एड्रीनलीन अधिक निकलता है। जो शरीर के सभी अंगों को अतिसक्रिय कर देता है, यह शक्ति अधिक खर्च होने की स्थिति होती है, और यदि शक्ति खर्च नहीं होती है, तो बीमारी के रूप में प्रकट होती है।

8. रोगी के वैयक्तिकीकरण का सिद्धान्त

यह सिद्धान्त प्रत्येक रोगी की विशिष्ट विशेषताओं को समझने पर बल देता है। यद्यपि शारीरिक रूप से सभी व्यक्ति लगभग समान होते हैं, परन्तु उनकी शारीरिक, मानसिक, सांवेगिक आदि क्षमताओं में अन्तर होता है। जब तक इन विशेषताओं को पृथक-पृथक नहीं समझा जायेगा तब तक रोगी के रोग का उचित समाधान ढूँढ़ना कठिन होगा, क्योंकि रोग का कारण यद्यपि शरीर में संचित विजातीय पदार्थ होते हैं, लेकिन उनके संचय का कारण एक नहीं होता है। अतः प्रत्येक रोगी को एक समान समझने से प्राकृतिक चिकित्सा का पूर्ण प्रभाव नहीं पड़ सकता है। प्रत्येक रोगी एक व्यक्ति है, और उसका रोग एक विशिष्ट रोग है, उसका व्यक्तित्व एक विशिष्ट व्यक्तित्व है। अतः वैयक्तीकरण होना अनिवार्य होता है। प्राकृतिक चिकित्सक को मानव व्यवहार का ज्ञान होना आवश्यक होता है तभी वह विषयगत व वस्तुगत विचारों, भावनाओं, समस्याओं तथा कठिनाइयों को समझ सकता है।

मानव प्रकृति मानव जाति में समान होती है। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति की वैयक्तिता होती है। प्रत्येक व्यक्तिं अपने वंशानुक्रम, पर्यावरण, अन्तर्भूत ज्ञानात्मक क्षमताओं, योग्यताओं आदि में भिन्न-भिन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति को भिन्न-भिन्न अनुभव होते हैं। तथा भिन्न-भिन्न आन्तरिक एवं वाह्य उत्तेजक होते हैं। उसके संवेग तथा स्मृतियाँ, विचारों, भावनाओं तथा व्यवहार को प्रभावित करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति अपनी शक्तियों को विशिष्ट प्रकार से संगठित करके उन्हें निर्देशित करती है जिससे वे दूसरे व्यक्ति की प्रकृति से भिन्न हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति-व्यक्ति में अन्तर होता है। प्रत्येक रोगी भिन्न-भिन्न विशेषतायें रखता है। अतः उसकी आवश्यकताओं का भी एक दूसरे से किसी न किसी रूप में भिन्न होना

स्वाभाविक होता है। अतः रोगी को एक व्यक्ति के रूप में समझना चाहिये तथा उसके रोग से सम्बन्धित मनोसामाजिक समस्याओं को समझने का पृथक-पृथक प्रयास करना चाहिये अतः प्राकृतिक चिकित्सकों को –

1- मानव व्यवहार का वृहद ज्ञान होना चाहिए।
2- उसमें सुनने तथा अवलोकन करने की क्षमता होनी चाहिये।
3- रोगी की प्रगति के साथ-साथ कार्य करने की योग्यता हो।
4- उसमें रोगी की भावनाओं को समझने की योग्यता होनी चाहिए।

वैयक्तिीकरण के निम्नलिखित साधन हैं :–

1- विस्तार में विचार विमर्श हो।
2- विचार विमर्श से प्राप्त सूचनाओं को गुप्त रखा जाए।
3- ध्यानपूर्वक रोगी की बात को सुना जाय।
4- रोगी को चिकित्सा प्रक्रिया में सम्मिलित किया गया।

9. भावनाओं के उद्देश्यपूर्ण प्रगटन का सिद्धान्त

मनुष्य एक तार्किक प्राणी है। उसमें ज्ञान का भण्डार है तथा कार्य करने की इच्छा व अनिच्छा होती है। उसमें पशुवत विशेषतायें जैसे- चालक व मूल पद्धतियाँ भी होती हैं। भावनायें, संवेग, ज्ञानेन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करती हैं। व्यक्ति में सभी विशेषतायें संयुक्त होकर कार्य करती हैं। संवेग व्यक्ति की प्रकृति के अभिन्न अंग हैं। मानव जीवन की सबसे बड़ी चुनौती संवेगों को भलीभाँति रखने की है। रोगग्रस्तता के समय संवेग व्यक्ति पर आधिपत्य जमा लेते हैं, जिससे शारीरिक विकारों के साथ-साथ मानसिक विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं। व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता के अन्तर्गत प्रेम, सुरक्षा, परिस्थिति, भावनाओं का स्पष्टीकरण तथा वैयक्तिता बनाये रखने की इच्छा होती है। यदि इन भावनाओं का उचित प्रगटन नहीं होता है, तो निराशा होती है। जिसके परिणामस्वरूप असामान्य शारीरिक व मानसिक प्रतिक्रियायें होती हैं।

अतः प्राकृतिक चिकित्सक का उत्तरदायित्व है कि वह रोगी को अपनी भावनाओं के स्पष्टीकरण में पूरी छूट दें। प्रायः नकारात्मक भावनाओं का प्रगटन नहीं हो पाता है जिसके कारण रोग से उत्पन्न अन्य समस्याओं को समझना कठिन होता है। प्राकृतिक चिकित्सक ऐसा वातावरण तैयार करता है, जिसमें रोगी अपनापन अनुभव करता है। इसके लिए वह रोगी की भावनाओं को महत्त्व देता है। रोगी अनुभव करता है कि वह अपनी बात को अपने तरीके से कह सकता है। चिकित्सक को चाहिये कि वह स्वयं चिन्ता मुक्त होकर रोगी से बातचीत करें तथा स्वयं आराम अनुभव करें। उसे किसी शीघ्रता में नहीं होना चहिये। यद्यपि उसको रोगी की बात बहुत बीच-बीच में काटनी नहीं चाहिये, लेकिन यह भी न हो, कि रोगी समझे कि

चिकित्सक कोई रुचि नहीं ले रहा है। यद्यपि भावनाओं के प्रगटन का उद्देश्य रोगी को मनोवैज्ञानिक आलम्बन प्रदान करता है, परन्तु ऐसा भी न हो कि रोगी पूरी तरह से चिकित्सक पर आश्रित हो जाये।

10. स्वीकृति का सिद्धान्त

स्वास्थ्य सेवा कार्य में रोगी की स्वीकृति का तात्पर्य उसको मानव के रूप में उसकी एकता, क्षमता तथा योग्यता में विश्वास तथा वह जैसा है उसकी सीमाओं सहित व्यक्ति के रूप में स्वीकार करना । निम्न प्रकार के व्यवहार से स्वीकृति प्रदर्शित होती है:

1- ढांढस बंधाना।

2- स्फूर्ति देना।

3- शिकायत को ठीक प्रकार से सुनना।

4- आदर एवं सम्मान करना।

5- रुचि प्रदर्शित करना।

6- जीवन के अनुभवों के जानने की उत्सुकता प्रदर्शित करना, आदि।

प्राकृतिक चिकित्सक का दृष्टिकोण रोगी के लिए महत्त्वपूर्ण होता है। अतः उसे निश्चित प्रत्युत्तर करने आवश्यक होते हैं।

11. साधनों के उपयोग का सिद्धान्त

रोगी की अनेक आवश्यकतायें होती हैं तथा रोग से भी सम्बन्धित बहुत ऐसी जानकारी होती है, जिसके विषय में प्राकृतिक चिकित्सक अनभिज्ञ होता है। अतः उसे वाह्य साधनों एवं श्रोतों की सहायता लेने में संकोच नहीं करना चाहिये। चाहे निदान के सम्बन्ध में रोगी को किसी दूसरी संस्था में भेजना हो या चिकित्सा के सम्बन्ध में किसी से परामर्श लेनी हो, अथवा अन्य कोई सहायता की आवश्यकता रोगी की हो, प्राकृतिक चिकित्सक को चाहिये कि वह खुले मस्तिष्क से रोगी के साथ कार्य करें।

●●●

अध्याय-9

स्वास्थ्य-अर्थ एवं निर्धारक

स्वास्थ्य एक ऐसा शब्द है जिसका उपयोग दिन प्रतिदिन के जीवन में सभी मनुष्य करते हैं और उसका अर्थ भी अलग-अलग समझते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि शरीर अपना कार्य सुचारु रूप से करता रहे, दैनिक चर्या पूरी होती रहे, रोग का आक्रमण न हो अथवा उपचार के लिये किसी चिकित्सक की सलाह न लेनी पड़े, यही स्वस्थ व्यक्ति के लक्षण हैं। ये सभी विचार स्वास्थ्य के प्रत्यय को पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं करते हैं, क्योंकि स्वास्थ्य एक ऐसी अवस्था है, जिसकी अनेक विशेषतायें हैं।

मानव शरीर एक ऐसा विचित्र यन्त्र है, जिसकी तुलना किसी भी अत्यंत आधुनिक उपकरण से नहीं दी जा सकती है। शरीर के सभी अंग प्रत्यंग इस एकरूपता तथा सामन्जस्य के साथ कार्य करते हैं कि व्यक्ति स्वस्थ बना रहता है। जीवित प्राणी न केवल अपने समान प्रजनन की क्षमता रखता है अपितु शरीर के सभी अंगों की मरम्मत तथा क्षति पूर्ति तथा आरोग्य भी करता है। मानव शरीर के प्रत्येक अंग में आश्चर्यजनक एकरूपता तथा अन्तर्निहित शक्ति होती है, जिसके कारण विकट से विकट शारीरिक अपंगुता की क्षति पूर्ति हो जाती है। रोग तभी प्रकट होता है जब शारीरिक अंगों की समरूपता त्रुटिपूर्ण जीवन शैली के कारण अस्त-व्यस्त हो जाती है।

स्वास्थ्य जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण निधि है। इसी पर मनुष्य की प्रसन्नता, खुशहाली, समृद्धि एवं क्रियाकलाप निर्भर होते हैं। लेकिन स्वास्थ्य के संदर्भ में अनेक भ्रान्तियाँ हैं तथा उचित परिप्रेक्ष्य में इसका आँकलन नहीं किया जाता है। आवश्यकता इस बात की है, कि प्रत्येक मनुष्य को स्वास्थ्य का सही अर्थ एवं स्वस्थ जीवन की विशेषताओं का सही-सही ज्ञान होना चाहिए, जिससे जब उन मानदण्डों जो स्वस्थ्य जीवन के हैं, से विचलित होता है तो प्राकृतिक चिकित्सा का उपयोग करके पुनः स्वस्थ हो जाय एवं सामान्य जीवनयापन करने लगे।

1. स्वास्थ्य की परिभाषा

यहाँ पर हम कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाओं का उल्लेख कर रहे हैं–

बर्टहेट, ई0 :- (Berthet, E)

हमें स्वास्थ्य रोग के संदर्भ में न परिभाषित करके प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का सामन्जस्य रूप से विकास के संदर्भ में परिभाषित करना चाहिये। क्योंकि अन्तोगत्वा यह एक व्यक्ति की सम्पूर्ण क्षमता-जैविकीय, मनोवैज्ञानिक या सामाजिक, के संतुलित स्थिति का द्योतक है, तथा वैयक्तिक स्वास्थ्य के संदर्भ में परिवार तथा सामुदायिक स्वास्थ्य के प्रत्यय को भी सम्मिलित करना चाहिये।[1]

सील, एस0सी0 :- (Seal,S.C)

स्वास्थ्य शरीर और मन की एक लोचदार दशा है, जिसका वर्णन एक रेन्ज के रूप में जिसमें एक व्यक्ति अपनी पर्यावरणीय, आयु, लैंगिक तथा अन्य जैविकीय विशेषताओं के साथ आन्तरिक तथा वाह्य उत्तेजकों के कारण,शारीरिक, मानसिक तथा सांवेगिक अनुभवों का पूर्णतयः आनन्द लेता है तथा उस स्थिति को बिना किसी वाह्य सहायता के प्राप्त कर सकता है, के रुप में परिभाषित किया जा सकता है।[2]

प्लानिंग कमीशन (Planning Commission)

स्वास्थ्य एक सकारात्मक कल्याण की दशा है, जिसमें व्यक्ति मानसिक तथा शारीरिक क्षमताओं का सामन्जस्यपूर्ण ढंग से विकास करके जीवन की पूर्ण समृद्धता तथा पूर्णता का आनन्द लेता है।...... इसका तात्पर्य व्यक्ति का सम्पूर्ण पर्यावरण भौतिक तथा सामाजिक समायोजन से है।[3]

1- We no longer ought to define health only in terms of sickness, but rather in relation to the harmonious development of every individual's persanality. After all, it represents a balanced measure of a person's total potenlial whether biological, psychological and social, and to the notion of individual health we should add the concept of family and community health.
Berthet, E Secretary General of international union for Health Education, Peris, quoted by S.L.. Goel; Public health administration, Sterling publishers P.V.T. Ltd. Delhi, 1984, P-31

2- Health is a flexible state of body and mind which may be described in terms of a range within which a person may sway from the condition wherein he is at the peak of enjoyment of phyical,mental and emotional experiences, having regard to euvironment, age, sex, and other biological characteristics due to the operation of interral or external stimuli and can regain that position without outside aid. **Seal, S.C. president, Indian Science congress 1963 (presidential Address)**

3- Health is a positive state of well being in which harmonious development of mental and physical capacities of the individuals lead to the enjoyment of a rich and full life.... It implies adjustment of the individual to his total environment.
Planning Commission, Govt. of India, First Five Year Plan, 1950-1955.

विश्व स्वास्थ्य संगठन

स्वास्थ्य केवल रोगों अथवा अपंगुता की अनुपस्थिति ही नहीं है बल्कि यह एक पूर्ण शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक कल्याण की स्थिति है।[4]

यदि हम उपर्लिखित परिभाषाओं का विश्लेषण करे, तो स्वास्थ्य की निम्नलिखित विशेषतायें स्पष्ट होती हैं–

1. स्वस्थ व्यक्ति रोग से रहित होता है।
2. स्वस्थ स्थिति दशायें स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं।
3. स्वस्थ व्यक्ति के व्यक्तित्व में समरूपता तथा सामञ्जस्यता होती है।
4. स्वस्थ व्यक्ति में जैविकीय, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक क्षमताओं का समुचित समन्वय होता है।
5. स्वास्थ्य के अन्तर्गत शारीरिक, मानसिक, सामाजिक सभी क्षमतायें सम्मिलित होती है।
6. वैयक्तिक स्वास्थ्य पर पारिवारिक तथा सामुदायिक स्वास्थ्य का प्रभाव पड़ता है तथा वैयक्तिक स्वास्थ्य का पारिवारिक एवं सामुदायिक स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है।
7. स्वास्थ्य का तात्पर्य शरीर तथा मन दोनों से है अर्थात् दोनों ही स्वस्थ रहने आवश्यक हैं।
8. यह एक ऐसी दशा है जो स्थिर नहीं रहती है। परन्तु व्यक्ति की अन्तर्निहित एवं वाह्य शक्तियों में सन्तुलन बना रहता है यदि व्यक्ति अनावश्यक रूप से बाधा न उत्पन्न करे।
9. शरीर में आरोग्य रहने तथा क्षतिपूर्ति करने की अभूतपूर्व क्षमता होती है।
10. स्वास्थ्य का तात्पर्य भौतिक तथा सामाजिक पर्यावरण से पूर्ण समंजन है।

II. आयुर्वेद में स्वास्थ्य का प्रत्यय

स्वास्थ्य और आयुर्वेद का घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि आयुर्वेद स्वास्थ्य का प्राचीन भारतीय विज्ञान है। यथार्थ में जैसा कि इस पद्धति का नाम है इससे यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है, कि जिस शास्त्र में हितमय, अहितमय, सुखमय, दुखमय, आयु तथा आयु के लिए हितकर और अहितकर, दृव्यगुण, कर्म का प्रमाण एवं लक्षणों द्वारा वर्णन होता है, उसे आयुर्वेद नाम दिया गया है। आयुर्वेद में स्वास्थ्य की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है -

''समदोषः समाग्नि च सम धातु मल क्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्याकिपायिते।।''

4- Health is a state of complete physical, mental and social well being and not merely can absence of disease or infirmity. **W.H.O. 1948**.

शरीर की समस्त क्रियायें तीन प्रकार के दोषों के कारण होती हैं, वात, पित्त तथा कफ। इन्हीं की क्रियाओं के कारण शरीर की सभी क्रियाओं का प्रादुर्भाव हुआ है। यदि वे क्रियायें समुचित रूप से चलती रहती हैं तो शरीर स्वस्थ रहता है। शरीर की स्वस्थता का दूसरा कारण अग्नियों की समानता है। अग्नियाँ 13 प्रकार की होती हैं, जिसमें यदि जठराग्नि, साम्यावस्था में होती है, तो अन्न का पाचन ठीक प्रकार से होता है और शरीर स्वस्थ रहता है। स्वास्थ्य के सम्बन्ध में तीसरी बात धातुओं की साम्यावस्था है। इन सब कारणों के साथ ही साथ मल का निष्कासन ठीक प्रकार से होना चाहिये और मन भी प्रसन्न रहना चाहिये।

III. प्राकृतिक चिकित्सा में स्वस्थ मनुष्य की विशेषतायें

प्राकृतिक चिकित्सा का विचार है कि पूर्ण स्वस्थ मनुष्य में सभी शारीरिक क्रियायें सुगमता से होती रहें। भोजन ठीक प्रकार से पचता रहे तथा मल का निष्कासन समयानुसार होता रहे। स्वस्थ मनुष्य को सामान्य भूख लगती है। उसे प्राकृतिक भोजन से तृप्ति प्राप्त होती है। खाने के पश्चात भारीपन नहीं लगता है। प्यास लगने पर केवल पानी की इच्छा होती है। पेशाब करने में कोई कष्ट नहीं होता है। वह न तो गर्म होता है, और न ही किसी दोष से पूर्ण होता है। मल न अधिक पतला होता और न ही सख्त, काली गांठ की शक्ल में। स्वस्थ शरीर में कोई दुर्गन्ध नहीं आती है। त्वचा नम होती है तथा स्पर्श में हल्की, गरम तथा कोमल होती है। स्वस्थ शरीर में फेफड़े अपना काम बिना किसी कठिनाई के पूरा करते हैं, मुँह खुला होना तथा मुँह से श्वास लेना रोग का लक्षण है। श्रम करने पर थकान लगती है। औरं विश्राम करने पर थकान दूर हो जाती है। नींद गहरी तथा पर्याप्त आती है। स्वस्थ व्यक्ति जगने पर प्रसन्न मन, प्रसन्न बदन तथा आत्म तृप्त होता है। स्वस्थ व्यक्ति कोई गम्भीर मानसिक क्लेष होने पर रोकर शीघ्र हल्का हो जाता है।

स्वस्थ शरीर में सिर औसतन आकार की होती है। गर्दन गोल होती है, न अधिक छोटी और न अधिक लम्बी होती है। छाती धनुषाकार होती है, सिर न तो आगे की ओर निकला हुआ होता है, और न ही धड़ नीचे की ओर लम्बा होता है। मस्तक चौरस, चर्वी की गद्दी रहित, आँखें विशाल तनाव रहित, मुंह बंद, चेहरा अंडाकार, पैर सीधे तथा गठीले होते हैं चेहरे पर ताजगी होती है।

IV. स्वास्थ्य के अंग

यदि हम विश्व स्वास्थ्य संगठन की परिभाषा का अवलोकन करें, तो ज्ञात होता है कि स्वास्थ्य के तीन प्रमुख अंग हैं–

01. शरीरिक स्वास्थ्य। (Physical Health)

02. मानसिक स्वास्थ्य। (Mental Health)

03. सामाजिक स्वास्थ्य। (Social Health)

योग तथा प्राकृतिक चिकित्सा चौथे अंग को भी विशेष महत्त्व देती है, वह है आध्यात्मिक स्वास्थ्य।

1. शारीरिक स्वास्थ्य

शारीरिक स्वास्थ्य से तात्पर्य शारीरिक क्रियाओं की समानता तथा शारीरिक तंत्रों की सामान्य कार्यात्मकता से होता है। यदि सामान्य रूप से शरीर के वाह्‌य तथा आन्तरिक अंग कार्य करते रहते हैं, तो शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा माना जाता है।[5] सामान्य रूप से शारीरिक स्वास्थ्य के निम्न लक्षण हैं -

1. अच्छा चेहरा, भरा चेहरा, चेहरे पर सामान्य चमक तथा लालिमा।
2. साफ सुथरी त्वचा।
3. चमकीली आँखें, आँखों में लावण्य।
4. सुगठित शरीर।
5. सामान्य मल मूत्र निष्कासन।
6. शारीरिक अंगों के कार्यों में समरूपता तथा समन्वय।
7. सामान्य थकान।
8. विश्राम से नयी ताजगी तथा उत्साह।
9. प्रगाढ़ निद्रा।
10. सामान्य भार, लम्बाई एवं मोटाई।
11. किसी प्रकार का कोई शारीरिक कष्ट नहीं।

2-मानसिक स्वास्थ्य

मानसिक स्वास्थ्य एक मानसिक स्थिति है, जो व्यक्तित्व की सम्पूर्ण समन्वित क्रिया को दर्शाती है।[6] मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति के निम्नलिखित लक्षण होते हैं–

1. आत्म सम्मान भावना।
2. यथेष्ठ सांवेगिकता।
3. यथेष्ठ सुरक्षा।
4. स्वतः स्फूर्ति।
5. समय के अनुसार व्यवहार।

---

5. Physical health is a state of body in which the bodily systems and bodily activities are performed normally.
6. Mental health is a mental state of individual which expresses the fullest coordinated activities of personality.

6. अपनी कमियों का ज्ञान तथा स्वीकृति।
7. प्रत्यक्षीकरण सही।
8. निर्णय सही।
9. बुद्धि सामान्य।
10. अपनी शक्ति और योग्यता का सही ज्ञान।
11. दूसरों के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव।
12. संगठित व्यक्तित्व।
13. दृढ़ निश्चयी।
14. निःस्वार्थ भावना।
15. अनुभव से सीखने की क्षमता।
16. भूमिका निष्पादन।
17. वैयक्तिता पर बराबर बल।
18. कार्य दक्षता एवं व्यवहार निपुणता।
19. समायोजन की क्षमता।
20. कर्मठता।
21. वास्तविकता से यथेष्ठ सम्पर्क।

3. सामाजिक स्वास्थ्य

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के कारण सामाजिक दशायें उस पर प्रभाव डालती हैं, तथा सामाजिक दशाओं को यह स्वयं प्रभावित करता है।[7] वह सामाजिक सम्बन्धों के माध्यम से अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। तथा इसी के आधार पर अपनी जीविकोपार्जन भी करता है। अतः सामाजिक स्थिति का व्यक्ति के जीवन में विशेष महत्त्व है। सामाजिक स्वास्थ्य वह दशा है, जो व्यक्ति की सामाजिक पर्यावरण से समायोजन की स्थिति तथा सम्बन्धों को स्पष्ट करती है। सामाजिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति की निम्नलिखित विशेषतायें हैं :-

1. भूमिकाओं का सही निष्पादन।
2. दूसरों का मान-सम्मान।
3. परिस्थितियों से उचित समायोजन।
4. पारिवारिक समायोजन।
5. सामुदायिक समायोजन।
6. उत्तरदायित्वों की पूर्ति।
7. नेतृत्व की भावना।

---

7. Social health is that condition which denotes the level of adjustment of man with his social environment and with its relationships.

8. प्रभावकारी जीवन।
9. कल्याण की भावना।
10. सद्भावना, प्रेम, सहानुभूति, त्याग आदि।

4. आध्यात्मिक स्वास्थ्य

मानव शरीर में आत्मा निवास करती है। आत्मा ईश्वर का अंश है। श्रुति का वचन है, "सर्व खल्विदं ब्रह्म" अर्थात यह सतविशद ब्रह्माण्ड ब्रह्मा ही है। अतः व्यक्ति जब तक ईश्वर का अंश अपने को मानता है तभी तक वह ईश्वर अर्थात प्रकृति के बनाये नियमों का पालन करता है और तभी तक पूर्ण स्वस्थ रहता है। अतः आध्यात्मिक स्वास्थ्य वह अवस्था है जो व्यक्ति की ईश्वरीय सत्ता से सम्बन्ध स्पष्ट करते हुये जन कल्याण की ओर अग्रसित होने की स्थिति स्पष्ट करता है।

आध्यात्मिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति की विशेषतायें

आध्यात्मिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति की विशेषतायें निम्न हैं :

1. असीम सत्ता, प्रकृति व ईश्वर में विश्वास।
2. कार्य ही पूजा है, में विश्वास अर्थात् एकाग्रचित्त होकर अपने कार्यों व निर्वाह।
3. सभी जीवों पर दया।
4. दूसरे के लिए जीने की लालसा अर्थात् जनहित कल्याण की भावना।
5. ईश्वर से भय।
6. सत्य तथा अहिंसा में विश्वास।
7. अस्तेय का पालन।
8. इन्द्रियों पर नियंत्रण।
9. शरीर तथा मन की शुद्धता।
10. सन्तोष।

V. स्वास्थ्य का क्षेत्र

स्वास्थ्य के अन्तर्गत निम्नलिखित क्षेत्रों का समावेश होता है–

1. स्वास्थ्यवर्धन।
2. रोग का निरोध।
3. रोगोपचार
4. पुनर्स्थापन।

1. स्वास्थ्यवर्धन

स्वास्थ्यवर्धन से सम्बन्धित निम्नलिखित सेवायें आवश्यक होती है–

1. पोषण।
2. नैतिक शिक्षा।
3. स्वास्थ्य तथा चिकित्सकीय शिक्षा।
4. स्वास्थ्य अर्थशास्त्र।
5. जनसंख्या नियंत्रण।
6. स्वास्थ्य देख-रेख।
7. सामाजिक औषधि।
8. एकीकृत अनुसंधान।

2. निम्नलिखित सेवायें निरोधात्मक है--

1. व्यक्तिगत स्वास्थ्य।
2. पर्यावरण स्वच्छता।
3. संतुलित आहार।
4. सामाजिक औषधि।
5. मानसिक स्वास्थ्य।
6. योगाभ्यास।
7. प्राकृतिक चिकित्सा।
8. टीकाकरण।

3. उपचार के तीन स्तर है–

1. प्राथमिक उपचार।
2. द्वितीय उपचार।
3. गम्भीर रोगों का उपचार।

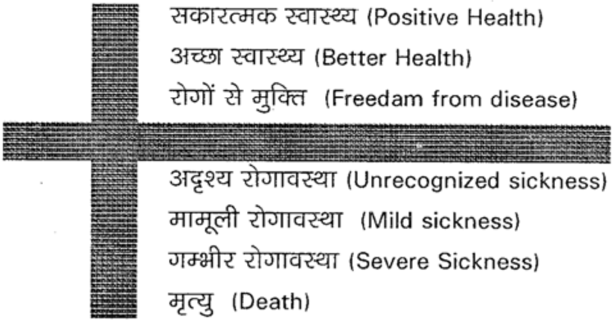
4. पुनर्स्थापन के निम्नलिखित क्षेत्र है–

1. चिकित्सकीय।
2. मनोवैज्ञानिक।
3. व्यावसायिक।
4. सामाजिक।

VI. स्वास्थ्य की स्थिति–

स्वास्थ्य स्थायी न होकर गत्यात्मक अर्थात् सदैव उतार-चढ़ाव की दशा में रहता है। आज जो अधिकांश है, वह कल न्यूनतम हो सकता है। स्वास्थ्य शरीर की सापेक्ष संतुलन की स्थिति है, जो समायोजन के रूप में घटित होती है। इस प्रकार स्वास्थ्य के कई स्तर है–

1. सकारात्मक स्वास्थ्य।
2. तुलनात्मक अच्छा स्वास्थ्य।
3. रोगों से मुक्ति।
4. सुप्तावस्था में रोग।
5. मामूली रोगावास्था।
6. गम्भीर रोगावस्था।
7. मृत्यु।



विश्व स्वास्थ्य संगठन का कहना है कि सकारात्मक स्वास्थ्य तभी व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जब उसे उत्पत्ति विषयक दाय (genetic heritage) की क्षमता को जहाँ तक सम्भव हो, प्रकट करने का अवसर प्राप्त हो। यह तभी सम्भव है जब उसे अपने पर्यावरण के साथ स्वास्थ्यवर्धक सम्बन्ध स्थापित करने का अवसर दिया जाय। इसके लिए गर्भ से लेकर मृत्यु तक (womb to tomb) सामाजिक सेवाओं का होना आवश्यक होता है। ये सामाजिक सेवायें है–

1. मातृत्व एवं शिशु स्वास्थ्य सेवायें।
2. बाल निर्देशन गृह।
3. स्कूल स्वास्थ्य सेवायें।
4. औद्योगिक निर्देशन।
5. व्यावसायिक स्वास्थ्य सेवायें।
6. स्वास्थ्य के द्वारा विस्तृत चिकित्सकीय देख-रेख।
7. पुनर्स्थापन सेवायें।
8. भौतिक चिकित्सा।
9. स्वास्थ्य शिक्षा।

10. योगशिक्षा।
11. पर्याप्त भोजन आपूर्ति।
12. रोग फैलाने वाले कीड़ों-मकोड़ों पर नियंत्रण।
13. जल सुरक्षा।
14. मलमूत्र का उचित निष्कासन।
15. मनोरंजनात्मक सेवायें।
16. रोजगार के समुचित अवसर।
17. वृद्धावस्था पेंशन।
18. रोग तथा अपंगुता का लाभ।
19. वैवाहिक मंत्रणा।
20. परिवार सीमित करने की सलाह।

VII स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारक

निम्नलिखित कारक स्वास्थ्य को प्रभावित करते है–

1. वंशानुक्रम।
2. पर्यावरण।
3. संस्कृति अथवा रहन-सहन के तरीके।
4. आहार।
5. आर्थिक स्तर।
6. मनोवैज्ञानिक दशायें।
7. स्वास्थ्य सेवायें।

1. वंशानुक्रम

वंशानुक्रम का तात्पर्य उन गुणों से है, जिन्हें बालक अपने माता-पिता रं जन्म से प्राप्त करता है। हर जीवन की उत्पत्ति कोश (Cell) से प्रारम्भ होती है मानव की उत्पत्ति जाइगोटे कोश (Zygote cell) से होती है। जिसमें 48 पित्रसूत्र (Chromosome) होते हैं। इनमें अनेक पित्रैक (Genes) होते हैं। पित्रैक द्वारा ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को पैतृक विशेषतायें हस्तांतरित होती हैं। यह हस्तांतरण लैंगिक समागम द्वारा सम्भव होता है। इस स्थिति में पुरुष के शुक्र कोश(Sperm Cell) महिला के अण्ड कोश(ovum Cell)में प्रवेश करते हैं। उसी समय गर्भाधान सम्भव होता है। जिसे भ्रूण (Embryo) कहते हैं। भ्रूण में शुक्र तथा अण्डे द्वारा माता-पिता की विशेषतायें आती हैं।

2. वंशगति क्रियाविधि

मेण्डल के समय कोश की रचना का पूर्ण ज्ञान न था, जिससे आनुवंशाकिता की अनेक क्रियाओं को समझना असम्भव हो रहा है। मेण्डल अपने प्रयोग में बस इतना ही कह सके कि अनुवांशिकी लक्षण जैमिट्स द्वारा पूर्वजों से सन्तान में हस्तांतरित होते हैं। परन्तु यह कैसे होता है अथवा कोश मे क्या परिवर्तन अथवा रासायनिक क्रियायें होती हैं, इसको न बता सके। मेंडल की मृत्यु के पश्चात टामस हण्ट मार्गनकी महत्त्वपूर्ण खोज आज भी जीनवाद के नाम से प्रसिद्ध है। पित्रैक (Genes) आनुवांशिक लक्षणों को माता-पिता से सन्तान मे ले जाते हैं, और इन पित्रैकों की रचना एक विशेष प्रकार के रासायनिक पदार्थ से होती है जिसे डी0एन0 ए0 कहते हैं। अतः डी0एन0 ए0 के द्वारा माता-पिता की शारीरिक तथा मानसिक विशेषतायें बालक को प्राप्त होती हैं।

वंशानुक्रम का निम्नलिखित प्रभाव पड़ता है–

1. शरीर के आकार पर प्रभाव

लम्बाई, भार, मोटाई, गठन, पर माता-पिता का प्रभाव पड़ता है।

2. रंग पर प्रभाव

त्वचा का रंग, बालों का रंग आँखों की पलकों का रंग आदि वंशानुक्रम से प्रभावित होती है।

3. बनावट पर प्रभाव

शरीर की बनावट, मुंह की बनावट, आँखों की बनावट, सर की बनावट, आदि पर वंशानुक्रम का प्रभाव पड़ता है।

4. असामान्यता पर प्रभाव

शारीरिक दोष, मानसिक दोष, तथा रतौंधी, मनोविदलता, कुष्ठ, आदि पर वंशानुक्रम का प्रभाव होता है।

5. बुद्धि पर प्रभाव

बालक की बुद्धि; वंशानुक्रम से प्रभावित होती है।

6. संवेगों पर प्रभाव

क्रोध, चिंता, भय, प्रेम, सहानुभूति कुछ सीमा तक वंशानुक्रम से प्रभावित होते हैं।

7. बल पर प्रभाव

शारीरिक बल एवं मानसिक बल एवं आत्मबल पर वंशानुक्रम का प्रभाव होता है।

8. लैंगिक जीवन पर प्रभाव

लिंग की लम्बाई तथा लैंगिक क्षमता भी वंशानुक्रम से प्रभावित होती है।

9. रुधिर के समूह पर प्रभाव

जो रक्त का समूह माता-पिता का होता है वही बालक का भी होता है।

10. प्रजनन क्षमता पर प्रभाव

कामेच्छा, सन्तानोत्पत्ति की शक्ति तथा संभोग का समय, यह विशेषतायें भी वंशानुक्रम से प्रभावित होती हैं।

11. रोगों के प्रति संवेदनशीलता पर प्रभाव

शरीर की जीवनी शक्ति तथा रोग प्रतिरोधक क्षमता पर वंशानुक्रम का प्रभाव पड़ता है।

2. पर्यावरण

पर्यावरण दो शब्दों से मिलकर बना है परि+आवरण। परि का अर्थ है चारों ओर तथा आवरण का अर्थ है ढके हुए। अर्थात् प्राणी को छोड़कर जो कुछ उसके चारों ओर है वह उसके पर्यावरण में सम्मिलित किया जाता है। उदाहरण के लिए गर्भावस्था में गर्भ ही बालक के लिए पर्यावरण होता है। जन्म लेने पर परिवार तथा भौतिक दशायें पर्यावरण में आती हैं। जब वह बाहर जाने लगता है, तो उसके पर्यावरण में पड़ोस, खेल-समूह तथा अन्य परिस्थितियाँ सम्मिलित हो जाती है। इसके बाद विद्यालय तथा अन्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशाओं का प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि- "पर्यावरण उस सभी को कहते है, जो किसी एक को चारों ओर से घेरे हैं तथा इस पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालता है।[8] क्रिया के क्षेत्र को पर्यावरण कहते हैं [2] लेकिन पर्यावरण में केवल वाह्य दशायें ही नहीं सम्भावित होती हैं, जिनका व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है, उसकी आन्तरिक दशायें भी सम्भावित होती है, जिनका व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है

इस प्रकार पर्यावरण में दो दशायें होती हैं :

(अ) वाह्य पर्यावरण।

(ब) आन्तरिक पर्यावरण।

वाह्य पर्यावरण के अन्तर्गत भौतिक, जैविकीय तथा सामाजिक दशायें आती हैं। आन्तरिक पर्यावरण के अन्तर्गत जीवन अन्तराल, आवश्यकतायें, उद्देश्य एवं लक्ष्य, तथा विगत अनुभव सम्मिलित होता है।

---

8. Environment is anything immediately surrounding an object and exerting a direct influence on him.

   Gisbert. P : Fundamental of sociology, orient Longmans, Bombay, 1969, P.233

वाह्य दशायें = भौतिक, जैवकीय, सामाजिक।

भौतिक दशायें

भौतिक दशाओं के अन्तर्गत जल, वायु, प्रकांश, मौसम, जलवायु, मिट्टी की बनावट, आद्रता, आवास आदि सम्मिलित हैं।

जैविकीय दशायें

जैविकीय दशाओं में पेड़ पोधों, वनस्पति, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, पोषण आदि सम्मिलित होते हैं।

सामाजिक दशायें

जनसंख्या, मानव जीवन, संगठन, व्यवसाय, धर्म, शिक्षा, संस्कति, आर्थिक संस्थायें, समूह, नगरीकरण, औद्यौगिकीकरण, प्रतिस्पर्धा, ये सभी सामाजिक दशायें हैं।

सामाजिक प्रत्यक्षीकरण, सामाजिक मूल्य, मूल्यों के महत्त्व की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

इसी प्रकार आवश्यकताओं- जीवन रक्षा सम्बन्धी, सुरक्षा, प्रेम, आदि का महत्तवपूर्ण योगदान होता है। व्यक्ति के जीवन लक्ष्य तथा विगत अनुभव महत्त्ववपूर्ण है।

पर्यावरण का स्वास्थ्य पर प्रभाव

गाल्टन के अध्ययन के साथ ही साथ इस पर विवाद उत्पन्न हो गया कि वंशानुक्रम तथा पर्यावरण, दोनों में कौन अधिक महत्तवपूर्ण है।

अनासटासी का कहना है कि यह प्रश्न कि वंशानुक्रम तथा पर्यावरण दोनों में कौन कारक मानव पर अधिक प्रभाव डालता है, अनौचित्य एवं अतर्कसंगत है, क्योंकि बिना वंशानुक्रम के मानव का जन्म हो नहीं सकता तथा बिना उपयुक्त वातावरण के मानव का विकास ही नहीं हो सकता, वह जीवित नहीं रह सकता है। अतः दोनों का अपना-अपना महत्त्व है।

1. पर्यावरण से शरीर की वृद्धि पर प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार की आर्थिक दशा होती है, उसी प्रकार का भोजन मिलता है। और भोजन से शरीर की वृद्धि होती है।
2. पर्यावरण विजातीय पदार्थो को उत्पन्न करने में सहायता करता है। बालक को यदि सामान्य भोजन तथा पोषण नहीं मिलता है, तो प्रारम्भ से ही उसका शरीर विजातीय तत्त्वों से भरने लगता है।
3. पर्यावरण से शरीर की बनावट भी प्रभावित होती है। भौतिक तथा जैवकीय पर्यावरण इस दिशा में महत्तवपूर्ण कार्य करते हैं।

4. स्वास्थ्य का प्रत्यय पर्यावरण से निर्धारित होता है। सामाजिक पर्यावरण संस्कृति के अनुसार स्वस्थ की दशाओं का स्पष्टीकरण होता है।
5. सामाजिक पर्यावरण से जीवन शैली प्रभावित होती है।
6. सामाजिक पर्यावरण से स्वास्थ्य सम्बन्धी अंधविश्वास पनपते हैं।
7. पर्यावरण भोजन की किस्म तथा रुचि निर्धारित करता है।
8. सामाजिक पर्यावरण का संवेगों पर प्रभाव पड़ता है।
9. स्वास्थ्य सम्बन्धी ज्ञान का स्तर सामाजिक पर्यावरण पर निर्भर होता है।
10. शारीरिक बल पर प्रभाव पड़ता है।
11. मानसिक विशेषतायें तथा मानसिक गुणों पर पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है।
12. रोगों के प्रति संवेदनशीलता भी पर्याविण से प्रभावित होती है।
13. उपचार हेतु तत्परता तथा चिकित्सा प्रणाली के चुनाव पर सामाजिक पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है।
14. वैयक्तिक स्वच्छ्ता का स्तर सामाजिक पर्यावरण से निधारित होता है।

3. संस्कृति

शाब्दिक रूप से ''संस्कृति'' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत शब्द से हुई है जिसका अर्थ होता है परिष्कृत (refined)। कुछ विद्वानों का मानना है कि संस्कृति शब्द संस्कार से बना है। संस्कार का अर्थ है. ''शुद्धि की क्रिया''। जिन क्रियाओं से शरीर तथा मन की शुद्धि होती है, उसे संस्कृति कह सकते हैं। टायलर के अनुसार ''संस्कृति वह जटिल सम्पूर्णता है, जिसमें ज्ञान,विश्वास, कला, आधार, कानून, प्रथा तथा इसी प्रकार की ऐसी सभी क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है, जिन्हें मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।[9] पारसन्स के विचार हैं कि संस्कृति वह पर्यावरण है, जो मानव क्रियाओं का निर्माण करने में आधारभूत है।[10] रावर्ट वीर स्टीड का मत है, कि संस्कृति एक जटिल सम्पूर्णता है, जिसमें वे सभी विशेषतायें सम्मिलित हैं, जिन पर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं, और समाज के सदस्य होने के नाते उन्हें अपने पास रखते हैं।[11]

9- Culture is that Complex whole which includes knowledge, beliefs, arts, morals, laws, customs, and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society.
Tylor, E.B. Primitive culture, Newyork, 1874, P.1

10- Culture is that environment which is fundamental in the formation of human actions.
Parsons, Talcott, The Social System, 1951.

11. **Culture is the complex whole that consists of everything we think and do and have as member of society.**
Robert, Bierstedt, The Social order, P.123

संस्कृति में विश्वास, धारणायें, रीतिरिवाज, प्रथायें, जनरीतियों, धर्म, व्यवहार के तरीके, जीवनशैली आदि सम्मिलित हैं।

आज चिकित्सा शास्त्री भी विश्वास करने लगे हैं कि साँस्कृतिक विशेषताओं का स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है।

1. व्यवहारिक तरीके रोग की उत्पत्ति में बाधक तथा सहायक दोनों होते हैं।
2. जीवनशैली का प्रभाव स्वास्थ्य पर पड़ता है। त्रुठिपूर्ण जीवन शैली के कारण ही रोग की उत्पत्ति होती है।
3. प्रथायें, जनरीतियाँ, विंश्वास, स्वास्थ्य पर प्रतिकूल तथा अनूकूल दोनों प्रकार का प्रभाव डालते हैं।
4. कुछ रोग एक विशेष प्रकार के वर्ग तथा धर्म के लोगों में होते हैं।
5. बहुत से रोग धूम्रपान, मदिरासेवन तथा दृश्य व्यसन के परिणाम हैं।
6. स्वास्थ्य सेवाओं का उपयोग संस्कृति पर निर्भर होता है।

4. आहार

यदि हम यह कहें कि स्वास्थ्य का आधार आहार या भोजन है, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। हमारा जीवन भोजन पर ही निर्भर है।

जब तक उचित आवश्यक तथा उपयोगी या प्राकृतिक भोजन करते रहते हैं, तब तक स्वस्थ रहते हैं। लेकिन जब अज्ञानता या असावधानीवश शरीर को आवश्यकतानुसार भोजन नहीं दे पाते हैं तो हम रोगी हो जाते हैं। भोजन में 9 तत्त्वों-प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, फैट (वसा) रफेज, जल, खनिज, लवण तथा विटामिन्स, का समावेश होता है। जब इनमें से एक या कई तत्त्वों का अपने मे अभाव या कमी होने लगती है, तो शरीर रोगावस्था की ओर बढ़ता है। हमारे शरीर के लिए प्रोटीन ईंधन की तरह जलकर ताप और शक्ति पैदा करता है तथा कोषों के नवनिर्माण में सहायक है। प्रोटीनयुक्त खाद्य वस्तुओं के दो श्रोत हैं –जन्तु तथा वनस्पति। जान्तविक प्रोटीन मांस-मछली, अंडा, पनीर, तथा दूध से मिलती है। वनस्पति प्रोटीन सेम, राजमा, सोयाबीन, तथा दालों से प्राप्त होती है। प्रोटीन की कमी से शरीर दुबला हो जाता है। शरीर की शक्ति क्षीण हो जाती है। बुद्धि रूक जाती है। शरीर में यदि घाव है, तो देर में भरता है। प्रोटीन की अधिकता से यकृत और गुर्दे कमजोर हो जाते है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए 45-65 ग्राम प्रोटीन की आवश्यकता प्रतिदिन होती है।

कार्बोहाइड्रेट शरीर को ताप एवं शक्ति देता है, तथा शरीर में चर्बी का निर्माण करता है। यह शरीर में गर्मी पैदा करता है, जिससे कार्य करने की शक्ति आती है। चीनी, गुड़, दूध, मधु, मिश्री आदि मीठी चीजें शर्करा प्रधान कार्बोहाइड्रेट होती हैं। इन पदार्थो को अधिक खाने से जल्दी मोटे हो जाते हैं। गेहूँ, बाजरा, जौ, ज्वार, तथा चावलों से भी कार्बोहाइड्रेट प्राप्त होती है। आलू, चुकन्दर, शकरकन्द, नारियल,

केला, संतरा, अंगूर, अमरूद, आम, खरबूजा, छुहारा,. मुनक्का, किशमिश तथा दूध से भी कार्बोहाइड्रेट मिलता है। कार्बोहाइड्रेट के अधिक होने से रक्त में क्षारत्व कम हो जाता है। जिससे शरीर में-अनेक रोग पैदा हो सकते हैं। एक साधारण आदमी के लिए प्रतिदिन 400 ग्राम कार्बोहाइड्रेट वाले खाद्य पदार्थो की आवश्यकता होती है।

वसा (Fats) वाले पदार्थ से भी शरीर को ऊर्जा तथा ताप प्राप्त होती है। भोजन में बसा तथा कार्बोज दोनों के पदार्थ रहने को शरीर से अधिक ऊर्जा तथा ताप प्राप्त होती है। जब शरीर को श्रम करना होता है तो कार्बोनिक एसिड गैस बनती है, जो वसा वाले पदार्थों को अधिक शक्ति उत्पन्न करने में सहायक होती है। वसा की कमी से शरीर निर्बल, क्षीण तथा बेडौल हो जाता है। इसकी अधिकता से शरीर मोटा, भद्दा तथा बेडौल हो जाता है।

एक व्यक्ति को 40-60 ग्राम वसा प्रतिदिन लेना चाहिए। रफेज शाक सब्जी तथा अन्नों के छिलकों में होता है। शरीर से मल निकालने मे इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। चोकर की रोटी-खाने से कोष्ठबद्धता समाप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति को हरी सब्जी पत्तेदार अवश्य खानी चाहिये। इससे पेट साफ रहता है।

शरीर में 90 प्रतिशत जल होता है, भोजन की पचने तथा अभिशोषित करने में जल की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जल द्वारा ही शरीर से दूषित पदार्थ बाहर निकल जाते हैं। जल की कमी से नाना प्रकार के रोग हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को पाँच-छः लीटर जल अवश्य पीना चाहिये।

विटामिन्स वनस्पतियों में पाये जाते हैं। शाकाहारी भोजन में शुद्ध रूप में पाये जाते हैं। विटामिन "ए" दूध मक्खन तथा अण्डे में अधिक होता है। यह शरीर वृद्धि में सहायक तथा रोगों से रक्षा करता है। इसकी कमी से दृष्टि घट जाती है तथा नेत्र शोध हो जाता है।

विटामिन "बी" टमाटर, पत्तेदार सब्जी, अनाज, दाल, दूध, मूंगफली आदि में पाया जाता है। इसकी कमी से शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती हैं। विटामिन "सी" फलों तथा हरी सब्जियों में पाया जाता है। आँवला विटामिन "सी"का प्रमुख श्रोत है इसकी कमी से स्कर्वी रोग हो जाता है। मसूड़े कमजोर हो जाते हैं, उनमें खून निकलने लगता है। विटामिन "डी" मछली के तेल में तथा सूर्य के प्रकाश में पाया जाता है। विटामिन "डी" शरीर में कैल्शियम तथा फास्फोरस का संतुलन बनाये रखता है। दूध, दही, लस्सी, पनीर में कैल्शियम होता है। अनाजों तथा सब्जियों में फास्फोरस होता है। विटामिन "डी" की कमी से अस्थियाँ मुलायम हो जाती हैं तथा सूखा रोग हो जाता है।

शरीर को खनिज लवण भी आवश्यक हैं। हमारे शरीर के लिए आवश्यक लवण खाद्य पदार्थो से मिलते हैं। ये खनिज लवण बिना पकाये भोजनों जैसे कच्ची साग-सब्जियों, फलों आदि में अधिक पाया जाता है। हमारे शरीर की त्वचा रक्त

तथा अस्थियाँ सभी लवण से भरी हैं। रक्त में ही सोडियम, पोटेशियम, क्लोराइड तथा फास्फोरस चार प्रकार के लवण पाये जाते हैं। शरीर के कोषों का निर्माण इन्हीं लवणों से होता है।

अतः इनका उपयोग होना आवश्यक होता है।

5- आर्थिक स्तर

आर्थिक स्थिति तथा स्वास्थ्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, यदि आर्थिक स्तर ऊँचा होता है, व्यक्ति धनधान्य से परिपूर्ण होता है, तो वह आवश्यक भोजन के तत्त्वों को ग्रहण करने में सक्षम होता है। जब वह स्वस्थ होता है तो अधिक कार्य कर सकता है और जब अधिक कार्य कर सकता है, तो सुखी और प्रसन्न रहता है। लेकिन इसका तात्पर्य विल्कुल यह नहीं हो सकता है, कि धनी व्यक्ति रोगी नहीं होते। आजकल धनवान व्यक्ति ही अधिक रोगग्रस्त रहते हैं। लेकिन यदि पर्याप्त भोजन न मिले, तो शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती है और इससे शारीरिक मानसिक विकास भी कम होता है।

6. मनोवैज्ञानिक दशायें

मन तथा शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए आज चिकित्सा जगत में मनोवैज्ञानिक शारीरिक औषधि (Psycho-somatic Medicine) की चर्चा अधिक हो रही है। मानसिक तनाव, क्रोध, झुँझलाहट, ईर्ष्या, कलुषित विचार सभी अप्रत्यक्ष रूप से शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं।

7. स्वास्थ्य सेवायें

समुदाय में उपलब्ध स्वास्थ्य सेवाओं की रोगों की रोकथाम तथा उपचार में महत्तवपूर्ण भूमिका है। यदि वे प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं, तो रोग अधिक गम्भीर नहीं हो पाते हैं। उनका नियंत्रण शीघ्रता से हो जाता है। लेकिन उन स्वास्थ्य सेवाओं का उपयोग जनसामान्य की सांस्कृतिक विशेषताओं व शिक्षा पर निर्भर होता है।

VIII. स्वस्थ व्यक्ति के लक्षण

स्वस्थ व्यक्ति के सामान्यतः निम्न लक्षण होते हैं–

1. सामान्य भूख लगती है।
2. सामान्य पाचन क्रिया होती है।
3. भोजन के पश्चात भारीपन की जगह ऊर्जा प्राप्त होती है।
4. अप्राकृतिक पेय पदार्थ पीने की इच्छा नहीं होती है।
5. प्यास लगने पर केवल जल की इच्छा होती है।
6. मूत्र त्याग सामान्य रूप से होता है।
7. चेहरे का रंग लाल-लाल होता है।

8. मल न पतला होता है और न कठोर होता है।
9. त्वचा से दुर्गन्ध नहीं आती है।
10. त्वचा मुलायम होती है।
11. फेफड़े सामान्य रूप से काम करते हैं।
12. सामान्य श्वास प्रश्वास प्रक्रिया होती है तथा यह प्रक्रिया नासिका छिद्रों से होती है।
13. सदैव स्फूर्ति बनी रहती है, तथा वह आशावान रहता है।
14. जवानी पर व्यक्ति प्रसन्न, सन्तुष्ट तथा उत्साही दिखता है।
15. शरीर की दशा सामान्य होती है।
16. उदर न ता आगे की ओर निकला होता है। और न ही तोंदुल होता है।
17. पाँव सामान्य होते हैं।
18. शरीर की संधियों एवं पूर्ण शरीर की सामान्य गति सदैव चला करती है।
19. विचार सकारात्मक होते हैं।
20. मन में शान्ति तथा सन्तोष होता है।

IX. अस्वस्थता के संकेत

1. हृदय में भारीपन, दबाव का अनुभव, वक्षस्थल को कष्ट या उसके आसपास के हिस्से में कष्ट का अनुभव।
2. काम करने पर अधिक कष्ट का अनुभव।
3. थोड़ी सी ऊँचाई पर चढ़ने पर श्वास की गति तेज तथा दम फूलना।
4. व्यायाम करने में हृदय क्षेत्र में कष्ट।
5. हृदय की गति प्रायः तेज हो जाना है।
6. कमजोरी, शरीर को ऊपरी हिस्से अथवा नीचे के हिस्से मे गर्मी की कमी। कभी-कभी एकाएक शरीर का ठंडा हो जाना।
7. लगातार सिर दर्द, दवा लेने पर भी कोई विशेष लाभ नहीं।
8. एकाएक आँखों के सामने अँधेरा छा जाना अथवा सुनायी कम पड़ना।
9. कभी-कभी चक्कर आ जाना, अथवा जब किसी एक ओर सिर को घूमने पर चक्कर महसूस होना।
10. वाणी में विकार उत्पन्न हो जाना।
11. लगातार दो-तीन सप्ताह से कफ निकलना।
12. कफ के साथ-साथ रक्त के कण आ जाना।
13. गला रुंधारुंधा सा रहना।
14. भूख की कमी होना।

15. खाने की रुचि कम हो जाना।
16. निगलते समय गले में कष्ट अनुभव होना।
17. कभी-कभी आधी रात के समय उदर के ऊपर के हिस्से में दर्द हो जाना।
18. भोजन करने के बाद ऊपर के हिस्से में उठा दर्द समाप्त हो जाना।
19. मल त्याग के पहले अथवा बाद में कमजोरी अनुभव करना तथा कभी-कभी खड़े होने पर चक्कर आ जाना।
20. कभी-कब्ज तथा कभी अतिसार होना।
21. कभी-कभी मल के साथ रक्त आ जाना।
22 उदर के दायीं ओर पीड़ा होना तथा भारीपन रहना।
23. मूत्र त्याग में जलन होना।
24. बार-बार मूत्र त्याग करने जाना।
25. शरीर का भार एकाएक कम या अधिक हो जाना।
26. बार-बार सर्दी, जुकाम हो जाना।
27. शरीर के किसी अंग अथवा संधि में दर्द होना।
28. कभी-कभी सिर में भयंकर पीड़ा होना।
29. कमर दर्द, पीठ में दर्द अथवा पाँव में दर्द होना।
30. किसी कार्य में मन न लगना, सुस्ती रहना, थकान अनुभव होना।

X . रोग का स्वयं निदान की प्रश्नावली सूची

1. क्या शरीर का तापक्रम 98.6^0 फारेनहाइट से अधिक रहता है, हाँ/नहीं। यदि हाँ, तो आपको ज्वर रहता है।
2. क्या कभी-कभी एकाएक थकान लगने लगती है, या सीने में पीड़ा, बेचैनी लगती है ? हाँ/ नहीं। यदि हाँ तो ये लक्षण हृदय से सम्बन्धित रोग के हैं।
3. क्या आपको पेट में मक्खियों के भनभनाने जैसी आवाज का अनुभव होता है। हाँ/ नहीं। यदि हाँ तो आपको चिन्ता है। जिससे आगे अनेक रोग हो सकते हैं।
4. क्या कभी-कभी ऐसा लगता है कि आपका शरीर शिथिल हो गया है ? हाँ/ नहीं। तो क्या आप बिना पर्याप्त विश्राम के लगातार कई सप्ताह से कठिन कार्य कर रहे हैं ? यदि हाँ तो आप अधिक थक चुके हैं। विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि नहीं तो आपकी शिथिलता का मनोवैज्ञानिक कारण है। मनोस्नायु विकृति के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।
5. क्या आपको सोने, ध्यान केन्द्रित करने, निर्णय लेने में कठिनाई होती है तथा लगातार सिर दर्द बना रहता है, साथ ही साथ ग्लानि सी अनुभव होती

है। यदि हाँ तो ये लक्षण अवसाद के हैं।

6. क्या आप इस समय कोई औषधि ले रहे हैं ? यदि हाँ तो अधिक दवायें आपको अस्वस्थ बना सकती हैं ? प्राकृतिक चिकित्सक से अवश्य मिलिये।
7. क्या आपका पेट ठीक रहता है? कब्ज तो नहीं होती अथवा क्या यदाकदा अतिसार हो जाता है ? यदि हाँ, तो क्या आपका मल सामान्य से अधिक पीलापन लिये हुये होता है, तथा क्या मल निष्कासन में कठिनाई होती है ? यदि ऐसा है, तो ये लक्षण अपच के हैं।
8. क्या आपको अपच रहती है तथा मल के साथ रक्त निकला है ? यदि हाँ, तो आपकी छोटी आँत में सूजन है। प्राकृतिक चिकित्सक से तुरन्त सलाह लें।
9. क्या पाको प्रायः उदर से ऊपरी हिस्से में पीड़ा होती रहती है ? यदि हाँ तो आपको पेट का कैंसर हो सकता है। चिकित्सक की तुरन्त सलाह लें।
10. क्या आपको निम्नलिखित में से दो या दो से अधिक लक्षण है
    1. रात्रि में अधिक पसीना आना।
    2. प्रायः शरीर का तापक्रम बढ़ जाता है।
    3. रोग की स्थिति सी लगती है।
    4. सर्दी, जुकाम, क्या रहता है तथा क्या कफ आता रहता है।
    5. थूक के साथ खून आता है।

    यदि ऐसा है तो क्षय रोग के लक्षण है। प्राकृतिक चिकित्सक से तुरन्त सलाह लें।
11. क्या आपको बिना किसी कारण के रात में सोने में कठिनाई होती है तथा दिन में तनाव रहता है? यदि हाँ तो आप चिन्ता मनोस्नायु रोग से ग्रसित हैं।
12. क्या आप रात में जग जाते हैं तथा दुबारा नींद आने में काफी समय लगता है? यदि हाँ, तो आपको मानसिक अवसाद है। प्राकृतिक चिकित्सक की सलाह लें।
13. यदि रात में चाय तथा काफी पीने से नींद नहीं आती हैं, तो चाय तथा काफी पीना बंद कीजिये, अन्यथा अन्य भयंकर रोग हो सकते हैं।
14. क्या कुछ दिनों से श्वास प्रश्वास में कठिनाई हो रही है तथा सीने में दर्द होता है और यदि दर्द ऊपर की ओर बढ़ जाता है, तो यदि हाँ तो हार्ट अटैक हो सकता है। तुरन्त चिकित्सक से मिलें।
15. क्या आपके पेट में असहनीय पीड़ा होती है? क्या वमन करने से भी पीड़ा कम नहीं होती है ? यदि हाँ तो आपको कोई, उदरीय भयंकर रोग हो सकता है। जैस एपेन्डीसाइटिस।

16. क्या आपको उदरीय क्षेत्र में प्रायः पीड़ा होती है ? यदि पीड़ा उदर के ऊपरी भाग के मध्य में होती है तथा वमन से पीड़ा कम हो जाती है। यदि हाँ तो आपको पेप्टिक अल्सर हो सकता है।
17. क्या आपको कभी-कभी उदर में बहुत पीड़ा तथा उदर के दाहिने हिस्से के ऊपरी भाग में पीड़ा होती है। यदि हाँ तो आपको पथरी की शिकायत हो सकती है।
18. क्या वमन के साथ-साथ पेट में दर्द भी होता है, पेट में सूजन है तथा पेट है, ये लक्षण आन्तदोष के हैं।
19. क्या उदरीय कष्ट पीठ की ओर से शुरू होता है तथा घूमता रहता है, तथा ज्वर भी रहता है। यदि हाँ, तो वृक्क संक्रमण हो सकता है।
20. क्या उदरीय पीड़ा दाहिनी ओर पसलियों के नीचे से ऊपर की ओर बढ़ती जाती है? यदि हाँ तो गाल ब्लैडर की विकृति हो सकती है।
21. क्या उदर के ऊपरी भाग में प्रायः पीड़ा होती है, तथा पीड़ा एन्टासिट औषधि लेने से दूर हो जाती है? यदि हाँ तो पेट मे सूजन हो सकती है।
22. क्या आपको सदैव कब्ज रहता है तथा काफी समय से विरेचक (Laxatives) ले रहे हैं? यदि हाँ, तो ये विरेचक गुदा को निष्क्रिय कर देंगे। तुरन्त प्राकृतिक चिकित्सक से परार्मश लें।
23. क्या मूत्र अधिक निकल रहा है, रात में भी पेशाब के लिए उठना पड़ता है। प्यास अधिक लगती है, वजन कम हो रहा है, थकान अधिक लगती है? यदि हाँ, तो मधुमेह की शिकायत हो सकती है।

XI. स्वस्थ जीवन के मूलभूत नियम

स्वास्थ्य ही जीवन है। यदि स्वास्थ्य अच्छा है, तो व्यक्ति सुखी और सम्पन्न दिखायी देता है, निर्धनता के अभाव में भी वह उत्साही कार्यनिष्ठ तथा आत्मशक्ति से भरपूर होता है। यहाँ पर हम कुछ मूलभूत नियमों की चर्चा कर रहे हैं, जिनका पालन करने से स्वास्थ्य सदैव उत्तम बना रहता है, रोग पनपते नहीं है तथा दीर्घायु होती है।

1. उचित भोजन

आहार स्वस्थ रहने का महत्त्वपूर्ण आधार है। यह कहा जाता है कि जैसे भोजन वैसा मन, यह कथन सत्य है ? क्योंकि भोजन की किस्म व्यक्ति की शारीरिक तथा मानसिक स्थिति को प्रभावित करती है। यदि वह भोजन के मूलभूत नियमों से पूर्णतया अवगत नहीं है, तो वह भोजन शरीर तथा मन दोनों के लिए अहितकारी हो सकता है। निम्नलिखित 4 तत्त्वों का समावेश प्रतिदिन भोजन में होना चाहिये।

1. प्रत्येक दिन भोजन के साथ सलाद लेना चाहिए। सलाद के लिए ककड़ी, टमाटर, मूली, पत्तागोभी, खीरा, आदि का उपयोग करना उत्तम है।
2. हरी सब्जियों का उपयोग प्रतिदिन करने से रक्त शुद्ध रहता है तथा शक्तिवर्धन होता है।
3. मौसमी फलों का सेवन करने से सभी विटामिनों की पूर्ति हो जाती है।
4. भोजन ताजा ही खाना चाहिये।

2. भोजन की पर्याप्त मात्रा का सेवन

भोजन करने में तो कुछ नियम है, जिनका पालन करने से सदैव अनुकूल परिणाम मिलते हैं। यह नियम निम्न हैं -

1. भोजन करते समय यह ध्यान रहे कि पेट में कुछ खाली जगह अवश्य रह जाये, क्योंकि जब क्षमता से कम भोजन लिया जाता है, तो पाचन क्रिया ठीक से होती है। यदि क्षमता से अधिक भोजन किया जाता है, तो वह पचता नहीं है। शरीर से बिना पचे बाहर निकल जाता है। अथवा पाचन तंत्र पर अधिक जोर पड़ता है जिससे उसमें अवरोध उत्पन्न हो सकता है। इससे शारीरिक तथा मानसिक दोनों शक्तियाँ क्षीण होती हैं। मोटापा अप्राकृतिक आहार करने का परिणाम है।
2. भोजन करने के उचित तरीकों का पालन करना चाहिये। भोजन धीरे-धीरे करना चाहिये। मुँह में अधिक समय तक रखकर खूब चबाकर भोजन करना चाहिये। आज सबसे बड़ी भूल व्यक्ति यही करता है, कि वह जल्दी से जल्दी भोजन निगलने का प्रयास करता है। इससे आवश्यक लार तत्त्व भोजन में मिल नहीं पाते जिससे कब्ज की शिकायत बनी रहती है।

3. भोजन का समय

भोजन का समय एक निश्चित होना चाहिये, क्योंकि पेट में अनेक हारमोन्स निकलने आवश्यक हैं, जिससे भोजन पच सके। यह हारमोन्स तभी उचित मात्रा में निकलते हैं, जब भोजन का एक निश्चित समय होता है। इसके अतिरिक्त सोने से 2 घंटे पूर्व रात्रि का भोजन कर लेना चाहिये। प्रायः लोग भोजन करने के तुरन्त बाद सो जाते हैं। इससे पेट में भारीपन रहता है।

4. 24 घन्टे में 4 बार खाना चाहिये। सुबह नाश्ता, दोपहर में लन्च, सांध्यकालीन शक्तिवर्धक जूस आदि और रात्रि का भोजन।
5. भोजन में अधिक मिर्च मसाले वर्जित हैं। अधिक मात्रा में उपयोग करने के शरीर को हानि होती है।
6. भोजन सदैव शान्त वातावरण में करना चाहिये। शरीर तथा मन पर किसी प्रकार की तनाव की स्थिति नहीं होनी चाहिये।

7. भोजन कक्ष साफ सुथरा, मनमोहक तथा आकर्षक होना चाहिए।

3. जल का सेवन

1. पाँच-छः लीटर गर्मियों में तथा चार-पाँच लीटर जाड़ों में जल पीना चाहिये। अधिक पानी पीने से शरीर का मल शरीर से बाहर तेजी से निकल जाता है तथा पाचनतंत्र स्वच्छ बना रहता है।
2. भोजन करने के साथ ही साथ पानी नहीं पीना चाहिये।
3. जल की जगह कोई दूसरा पदार्थ नहीं पीना चाहिये। कुछ लोग तो बहुत कम पानी पीते हैं, उसकी जगह, चाय, दूध, जूस, आदि लेते हैं। लेकिन जो कार्य शरीर में जल का है वह कोई दूसरा नहीं कर सकता है। अतः कम जल होने से नाना प्रकार के रोग हो जाते हैं।
4. प्रातःकाल एक ग्लास ताजे जल में नींबू के रस की कुछ बूँदे तथा 2 चम्मच शहद लेना चाहिये।

4. चाय या काफी का सेवन

चाय तथा काफी स्वास्थ्य के लिए दोनों हानिकारक हैं, यदि वे अधिक मात्रा में सेवन किये जाते हैं तो हॉनि होती है। 24 घन्टे में 2 कप चाय या काफी लेना चाहिये। इससे अधिक लेने पर शरीर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अधिक चाय लेने या काफी लेने से कब्ज हो जाता है। नींद कम हो जाती है, मानसिक तनाव रहता है तथा अन्य व्याधियाँ हो जाती हैं।

5. अंकुरित अनाज का सेवन

अंकुरित अनाज बहुत ही पोषक भोजन है इससे भोजन के सभी तत्त्व प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, खनिज, विटामिन्स होते हैं। इसका प्रतिदिन सेवन करना चाहिये।

6. शरीर की शुद्धि

शरीर के तीन तत्त्व हैं, वात,पित्ता, कफ। यदि उनमें संतुलन बना रहता है, तो शरीर रोग से स्वतंत्र रहता है। लेकिन यदि वह संतुलन बिगड़ जाता है, तो शरीर में कोई भी रोग पनप सकता है। शरीर शुद्धि की 6 प्रक्रियायें हैं :

1. जलनेति

प्रत्येक व्यक्ति को जलनेति प्रतिदिन करनी चाहिये। इससे संक्रामक रोग नहीं होते हैं। श्वांस क्रिया सामान्य रहती है। रक्त में वायु (आक्सीजन) पर्याप्त मात्रा में मिलती है। अतः शरीर के सभी कोष सबल रहते हैं। जलनेति से आँख की दृष्टि बढ़ती है। नाक, गले-कान आदि के रोग नहीं होते हैं। सिर दर्द नहीं करता है। इससे बुद्धि विकास होता है।

2. कुंजल क्रिया

इसमें गुनगुना जल जिसमें थोड़ा नमक मिला हुआ होता है, खूब पीते हैं तथा उसके बाद वमन करते हैं या बाहर निकाल देते हैं। इससे पेट की सम्पूर्ण सफाई हो जाती है। स्वस्थ व्यक्ति को सप्ताह में एक बार कुंजल क्रिया करनी चाहिये। इसके करने से भोजन में अरुचि, पीलिया, अपच आदि रोग दूर होते हैं। पेट का विष बाहर निकल जाता है। यदि पेट में कीड़े होते हैं, तो वे भी नहीं रहते हैं। त्वचा तथा रक्त के रोगों में भी लाभकारी है।

3. बस्ति

गुदा की सफाई एनिमा के द्वारा करते हैं। स्वस्थ व्यक्ति को महीने में दो बार एनिमा लेना चाहिये। इससे आँतों की सफाई हो जाती है तथा पाचन क्रिया के दोष दूर हो जाते हैं। इससे भूख बढ़ती है। मानसिक शान्ति मिलती है तथा शरीर हल्का तथा चुस्त रहता है।

4. नौलि

इस क्रिया से आँतों की विकृतियाँ दूर हो जाती हैं। अपच, मोटापा, तथा पेट के अन्य विकारों में लाभ होता है। वात, पित्त तथा कफ में संतुलन बना रहता है।

5. त्राटक

त्राटक क्रिया में किसी एक बिंदु पर ध्यान लगाकर टकटकी बाँध कर देखते हैं। इससे आँखों के अनेक रोग दूर होते हैं, दृष्टि बढ़ती है। सुस्ती दूर होती है तथा ध्यान करने में सहायता मिलती है।

6. प्राणायाम

प्राणायाम से मन की शुद्धि होती है। इससे मानसिक शक्ति बढ़ती है तथा ध्यान केन्द्रित करने की शक्ति सबल बनती है। लिवर, उदर, वृक्क, आँतें तथा पाचक अंग, तथा सम्पूर्ण शरीरिक तंत्र प्राणायाम से प्रभावित होता है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन प्राणायाम करना चाहिये।

7. स्नान तथा सफाई

प्रत्येक दिन स्नान करना चाहिये। इससे शरीर चुंस्त तथा रोग विहीन रहता हैं शरीर में हजारों रोमकूप होते है। इन रोमकूलों के द्वारा शरीर से विजातीय तत्त्व पसीने के रूप में बाहर निकलता है। स्नान करने से ये रोमकूप साफ सुथरे बने रहते हैं।

8. वस्त्राधारण

शरीर की सर्दी तथा गर्मी से रक्षा करने के लिए वस्त्रों का पहनना आवश्यक है। इसके साथ ही साथ सांस्कृतिक प्रतिमानों के कारण भी वस्त्र धारण करते हैं।

आजकल अधिकांशतः ऐसे कपड़े पहने जाते हैं, जिसमें हवा का प्रवेश नहीं हो पाता है। इससे शरीर को हानि होती है। सूती कपड़े शरीर के लिए लाभकारी होते हैं।

9. कार्य का समय

मनुष्य आज धन कमाने वाली मशीन बन गया है। वह न तो सोने और न ही विश्राम करने की परवाह करता है, लेकिन दोनो आवश्यक हैं । स्वस्थ रहने के लिए कार्य के समय की पाबंदी होनी आवश्यक होती है।

10. सकारात्मक दृष्टिकोण

हर सिक्के के दो पहलू होते हैं। यदि हम बुराइयों की ओर ध्यान देते हैं, तो बुराइयाँ ही बुराइयाँ दिखायी देती हैं। लेकिन इससे लाभ के स्थान पर हानि होती है। इससे सावेंगिक जीवन बुरी तरह से प्रभावित होता है। क्रोध, बढ़ता है, ईर्ष्या बढ़ती है, इस कारण संपूर्ण शरीर क्षतिग्रस्त हो जाता है। दूसरों से अच्छे गुणों को देखने से व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य जाना ही आवश्यक शक्ति अच्छा बना रहता है।

11. योगाभ्यास

शरीर के सभी अंगों का अभ्यास होना शारीरिक दक्षता बनाये रखने के लिए आवश्यक होता है। योगाभ्यास ऐसा साधन है जिससे शरीर के प्रत्येक अंग की क्रिया हो जाती है। इससे शारीरिक थकान दूर होती है, और नयी स्फूर्ति आती है, तथा मानसिक सर्तकता शीघ्र ही परिलक्षित होती है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन योगाभ्यास करना चाहिये।

●●●

अध्याय-10

रोग

सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ रोग शब्द का अर्थ भी बदलता गया। प्रारम्भ में रोग का कारण दैवी शक्तियाँ मानी जाती थीं। जब दैवी शक्तियाँ किन्हीं कारणों से कुपित हो जाती थी तो वे रोगों का प्रादुर्भाव करती थीं। आज भी बहुत सी जनजातियां हैं, जहाँ पर अभी भी रोगों का कारण देवी देवता ही माने जाते हैं। लेकिन ज्ञान की वृद्धि तथा औषधिशास्त्र के विशेषीकरण के साथ इसके प्रत्यय में अंतर आता गया। प्राकृतिक चिकित्सा, आयुर्वेद, होम्योपैथी तथा एलोपैथी में रोग का कारण पृथक माना जाता है।

I. परिभाषा

बेवस्टर

बेवस्टर शब्दकोष के अनुसार रोग एक असुविधा, एक दशा जिसमें शारीरिक स्वास्थ्य गम्भीर रूप से प्रभावित होता है, विघटित होता है, या व्यतिक्रमित होता है, स्वास्थ्य की दशा से गमन, मानव शरीर में बदलाव जिससे महत्त्वपूर्ण कार्य प्रभावित होते हैं। [1]

आक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार

रोग शरीर के या शरीर के किसी अंग की वह दशा है, जिसमें इसके कार्य व्याधित होते हैं, या व्यतिक्रमित होते हैं। [2]

उपर्लिखित दोनों परिभाषायें अपूर्ण हैं, क्योंकि किसी से यह स्पष्ट नहीं होता है कि रोग की दशा कब प्रारम्भ होती है तथा कब समाप्त होती है। यह एक स्थायी-दशा नहीं है। यह एक प्रक्रिया है, जो या तो धीरे-धीरे या एकाएक प्रकट

1- Webster defines disease as " a discomfort, a condition in which bodly health is seriously attacked, deranged or impaired, a departure from a state of health,an alteration of the human body interrupting the performance of vital functions."

2- Oxford dictinary defines disease as " a condition of the body or some part or organ of the body in which its functions are disturbed or deranged."

होती है। कभी कम समय के लिए तथा कभी अधिक समय के लिए घटित होती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे केस होते हैं, जो साधारणरूप से समझे नहीं जा सकते हैं।

परिस्थिति शास्त्र के अनुसार रोग का तात्पर्य ''मानव अवयव का पर्यावरण से कुसमायोजन है।'' रोग की प्रक्रिया तब प्रारम्भ होती है जब मानव तथा पर्यावरण में संतुलन बिगड़ जाता है।

II. प्राकृतिक चिकित्सा में रोग का अर्थ तथा कारण

शरीर के भीतर विजातीय द्रव्य के जमा होने का नाम ही रोग है। इस परिभाषा का महत्त्व इससे स्पष्ट होता है, कि जब विजातीय द्रव्य शरीर से बाहर निकाल दिया जाता है, तब रोग दूर हो जाता है। विजातीय द्रव्य शरीर में दो रास्तों से पहुँचता है। नाक द्वारा फेफड़ों में, तथा मुँह द्वारा पेट में। वायु तथा पर्यावरण प्रदूषण के कारण फेफड़ों में, पर्याप्त आवश्यक वायु न मिलने के कारण नाना प्रकार के रोग हो जाते हैं। इसी प्रकार अस्वाभाविक भोजन से शरीर की पाचन शक्ति कमजोर होती है। जब हम खान-पान की गड़बड़ी करते हैं, आवश्यकता से अधिक खाते हैं, एवं बहुत ही चटपटा, मिर्च मसाले वाला खाते हैं, तो शरीर इसको स्वभावतः पाखाना, पेशाब तथा पसीना आदि के द्वारा बाहर निकाल नहीं पाता है। इस प्रकार ये विजातीय द्रव्य भीतर ही जमा होने लगते हैं। रक्त में मिलकर रक्त प्रवाह में विघ्न उत्पन्न करते है तथा पाचन तंत्र अव्यवस्थित हो जाता है। धीरे-धीरे विजातीय द्रव्य उसे बाहर निकालने वाले शरीर के कोठों के चारों ओर जमा हो जाते है, और उनके कार्य में रुकावट डालने लगते है।

विजातीय द्रव्य जमा हो जाने पर शरीर में रोग उत्पन्न होने लगता है। रोग धीरे-धीरे बढ़ता जाता है और रोगी को मालूम तक नहीं होता। उसकी भूख कम हो जाती है। न तो वह अधिक परिश्रम कर सकता है, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, और न ही आराम अनुभव करता है। जब तक पाचन क्रिया गुर्दे तथा त्वचा कार्य करते रहते हैं, तब तक मानव शरीर किसी- न किसी प्रकार अपना कार्य करता रहता है। लेकिन जब कार्य में शिथिलता आ जाती है, तब व्यक्ति स्वास्थ्य के सम्बन्ध में चिन्तित होता है और रोगी होने का आभास करने लगता है।

आजकल हालत इतनी बिगड़ चुकी है कि बालक माता के गर्भ से ही विजातीय द्रव्य लेकर पैदा होता है। इसी कारण आज के बालक किसी न किसी रोग से सदैव पीड़ित रहते हैं।

विजातीय द्रव्य चुपचाप शरीर के भीतर पड़ा रहता है और अवसर पाकर रोग के रूप में बाहर फूट निकलता है। विजातीय द्रव्य में सड़न पैदा होती है। सड़े हुये विजातीय द्रव्य में कीड़े पड़ जाते हैं, और उसमें गर्मी की मात्रा बढ़ जाती है। विजातीय द्रव्य के कण एक दूसरे से रगड़ खाते हैं, इसलिए तापक्रम बढ़ता है। जब

शरीर के भीतर विजातीय द्रव्य पूर्ण रूप से भर जाता है तब उसमें सड़न पैदा हो जाती है। मौसम के बदलाव, क्रोध, भय और इसी प्रकार के दूसरे विकारों से भी सड़न बढ़ती है। जब विजातीय द्रव्य की सड़न शरीर के ऊपरी भाग में पहुँचती है, तो सिर दर्द होने लगता है। सड़न से गर्मी पैदा होती है, जिसके कारण रक्त का तापक्रम बढ़ जाता है। इसी को ज्वर कहते हैं। जब पाखाना साफ नहीं होता, पेशाब खुलकर नहीं होता, त्वचा के छिद्र गंदे रहते हैं और पसीना नहीं आता, तब ज्वर होता है।

III. जीवन में मल त्याग का महत्त्व

शरीर के सम्पूर्ण संस्थानों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि शरीर की स्थिति आवश्यक पोषण पर और अनावश्यक पदार्थों के विसर्जन होते रहने पर निर्भर है। इसका ताप्तर्य यह नहीं है कि मल के रूप में जिन पदार्थो का विसर्जन होता है, वह खाये हुये अन्न से ही सीधे अलग होते हैं। शरीर के असंख्य कोश निरंतर मृत होकर मल के रूप में निकलते रहते हैं। वास्तविकता यह है कि इस शरीर में जन्म और मृत्यु निरंतर चला करती है। भोजन तीन रूपों में शरीर में पहुँचता है, घन, द्रव्य और वायु। श्वास के द्वारा वायु शरीर में जाती है। अन्न और जल पकने वाला पदार्थ है, वायु ईंधन है, और रक्त पकान्न है, जो हृदय रूपी भण्डार द्वारा शरीर के सभी कोशों में जाता है। शरीर का प्रत्येक कोश भोजन पाता है। कुछ भोजन पाकर पुष्ट होते हैं तथा बढ़ते हैं और कुछ अपना काम पूरा करके नष्ट हो जाते हैं। नित्य क्षय वृद्धि की क्रिया चलती रहती है, और प्रत्येक कोश में विकार होते रहते हैं। जिस प्रकार व्यक्ति का जन्म, बृद्धि तथा भरण होता है, उसी प्रकार प्रत्येक कोश का जन्म, वृद्धि, मरण होता है। कोशगत विकारों का सम्मिलित रूप समस्त शरीर के विकार का रूप प्रकट करता है। ये विकार दो प्रकार के होते हैं -- 1. प्रमित तथा 2. अप्रमित। प्रमित विकारों से शरीर का वृद्धि क्षय क्रम सामन्जस्य से चलता रहता है। अर्थात् दोशी कोष नष्ट हो जाते हैं, उनका स्थान नये कोश ले लेते हैं। अप्रमित विकारों से शरीर की प्रमित दशा में एक प्रकार की अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है और उसकी प्रमित विकारतावाली शक्तियाँ अप्रमित विकारों के कारणों को दूर करने में लग जाती हैं। शरीर का प्रत्येक कोश इस कार्य में सहायता करता है। शरीर से सारे संस्थान अन्नपान आदि से विसर्जित मलों को एवं शरीर से मृत कोशों को दूर करने का बराबर प्रयत्न करते रहते हैं। विषाक्त वायु नासिका द्वारा बाहर निकलती है। पसीना, शरीर के रोमकूपों से निकलता है। विष्ठा गुदा से बाहर निकलती है। मूत्र लिंग अथवा योनि से बाहर निकलता है, थूक तथा कफ मुँह से बाहर निकलते हैं, अश्रु आँखों से तथा पीव त्वचा से बाहर निकलता है। महिलाओं में मासिक रक्तश्राव होता है, जिससे दोष निकलता है। इन मलों यानी-दूषित वायु, पसीना, विष्टा, मूत्र, थूक, कफ, पीव मृत कोष के संच से विविध रोग उत्पन्न होते हैं।

दोष धातु मल मूलं ही शरीरम्

सु0सू015/3

इस प्रकार वातादि दोष, रसादि धातुयें तथा मूत्रादि अन्य मल ही शरीर का मूल माना गया है। इन्हीं की साम्यता ही शरीर की स्थिति का कारण बताया गया है। जिस प्रकार कपड़ा सूत्रों से अथवा घड़ा मिट्टी से बनता है, उसी प्रकार शरीर दोष धातु तथा मल के योग से बनता है। इन दोनों में दोष को ही प्रधानता दी जाती है। शरीर का सम्पूर्ण जीवन उपयोगी क्रियाओं का मूल वस्तुतः दोष ही है। यदि ये साम्य रहें तो शरीर की सभी क्रियायें सुचारु रूप से चलती रहती है तथा साथ ही धातु एवं मल भी साम्य रहकर शरीर को स्वस्थ बनाये रखते हैं। यदि दोष विकृत हुये तो उनकी क्रियायें भी ठीक से नहीं होतीं तथा अनेक प्रकार के रोग शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं। जो स्वतंत्र तथा दूषित करने वाले होते हैं, उन्हें दोष कहा जाता है। दोष दो प्रकार के होते हैं। एक मानस दोष जो कि मन में दोष उत्पन्न करते हैं दूसरे शारीरिक दोष हैं जो शरीर में विकृति उत्पन्न करते हैं। ये तीन होते हैं –

1. बात (वायु)।
2. पित्त।
3. कफ।

इन्हीं को त्रिदोष शब्द से सम्बोधित किया जाता है। यही शारीरिक व्याधि उत्पन्न करने वाले होते हैं।

वात (वायु)

वायु के द्वारा ही शरीर का संचालन होता है। इसके द्वारा ही प्राणी की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश होता है। यही गर्भ को विभिन्न आकृति देता है। यह धातुओं के सूक्ष्म एवं स्थूल अंश करने में सहायता करता है। यह ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को प्रेरित करता है। वायु के द्वारा ही शरीर की मुख्य क्रिया जिससे जीवन एवं चैतन्यता दृष्टिगोचर होती है, वह निःश्वास तथा उच्छ्वास की क्रिया सम्पादित होती है। यह विभिन्न अग्नियों को प्रदीप्त करता है। वायु का कार्य स्थूल मस्तिष्क है, जो शरीर की हर क्रिया का संचालन करता है।

वायु का मुख्य स्थान पक्वाशय माना गया है। इसके अलावा वस्ति, कटि, जाँघ, पैर, अस्थियों , को भी वायु का स्थान माना गया है। कर्म तथा स्थान की दृष्टि से वायु को पाँच भेद में विभक्त किया गया है-

1. प्राण, 2. उदान, 3. समान, 4. व्यान, 5.अपान।

1. प्राणवायु

मुख्यतः प्राणवायु सिर, मुख, कर्ण, जीभ, नासिका, छाती तथा हृदय में पायी जाती है। आहार को आमाशय में पहुँचना, थूकना, छींकना, श्वास, क्रिया आदि

इसके प्रमुख कार्य हैं। यह विकृत अवस्था में श्वास कास आदि रोग उत्पन्न करती है।

2. उदान वायु

इसका प्रमुख स्थान नाभि उरस्थल एवं कंठ है। यह बोलने की क्रिया को उत्तेजित करता है तथा मन को प्रेरणा देता है। इसके कुपित होने से नेत्र मुख, नासिका, कर्ण तथा सिर के रोग एवं कासादि उत्पन्न होते हैं।

3. समानवायु

यह विभिन्न पाचक अग्नि (पित्त) के समीप आमाशय तथा ग्रहणी में पाया जाता है। इसका कार्य आहार के पाचन एवं अग्नियों को शक्ति देना है। इसके प्रकोप से अग्निमाद्य, अतिसार आदि रोगों का प्रादुर्भाव होता है।

4. व्यान वायु

इसका स्थान सम्पूर्ण है। इसी के द्वारा रसधातु, रक्त धातु का संवहन होता है। प्रसारण तथा आकुंचन इसी के द्वारा पेशिया करती हैं। इसके कुपित होने से ज्वर, अतिसार, रक्तपित्त, यक्षमा, इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं।

5. अपानवायु

इसका स्थान पक्वाशय, गुदा, मूत्रशय, नाभि, जांघ है। मुख्यरूप से यह मल मूत्र, शुक्र तथा गर्भ का धारण करना एवं समयानुसार इसे बाहर निकालता है। अपान वायु के कुपित होने पर अश्भरी, प्रमेह, अर्श, भगन्दर, आदि रोग हो जाते हैं।

वात दोष के गुण

सामान्यतः वायु के गुणों में कहा जाता है कि वायु रजोगुणी, सूक्ष्म अर्थात शरीर के सभी छिद्रों में प्रवेश करने वाली, शीत और चंचल मानी जाती है।

वात का दोष रजोगुण से सम्पन्न होता है। उदाहरणार्थ शरीर में यदि वात कुपित होता है तो शरीर तथा मन में भय, शोक, मोह, दीनता, अतिप्रलाप, लोभ, आदि लक्षण बढ़ जाते हैं। वायु का दूसरा गुण सूक्ष्म कहा गया है। शरीर के सभी स्थानों पर इसका प्रवेश है। इसी कारण मद्य तथा विष सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाते हैं। वायु का तीसरा गुण शीत कहा गया है। बात दोष की शांति उसके विपरीत ऊष्ण से होती है तथा समान गुण शीत से वृद्धि होती है। इसीलिए वातिक ज्वर में ऊष्ण उपचार से शरीर में श्वेद की उत्पत्ति होकर ज्वर की शांति होती है। वायु का चौथा गुण चलन -शीलता है। शरीर के किसी भाग में वात की वृद्धि हो जाय, तो वहाँ पर गति बढ़ जाती है।

पित्त

पित्त अग्नि का प्रतिनिधि है। यह शरीर की अनेक महत्त्वपूर्ण क्रियायें, धातुओं के निर्माण में सहायता, पाचन कार्य कर आहार का रूप देता है जिससे

धातु समुचित उपयोग कर पुष्ट हो सके। यह रक्त, त्वचा आदि का रंजन कर देता है। पित्त द्वारा हृदय पर स्थित श्लेष्मा और तम रूप मल को दूर कर उसे विशुद्ध बनाता है। यह नेत्रों के मध्य रहकर पदार्थो का दर्शन कराता है। पित्त द्वारा ही त्वचा विभिन्न तेलों को ग्रहण करती है। यह शरीर के विभिन्न अंगों में रहता है।

स्थान तथा कार्य के भेद से पित्त के पाँच भेद किये जाते हैं- पाचक, पित्त, रंजक पित्त, साधक पित्त, आलोचक पित्त तथा भ्राजक पित्त आदि।

पाचक पित्त का स्थान पक्वाशय और आमाशय के मध्य ग्रहणी में रहता है। यह अन्न को धारण कर उसके अवयवों को सूक्ष्म कर देता है। इसी के द्वारा ऊष्मा उत्पन्न होती है। पैनक्रियोटिक जूस जो कि डियोडेम में (Duodenum) निकलता है अग्नाशय से निकलने वाले स्राव को कहा जाता है। यह पाचक पित्त से मिलता-जुलता है। रंचक पित्त, यकृत प्लीहा में होता है। यह रस धातु को रक्त वर्ण प्रदान करता है। साधक पित्तका स्थान हृदय है। यह हृदय को ढके हुये कफ और तम को दूर कर निर्मल बनाता है। मन के उत्कृष्ट होने से बुद्धि इत्यादि का विकास होता है। इसमे विकृति के कारण भय, क्रोध, हर्ष मोह आदि द्वन्द्व होते हैं। जो पित्त नेत्र में रहता है उसे आलोचक पित्त कहते हैं। इसका कार्य वस्तुओं का दर्शन कराना है। इसी की सहायता से आँखों द्वारा वस्तुयें दिखायी देती हैं। भ्राजक पित्त का स्थान त्वचा है। इसका कार्य त्वचा को क्रान्ति प्रदान करना है तथा शरीर की ऊष्मा का नियमन करना है। इसी से प्रभावित होकर स्वेद और भेद ग्रन्थियाँ अपने कार्य को करती हैं।

कफ या श्लेष्मा

शरीर को मुलायम तथा चिकनापन रखना, अंगों को दृढ़ रखना, शरीर को स्वाभाविक गुरुता, पूर्ण एवं वृद्धि करना, बल वीर्य को बढ़ाना इत्यादि प्रमुख कार्य कफ के हैं। श्लेष्मा को बल या ओज का नाम दिया गया है। अन्य दोषों की तरह कफ भी पाँच प्रकार के होते हैं।

1.क्लेदक, 2. अवलम्बक कफ, 3. बोधक कफ, 4. तर्पक कफ तथा 5. श्लेषक कफ।

क्लेदक कफ प्रधानतया आमाशय में पाया जाता है। यह अन्न को क्लेदित करता है। अमाशय और उरस्थल श्लेष्मा के प्रधान स्थान हैं। इसके द्वारा पाचन क्रिया भी सम्पन्न की जाती है। यह अन्य श्लेष्माओं एवं शरीर की पुष्टि करता है। इसके प्रकोप से अरुचि,. मंदाग्नि इत्यादि हो जाती है। अवलम्बक कफ छाती में रहता है। यह रसधातु से मिलकर अपने वीर्य द्वारा वृक्क, हृदय, फेफड़े तथा अन्य स्थानों पर रहने वाले श्लेष्मा को अवलम्बित करता है। उन्हें कार्य करने की क्षमता देता है। बोधक कफ जीभ के मूल में पाया जाता है। इसके द्वारा जीभ रसों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करती है। तर्पक कफ सिर में रहता है। इसका कार्य मस्तिष्क के पोषक तत्त्वों को पोषित करना है। श्लेषक कफ अस्थियों के परस्पर जुड़े हुये

सिरे एक कला से ढके हुये होते है। इस कला से एक चिकना सा स्राव होता है। जिससे अस्थियों में कार्य करते समय घर्षण नहीं होता है।

त्रिदोष पर समय या ऋतु का प्रभाव

ग्रीष्म ऋतु में बात का संचय, वर्षा में प्रकोप एवं शरद में शमन होता है। वर्षा में पित्त का संचय, शरद में प्रकोप तथा हेमन्त में शमन हो जाता है। इसी प्रकार शिशिर में श्लेष्मा का संचय, बसंत में प्रकोप एवं ग्रीष्म में श्लेष्मा का शमन हो जाता है।

प्रातःकाल श्लेष्मा का होता है। तब इसकी वृद्धि होती है। मध्यान्ह पित्त का काल होता है। तथा शाम वायु का काल होता है। रत्रि का प्रारम्भ काल श्लेष्मा का काल है। मध्यकाल पित्त एवं अवसान काल वायु का काल है। इसी प्रकार बाल्यकाल में श्लेष्मा, मध्यावस्था में पित्त तथा वृद्धावस्था बात का काल है।

त्रिदोष पर रसों का प्रभाव

मधुर, अम्ल, लवण, वायु शामक एवं कफवर्धक होते हैं। कटु, तिक्त, कषार्म, वायु वर्धक एवं कफ शामक होते हैं। तिक्त, कषाय मधुर रस पित्त शामक होते हैं तथा लवण कटु और अम्ल रस पित्तवर्धक होते हैं।

इस प्रकार काल को ध्यान में रखकर विभिन्न रस युक्त द्रव्यों का सेवन कर त्रिदोष को साम्यावस्था में रखा जा सकता है। पुरुष के स्वास्थ्य को ठीक रखा जा सकता हैं। त्रिदोष में जब साम्य रहेगा, तो शरीर की सभी क्रियायें सुचारू रूप से चल सकती हैं तथा धातु व मल में भी साम्यता रह सकती है। इस प्रकार शरीर निरोग रह सकता है। यही त्रिदोष ही शरीर का विनाश, निर्माण एवं संचालन का मूल है। सभी क्रियाओं का नियंत्रण एव संचालन का मूल है। सभी क्रियाओं का नियंत्रण भी इन्हीं दोषों के द्वारा होता है।

IV. एलोपैथी में रोग का कारण

एलोपैथी जिसे आधुनिक चिकित्साशास्त्र कहते हैं, में अधिकांश रोगों का कारण जीवाणुओं को माना जाता है। जीवाणु विज्ञान की सहायता से रोग का निदान तथा उपचार भी किया जाता है।

सूक्ष्म जीवाणु

संसार के सभी सजीव या चेतन सृष्टि के जो जीव अपनी सूक्ष्मता के कारण केवल आँखों से दिखायी न देकर माइक्रोस्कोप से देखे जा सके, उन्हें सूक्ष्म जीवाणु कहते हैं। इन जीवाणुओं की संख्या दिखने वाले जीवों से कई गुना अधिक होती है, और उनमें सबसे अधिक उस प्रकार के जीवाणु हैं, जो मृतक शरीर पर निर्वाह कर उसको तथा मल मूत्रादि पदार्थो को सड़ाते हैं। ये विकारी नहीं होते, इसलिए रोग नहीं उत्पन्न करते हैं ऐसे जीवाणुओं को अविकारी (Non-pathogen) जीवाणु

कहते हैं । ये अपना जीवन निर्वाह अन्य जीवों पर करते हैं। जो जीवाणु रोग - व्याधिविकार उत्पन्न करते हैं, उन जीवाणुओं को व्याधिजनीय (Pathogenic)कहते हैं। जो जीवाणु मनुष्य की त्वचा, आँख, कान, नाक, प्रजनन अंग तथा मलगुहा में रहकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं, उन्हें सहभोगी कहते हैं। ये जीवाणु विकारी नहीं होते हैं। और जिस पर रहते हैं, उसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते। सहभोगियों के तीन प्रकार हैं–

1. अविकारी। (Non-pathogenic)
2. विकारी। (pathogenic)
3. सम्भावी विकारी या अवसरवादी। (Potential pathogenic or opportunistic)

1. अविकारी

ये सदा शरीर पर निवास करते हैं, परन्तु किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न करते हैं।

2. विकारी

शरीर में नहीं रहते हैं। इस प्रकार के विकारी जीवाणु वाहक (Carrier) में पाये जाते हैं। सभी विकारी जीवाणु मनुष्यों में विकार उत्पन्न नहीं करते हैं। कुछ मनुष्यों में और कुछ मनुष्येत्तर जीवों में विकार उत्पन्न करते हैं। कुछ जीवाणु ऐसे भी होते हैं जो दोनों में विकार उत्पन्न करते हैं।

3. अवसरवादी या सम्भावी विकारी

ये शरीर में सदैव रहते हुये किसी प्रकार का रोग उत्पन्न नहीं करते हैं। परन्तु जब शरीर दुर्बल या कमजोर हो जाता है, तथा शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती है तब ये रोग उत्पन्न करते हैं। मलाश्रयी जीवाणु ऐसे ही हैं।

जीवाणुओं का वर्गीकरण

कार्य बनावट और स्वभाव के अनुसार जीवाणुओं को पाँच भागों में बाँटा गया है–

1. तृणाणु (Bacteria)
2. फफूँदी (Fungus)
3. रिकेटसिया (Rickettsia)
4. विषाणु (Virus)
5. कीटाणु (Protozoa)

1. तृणाणु

ये वनस्पति वर्ग के सबसे सूक्ष्म जीव हैं। ये एक कोषीय (Unicellular) जीव

है। पर उनके आकार भिन्न-भिन्न हैं। ये सरल विखण्डन के द्वारा अपनी संख्या में वृद्धि करते हैं। इस कारण ये ---- अतिशीघ्र अपनी संख्या में वृद्धि कर लेते हैं। वृद्धि की प्रतिकूल अवस्था में विश्रामी (Resting) रूप धारण कर लेते हैं।

2. फफूँदी

यह सूत्रें से बंधे हुये शाखायुक्त होते हैं।

3. रिक्टॅसिया

यह तृणालु तथा विषाणु के बीच का जीव है। यह तृणालु से बड़ा तथा विषाणु से छोटा होता है।

4. विषाणु

यह अत्यन्त सूक्ष्म जीव है। यह छानने (Filter) से भी नहीं जा सकता है।

5. कीटाणु

यह प्राणी सृष्टि में अत्यन्त सूक्ष्म माना जाता है।

विकारी जीवाणुओं का स्थान

विकारी जीवाणु हवा, पानी, भूमि, मुँह, नाक, गला, त्वचा पर उपस्थित रहते है। इसलिए शरीर में हवा और पानी के द्वारा प्रवेश करते तथा नाक, मल एवं श्वास के द्वारा शरीर से बाहर होते हैं। लेकिन केवल इससे ही रोग नहीं होता या फैलता है। इसके निम्नलिखित कारण हैं–

जीवाणुओं की संख्या, तीव्रता, प्रवेश मार्ग, निवास स्थान, आक्रान्त मनुष्य की आयु, प्रकृति, शारीरिक तथा मानसिक स्थिति आदि। संक्रमणकारी जीवाणुओं की उपस्थिति की उस अवस्था को संक्रमण कहते हैं जब ये शरीर में पहुँचकर तथा पनप कर संख्या वृद्धि और विषोत्पत्ति करके शरीर पर अपना प्रभाव डालते हैं, तो शरीर के धातुओं में प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

संक्रमण के मार्ग

जिन प्राणियों में संक्रमण जीवाणु प्रवेश करते और पनपते हैं, उनको संक्रमण के स्थान कहते हैं। सभी प्रकार के संक्रामक रोग ग्रहणशील (susceptible) मनुष्यों में उन संक्रमण मार्गों से आये हुये संक्रमणकारी जीवाणु के आक्रमण से हुआ करते हैं। भूमि, जल, खाद्य, पदार्थ, पेय पदार्थ, और हवा, इनमें रहने वाले संक्रमणकारी जीवाणु से भी संक्रमण रोग होते हैं, परन्तु इनको संक्रमण मार्ग नहीं कहते हैं, वल्कि ये संक्रमण के वाहन हैं। मनुष्यों में संक्रमण पहुँचाने वाले मार्गों को तीन भाग में बाँटा जा सकता है–

1. संक्रमणवाहक मनुष्य

मनुष्य स्वयं वाहक के रूप में अपने भविण रोग स्वस्थ लोगों को आक्रान्त करते हैं।

2. चौपाया प्राणी

गाय, बैल, बकरी, घोड़े, पालतू जानवर, चूहे तथा कुत्ते मनुष्य के सम्पर्क में आते तथा रोग फैलाते हैं।

3. कीट

कुछ कीटाणु भी जो मनुष्यों के शरीर पर जीवित रहते हैं, जैसे मच्छर, मक्खी, खटमल, जूँ, चीलर आदि - एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में रोग फैलाते हैं।

मनुष्यजन्य रोग

गर्दन तोड़ बुखार, न्यूमोनिया, सूजाक, उपदंश, विसूचिका, यक्ष्मा, कुकुरखॉसी, कुष्ठ, चेचक, कालाजार, मलेरिया, आन्त्र ज्वर, शीतज्वर आदि।

पशुजन्य रोग

घोड़े से धनुर्वत, क्षय, माल्टा ज्वर, गाय से धनुर्वत, भेड़, से धनुर्वति, कुत्ते और शियार से जलर्भय, बंदरों से पीत ज्वर, चूहे से प्लेग आदि।

कीटजन्य रोग

मक्खी से आन्त्रिक ज्वर, विसूचिका, अतिसार आदि। मच्छर से मलेरिया, फाइलेरिया पीत ज्वर आदि,पिस्सू से प्लेग।

V. रोगों का बहुकारक सिद्धान्त

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में कीटाणु सिद्धांत का सूत्रपात होने से अन्य विचारधारायें गौण हो गयीं। यह स्थिति बीसवीं शताब्दी के अर्ध तक चलती रही। इसी कारण अनेक संक्रामक रोगों पर नियंत्रण पाया गया। लेकिन नयी-नयी बीमारियाँ उत्पन्न होने लगीं। कैंसर, हृदय रोग, मधुमेह, तथा मानंसिक रोगों में वृद्धि होने लगी। इन रोगों को एक कारण के सिद्धान्त पर वर्णित नहीं कर सकते हैं। और न ही एकान्तवास, टीकाकरण अथवा स्वच्छता अभियान से रोका जा सकता है। इसी कारण यह माना जाने लगा है कि रोग के अन्य कारक भी हैं जो अपना प्रभाव डालते हैं। सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, पैतृक तथा मनोवैज्ञानिक कारक समान रूप से कीटाणु के बाराबर ही रोगों की उत्पत्ति के उत्तरदायी हैं। आज सभी चिकित्सा-शास्त्री बहुकारक सिद्धांत को माननने लगे हैं। इन कारकों को निम्न प्रकार से क्रमबद्ध किया जा सकता है।

1. जैविकीय (Biological) वैक्टीरिया, विषाणु (Virus) रिक्टसिया (Rickettsia) फफूँदी (Fungus) कीटाणु (Protozoa)आदि।
2. पोषक (Nutrients) प्रोटीन, वसा, (Fats) विटामिन, खनिज जल, आदि।
3. रसायनिक : (Chemical) इन्डोजेनेस तथा इक्सोजेनेस तत्त्व।
4. भौतिक : ऊष्णता, शीत, आद्रता (Humidity) दबाव, रेडियेशन, आदि।
5. यांत्रिकः- (Mechanical) अत्यधिक घर्षण, तथा अन्य यांत्रिक शक्तियाँ।
6. पर्यावरणीय (Environmental)

   जल, हवा, मौसम, वर्षा, भूमि, आवास, मलमूत्र, निष्कासन के तरीके जीवाणु, रोडेन्ट्स, जानवर।
7. सामाजिकः- (Social)

   शिक्षा, व्यवसाय, धर्म, जाति, आहार, मद्यपान, पारिवारिक जीवन, नगरीकरण, औद्योगीकरण, जीवनशैली, जीवनस्तर, आदि।
8. आर्थिक (Economic)

   आय, व्यय, ऋण आदि।
9. मनोवैज्ञानिक (Psychological)

   दबाव एवं तनाव प्रतिस्पर्धा, असुरक्षा।
10. सांस्कृतिक (Cultural)

    रीतिरिवाज, आदतें, विश्वास, मनोवृत्तियाँ आदि।
11. मानव व्यवहार (Human behaviour)

    मद्यपान, धूम्रपान, द्रव्य सेवन, शारीरिक आक्रमणता।
12. जननीय (Genetic)

    शरीर में हॉनिकारक पित्रैक (Genes)

VI. औषधि एवं संस्कृति

यद्यपि आधारभूत रूप से रोग जैविकीय एवं शारीरिक घटना है लेकिन इसका संस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए प्रो0 किंग ने कहा है कि " रोग वह घटना है जो सामाजिक संदर्भ में उत्पन्न होता है, और व्यक्ति का एक दूसरे व्यक्ति के साथ अन्तरसम्बन्ध को प्रत्यावर्तित करता है।" किसी भी समाज में संस्कृति के प्रत्येक स्तर में लोगों की अभिवृत्ति, रोग एवं उसके निदान हेतु एक दूसरे संस्कृति की अपेक्षा भिन्न होती है। क्योंकि व्यक्ति की अभिवृत्ति बहुत कुछ उसकी संस्कृति से निर्देशित होती है। संस्कृति जिसमें व्यक्ति रहता है, रीतिरिवाजों, परम्पराओं, मूल्यों, अन्तक्रियाओं के प्रारुपों आदि में समाविष्ट रहता है । इस प्रकार संस्कृति

के ये तत्त्व परोक्ष या अपरोक्ष रूप से उससे सम्बंधित सदस्यों के क्रियाकलापों को प्रभावित करते हैं। आदिवासी समाजों में यह औषधि जादू, टोना, ओझाई आदि से सम्बन्धित बहुत से निषिद्ध कर्म हैं। चिकित्सा का कार्य पहले धार्मिक पुरोहितों द्वारा ही किया जाता था। भारतवर्ष में तो संस्कृति का औषधि के साथ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। धार्मिक विश्वास, अन्धविश्वास, आदि तो भारतीय जीवन के वे प्रमुख अंग हैं। परम्पराओं के अन्तर्गत मूल्यों एवं प्रतिमानों के कारण आज भी लोग रोग मुक्त होने के लिए उनका अनुसरण करना श्रेयस्कर मानते हैं। आज भी रोगों के प्रति अनेक अंध विश्वास एवं रूढ़ियाँ हैं जिन्हें लोग सहर्ष मानते हैं। उदाहरणार्थ छुआछूत का रोग जैसे चेचक, हैजा, आदि का कारण जैविकीय या दैहिक न मानकर ईश्वरीय मानते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि -

1. परम्परागत मूल्य एवं रोग में सम्बन्ध है।
2. धार्मिक विश्वासों एवं अभ्यासों का रोग के निवारण में महत्वपूर्ण भूमिका है।
3. अभिवृत्ति का रोग के निवारण पर प्रभाव पड़ता है।

VII . औषधि एवं सामाजिक व्यवस्था

सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिकी, व्यावसायिक एवं राजनीतिक संरचना, उपचार, नियंत्रण एवं रोग के निवारण से सम्बन्धित होती है। भारतीय समाज के संदर्भ में जहाँ स्थानीय संस्कृति एवं स्वजन सम्बन्धों का व्यापक प्रभाव पड़ता है, चिकित्सकों को समुचित चिकित्सा के लिए सामाजिक व्यवस्था को समझना श्रेयस्कर होता है। औषधि एवं सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र को कई उपक्षेत्रें में विभाजित किया जा सकता है।

परिवार एवं रोग

भारतीय सामाजिक पृष्ठभूमि में रोगी एवं उसके परिवार का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। रोगी का कष्ट परिवार का कष्ट हो जाता है। अधिकांश रोगों का सम्बन्ध परिवार के सामाजिक, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि से होता है। परिवार का सामाजिक, आर्थिक स्तर, सदस्यों की साक्षरता, आहार, परिवार के पड़ोसी एवं पारिवारिक संरचना आदि परिवार के प्रमुख पक्ष हैं, जो अनेक रोगों को बढ़ाने में मदद करते हैं। रोग के निदान की प्रकृति के निर्धारण में भी सहयोग देते हैं। परिवार का पर्यावरण भी इस बात का संकेत करता है, कि परिवार में व्यक्ति से किस प्रकार रखना चाहिये। रोगी तथा रोग के लक्षणों को स्पष्ट करने में परिवार की स्पष्ट छाप देखने को मिलती है।

सामाजिक स्तरीकरण एवं रोग

मनुष्य का स्वास्थ्य उस सामाजिक स्तरीकरण से अंतर्सम्बन्धित होता है, जिसमें उसका प्रादुर्भाव हुआ है। अतः स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं का सम्बन्ध सामाजिक स्तरीकरण से होता है। प्रत्येक सामाजिक स्तरीकरण का अपने रहने का ढंग, आदत अभिवृत्ति, एवं निषिद्धियाँ होती हैं, जो व्यक्ति को एक विशिष्ट सामाजिक स्तरीकरण में रहने के योग्य बनाती है। भारतवर्ष में अधिकांशतः यह देखने को मिलता है कि गरीब लोग संस्पर्शी एवं छुआछूत के रोग जैसे तपेदिक, हैजा आदि से पीड़ित होते हैं, जबकि धनी एवं उच्चवर्ग के बीच रक्तचाप और हृदय रोग पाये जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न स्तरीकरण का व्यावसायिक, बैचारिकी, सामाजिक, आर्थिक परिस्थिति, जीवन का ढंग आदि स्वास्थ्य एवं उपचार से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। चिकित्सा में इन सामाजिक घटनाओं का विशेष महत्त्व होता है।

राजनीतिक व्यवस्था एवं रोग

किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था एवं शासित राजनीतिक वैचारिकी व्यक्ति के स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं के लिए प्रमुख घटक होती है। वह देश जो समाज कल्याण योजना में बहुत ही रूचि लेता है तथा लोगों के स्वास्थ्य एवं पोषण पर विशेष ध्यान रखता है, उपचार व्यवस्था पर विशेष बल देता है। चिकित्सालय एवं चिकित्सा इन योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए विशेष सुविधा प्रदान करते हैं।

VIII. रोग के सामाजिक- मनोवैज्ञानिक कारक

रोग पूर्णरूप से एक जैविकीय एवं शारीरिक तथ्य नहीं है, वरन् एक घटना है, जो सामाजिक संदर्भ में घटित होती है। यह व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध की रूपरेखा को प्रत्यावर्तित करता है। अन्तर्वैयक्तिक एवं अन्तः वैयक्तिक पर्यावरणीय दोनों महत्त्वपूर्ण कारक हैं, जो मानवीय सम्बन्धों के रोग के संदर्भ में प्रभावित करते हैं। रोग के सम्बंध में भौतिक, जैविकीय एवं मनोवैज्ञानिक कारकों के बीच सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण एवं जटिल होते हैं। रोग के अध्ययन के संदर्भ में दों तथ्यों का विवेचन आवश्यक है : निदानशास्त्रीय, या कारणात्मक कारक तथा रोगी की रोग के प्रति प्रतिक्रियायें।

निदान एवं सामाजिक पर्यावरण

रोग के निदान में जब सामाजिक पर्यावरण के प्रभाव को सोचा जाता है तो प्रत्यक्ष कारक को जानना कठिन हो जाता है। रोग के निदान एवं उपचार में सामाजिक-जैविकीय कारकों को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा हैं। इन्हीं कारकों के कारण

दबाव की स्थिति होती है, जिससे व्यक्ति आनतरिक संतुलन खो देता है। अधिक दिनों तक का द्वन्द्व कभी-कभी टिश्यूज में परिवर्तन लाता है, या व्यक्ति को चिरकालीन रोग का शिकार बना लेता है।

●●●

अध्याय-11

निदान

प्राकृतिक चिकित्सा में रोग एक ही माना जाता है वह है शरीर में विजातीय या दूषित पदार्थों का इकट्ठा होना। उसको बाहर निकलना उपचार होता है। ऐसी स्थिति में निदान की कोई आवश्यकता नहीं होती है। यदि अक्षरशः इसका पालन किया जाय तो यह ज्ञात नहीं हो सकेगा कि शरीर का कौन सा अंग व्याधिग्रस्त है अथवा मल कहाँ पर अधिक एकत्रित है अथवा उसमें विजातीय तत्त्वों की सीमा क्या है? निदान के द्वारा जब ये सभी बातें ज्ञात हो जाती हैं, तो चिकित्सा प्रक्रिया को बहुत अधिक बल मिलता है। रोगों की वास्तविक दशा का पता लगा लेने से उसकी साध्यता असाध्यता पर विचार हो सकता है। इसके साथ ही साथ कभी-कभी रोगी भी अपने रोग के विषय में जानना चाहता है तथा उसका सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। अतः प्राकृतिक चिकित्सक को रोग की पूरी स्थिति के विषय में जानकारी होनी चाहिये। सारांश में कहा जा सकता है कि प्राकृतिक चिकित्सा में निदान की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि अन्य चिकित्सा पद्धतियों में होती है।

1. मुखाकृति निदान (Facial Diagnosis)

लुई कुने (Louis Kuhne) ने शरीर मल व विजातीय द्रव्यों को तथा उससे सम्बन्धित रोग व शरीर की स्थिति जानने के लिए आकृति से रोग की पहचान (Facial Diagnosis) नामक पुस्तक लिखी।

मुखाकृति विज्ञान क्या है ?

यह एक विज्ञान है जिसके माध्यम से शरीर की रोगावस्था अथवा अस्वस्थता का निदान किया जाता है, इसके द्वारा यह देखा जाता है कि शरीर में दोष-संचय कितनी मात्र में किस भाग में संचित है।

वाह्य अंगों तथा उनकी आकृति को देखकर शरीर तंत्र की कार्यात्मकता का ज्ञान होता है।

यहाँ पर मुखाकृति शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में लिया गया है जिसके अन्तर्गत न केवल चेहरे को सम्मिलित करते हैं बल्कि शरीर की सम्पूर्ण आकृति का अध्ययन करते हैं।

मुखाकृति विज्ञान [1] शरीर में विजातीय दृव्यों अथवा विषैले पदार्थो का संचय तथा शरीर तंत्र पर उसके प्रभाव का अध्ययन करता हैं।

इस विज्ञान से यह भी पता चलता है कि शरीर के किस अंग में मल संचय अधिक है। इस विज्ञान का कार्य वर्तमान रोग तथा मल संचय के बीच सम्बन्ध का परीक्षण करता है। मुखाकृति विज्ञान शरीर के आन्तरिक अथवा वाह्य के सूक्ष्म परिवर्तनों का विश्लेषण नहीं करता है। साथ ही साथ इससे विभिन्न रोगों का ज्ञान भी नहीं होता है।

मुखाकृति विज्ञान पूरे शरीर को एक इकाई मानता है और उसी रूप में उसकी कार्यात्मकता का परीक्षण करता है। इससे इस बात की भी जानकारी हो जाती है कि भविष्य में रोग किस स्तर तक पहुँच सकता है। यह भी ज्ञात होता है कि किस सीमा तक रोग ग्रस्त स्थिति को सामान्य स्थिति तक लाया जा सकता है।

कुने का विचार है कि शरीर से सम्बन्धित सभी प्रकार की मनोवैज्ञानिक सांवेगिक तथा शारीरिक प्रतिक्रियायें सबसे पहले चेहरे पर परिलक्षित होती हैं। इस प्रकार इस निदान की विधि द्वारा शरीर रचना, गति, भाव तथा सांवेगिक स्थिति का अध्ययन सम्भव होता है।

कुने का मानना है कि रोग शरीर के आकार को बदल देते हैं। उदाहरण के लिए मोटापा की दशा में पेट बढ़ जाता है, हाथ पावों पर मोटी तथा ढीली त्वचा होकर लटकने लगती है, जब वसा की कमी होती है, तो शरीर दुबला पतला होकर लम्बा दिखायी देता है। दांत जब गिर जाते हैं, तो पूरा चेहरा बदल जाता है। गठिया होने पर गांठे पड़ जाते हैं।

लेकिन कुछ रोग ऐसे होते हैं, जिनमें परिवर्तन कम दिखायी पड़ता है। केवल अनुभवी व्यक्ति ही आँखों को देखकर अनुभव कर सकता है। कुछ ऐसे भी परिवर्तन होते हैं, जिनको वर्णित नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति से बहुत दिनों के बाद मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें परिवर्तन हो गया है लेकिन ठीक-ठीक प्रकार से परिभाषित नहीं किया जा सकता है।

सभी प्रकार की रोगग्रस्तता में शरीर में परिवर्तन विशेषकर सर तथा गर्दन के भाग में होते हैं। कुने का मानना है कि रोगावस्था में चूँकि सम्पूर्ण शरीर प्रभावित होता है अतः किसी भी अंग का परीक्षण करके स्वास्थ्य के विषय में जानकारी ली जा सकती है। सबसे महत्त्वपूर्ण शरीर का अंग पाचनतंत्र है, जो स्वास्थ्य को स्पष्ट प्रदर्शित करता है।

---

1. "It is a science through which attempt are made to diagnose the condition of ill health or the state of disease as well as the quantity of foreign matter in a particular organ of the body"

मुखाकृति विज्ञान के आधार

इस विज्ञान के निम्नलिखित आधार है :

1. सभी रोगों का कारण एक ही है. शरीर में मल संचय। रोग किसी भी रूप में प्रकट हो सकता है।
2. रोगों की उत्पत्ति शरीर में मल संचय के कारण होती है।
3. मल पहले पेडू पर फिर उसके बाद चेहरे पर तथा गर्दन पर संचित होता है।
4. शरीर में मल संचय के लक्षण देखे जा सकते हैं। शरीर की आकृति एवं लक्षणों में परिवर्तन आता है।
5. प्रत्येक रोग की शुरुआत बुखार से होती है। तथा बिना रोग के बुखार नहीं आता है।

शरीर में दोष संचय

यदि शरीर की आकृति और रंग स्वाभाविक नहीं रह गये हैं या उनकी गतिशीलता में बाधा पड़ने लगी है, तो यह इस बात का प्रमाण है कि शरीर में दोष संचय हुआ है। यह संचय कोई पदार्थ ही होता है। यह पदार्थ शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रखता इसीलिए विजातीय पदार्थ कहलाता है। पदार्थ शरीर में मुख, नाक और त्वचा के रास्ते जाता है। आँतें, मूत्राशय, त्वचा और फेफड़े स्वस्थ शरीर में निरन्तर काम करते रहते हैं, और प्रत्येक अनुपयोगी पदार्थ को जिसकी शरीर को कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, बाहर निकालने के काम में लगे रहते हैं। फिर भी शरीर में अत्यधिक मात्रा में दोष पहुँच जाने पर शरीर उसे बाहर निकालने में असमर्थ हो जाता है, और उसका कुछ अंश अंदर रह जाता है।

कुछ दोष तो जन्म के साथ ही माता-पिता से आ जाते हैं। अप्राकृतिक भोजन लेते रहने पर परिणाम बुरा होता है। शरीर उस भोजन के मल को ठीक प्रकार से बाहर निकाल नहीं पाता है। साथ ही, उस भोजन से वास्तविक भोजन तत्त्व भी नहीं मिल पाते।

प्रारम्भ में मल शरीर के निष्कासन भागों के निकट जमा होता है और कुछ समय तक तो धीरे-धीरे रोगों जैसे अतिसार, अति स्वेत, अतिरिक्त पेशाब द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है, लेकिन कुछ तो प्रायः बच जाता है। जिस भाग में यह द्रव्य-दोष जमा होता है, उस भाग में ऊष्णता पैदा हो जाती है। दोष प्रकुपित होने लगता है, और गैसें बननी शुरू हो जाती हैं। यह गैस शरीर में फैल जाती है, और शरीर में पसीने के रूप में त्वचा द्वारा गैस के रूप में बना दोष निकल जाता है। लेकिन कुछ अंश फिर ठोस रूप में जमा हो जाता है यही वह भण्डार द्रव्य है, जो शरीर को दोषपूर्ण करता है। संचित द्रव्य किस ओर एकत्र हुआ है यह देखकर रोगी की प्रकृति जानी जा सकती है। आमाशय ओर आँतों के कमजोर हो जाने पर

प्राकृतिक और पूर्ण खुराक भी ठीक प्रकार से पचती नहीं है। ऐसा अधूरा पचा हुआ, शरीर द्वारा अभिशोषित सारा द्रव्य दोष का रूप ले लेता है। एक बार इस प्रकार विकार का एकत्र हो जाना शुरू हो जाने पर फिर यह क्रम बड़ी तेज़ी से बढ़ता है।

दूषित दृव्य शरीर में प्रायः श्वांस, फेफड़ों और त्वचा द्वारा भी प्रवेश पाता है। सामान्यतः तो वह निकलता जाता है। पर अक्सर जमा भी रह जाता है। पाचन शक्ति अच्छी होने पर तो शरीर में फेफड़ों द्वारा जमे दूषित द्रव्यों को निकालने की यथेष्ट शक्ति रहती है, लेकिन पाचन कमजोर रहने पर तो यह असम्भव हो जाता है। अस्वच्छ हवा में रहने से दूषित पदार्थों को शरीर में प्रवेश का अवसर मिलता है जिस प्रकार से अप्राकृतिक भोजन करने से होता है।

कभी-कभी शरीर मल निकालने के लिए कृतिम मार्ग बना लेता है, जैसे नासूर, खूनी बवासीर, रक्तपित्त, भगंदर, पा.वों का पसीजना, आदि। ऐसी दशा मे शेष शरीर स्वस्थ रहता है। ये निर्गम मार्ग तभी बनते हैं, जब दोष संचय काफी मात्र में होता है। यह एक प्रकर से शरीर द्वारा अपने-आप अपने ऊपर किया हुआ आपरेशन है। इसको एकाएक बंद कर देने से विकार शरीर के किसी भाग में जमा हो जाता है। तुरन्त उस स्थान पर सूजन आ जाती है, जलन होती है, या मवाद पैदा हो जाता है।

दोष संचय के कारण शरीर में होने वाले परिवर्तन

विजातीय द्रव्य अपनी स्थिति के लिए उपयुक्त स्थान की खोज करता है। द्रव्य का यह संग्रह पहले पेडू में होता है। निष्कासन मार्ग के नजदीक जमा होना शुरू होकर विकार दूर तक बढ़ने लगते हैं, जैसे सिर और हाथ पैरों की ओर। यदि कोई विशेष परिस्थिति पैदा न हुई, तो यह क्रिया बहुत धीरे-धीरे होती है। द्रव्य का झुकाव प्रायः शरीर की ऊपर सीमा की ओर जाने लगता है। इस प्रयास में वह अपना मार्ग गर्दन के तंत्र भाग में बनाता है। वहाँ इसका संचय आसानी से देखा जा सकता है। पहले तो वह भाग बढ़ा हुआ प्रतीत होता है, फिर सूजन अथवा पिण्ड रूप में हो जाता है। गर्दन की अस्वाभाविक स्थिति हो जाती है। त्वचा का रंग भी बदल जाता है। यह भूरी, स्लेटी अथवा अति सुर्ख दिखायी देती है। शोध गर्दन और सिर में वह शक्ल लेती है जो पेडू में और दोनों भागों में समान रूप से बढ़ती है। फिर भी कभी-कभी पेडू का संचय घटता है और गर्दन वाला बढ़ता है।

दोष संचय के प्रमुख भाग

प्रायः तीन अंगों में संचय मिलते हैं :-

1. सामने का-अग्र संचय (Frontal accumualation)
2. बगल का- दोनों में से किसी बगल का संचय (Accumulation in lateral right or left side)

3. पीठ का- शरीर के पीछे भाग का (Accumulation in back)

अग्र भाग का संचय

इस प्रकार के संचय में गर्दन सामने की ओर कुछ बड़ी हो जाती है। चेहरा बड़ा तथा भारी हो जाता है। मुँह प्रायः लम्बा हो जाता है। क्योंकि सारा मल द्रव्य वहीं आकर जमा हो जाता है। चेहरे को गर्दन से अलग करने वाली रेखा एक विशेषता रखती है। सामने के संचय में यह रेखा साधारण की अपेक्षा प्रायः पीछे की ओर हटी हुई होती है। यदि सामने का संचय पूरा-पूरा व्यक्त होता है, तो चेहरा बहुत फूल जाता है और माथे पर चर्बीदार गद्दी बन जाती है। इससे प्रकट होता है कि संचय मष्तिसक के भीतर तक पहुँच गया है।बहुत से व्यक्तियों में गर्दन पर पिण्ड बन जाते हैं। इससे प्रकट होता है कि संचय भयंकर दशा में है। दूषित पदार्थ के सूख जाने पर माँस पेशियाँ क्षीर्ण होने लगती हैं। सामने के संचय की दशा में त्वचा का रंग पीला या अतिरिक्त सुर्ख होता है और अधिक संचय वाले भाग में बड़ा तनाव रहता है। साथ ही चमड़ी पर एक चमक सी रहती है। सामने के संचय में सिर को सरलता से पीछे नहीं किया जा सकता है। ऐसा करने पर गर्दन में बड़ा खिंचाव आता है।

इस प्रकार सारा चेहरा समान रूप से अथवा कुछ विशेष भाग इस संचय से प्रभावित हो सकते हैं। जब संचय केवल एकतरफा होता है, उस दशा में चेहरा एक ओर से दूसरी ओर की अपेक्षा भरा अथवा लम्बा लगता है।

संचय के स्वरूप पर रोग की विशिष्टता निर्भर करती है। शरीर के अग्र भाग में संचय होने पर दोष पेट से सिर तक और नीचे पाँवों तक फैल जाता है। शरीर की अधिकांश हड्डियाँ शरीर के अग्रभाग में हैं। अतः उन पर दोष का असर पड़ता है। अतः अग्रभाग के संचय में कोई भी तीव्र रोग होने की सम्भावना रहती है। जैसे-खसरा, सुर्ख बुखार, डिप्थीरिया, फेफड़े की सूजन आदि। गले और गर्दन के जीर्ण रोग भी सामने के दोष संचय से होते हैं। कभी-कभी मुख सम्बन्धी रोग का कारण भी सामने का संचय होता है। प्रारम्भ में केवल ठुड्डी प्रभावित होती है। सामने के संचय में दांत, नष्ट हो जाते हैं।

केवल सामने के संचय में मानसिक विकृति होना असम्भव है।

सामने के संचय के बावजूद मार्मिक अंग प्रायः स्वस्थ रहते हैं, कयोंकि दोष संचय प्रायः गालों में और माथे पर होता है। उस दशा में इन हिस्सों में रोग होता है। सिर दर्द होता है, गालों पर मुहांसे निकलते हैं।

सामने मल संचय का दूर होना अपेक्षाकृत सहज होता है। जल चिकित्सा द्वारा सामने का संचय कुछ ही समय में दूर किया जा सकता है।

2. पार्श्व-संचय

इस प्रकार के मल संचय की दशा में गर्दन लम्बी हो जाती है। प्रायः उस

हिस्से के अन्य भाग भी फैल जाते हैं। जिससे सारा शरीर बेडौल लगने लगता है। सिर को घुमाकर पार्श्व-संचय की ठीक जाँच की जा सकती है। क्योंकि इसमें गर्दन के उस हिस्से में खिंचाव होता है। साधारणतः उभरी हुई नसों को देख कर स्पष्ट बताया जा सकता है, कि दोष संचय ने कौन सा रास्ता लिया है, और वह किधर आगे बढ़ेगा।

साधारणतः पार्श्व संचय का परिणाम सामने के संचय की अपेक्षा अधिक खतरनाक होता है, उसे दूर करने में भी कठिनाई होती है। दोष संचय की दिशा में दांतों में दर्द होने लगता है। दांत क्षय होने लगते हैं। पार्श्व और सामने के संचय मिल जाने पर प्रायः बहरापन आ जाता है। आँखों पर भी शीघ्र प्रभाव पड़ता है। भूरा या काला मोतियाबिन्दु हो जाता है। यदि सिर का आधा हिस्सा पूर्णतया दोष संचित हो जाता है तो आधा सीसी दर्द होने लगता है। बायें ओर का संचय प्रायः त्वचा की सक्रियता को मंद कर देता है। इसलिए दाहिने ओर की अपेक्षा यह अधिक भयंकर होता है।

3. पृष्ठ भाग का संचय

पीठ का संचय सबसे भयंकर होता है। ऐसे व्यक्ति के शरीर में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं। पीठ पर मल संचय ऊपर की ओर बढ़ता है। कभी-सिर की ओर न जाकर पीठ में ही रह जाता है। ऐसी हालत में वहाँ सुजन हो जाती है। ऐसी सूजन कोई शक्ल पकड़ सकती है। कंधे-गोल हो सकते हैं, कूबड़ तक निकल सकता है। दोष की सिर तक पहुँच जाने पर गर्दन का पिछला हिस्सा मोटा हो जाता है, और गर्दन तथा सिर के पिछले भाग की निर्देशक रेखा गायब हो जाती है। धीरे-धीरे वह स्थान दोष से भर जाता है। सिर का शीर्ष भाग चौड़ा होने लगता है। मस्तक पर चर्बी की गद्दी सी दिखायी देती है। चेहरे पर भी असर पड़ सकता है। ऐसी दशा में यह दोष शीर्ष भाग से नीचे उतरने की स्थिति का सूचक होता है।

पृष्ठ संचय से पीड़ित व्यक्ति प्राथमिक दशाओं में मानसिक रूप से सक्रिय होते हैं, परन्तु उनमें कुछ न कुछ बेचैनी सी तो रहती ही है। ऐसे व्यक्तियों में समय से पहले काम-वासना उत्पन्न हो जाती है। ऐसे युवक तथा युवतियाँ हस्तमैथुन की ओर प्रवृत्त होते हैं। पृष्ठ संचय स्त्रियों में गर्भपात का खतरा उत्पन्न करता है। ऐसे व्यक्तियों का बौद्धिक स्तर नीचा होता है। ऐसे व्यक्ति अमीर-अधिक होते हैं। क्योंकि मर्यादा का उल्लंघन अधिकतर वही लोग करते हैं। इस प्रकार के संचय वाला व्यक्ति निरोग होने की शक्ति शनैः शनेः खो देता है।

मिश्रित संचय

अकेला एक तरह का संचय बहुत कम ही पाया जाता है। प्रायः दो या सब तरह के संचय एक साथ पाये जाते हैं। प्रायः सामने या बगल का संचय एक साथ और उसी प्रकार बगल का तथा पृष्ठ का संचय एक साथ और कभी-कभी अग्र और

पृष्ठ संचय भी एक साथ ही पाया जाता है। जिनके शरीर के विभिन्न भागों में संचय होता है उनकी अवस्था अत्यधिक भयंकर होती है। ऐसे व्यक्ति स्नायुविक रोग से ग्रस्त, अशान्त, असंतुष्ट और सनकी होते हैं। उन्हें कभी भी कोई भयानक रोग हो सकता है।

भीतरी अवयवों के रोग

मुखाकृति विज्ञान साधारण रोगों की नामावली में विश्वास ही नहीं रखती है। वह सामान्यतः इस निदान में समर्थ है, कि कौन सा भीतरी अवयव अधिक प्रभावित हुआ है। यह निश्चित है, कि किसी प्रकार का दोष संचय होने पर पाचन क्रिया सदैव प्रभावित होती है। रोग का प्रारम्भ यहीं से होता है, और जिस सीमा तक विजातीय तत्त्वों का संचय बढ़ता है, उतना ही उनकी काम करने की शक्ति कम होती है। यह भी सम्भव है कि पीड़ित व्यक्ति को इसकी कोई प्रतीति न हो क्योंकि विकार की जीर्ण दशा आंतरिक अवयवों में बहुत कम पीड़ा देती है। जब संचित मल शुष्क हो जाता है, तो कब्ज अथवा अतिसार की अवस्था में आभास होता है। ये दोनों ही स्थितियाँ ताप का परिणाम हैं। आंतों की झिल्लियों के शुष्क हो जाने से नमी कम हो जाने के कारण कब्ज हो जाता है। तब मल निकल नहीं पाता, गांढें पड़ जाती हैं। आंतों में अंदर के मल के बाहर फेंकने की शक्ति कम रह जाने पर ही अतिसार होता है। उस दशा में मल पूरी तरह पचे बिना ही निकल जाता है। दोनों दशाओं में रक्तहीनता और दिन-प्रतिदिन शरीर कमजोर होता जाता है। पोषक भोजन के बावजूद क्षीणता बढ़ती जाती है। अतः पाचन क्रिया सबसे महत्त्वपूर्ण क्रिया है।

यदि संचय बायें अंग में है तो इससे ज्ञात होता है कि पाचन तंत्र के बायें हिस्से के सभी अंग अधिक प्रभावित हुये हैं। वहाँ पर रुक-रुककर या लगातार कष्ट कर अनुभूति और दर्द का अनुभव होगा। संचय दाहिनी ओर होने पर कष्ट विशेषकर दाहिनी ओर होगा। पृष्ठ संचय में आंतों के पिछले हिस्से में कष्ट अनुभव होता है। अग्र संचय में दूसरे प्रकार के संचयों की अपेक्षा पाचन तंत्र कम प्रभावित होते हैं। कष्ट तो उतना ही होता है, लेकिन पाचन में गड़बड़ी उतनी नहीं होती है। जब संचय दाहिनी ओर होता है तो यकृत (Liver) जो दाहिनी ओर होता है प्रभावित होता हैं उस दशा में शरीर का रंग पीला पड़ जाता है, क्योंकि यकृत रक्त से पित्त को अलग करने में असमर्थ हो जाता है। यकृत की खराबी और सामन्यतः दाहिनी ओर के संचय का चिन्ह है अधिक पसीना आना। ऐसे व्यक्तियों के पैर पसीजते रहते हैं। इससे इनका संचित दोष बाहर निकलता है। इसे यदि कृत्रिम रूप से रोक दिया जाता है, तो परिणाम भयानक हो सकता है, क्योंकि उस स्थिति में पसीने से निकलने वाला दोष इकट्ठा हो जायेगा, और सम्भव है कि किसी मर्म स्थान पर एकत्र हो जाय।

गुर्दे या वृक्क भी पाचन क्रिया से सम्बन्ध रखते हैं। शरीर में किसी प्रकार का

दोष संचित होने पर इनके रुग्ण होने की सम्भावना रहती है। जब पृष्ठ तथा बायें भाग में संचय होता है तो वह अधिक प्रभावित होते हैं। क्योंकि उस दशा में पसीना कम आता हैं आँखो के नीचे की त्वचा सिकुड़ कर थैली सी बन जाती है जो वृक्क की बीमारी का चिन्ह है। महिलाओं में आंतों में अत्यधिक विकार संचय होने से गर्भाशय दबाव पाकर हट जाता है जिसे गर्भाशय का सरकना कहते हैं।

यदि विकार शरीर के ऊपरी या नीचे के हिस्से में बढ़ता है, और पसीना नहीं निकलता है, तो बात रोग की आशंका रहती है। इस तरह बायीं दिशा में दोष संचित होने पर गठिया का खतरा बना रहता है। लेकिन यह तभी होता है जब संचय अधिक होता है। बात पीड़ा प्रायः एकाएक ताप गिर जाने से होती है। ठंड आकस्मिक संकोचन पैदा करती है, और उस हालत में दोष पीछे की ओर वापस धकेला जाता है और जोड़ों पर आकर जमा हो जाता है, इससे दर्द बढ़ता है। ऐसा वात का दर्द जोड़ों के आगे की ओर होता है, पीछे की ओर कभी नहीं होता है। यदि स्थानीय भाप स्नान से दर्द के स्थान के छिद्र खोल दिये जाय, तो जमा दोष पिघल जायेगा और कुछ दोष निकल जाने से दर्द भी कम हो जायेगा।

दोष निकल न जाने की दशा में यह सख्त हो जाता है और यही गठिया हो जाता है। वह अच्छे न हुये वात रोग का परिणाम है। यह कभी-कभी शुष्क गर्मी देकर हटाने की कोशिश के कारण भी हो जाता है। गठिया भी बायीं दिशा के संचय का परिणाम है। पृष्ठ संचय हुआ और गुर्दे भी रोगी हुए तो दशा और भी खराब हो जाती हैं। इस का कारण गुर्दे अपना काम यथावत नहीं कर पाते हैं। इस कारण मल संचय की बढ़ी हुई मात्र जो बाहर निकल जानी चाहिये , अंदर रह जाती है। बायीं दिशा के संचय मे हृदय भी प्रभावित होता है यदि साथ में सामने का संचय भी सम्मिलित रहता है।

मुखाकृति विज्ञान की सहायता से तो रोग का निदान बहुत पहले हो सकता है, और समय पर यदि उपचार किया जाय तो फेफड़े का रोग भी ठीक हो सकता है। फेफड़े कभी अकेले रोगी नहीं होते हैं। सारा शरीर विजातीय तत्त्वों से जब भर जाता है, तभी फेफड़ों पर असर होता है। फेफड़ों के रोग प्रायाःअन्य रोगों के विशेषकर ज्वर को दवा द्वारा दबाये जाने के परिणाम स्वरूप पैदा होते हैं। दोष ऊपर से फेफड़ों में आकर जमा होता है। सिर और कंधों पर विशेष संचय हो जाने पर वहाँ से वह नीचे उतर आता है, जब दोष नीचे आता है, तो फेफड़े का ऊपरी भाग पहले रोग ग्रस्त होते हैं। समान्यतः शरीर अपने अंदर से दोष निकालने की कोशिश करता रहता है, और इसी के परिणामस्वरूप प्रायः सर्दी, जुकाम, बुखार, खाँसी होती है। अग्र संचय में बहुत दिनों तक शरीर दोष बाहर फेकने की कोशिश करता रहता है। इसलिए अग्र संचय ग्रस्त रोगी क्षय -ग्रस्त होने पर भी बुढ़ापा आने तक जी सकते हैं, लेकिन जहाँ संचय बगल में होता है। विशेषकर पृष्ठ की ओर वहाँ जीवनी शक्ति बहुत शीघ्रता से घटती है, और इस प्रकार के उभार नहीं आ पाते। शरीर मल

को निकालने के लिए फोड़े-घाव वगैरा की मदद लेता है। कभी-कभी पीठ और छाती पर तथाकथित कष्टदायी फोड़े हो जाते हैं। यदि इनका उचित उपचार किया जाता है, तो शरीर को आराम मिलती है। क्योंकि शरीर से काफी दोष, मवाद के रुप में निकल जाता है। लेकिन अल्प जीवनी शक्ति वाले लोगों में दोष सख्त होकर गांठों की शक्ल ले लेता है, और यही फेफड़े की क्षय-ग्रन्थियाँ कहलाती हैं। ऐसी गांठों में कोई दर्द नहीं होता है। इससे रोगी को अपनी गम्भीर दशा का अनुमान नहीं हो पाता। इनमें शरीर की शक्ति को क्षय होती जान पड़ती है, लेकिन पीड़ा न होने के कारण गम्भीरता का पता नहीं चलता है। बवासीर, ट्यूमर, कैंसर आदि भी इसी तरह पैदा होते हैं।

भयंकर रोग कुष्ठ का आरम्भ भी सिरों पर गांठें या गिल्टियाँ बनने के रूप में होता है। ये गिल्टियाँ पहले वहीं बनती है, जहाँ पसीना निकलना बंद हो जाता है। गिल्टियों का होना हमेशा इस बात का लक्षण है कि शरीर की दशा भीतर से बिल्कुल अव्यवस्थित है, और जीवनी शक्ति घट गयी है, जिसमें शरीर थोड़ा या पूरा फोड़े और घाव पैदा करने में असमर्थ हो गया है।

चेहरे की दशा तथा रोग

1. कोमल चेहरा, झालर वाली पलकें, धंसी हुई आँखें, टी0वी0 होने का संकेत करती है।
2. चेहरे पर मोम के रंग का पीलापन आना गुर्दे या वृक्क की बीमारी का सूचक है।
3. किसी रोग के शुरु-शुरु में ही रोगी के चेहरे का बैठ जाना किसी भयंकर रोग का सूचक है।
4. एकदम चेहरे की क्रान्ति नष्ट होना छाती के दर्द का सूचक है।
5. मुँह से बार-बार सांस लेना, गलसुपे (Mumms) की निशानी है।
6. रोगी के चेहरे पर झेंप और लज्जा भाव दिखायी देना बलहीनता बताता है।
7. रोगी के चेहरे पर घबराहट होना न्यूमोनिया बताता है।
8. रोगी का चेहरा सुस्त हो जाना कब्ज तथा बुखार का द्योतक है।
9. रोगी के चेहरे पर झुर्रियॉ पड़ जाना अतिसार को द्योतक है।
10. रोगी के माथे से नासिका की जड़ तक झुर्रियों का पड़ना, बेचैनी, उत्सुकता तथा तीव्र आंतरिक वेदना प्रगट करता है।
11. रोगी के माथे पर झुर्रिया पड़ना तीव्र वाह्य दर्द का द्योतक है।
12. रोगी का चेहरा पीला हो जाना पीलिया रोग का सूचक है।

13: चेहरे में स्वाभाविक लाली की कमी होना रक्ताभाव का सूचक है।
14. रोगी का फीका चेहरा होना टी0बी0 प्रदर्शित करता है।
15. मुँह पर दही जैसे सफेद दाग दिखायी देना मुँह के छालों के घाव का द्योतक है।
16. मसूड़ों का रंग नीलापन लिये होता है हृदय रोग का सूचक है।
17. चेहरे का लाल तथा धब्बों वाला होना खसरे का सूचक है।

II. नाड़ी से रोग परीक्षा

भारतवर्ष में नाड़ी विद्या (Science of Pulse) बहुत पुरानी पद्धति है जो रोगों के निदान के लिए उपयोग में लायी जाती रही है। बैद्य लोग इसी विद्या का उपयोग करते रहे हैं। अब इसे प्राकृतिक चिकित्सा में निदान का एक यंत्र मान लिया गया है। आयुर्वेद मतानुसार हमारे शरीर में स्थूल तथा सूक्ष्म सभी मिलाकर 31/2 करोड़ नाड़ियाँ होती हैं, जिनमें से 92 हजार नाड़ियाँ स्थूल हैं। इनमें से 700 नाड़ियों में महीन से महीन छिद्र होते हैं। इस 700 नाड़ियों द्वारा ही शरीर के आकुंचन (Contraction) तथा प्रसारण (Relaxation)का कार्य किया जाता है। इन 700 नाड़िया में 24 नाड़ियाँ निरंतर कार्यरत रहती है। इन 24 नाड़ियों में से 14 नाड़ियाँ प्रधान हैं। ये हैंः– इड़ा, पिंगला, सुषम्ना, सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तिजिहा, यशस्विनी, विस्तोदरी, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, अलम्बुषा, नाड़ियाँ सर्वप्रधान हैं। इड़ा शरीर के बायें भाग में पिंगला दायें भाग में तथा सुषम्ना इड़ा और पिंगला के बीच रहती है। सुषम्ना से अनेक नाड़ियाँ शरीर के विभिन्न भागों में जाती हैं। सुषम्ना सत्व, रज तथा तम्र तीनों गुणों वाली है तथा सूर्य, चन्द्र और वायु तत्त्वों को साथ लिये होती है। ये ही तत्त्व ''बात'' ''पित्त'' और ''कफ'' हैं। नाड़ी परीक्षण द्वारा बात पित्त तथा कफ का शरीर में बल तथा कार्य ज्ञात किया जाता है।

नाड़ी देखने की विधि

प्राकृतिक चिकित्सक अपने हाथ के सहारे से रोगी के केहुनी उठाकर और अग्रबाहु को पूरी तरह से फैलाकर फिर अपने हाथ की अंगुलियों तर्जनी (Index) मध्यमा (Middle) तथा, अनामिका (Ring) से अंगुष्ठ मूल से नीचे वाली नाड़ी (Radial Artery) की परीक्षा करता है। परीक्षा सुस्थिर एवं एकचित होकर करनी चाहिए। तथा तीन बार परीक्षा करनी चाहिये प्रायः पुरुषों के दायें हाथ की नाड़ी तथा महिलाओं की बायें हाथ की नाड़ी देखी जाती हैं। इसका कारण यह है कि पुरूषों में दाहिने हाथ की नाड़ी अधिक व्यक्त तथा महिलाओं में बायें हाथ की नाड़ी अधिक व्यक्त तथा महिलाओं में बायें हाथ की नाड़ी अधिक व्यक्त होती है स्त्रियों की नाड़ी पुरुषों की नाड़ी की अपेक्षा 6 से 15 बार प्रति मिनट अधिक चलती है।

पुरुषों की नाड़ी बड़ी तथा शक्तिशाली होती है, क्योंकि उनके स्वभाव में गर्मी तथा शक्ति अधिक होती है। इसके बावजूद भी उनकी नाड़ी सुस्त तथा ठहर-ठहर कर चलती है। इसके विपरीत स्त्रियों की नाड़ी बड़ी तेज चलती है। इनकी नाड़ी का फैलाव और शक्ति पुरुषों की अपेक्षा कम होती है। एक-एक अंगुली के नीचे नाड़ी की गति 6 प्रकार की होती है, ऊपर उठना, तेज उठना, तेज होकर ऊपर उठना, नीचे धंसना, तेज धसना, तेजी से धंसना। इस प्रकार एक हाथ की नाड़ी की गति 18 प्रकार की होती है। दूसरे हाथ की नाड़ी की गति भी 18 प्रकार की होती है। इनकी प्रत्येक गति से पृथक-पृथक रोग का ज्ञान होता है। जिस प्रकार वीणा की तंत्री सभी रोगों को बताती है, उसी प्रकार मनुष्य की नाड़ी सभी रागों को बताती है।

स्थान भेद से नाड़ी 8 प्रकार की होती है। हाथ की दो, पैर की दो, गले और कंठ की दो तथा नासा के समीप की दो, आँखों की दो, कान की दो, पेडू की दो तथा जीभ के समीप की दो-दो। इनके बायें तथा दायें अंग से दो-दो होकर कुल 16 स्थान हो जाते हैं। इन स्थानों पर कहीं भी नाड़ी के स्पर्श द्वारा रक्त संचार का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

नाड़ी की गति क्यों होती है?

शुद्ध रक्त संचार के समय रक्तवाहिनी नाड़ियों के अन्दर के आवरण पर रक्त की तरंगें-जो आधात पहुँचाती हैं, उसी से नाड़ी की गति हुआ करती है। रक्त संचार के स्वरूप जो धड़कन होती है, उसे नाड़ी द्वारा अंगुलियों से ही जाना जा सकता है। धमनी द्वारा रक्त संचार होता है। अतः उस की परीक्षा की जाती है।

तीन प्रकार की नाड़ियाँ तीन स्थितियों बात, पित्त तथा कफ को दर्शाती हैं। प्रारम्भ में बात की नाड़ी, मध्य में पित्त की नाड़ी तथा अन्त में कफ की नाड़ी होती है। जब बात अधिक होता है, तो तर्जनी अंगुली के नीचे नाड़ी स्फुरण होता है, पित्त की प्रबलता में मध्यमा अंगुली के नीचे नाड़ी फड़कती है तथा कफ की प्रबलता में अनामिका के नीचे स्फुरण होता है। यदि बात, पित्त की अधिकता हो, तर्जनी और मध्यमा के बीच स्फुरण होता है, और यदि पित्त कफ की अधिकता हो तो मध्यमा और अनामिका के बीच में नाड़ी का स्फुरण होता है यदि वात,पित्त की अधिकता हो, तर्जनी और मध्यमा के बीच स्फुरण होता है, और यदि पित्त-कफ की अधिकता हो तो मध्यमा और अनामिका के बीच में नाड़ी का स्फुरण होता है यदि वात-पित्त तथा कफ तीनों विकृत हों, तो तीनों अंगुलियों के नीचे नाड़ी की विकृत गति जान पड़ती है।

आयु के अनुसार नाड़ी की गति

निम्न तालिका में आयु तथा नाड़ी की संख्या दी गयी है :-

नाड़ी तालिका

क्र0 सं0	आयु	नाड़ी की संख्या (प्रति मिनट)
1.	भ्रूण में	150 बार
2.	जन्म के बाद	130-140 बार
3.	1 वर्ष तक	115- 130 बार
4.	1 बर्ष से 2 वर्ष तक	100- 115 बार
5.	2 से 3 वर्ष तक	90-100 बार
6.	3 से 5 वर्ष	80-85 बार
7.	5 से 14 वर्ष	80-85 बार
8.	15 वर्ष से 21 वर्ष	75-85 बार
9.	21 से 60 वर्ष	65-75 बार
10.	वृद्धावस्था	50-70 बार

आयु के अनुसार नाड़ी की कम से कम, अधिक से नाड़ी की गति तथा उसका अनुपातः-

क्र0सं0	आयु (वर्ष)	कम से कम नाड़ी की गति संख्या	अधिक से अधिक नाड़ी की गति संख्या	अनुपात
1	2	3	4	5
1-	0-1	101	160	134
2-	1-2	84	136	111
3-	2-3	84	134	108
4-	3-4	80	134	108
5-	4-5	80	133	108
6-	5-6	70	128	98
7-	6-7	72	124	95
8-	7-8	72	112	94
9-	8-9	72	124	94
10-	9-10	68	124	91
11-	10-11	68	122	80
12-	11-12	68	120	89
13-	12-13	66	114	87

14-	13-14	60	112	82
15-	14-15	60	112	83
16-	15-16	60	108	80
17-	16-17	60	106	76
18-	17-18	60	106	70
19-	18-19	56	104	74
20-	19-20	54	104	71
21-	20-21	56	104	71
22-	21-22	54	104	70
23-	22-23	56	104	71
24-	23-24	56	104	72
25-	24-25	56	104	70
26-	25-30	56	104	72
27-	30-35	56	104	72
28-	35-40	56	104	72
29-	40-45	54	104	72
30-	45-50	54	104	72
31-	50-55	54	104	72
32-	55-60	54	104	72
33-	60-65	54	104	75
34-	65-70	53	104	73
35-	70-75	52	102	75
36-	75-80	50	98	72
37-	80	33	94	72

नाड़ी का स्पंदन एक मिनट में साधारण गति से 8-10 अधिक या कम् है तो उस मनुष्य को कोई रोग अवश्य होता है। प्रौढ़ावस्था में एक स्वस्थ व्यक्ति का स्पन्दन प्रति मिनट 70-75 बार होता है। शारीरिक गठन, खान-पान, रहन-सहन, स्त्री-पुरुष आदि के अनुसार भी नाड़ी की गति घट बढ़ सकती है। बैठे हुये मनुष्य की नाड़ी एक मिनट में लेटे हुये मनुष्य की अपेक्षा लगभग 10 बार अधिक चलती है और खड़े हुये व्यक्ति की नाड़ी बैठे हुये की तुलना में एक मिनट में लगभग 20 बार अधिक चलती है। शरीर में ताप की अधिकता से नाड़ी की गति दुगुनी हो जाती है। किन्तु सर्दी में नाड़ी की गति कम हो जाती है।

नाड़ी की गति गिनने की विधिः-

नाड़ी सदैव 1 मिनट तक गिनी जाती है। नाड़ी देखते समय गिनती की जाती है। नाड़ी की संख्या मालूम करने के लिए सेकेण्ड की सुई लगी घड़ी का उपयोग करते हैं। नाड़ी परीक्षा में निम्न बातें देखी जाती हैं।

1. नाड़ी की गति- स्वस्थ अवस्था में नाड़ी की गति प्रति मिनट 72-80 तक होती है।
2. गति (Rythm)- इसमे दो बातें देखते हैं- नाड़ी सम है या विषम।

   1. समयानुसार :- नाड़ी स्पंदन ठीक हो रहा है या कभी मंद और कभी तीव्र।

   2. आवृति (Volume)- रक्त की उस मात्र को आकृति कहते हैं जो रक्त वाहिनियों में संचार करती रहती है। साधारण परिभाषा मे स्पंदन साधारण होता है और अधिक में अधिक प्रतीत होता है।
3. वेगानुसार-प्रत्येक स्पंदन का वेग समान है या असमान।
4. संहति (Condition of arteries)- धमनी की दीवार की अवस्था को संहति कहते हैं। धमनी की दीवार मृदु है या कठोर, इसे देखने के लिए उस पर तीनों अंगुलियां धीरे-धीरे फेरते हैं।

नाड़ी के प्रकार

1. अन्तरगति नाड़ी (Bigminal pulse)

स्वस्थ मनुष्य की नाड़ी पहले ठोकर लगती है फिर थोड़े शान्त रहकर दूसरी ठोकर लगती है।

2. ऊँची नाड़ी (Bounding pulse)

इस प्रकार की नाड़ी स्वस्थ अवस्था की अपेक्षा अधिक ऊँची और उभरी हुई होती है। इस प्रकार की नाड़ी से शरीर में गर्मी की अधिकता प्रकट होती है।

3. शीतल नाड़ी (Cold pulse)

जिस नाड़ी को छूने से सर्द प्रतीत हो, उसे शीतल नाड़ी कहते हैं। यह नाड़ी यह बताती है कि रोगी के शरीर में गर्मी की काफी कमी है।

4. छोटी नाड़ी (Short pulse)

इस प्रकार की नाड़ी स्वस्थ अवस्था से छोटी और लम्बाई में कम प्रतीत होती है। यह नाड़ी रोगों में सर्दी की अधिकता की सूचना देती है।

5. निर्बल नाड़ी (Weak pulse)

इस प्रकार की नाड़ी को छूने पर अँगुली पर धीमी सी ठोकर लगती है, यह नाड़ी रोगी में जीवनी-शक्ति घट जाने की सूचना देती है।

6. परिपूर्ण नाड़ी (Frequent pulse)

जब नाड़ी पर अंगुलियाँ रखने से उसके नीचे उछल-प्रबल प्रतीत हो, तो उसे परिपूर्ण नाड़ी कहते हैं। कठिन रोगों में ऐसे ही नाड़ी होती है।

7. कठोर नाड़ी (Hard pulse)

जब अंगुलियों के दबाने से नब्ज कठोर प्रतीत हो, तो कठोर नाड़ी कहते हैं। शरीर में तरल पदार्थ की कमी होने पर ऐसी स्थिति होती है।

8. आन्तरिक नाड़ी (Intermittant pulse)

जो नाड़ी चलते -चलते एक क्षण के लिए रुक जाय तथा फिर चलने लगे, अर्थात् अटक-अटक कर चले, उसे आन्तरिक नाड़ी कहते हैं। जब हृदय में थकावट पैदा हो जाने के कारण जब थोड़ा आराम होता है तब ऐसी नाड़ी चलती है एकाएक दुर्घटना से भी ऐसी नाड़ी चलती है।

9. लम्बी नाड़ी (Large pulse)

इस नाड़ी में अंगुलियों के नीचे स्पंदन अधिक होता है। यह रक्त प्रकोप या विषम रोगों में चलती है।

10. निम्न तनाव की नाड़ी (Low tension pulse)

इस प्रकार की नाड़ी लम्बाई, चौड़ाई और गहरायी में स्वस्थ अवस्था से कम होती है।

11. शीघ्रगामिनी नाड़ी (Quick pulse)

इस अवस्था में नाड़ी जल्दी-जल्दी चलती है। स्पंदन 100-120 तक हो जाता है। ऐसा तभी होता है जब शरीर में गर्मी की अधिकता होती है।

12. मंद नाड़ी (Slow pulse)

जब सामान्य अवस्था में नाड़ी की गति कम होती है, तो मंद नाड़ी कहते हैं। रक्त चाप की कमी से, मूर्छा अथवा सदमा आदि के समय ऐसी नाड़ी स्पंदन करती है।

विभिन्न रोगों में नाड़ी की गति

यहाँ पर कुछ प्रमुख रोगों में नाड़ी की गति का वर्णन कर रहे हैं।

(1) पाचन संस्थान के रोग

मंदाग्नि रोग में नाड़ी की गति शीतल होती है। अर्जीण में नाड़ी क्षीण और ठण्डी हो जाती है। अतिसार में नाड़ी की गति गर्मी में जोक के समान मंद और निस्तेज होती है। खाने की अरुचि होने पर नाड़ी स्थिर, मन्द पुष्ट तथा कठिन होती है। कब्ज की अवस्था में नाड़ी प्रायः रक्त से खाली और वायु से भरी होने से ऊँची

होती है। वातज शूल में नाड़ी की गति वक्र होती है। पित्तज शूल में यह ऊष्ण होती है। यकृत दोष में नाड़ी खाली तथा सख्त होती है वमन में नाड़ी कठोर, ज्वर, युक्त, लुप्तप्रायः और सविराम होती है।

(2) श्वास के रोग

फेफड़े की टी0बी0 में रोगी का जिस ओर का फेफड़ा खराब होता है, उस ओर की नाड़ी की गति दूसरी ओर की अपेक्षा ऊँची होती है। निमोनिया में दोनों ओर की नाड़ियाँ लहरदास हो जाती हैं। दमा के रोगी में नाड़ी सदा तीव्र, कड़ी तथा जोक की तरह चलती है।

(3) रक्तवाहक संस्थान के रोग

उच्च रक्तचाप में नाड़ी की गति ऊँची होती है तथा अंगुलियों को जबरदस्ती हटाती हुई सी प्रतीत होती है। ऐसा लगता है कि नाड़ी में बहती हुई कोई चीज अंगुलियों को ढकेलकर आगे बढ़ रही हो। हीन रक्तचाप में नाड़ी की गति क्षीण तथा मंद होती है। धड़कन जब बढ़ती है तब नाड़ी तीव्र तथा बड़ी होती है। धमनियों के शोध में नाड़ी बड़ी और विभिन्नतायुक्त हो जाती है। रक्तस्राव के समय नाड़ी बड़ी शक्तिशाली तथा छूने में गर्म होती है। हृदय रोग में द्रुतगामिनी, तथा कर्कश होती है।

(4) मूत्र रोग

मूत्रघात में नाड़ी मेंढक के समान उछल-उछल कर चलती है। वृक्कशोध में नाड़ी की गति कठोर और नियमित होती है। रक्त में पित्तवाहक नाड़ी उत्तेजित, बात व कफ वाहक नाड़ी पतली हो जाती है।

(5) गुप्त रोगों में नाड़ी की गति

1. पुरुषों में

उपदंश की अवस्था में नाड़ी वक्र,कृश तथा गम्भीर होती है। धातुक्षीणता में नाड़ी बहुत धीमी चलती है। नपुंसकता में रोगी के बायें हाथ की नाड़ी मे टेढ़ापन पाया जाता है। प्रमेह में नाड़ी सूक्ष्म, जड़, मृदु होती है। वीर्य की कमी होने पर नाड़ी की गति निर्बल होती है तथा धीमे चलती है।

2. स्त्रियों में

गर्भावस्था में नाड़ी भारी और वायु की चाल से चला करती है। योनि रोग में नाड़ी पतली अंगुली के नीचे सख्त होती है, परन्तु धीमी चलती है। श्वेत प्रदर में नाड़ी एक चाल से परन्तु कमजोर चलती है।

(6) संक्रामक रोग

मलेरिया में नाड़ी अंगूठे की जड़ से हट जाती है और कुछ देर के बाद फिर

अपने स्थान पर लौट आती है। चेचक में नाड़ी तेजी से किन्तु टेढ़ी-मेढ़ी चलती है। टाइफाइड में नाड़ी की गति 100 से अधिक होती है। अंतिम दिनों में नाड़ी की गति रुक-रुककर चलती है। डिफ्थीरिया में नाड़ी की गति तेज और कड़ी होती है। पेचिस में नाड़ी की गति जोंक की तरह होती है। टी0बी0 में नाड़ी की गति क्षीण हो जाती है।

III. जिह्वा परीक्षण

1. तीव्र ज्वर, लम्बे उपवास तथा जल की कमी होने पर जीभ पर मैल की तह जम जाती है।
2. रक्त की कमी होने पर जीभ का रंग फीका हो जाता है। जीभ की सतह मुलायम तथा समतल हो जाती है।
3. स्नायुरोगी में जीभ संज्ञाहीन हो जाती है।
4. पीलिया में रोगी की जीभ कुछ पीली हो जाती है।
5. हृदय के रोगों में रोगी की जीभ जरा सी बढ़ जाती है। तथ दांत के निशान पड़े दिखायी देते हैं।
6. हृदय के रोगें में जीभ का रंग कुछ नीला हो जाता है।
7. शोधों के रोग में जीभ अस्वाभाविक रूप से लाल हो जाती है।
8. पाचनशक्ति के विकारों में जीभ लाल हो जाती है तथा उस पर छोटे-छोटे दाने पड़ जाते हैं।
9. अजीर्ण रोगों में जीभ मोटी हो जाती है। जीभ मैली तथा उस पर सफेदी दिखायी देती है।
10. आमाशय के रोगों में जीभ फटी हुई होती है।
11. उदर रोगों में मुँह से द्रुगंर्ध आने लगती है।
12. शरीर में जल की कमी होने पर जीभ सूखी और रुखी हो जाती है।
13. विटामिन "बी" की कमी से जीभ चिकनी हो जाती है।
14. क्षय रोगों में जीभ लाल रंग की तथा खुश्क हो जाती है।
15. पित्त ज्वर में जीभ की नोक और किनारे लाल पड़ जाते हैं।
16. स्वास, हृदय तथा फेफड़े के रोगों में जीभ बैंगनी दिखायी देती है। और उसमें बहुत जलन होने लगती है।

IV. दाँत व मसूढ़ों-का परीक्षण

1. पाइरिया में दांतों की जड़ों एवं मसूढ़ों से पीप निकलने लगता है।
2. पाण्डुरोग में रोगी के मसूढ़े भी पीले पड़ जाते हैं।
3. शरीर में चूने की कमी होने से दाँत आसानी से टूटने लगते हैं।
4. स्कर्वी (Scurvy) में रोगी के मसूढ़ों को दबाने से खून निकलने लगता है।

5. विष होने पर मसूढ़ों के ऊपर गहरी नीली धारी पड़ जाती है।
6. पेट में कीड़े होने पर रोगी अपने दांत पीसता है।
7. पेट सम्बन्धी रोगों में दांतों पर हरा या पीला मैल जम जाता है।
8. बुखार में भी दांतों पर काला या भूरा मैल जम जाता है।

V– ओंठ परीक्षण

1. हृदय रोग में रोगी के ओंठ काले या नीले हो जाते हैं।
2. दिल की कमजोरी में होंठ नीले हो जाया करते हैं।
3. निमोनिया तथा मलेरिया में होठों पर दाने निकल आते हैं।
4. पाचन विकारों में होंठ हर समय सूखे से रहते हैं तथा कभी -कभी सफेद भी हो जाते हैं।
5. रक्त की कमी में होंठ पीले हो जाते हैं, कभी-कभी सफेद भी हो जाते हैं।

VI– आँख परीक्षण

1. हैजा, क्षय, कमजोरी, अतिसार, रक्तस्राव में रोगी की ऑखें अन्दर धॅसी होती हैं।
2. उच्च रक्त चाप, में नेत्रें से रक्तस्राव होने लगता है।
3. बात रोगों में नेत्र सूखे हो जाते हैं।
4. पित्त रोगों में संतापयुक्त हो जाते हैं तथा पीले दिखायी देते हैं।
5. रक्त की कमी, दिल का अधिक धड़कना, सिर चकराना, आदि अवस्था में आँखों के सामने अंधेरा आ जाता है।
6. नजला, जुकाम, पागलपन, और तीव्रज्वर में आँखें लाल हो जाती हैं।
7. हृदय विकार तथा आक्सीजन की कमी में आँखें नीली हो जाती हैं।
8. विटामिन की कमी होने पर आँखों में कैंजापन आ जाता है।
9. पेट के रोगों में आँखों के चारों ओर लाल-लाल, सोसे जैसा नीला फेरा पड़ जाता है।
10. एनीमिया में ऑखों की झिल्ली सफेद हो जाती है।
11. टी0बी0 तथा अन्य भयानक बीमारियों में आँखें चिंतातुर दिखायी देती हैं।

VII– कनीनिका निदान (Iris Diagnosis)

कनीनिका निदान की खोज डा0 वान पैक जेली (Ignatz Von Pec Zely) ने 1848 में की थी। डा0 जेली जब 11 वर्ष के थे, उन्होंने बगीचे में उल्लू को पकड़ा, लेकिन पकड़ने में उल्लू की टांग टूट गयी। उन्होंने जब उल्लू की आँखों में ध्यान से देखा तो कुछ घब्बे तथा चिन्ह उभर आये थे। उन्होंने उस उल्लू की टांग का उपचार

किया। जैसे-जैसे टांग ठीक होती गयी वैसे -वैसे और आँख का धब्बा व धब्बे के रूप में थी धूमिल होकर गायब हो गयी। बड़े होकर जान जब डाक्टर हुये तो एक दिन एक रोगी जिसकी टाँग टूट गयी थी, परामर्श के लियेआया। उन्हें उल्लू की-टाँग टूटने की घटना याद आयी। उन्होंने सूक्ष्म यंत्र से रोगी की आँख का निरीक्षण किया तो रोगी के उपतारा मण्डल (Iris) में एक काला धब्बा दिखायी दिया। यह धब्बा भी उसी स्थान पर था, जिस स्थान पर उल्लू की आँख में था। इससे उन्होंने कनीनिका के टांगों का स्थान निश्चित किया। अपने चिकित्सकीय व्यावहारिक अनुभव में उन्होंने पाया कि शरीर के आन्तरिक तथा वाह्य अंगों के रोगग्रस्त होने पर कनीनिका(Iris) में विभिन्न प्रकार के चिन्ह उभर आते हैं। सूक्ष्म दर्शक यंत्र से देखकर यह पता किया जा सकता है कि शरीर के किन अवयवों में रोग बढ़ रहा है।

अमरीका के प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक हेनरी लिंडलाहर (Henry Lindlahar) ने भी कनीनिका का गहन अध्ययन किया। उन्होंने आईरिडाइगनोसिल (Iridiagnosis) नामक पुस्तक की रचना की। उनके अनुसार कनीनिका (Iris) में 36 प्रतिनिधि बिम्ब होते हैं। जो शरीर के सभी अंगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। तीव्र औषधियाँ जो रोगों में पायी खाती हैं उनका भी प्रभाव कनीनिका में दिखायी देता है।

कनीनिका

यह आँख का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। आँख में दो स्पष्ट भाग तथा रंगदिखायी देते हैं। कालीपुतली तथा आँख का सफेद हिस्सा काली पुतली मे एक बिन्दु होता है। बिंदु को छोड़कर बिंदु के चारों ओर काले भाग को कनीनिका (Iris) कहते हैं। आँख का वर्णन एक गोले अथवा गोल्ब के रूप में किया जाता है, परन्तु वास्तव में यह अण्डाकार होता है। इसका व्यास 2.5 सेंटीमीटर होता है। यह तीन स्तरों का बना होता है।

(1) श्वेत पटल (Scleara)

यह आँख का वाहयतम स्तर है। इससे नेत्र का श्वेत भाग बना है। यह अपारदर्शी होता है तथा कनीनिका (Iris)से मिला हुआ होता है।कनीनिका पारदर्शक होती है, इसीसे प्रकाश आँख के भीतर पहुँचता है। श्वेत पटल नेत्र को कोमल अंगों की सुरक्षा करता है।

(2) मध्य पटल (Choroid)

यह आँख का मध्य स्तर है। इसकी रक्त वाहिकायें अन्तः वैरोटिड धमनी से निकलने वाली नेत्र धमनी (ophthalmic artery) की शाखायें होती हैं। यह कनीनिका का निर्माण करती है। इस पटल का रंग कालापन लिये हुये भूरा होता है। इसके केन्द्र में एक काला बिन्दु दिखायी देता है। यह एक छिद्र होता है। जिसे नेत्र तारा या पुतली (Pupil) कहते हैं। कनीनिका के पीछे द्रव पदार्थ होता है। जिसमें रक्त वाहिनियाँ होती हैं, जो आँख को पोषण देती हैं। कनीनिका के पीछे एक पिगमेन्टेशन स्तर होता

है, जो कनीनिका को उसका रंग प्रदान करता है। नीली, भूरी, भूसर आदि रंग की आँखें इसी कारण होती हैं।

3- दृष्टि पटल (Retina)

यह नेत्र का भीतरी स्तर है जो अनेक परतों से बना होता है। जिसकी रचना स्नायुओं, कोशिकाओं, शलाकाओं (Rodes) तथा शंकुओं (Cones) से होती है। मस्तिष्क में दायें तथा बायें भाग में जहाँ से रंग नाड़ी निकल कर आँखों से मिली होती हैं। दाहिनी आँख की नाड़ी मस्तिष्क से बायें भाग से निकलती है तथा बाँयीं आँख की नाड़ी दाहिने मस्तिष्क के रंग केन्द्र से निकलती है। यही फैली हुई नाड़ी रेटिना कहलाती है। बाहरी वस्तुओं का बिम्ब कनीनिका से होकर लेन्स द्वारा रेटिना पर पड़ता है, और वहाँ से रंग नाड़ी द्वारा विम्ब मस्तिष्क के रंग केन्द्र में पहुँचता है, वहाँ पर उस वस्तु के आकार तथा रंग का निर्णय होता है।

शारीरिक अंगों तथा कनीनिका में सम्बन्ध

दोनों आँखों की कनीनिका में बहुत सी सूक्ष्म से सूक्ष्म नाड़ियाँ तथा स्नायुतंत्र होते हैं। इन सभी का सम्बन्ध शरीर तथा मस्तिष्क से दो प्रकार से होता है। एक तो दृष्टि तथा रंग नाड़ी मस्तिष्क तथा कनीनिका तक फैली होती है। दूसरी नाड़िया सुषम्ना नाड़ी के सम्पर्क में होती हैं। सुषम्ना नाड़ी का सम्बन्ध पूरे शरीर से होता है। अतः शरीर के किसी भी भाग में परिवर्तन होने से वह तुरन्त कनीनिका पर अंकित हो जाता है। कनीनिका में माँसपेशियाँ , स्नायु तथा रक्त वाहिनियाँ होती हैं, जो पूरे शारीरिक तंत्र से मिली हुई होती हैं। अतः जब शरीर में किसी प्रकार का कोई बदलाव आता तो उसकी छाप स्पष्ट रूप से कनीनिका पर देखी जा सकती है। कनीनिका में काले-सफेद, तिरछे, हल्के गहरे चिन्ह तथा रेखायें रोग की स्थिति में उभर आती हैं।

कनीनिका के आवरण

कनीनिका के सात आवरण बताये गये हैं। प्रथम आवरण आमाशय का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरे आवरण में छोटी व बड़ी आंतों के चिन्ह होते हैं। तीसरा आवरण स्वतंत्र स्नायु संस्थान, क्लोज, गुर्दे तथा हृदय के लिए निर्धारित हैं। चौथा आवरण स्वसन संस्थान को दर्शाता है। पाँचवे आवरण में मस्तिष्क तथा ज्ञानेन्द्रियाँ आती हैं। छठा आवरण यकृत, जलग्रन्थियाँ तथा लसीका तंत्र का प्रतिनिधित्व करता है तथा सातवाँ आवरण त्वचा माँसपेशियों व नाड़ी संस्थान का स्थान है।

कनीनिका का वर्गीकरण

कनीनिका को 36 भागों में विभक्त किया गया है। शरीर के दांये अंग के अवयव दायी कनीनिका में तथा बांये अंग के अवयव काफी कनीनिका में दिखायी पड़ते हैं।

कनीनिका में रोग के लक्षण

डा0 लिण्डलहार ने स्पष्ट किया है कि शरीर में जब किसी रोग के लक्षण जन्म लेते हैं, तो उसके कुछ चिन्ह कनीनिका के निश्चित स्थान पर उत्पन्न होने लगते हैं। कनीनिका में प्रत्येक अंग तथा अवयव का स्थान निश्चित है, वहाँ पर श्वेत रंग की गहरी रेखायें दिखायी देने लगती हैं। यदि इसी अवस्था पर प्राकृतिक चिकित्सा विधि से शरीर में संचित विजातीय तत्त्व को बाहर निकाल दिया जाता है, तो रोग गम्भीर नहीं बनने पाता है। लेकिन यदि शक्तिशाली तथा तेज औषधियों से रोग को दबा दिया जाता है, तो रोग गम्भीर (Chronic) अवस्था में पहुँच जाता है।

यदि ध्यानपूर्वक कनीनिका को देखा जाय, तो पता चलता है कि जैसे-जैसे रोग की दशा बदलती जाती है, वैसे-वैसे कनीनिका में चिन्हों की उभरी हुई दशा भी बदलती जाती है। जब श्वेत रेखाओं के साथ-साथ काली रेखायें दिखने लगें तो इसका तात्पर्य होता है कि रोग की जटिलता बढ़ रही है। जैसे-जैसे काली रेखायें बढ़ती जाती है, रोग गम्भीर होता चला जाता है।

VIII– मूत्र परीक्षण-(Urine Examination)

मात्रा

साधारणतया स्वस्थ व्यक्ति प्रतिदिन 1500 सी0सी0 मूत्र परित्याग करता है। शीत तथा वर्षाऋतु में यह मात्र बढ़ जाती है तथा ग्रीष्म ऋतु में पसीने के अधिक निकलने के कारण मूत्र की मात्र कम हो जाती है। मधुमेह तथा चिरकालीन वृक्क शोध (Chronic Nephritis) आदि में मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है। इसी प्रकार संक्षोभ (Shock)रक्त चाप की कमी, हैजा, दस्त आदि में मूत्र की मात्रा ही कम हो जाती है। इस रोग में मूत्र की मात्रा का बढ़ना हृदयमें विकृति की कमी का सूचक है।

साधारणतया स्वस्थ अवस्था में व्यक्ति प्रायः दिन में 5 बार तथा रात्रि मे 1 बार मूत्र का परित्याग करता है। रात्रि में बार-बार मूत्र का परित्याग करना डायबिटीज का सूचक है।

रंग

प्राकृत अवस्था में मूत्र हलके पीले रंग का होता है। पीलिया मे यह मूत्र अधिक पीला हो जाता है। फाइलेरिया में मूत्र में काइल (Chyluria) आने पर मूत्र दूध के समान सफेद हो सकता है। रक्त आने पर मूत्र लाल तथा हीमोग्लोबिन आने पर काला हो जाता है।

3. पारदर्शिता

प्राकृत अवस्था में मूत्र जल के समान निर्मल होता है। मूत्र मे फास्फेट (Phosphate) तथा पीव (Pus) बैक्टीरिया आदि रहने पर मूत्र गंदला हो जाता है।

गन्ध (Odeur)

प्राकृत मूत्र की गंध एक विशिष्ट गंध होती है। एसीटोयोंन (Acetonl) आने पर मूत्र की गंध सड़े फल के समान मीठी होती है।

मूत्र के सामान्य तत्त्व

मूत्र में 9·60 भाग जल और ·40 भाग ठोस पदार्थ होता है। 24 घन्टे मे लगभग 2 या 2-1/4 औंस ठोस पदार्थ मूत्र द्वारा हमारे शरीर से बाहर निकलते हैं। ठोस पदार्थों में यूरिया, यूरिक एसिड ,सोडियम और क्लोराइट ही अधिक मात्रा में होते हैं।

मूत्र के असामान्य तत्त्व

विकृत अवस्था में मूत्र में कभी-कभी रक्त, पीव, पित्त, (Bile) शर्करा, एसीटोन एलबूमिन आदि तत्त्व आ जाते हैं।

सामान्य मूत्र में जल तथा अन्य तत्त्वों की मात्रा

तत्त्व	परिमाप
यूरिया	2.3 ग्राम प्रति लीटर
क्रेटिनाइन	1.5 ग्राम प्रति लीटर
यूरिक ऐसिड	0.7 ग्राम प्रति लीटर
सोडियम क्लोराइड	9.00 ग्राम प्रति लीटर
पोटेशियम क्लोराइड	2.5 ग्राम प्रति लीटर
सल्फ्यूरिक एसिड	1.8 ग्राम प्रति लीटर
अमोनिया	0.6 ग्राम प्रति लीटर

मूत्र का परिमाण तथा अन्य तत्त्वों के न्यूनाधिक के कारण

मूत्र का परिमाण तथा अन्य तत्त्व निम्नलिखित कारणों से न्यूनाधिक हो जाता है-

(1) मूत्र के परिमाण में वृद्धि

हृदय के बायें भाग का विस्तार, उच्च रक्तभार, वृक्क शोथ का प्रारम्भ, फेफड़ों के आवरण में जल भर जाना, जलोदर, मधुमेह, अधिक जलपान, शीतकाल, आदि कारणों से मूत्र की मात्र बढ़ जाती है।

(2) मूत्र के परिमाण में कमी

ज्वर, अतिसार, विचूचिका, वृक्क शोथ, मूत्रवरोध, व्यायाम, अधिक रक्त स्त्राव, वमन, मद्यपान, रक्तभार, न्यूनता और लिवर की विकृति में मूत्र की मात्र कम हो जाती है।

(3) मूत्र का अपेक्षित गुरुत्व तथा भार कम या अधिक हो जाना

मधुमेह, यूरिया की वृद्धि, मांसाहार, आदि में मूत्र का परिमाण कम हो जाना और निमोनिया, टाइफाइड में मूत्र का अपेक्षित गुरुत्व (specific gravity) बढ जाता है। हिस्टीरिया, मूत्र नलिका का रोग़, शीतल पेय, पक्षापात, रक्त में स्वेताणु वृद्धि, वृक्क तथा यकृत (Kidneys and liver) में गड़बड़ी से मूत्र का अपेक्षित गुरुत्व कम हो जाता है।

(4) यूरिया की वृद्धि या कमी

सामान्यतः यूरिया 2.3 ग्राम प्रति लीटर होती है। मांसाहार, पक्का भोजन, मधुमेह गाउट (बालरक्त), निमोनिया, क्षय खट्टे पदार्थों के अधिक सेवन आदि कारणों से यूरिया बढ़ जाती है।

नाइट्रोजन रहित भोजन, वृक्क विकार, यकृत विकृति, सतत वमन, अतिसार, सभी जीर्ण रोग में यूरिया की मात्र घटती है।

यूरिक एसिड में वृद्धि तथा कमी

सामान्यतः मूत्र में 0.7 ग्राम प्रति ली0 यूरिक एसिड होता है। लेकिन तीव्र, ज्वर यकृत के रोग, पौष्टिक अन्न सेवन, मांसाहार, दमा के रोग, प्लीहा का रोग, बात रक्त आदि में यूरिक एसिड बढ़ जाता है। कुनैन औषधि से इसकी मात्र कम हो जाती है।

क्लोराइड

निमोनिया, शीतज्वर, विषम ज्वर के शमन होने पर रोगी के मूत्र में क्लोराइड या नमक की मात्रा आमतौर पर बढ़ जाती है। निमोनिया में नमक की मात्र कम हो जाती है।

फास्फेट

कुछ जीर्ण रोग जिसमें मूत्र में स्नायुओं के टुकड़े आते हों तथा मधुमेह में फास्फेट की मात्र बढ़ जाती है। फेफड़े के चारों ओर वाली झिल्ली में शोथ में कम हो जाता है।

मूत्र का आकार प्रकार तथा रोग

1. धूमिल रंग का मूत्र होना रक्त की उपस्थिति का सूचक है।
2. लाल रंग का मूत्र होना अम्लता (Acidity) की अधिकता बताता है।
3. गहरे पीले रंग का मूत्र होना पित्त की मौजूदगी का सूचक है।
4. गंदा मूत्र होना श्लेष्मा या पीव का सूचक है।
5. फीका या सफेद मूत्र होना जल की अधिकता, यूरिया या चीनी की अधिकता का सूचक हे।

6. रोगी के मूत्र करने के बाद भी कुछ देर तक झाग रहना श्वेत सार (Albumin) या पित्त के उत्पादन का सूचक है।
7. मूत्र में अधिक अम्ल होना पथरी की उपस्थिति का सूचक है।
8. मूत्र प्रवाह में जलन, मूत्र का रुक-रुक कर आना, मूत्र मार्ग में तीव्र दर्द, मूत्रशय में पथरी होने की ओर इंगित करता है।
9. मूत्र में शर्करा का आना मधुमेह का सूचक है।
10. मधुमेह, पुराना वृक्क शोथ (Bright's desease) हिस्टीरिया, रक्त श्राव, आदि में मूत्रल औषधियाँ लेने से पीला मूत्र आता है।
11. मूत्र में यूरेट्स , फासफेट आदि आने की अवस्था में रोगी के मूत्र का रंग बादल जैसा हो जाया करता है।

IX– रक्त भार तथा रोग

जब हृदय रक्त को धमनियों में धकेलता है, तो धमनियों की दीवारों पर एक प्रकार का दबाव पड़ता है इसी को रक्तचाप या रक्तभार (blood Pressure) कहते हैं। यह दबाव जब तक प्राकृतिक अवस्था में रहता है तब तक रक्तचाप सम्बन्धी कोई रोग नहीं होता है। जब रक्तचाप बढ़ जाता है तो उसे उच्च रक्तचाप (High Blood Pressure) का हाइपरटेंशन (Hypertention) कहते हैं। रक्तचाप कम हो जाने पर न्यूनरक्तचाप (Low Blood Pressure) कहते हैं।

दो विधियों द्वारा रक्तचाप देखा जाता हैः

1. स्पर्शन विधि (Pulpatory method)
2. श्रवण विधि(Ausculatory method)

स्पर्शन विधि में हाथ से नाड़ी का अध्ययन करते हैं।

श्रवण विधि में नाड़ी को स्पर्श करने की अपेक्षा वी0पी0 मापन यंत्र का उपयोग करते हैं, जिसे स्फिग्मोमेनोमीटर कहते (Sphygmomenouneter) हैं।

रक्त चाप दो प्रकार का होता है।

1. प्रकुंचन रक्त भार (Systolic Blood Pressure)
2. अनुशिथिलन रक्तभार (Diastolic Blood Pressure)

रक्तचाप जानने की सरल विधि

यदि 100 की संख्या में आयु की आधी संख्या जोड़ दी जाय, तो प्रकुंचन रक्त चाप मालूम हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि आयु 50 वर्ष की है, तो प्रकुंचन रक्तचाप (Systolic) (100 + 50/2 = 125 mn Hg) चाप लगभग होगा।

सामान्य रक्तचाप

आयु वर्ष में	प्रकुंचन रक्तचाप	अनुशिथिलन	नाड़ी चाप
1	2	3	4
15 से 19 वर्ष	100	70	39
20 से 24 वर्ष	111	72	39
25 से 29 वर्ष	112	72	40
30 से 34 वर्ष	114	72	42
35से 39 वर्ष	119	73	46
40 से 44 वर्ष	120	73	47
45 से 49 वर्ष	123	75	48
50 से 24 वर्ष	126	77	49
55 से 59वर्ष	127	80	47
60 से 64वर्ष	128	82	46
65 से 69 वर्ष	129	83	46
70 वर्ष के ऊपर	130	83	47

रक्तभार बढ़ने तथा घटने के कारण

हृदय की धड़कन की संख्या में वृद्धि होने, धड़कन की शक्ति के बढ़ जाने, रक्त का परिमाप में बढ़ जाने के कारण और धमनियों के अधिक संकुचन हो जाने से रक्त भार बढ़ जाता है। इसकी विपरीत अवस्था में रक्तचाप घट जाता है।

प्राकृतिक दशाओं में रक्तचाप

1. प्रातः काल की अपेक्षा सायंकाल को प्रकुंचन (Syslolic) रक्तचाप बढ़ जाता है।
2. खड़े होने पर बैठने की अपेक्षा दो मिलीमीटर प्रकुंचन बढ़ जाता है। तथा अनुशिथिलन कम हो जाता है।
3. क्रोध, चिंता तथा घबराहट में प्रकुंचन रक्तचाप बढ़ जाता है।
4. खाना खाते और अधिक पानी पीने से भी प्रकुंचन भार अधिक हा जाता है।
5. व्यायाम से प्रकुंचन भार बढ़ता है।
6. नींद सोने में पकुंचन रक्तचाप कम हो जाता हें।

X– **वक्ष परीक्षा** -

वक्ष परीक्षा निम्न प्रकार से की जाती है:-

(1) देखकर (Inspection)

(2) स्पर्शन। (Palpation)

(3) परिमापन। (Mensuration)

(4) हाथ से ठोक कर (Percussion) (आघातन)

(5) सुनकर। (Ascultation)

(1) देखकर परीक्षा

इससे वक्ष की गठन में विकार, सांस लेने तथा छोड़ने के समय वक्ष का तनना और उतरने की स्थिति, श्वास-प्रश्वास की प्रकृति, छाती की बनावट, श्वास -प्रश्वास के समय वक्षोदर मध्यस्थ पेशी की स्थिति आदि का अवलोकन करते हैं।

(2) स्पर्शन

आँख से देख लेने के बाद वक्ष की परीक्षा करते हैं। इसमें छाती या पीठ पर हथेली रखकर परीक्षा की जाती है। स्पर्शन द्वारा वक्ष की गति, स्पन्दन तथा कम्पन का पता चलता है। हथेली रखने पर रोगी को कैसा महसूस होता है इसका भी ज्ञान होता है।

(3) आघातन

इसमें अँगुली से छाती या पीठ को ठोक कर परीक्षा की जाती है। वक्ष, पीठ का या पसली परीक्षा करते समय दाहिनें हाथ की तर्जनी और मध्यमा, को या केवल मध्यमा, अंगुली को टेढ़ा कर नीचे झुकाकर, उसके अगले भाग से चोट देते हैं। जब किसी स्थान पर चोट दी जाती है, तो भीतर से दो तरह की आवाज निकलती है। एक तो धीमी थप सी आवाज आती है। दूसरी तरह की आवाज किसी हवा भरी खोखली जगह पर चोट देने से होती है, जैसे ढोल पर थपकी देने से होती है।

(4) परिमापन

इसमें वक्ष की माप लेकर यह देखा जाता है कि सांस लेने और छोड़ने के समय दोनों ओर का वक्ष समान रूप से सिकुड़ता तथा फैलता है, या नहीं ? वक्ष के रोगों का घटना व बढ़ना भी इससे ज्ञात होता है।

(5) सुनना

स्टेथोस्किोप के माध्यम से हृदय स्पन्दन की आवाज सुनी जाती है। इससे हृदय तथा फेफड़ों की आवाज की प्रकृति का ज्ञान होता है।

रूग्णावस्था में वक्ष के शब्द

1. जब श्वास की आवाज बहुत तेज हो जाती है तब उसकी वोकियल रेस्पिरेशन रोइनंची (Bonchial Respiration Roenchi) कहते हैं।

2. कभी-कभी सांस की आवाज पोली चीज के अन्दर फूंकने जैसी होती है उसे केवरनस ब्रीदिंग (Cavernous Beating) कहते हैं। टी0बी0 में ऐसा ही होता है।
3. कभी-कभी आलपीन ठोकने जैसी आवाज होती है, जिसे मैटेलिक टिन्कलिंग (Metallic Tinckling) कहते हैं।
4. कभी-कभी कारकराने तेल गरम करने जैसे शब्द सुनाये देते हैं जिसे क्रेकलिंग (Crackling) कहते हैं।
5. कभी -कभी वक्ष के अन्दर धातु के बर्तनों को मलने जैसी आवाज होती है जिसे एम्फोटिक रिजोनेन्स कहते हैं।
6. कभी-कभी हथेली घिसने या आरी चलाने जैसी आवाज आती है, जिसे फ्रिकशन साउण्ड (Friction Sound) कहते हैं।
7. कभी-कभी बुलबुला बनने जैसे आवाज आती है। जिसे बबलिंग (Bubling) कहते हैं।

विभिन्न रोगों में वक्ष की ध्वनि

1. दमा में सीटी देने की ध्वनि जैसी आवाज आती है।
2. प्लूरिसी में रगड़ (Friction) सी आवाज आती है।
3. टी0बी0 रोग में धातु पात्र बजने की तरह ध्वनि होती है।
4. न्यूमोनिया मे कागज फाड़ने की जैसी आवाज आती है।
5. ब्रोन्काइटिस में मक्खी की भनभनाहट या घरघराहट की आवाज आती है।
6. दिल की घड़कन बढ़ने की तेजी और उसके चोट सी धड़कन साफ सुनायी देती है।

●●●

अध्याय-12

जल-चिकित्सा

1– जल चिकित्सा का अर्थ

जल चिकित्सा प्राकृतिक उपचार पद्धति का प्रमुख अंग है। जीवन की उत्पत्ति जल से हुई है, यह पूर्णतया सत्य है। सृष्टि के आरम्भ में चारों ओर जल ही जल था अन्त में आयु पूरी होने पर पुनः जल में ही लीन हो जायेगा। जल पृथ्वी के तल का 5/7 भाग लगभग 5 किलोमीटर गहराई तक ढका है। वायु वाष्प के रूप में जल बड़ी मात्रा में पाया जाता है।

हम सभी जानते हैं कि जल के बिना जीवित रहना सम्भव नहीं है। परीक्षणों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि भोजन के बिना मनुष्य लगभग 40 दिन तक जीवित रह सकता है परन्तु जल के अभाव में वह अधिक से अधिक 6 दिन तक ही जीवन धारण रख सकता है। मानव शरीर का मुख्यतः भाग जल से ही बना है। शरीर के सम्पूर्ण भार का लगभग 70-75 प्रतिशत भाग जल ही होता है। मानव शरीर के विभिन्न अंगों में जल का अंश निश्चित मात्रा में उपस्थित रहता है। रक्त में 91 प्रतिशत, हड्डी में 40 प्रतिशत, माँपेशियों में 75 प्रतिशत, गुर्दा में 83 प्रतिशत, जिगर में 60 प्रतिशत, मस्तिष्क में 79 प्रतिशत मात्रा में जल का अंश पाया जाता है।

हमारे दिन के भोज्य पदार्थ में भी जल का कुछ अंश विद्यमान रहता है। विभिन्न भोज्य पदार्थों जैसे तरकारियों में 90 प्रतिशत, दूध में 80 प्रतिशत, मछली में 80 प्रतिशत, माँस में 65 प्रतिशत, अण्डे में 45 प्रतिशत तथा रोटी में 40 प्रतिशत जल का अंश पाया जाता है।

जल चिकित्सा का अभिप्राय जल के प्रयोग से रोंग निवारण तथा आरोग्य प्राप्त कराना है।

जल का महत्त्व जल पीने और भोजन तक ही सीमित नहीं है। इसका प्रयोग शरीर की सफाई तथा घर की सफाई के लिए करते हैं। हम अपने आस-पास को स्वच्छ रखने में भी जल का प्रयोग करते हैं। इसके साथ ही जल का प्रयोग रोग निवारण के लिए भी करते हैं। इस प्रकार जल हमारे शरीर को निरोग सुदृढ़ एवं बलशाली बनाता है। आज भी हमने अपने पूर्वजों की चिकित्सा प्रणाली को भुलाया नहीं है वरन् इस चिकित्सा पद्धति को अपने वैज्ञानिक अन्वेषणों से अपेक्षाकृत

अधिक उन्नत और विकसित कर वैज्ञानिक रूप देने का प्रयत्न किया है।

II– जल के कार्य

जल रक्त को समुचित तरल अवस्था में बनाये रखता है। जल की कमी से रक्त गाढ़ा हो जाता है, जिससे उसमें अनेकानेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं, और शरीर रोग ग्रस्त हो जाता है। जल शरीर में उत्पन्न होने वाले अनेक रसों को तरलता प्रदान करने के साधन के रूप में काम करता है। जल पाचन में सहायक होता है। जल से शरीर का तापमान सामान्य रहता है। हमारे शरीर में कोशिकाओं के टूटने तथा अपच आदि से जो विषैले पदार्थ हर समय बना करते हैं जल इन विषैले पदार्थों को मल मूत्र तथा पसीने द्वारा शरीर से बाहर निकाल देता है। यदि जल की मात्रा कम होती है तो यह विषैला पदार्थ रक्त में मिलकर शरीर को रोगी बना देता है।

मनुष्य को प्रतिदिन में कितने जल की आवश्यकता होती है, इस सन्दर्भ में कोई निश्चित नियम नहीं है। जल की आवश्यकता रहन-सहन का स्तर, भोजन, स्वास्थ्य तथा व्यवसाय पर निर्भर करता है। व्यक्ति के लिए प्रतिदिन लीटर जल की आवश्यकता होती है। सर्दी की अपेक्षा गर्मी में जल की अधिक आवश्यकता होती है। काफी मात्रा में जल श्वांस से भाप बनकर उड़ जाता है। पसीने के रूप में भी जल काफी मात्रा में निष्कासित हो जाता है।

जल एक रसायनिक मिश्रण है। यह हाइड्रोजन तथा आक्सीजन नामक दो गैसों के निश्चित अनुपात के मिश्रण से बनता है। इसमें दो अंश हाइड्रोजन तथा एक अंश आक्सीजन होती है।

हमें शुद्ध रासायनिक जल नहीं मिल पाता है क्योंकि इसमें उपरोक्त दो गैसों के अलावा अन्य कुछ तत्त्व भी मिलकर पानी को दूषित कर देते हैं, पीने में अधिक मात्रा में जल का प्रयोग करना तथा कम मात्रा में दोनों ही हानिकारक तथा रोगोत्पत्ति का कारण बन सकते हैं।

जल चिकित्सा एक आसान तथा सस्ती उपचार प्रणाली है, जो हर समय सर्वत्र आवश्यकता के समय प्राप्त हो सकती है। कठिन से कठिन रोग उचित तथा विवेक पूर्ण जलोपचार से ठीक हो सकता है। जल चिकित्सा में जल का प्रयोग रोग के भिन्न-भिन्न लक्षणों के आधार पर भिन्न्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है। इस प्रकार यह गुणकारी तथा शक्तिशाली चिकित्सा प्रणाली है। इसका प्रयोग भी इस कारण आसान है, क्योंकि जल आसानी से तरल से ठोस और ठोस से भाप बन जाता है। अनुभव के आधार पर पाया गया कि पानी ओषजन की 75 प्रतिशत खपत बढ़ा देता है, और 85 प्रतिशत हाईड्रोजन की मात्रा शरीर से निकाल देता है। कोई भी रोग ऐसा नहीं होता है, जिसमें पानी का प्रयोग किसी न किसी रूप में न करते हों। इसका असर भिन्न-भिन्न तापमान में शरीर पर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। यद्यपि यह कठिन है कि तापमान की श्रेणी किस आधार पर हो फिर भी

निदानात्मक प्रविधि को ध्यान में रखते हुये यह विभाजन निम्न प्रकार से कर सकते हैं।

1. बहुत ठंडा .... 42 से 50 डिग्री तक
2. ठंडा .... 50 से 65 डिग्री तक
4. शीतल .... 65से 80 डिग्री तक
4. गुनगना .... 82 से 90 डिग्री तक
5. सम .... 92 से 95 डिग्री तक
6. हल्का गरम .... 95 से 98 डिग्री तक
7. बहुत अधिक गरम .... 104 से 120 डिग्री तथा इससे भी अधिक

शायद ही कभी 120 डिग्री से अधिक तापमान का पानी प्रयोग में लाया जाता हो। 104 से 108 तक के तापमान के स्नान का भी वही असर होता है जो कि इससे अधिक तापमान का। जल चिकित्सा हेतु फाइनहाइट थर्मामीटर प्रयोग में लाते हैं।

जल चिकित्सा का प्रभाव शरीर का तापमान, पानी का तापमान, समय अवधि, शरीर का अंग व्यवहार का तरीका और रोगी की शारीरिक अवस्था पर निर्भर करता है।

पानी को व्यवहार में लाने की अवधि निम्न समय तक हो सकती है, जो निम्न है :

(1) अतिअल्प (बहुत ही कम) .... 1.5 सेकेण्ड तक
(2) अल्प (कम) .... 5.60 सेकेण्ड तक
(4) अधिक .... 2.5 मिनट तक
(4) अत्यधिक .... 5 मि0 से 40 मिनट तक या इससे भी अधिक समय तक।

III– जल प्रयोग के अस्थायी प्रभाव

किसी भी अवस्था में जब जल का प्रयोग शरीर पर किया जाता है, चाहे वह वाह्य रूप में हो या आन्तरिक रूप में हो उसके दो प्रभाव उत्पन्न होते हैं। (1) क्रियात्मक (2) प्रतिक्रियात्मक।

इसमें क्रियात्मक को अस्थायी तथा प्रतिक्रियात्मक को स्थायी प्रभाव की संज्ञा देते हैं। पानी का प्रयोग इन्हीं दोनों गुणों के लिए किया जाता है। जब पूरक (अस्थायी) प्रभाव की आवश्यकता होती है, तो पानी का तापमान साधारण होता है और पर्याप्त समय तक उसकी प्रतिक्रिया को रोकने के लिए किया जाता है। और जब प्रतिक्रियात्मक गुण (स्थायी प्रभाव) की आवश्यकता होती है, तो गरम अथवा ठंडे पानी का उपयोग किया जाता है। और वह भी कम समय तक । इसकी

प्रतिक्रिया थोड़े समय के व्यवहार से प्रायः निश्चित हो जाती है, अधिक समय तक के व्यवहार में नहीं। जल चिकित्सा का व्यवहार स्थायी अथवा प्रतिक्रियात्मक प्रभाव के लिये ही किया जाता है। अतः सदा याद रखना चाहिए कि पानी तथा शरीर के तापमान में जितना अधिक अन्तर होगा, उतनी ही अधिक प्रतिक्रिया भी होगी अर्थात प्रभाव स्थायी होंगे।

बहुत गरम पानी का अल्पकालीन स्नान शरीर के तापमान को कम कर देता है। त्वचा की क्रियाशीलता कम कर देता है, रक्तचाप पर कोई असर नहीं होता है, स्नायु संस्थान में स्फूर्ति उत्पन्न करता है, हृदयगति को तेज करता है, माँस पेशियाँ सिकोड़ता है, रक्त कोषों को सिकोड़ता है, पोषण आदि की शक्ति को थोड़ा ही प्रभावित करता है, तथा श्वांस क्रिया को उत्तेजित करता है।

गरम जल का चिरकालीन स्नान शरीर के तापमान को बढ़ाता है, त्वचा की कार्यशीलता को बढ़ाता है, रक्त चाप को कम करता है, स्नायु संस्थान में हल्की शिथिलता लाता है, हृदय की गति को तेज तथा कमजोर करता है, माँसपेशियों को फैलाता है, सतह के रक्त कोषों को फैला देता है, पोषणशक्ति को उत्तेजित करता है, तथा श्वांस क्रिया को तेज और कमजोर करता है।

ठण्डे जल का अल्पकालीन स्नान शारीरिक तापमान को बढ़ाता है, त्वचा की क्रियाशीलता में वृद्धि करता है, रक्तचाप को बढ़ाता है, स्नायु संस्थान को उत्तेजित करता है, हृदय की गति को धीमा और मजबूत बनाता है, माँसपेशियों को उत्तेजित करता है, सतह के रक्त कोषों को फैला देता है, पोषण तत्त्व की शक्ति को उत्तेजित करता है तथा श्वांस -क्रिया को धीमा तथा गहरा बनाता है।

ठण्डे जल की अधिक समय तक स्नान शरीर के तापमान को कम करता है, त्वचा की क्रियाशीलता को कम करता है, रक्तचाप को घटाता है, स्नायु तथा नाड़ियों को हल्के तौर पर प्रभावित करता है, हृदय गति को कमजोर करता है, माँसपेशियों को संकुचित करता है, सतह के रक्त कोषों को सिकोड़ता है, पोषण शक्ति को शिथिल करता है, तथा श्वांस क्रिया को हल्का तथा कमजोर करता है।

जल चिकित्सा करते समय ध्यान रखना चाहिए कि जल का व्यवहार सीमा से बाहर न हो जाय, इसके लिए प्रारम्भ में प्रयोग हल्का तथा अल्पकालीन होना चाहिए। हर प्रयोग के बाद प्रतिक्रिया का होना आवश्यक है। इसलिए रोगी को किसी न किसी प्रकार का व्यायाम, तेज चलना आवश्यक है। यदि रोगी कमजोर हो, व्यायाम न कर सकता हो, तो उसे कम्बल आदि ओढ़कर आराम करने देना चाहिए जब तक शरीर में पुनः गर्मी न लौट आये।

यदि नाड़ी की गति अनियमित, कमजोर बहुत हल्की अथवा तेज हो जाये, शरीर का तापमान बढ़ने लगे, तो स्नान उस समय बंद कर देना चाहिए, ठंडे स्नान के दो घन्टे बाद भोजन करना चाहिए अथवा भोजन के बाद स्नान दो घन्टे के अन्तर पर देना चाहिए।

धुलाने का कार्य वाष्प और ऊष्ण स्नानों द्वारा, निष्कासन का कार्य पट्टियों और अंशतः धारा पात और गीला चादर के द्वारा सशक्त बनाने का कार्य शीतल स्नान, आंशिक प्रक्षालन और अन्ततः कठोरीकरण की पद्धति द्वारा पूरा होता है।

चूँकि हर रोग रक्त की विकृति से उत्पन्न होता है, अतः स्पष्ट है कि हर रोग में घुलाने, निष्कासन करने और सशक्त बनाने वाले सभी प्रयोगों का अल्पाधिक रूप में सहारा लेना आवश्यक है। इसके अलावा केवल रोग ग्रस्त भाग पर ही चिकित्सा न देकर पूरे शरीर की चिकित्सा करनी चाहिए, उस विशेष अंग पर अवश्य ही विशेष चिकित्सा की आवश्यकता होती है। दूषित रक्त तो पूरे शरीर में प्रवाहित होता है।

IV– स्वास्थ्यवर्धन के लिए जल का प्रयोग

इसमें नंगे पैर घास पर टहलना, गीले पत्थर पर टहलना, बर्फ पर टहलना तथा ठन्डे जल में टहलना शामिल है। इन सबका प्रयोग प्रारम्भ में 4 मिनट से 15 मिनट तक होता है बाद में इसकी अवधि बढ़ाकर उसका पूरा-पूरा लाभ उठा सकते हैं। एक फिट तक गहरे पानी में चलना एक मामूली बात लगती है पर यह स्वास्थ्यवर्धन का एक अच्छा साधन है। इसका सारे शरीर पर प्रभाव पड़ता है और इससे शरीर के अंगों की शक्ति बढ़ती है। इससे वृक्क, मूत्राशय तथा आंतों में उत्पन्न होने वाले विकारों की रोकथाम हो जाती है। यह हृदय की रक्तवाहिनियों के रक्त संचार को बढ़ाकर श्वसन में सुविधा प्रदान करता है तथा आमाशय से गैस निकलना तथा साथ ही सिर दर्द, सिर की रक्त संकुलता तथा सिर के अन्य कष्टों से भी मुक्ति दिलाता है।

बाहुओं और पैरों को सशक्त करने के लिए घुटनों या उनके ऊपर तक गहरे पानी में खड़े होकर एक मिनट बाद उसमें से निकल कर पैरों को ढक कर कम्बल ओढ़ कर दोनों बाहों को पानी में डालना चाहिए तथा यह भी एक मिनट तक होना चाहिए। इससे पूरा रक्त संचालन बढ़ने से लाभ मिलता है।

घुटनों पर धारापात सशक्त बनाने का विशेष साधन है। पैरों के लिए यह प्रयोग बड़ा लाभप्रद होता है। क्योंकि इससे रक्तहीन शिराओं में रक्त का प्रवेश होता है।

V– जल चिकित्सा में जल का प्रयोग

जब हम जल चिकित्सा में जल का प्रयोग करते हैं, तो उसके दो प्रमुख रूप हमारे सामने आते हैं। प्रथम जल का वाह्य प्रयोग, द्वितीय आन्तरिक प्रयोग।सामान्यतः जल के निम्न प्रकार से प्रयोग किये जाते हैं।

(1) गीली चादर लपेट

कोई मोटा, बड़ा सूती कपड़ा, चार-पाँच तह करके इतना लम्बा, चौड़ा, रखा

जाता है, कि वह गर्दन से लेकर सारे शरीर को अच्छी तरह ढक ले। चादर इतना कम चौड़ा न हो कि बगल से सटी लगे। दायें-बायें अवश्य कुछ लटकती रहे। इस प्रकार तैयार की हुई चादर ठण्डे पानी में गर्मी में तथा गर्म पानी में जाड़े में भिगो कर निचोड़ कर रोगी पर फैला दी जाती है। इसके ऊपर कम्बल उसी प्रकार दो तीन तह बनाकर रख दिया जाता है जिससे गीली चादर भली प्रकार ढक जाये। अन्दर हवा न प्रवेश कर पाये इसलिए गले के आसपास मोटा ऊनी कपड़ा लपेट देना चाहिए।

इसका प्रयोग पौन घन्टे तक करना चाहिए। इससे ज्यादा देर प्रयोग करने से चादर गर्म हो जायेगी। निश्चित समय पूरा होने पर चादर उतार कर कपड़े पहनने के बाद रोगी को कुछ व्यायाम कराना चाहिये पर इसके पूर्व जब तक साधरण उष्णता न आ जाये तब तक रोगी बिस्तर पर ही रहना चाहिये।

(2) गीली चादर पर लेटना

यह प्रथम विधि से मिलता है। इसको बिस्तर पर ही करते है। अतः बिस्तर भीगने से बचाने के लिए उस पर मोटा कपड़ा डाल देते हैं, फिर उस पर ऊनी कम्बल बिछा देना चाहिए। इसके बाद तीन-चार तह की हुई मोटे सूती कपड़े की चादर जैसा गीली चादर में बताया है, पानी में निचोड़ कर, कम्बल पर बिछा दी जाती है कि वह गर्दन के छोर से रीढ़ के छोर तक पहुँच जाये अर्थात् पूरी पीठ उस पर रहे। रोगी पीठ के बल उस पर लेट जाता है, और फैला कम्बल उस पर लपेट दिया जाता है, इससे बाहर की हवा अन्दर नहीं घुस पाती है। यह प्रयोग 45 मि0 तक चला सकते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य रीढ़ की हड्डी को सशक्त बनाना है। इसका प्रयोग कटिवात रक्त संकुलता तथा ज्वर के समय देने से अच्छा परिणाम मिलता है।

(3) लेटने और ढकने का प्रयोग एक साथ

इसमें दोनों प्रयोग एक साथ किये जाते हैं, रोगी को चादर ऊपर बताये गये तरीके से तैयार कर दी जाती है। रोगी कपड़े उतार कर गीली चादर पर लेट जाता है, फिर दूसरी से स्वयं को ढक लेता है। यह कार्य कम्बल से अच्छा होता है इसमें वायु अन्दर प्रवेश नहीं कर पाती हे। कम्बल बड़ा तथा चौड़ा होना चाहिए। अधिक मोटे रोगी के लिए दो कम्बल का प्रयोग सही होगा। इसका प्रयोग 45 मि0 से कम और एक धन्टे से अधिक नहीं करना चाहिए।

शरीर की अत्यधिक गर्मी या ज्वर, वायु, शरीर के किसी अंग में अधिक रक्तसंग्रह और विषाद रोग आदि में यह प्रयोग उपयोगी सिद्ध होता है।

(4) उदर की पट्टी

इस प्रयोग में रोगी बिस्तर पर लेट जाता है, और सूती कपड़ा पानी में भिगो

कर उसे अच्छी तरह निचोड़ कर उदर पर (आमाशय से नीचे तक) डाल दिया जाता है और कमीज से ढकने के बाद अंत में सावधानी से कम्बल ऊपर डाल देते हैं।

यह 45 मिनट तक से दो घन्टे तक चलाया जा सकता है पर दो घन्टे तक चलाने में पट्टी एक घन्टे बाद गीली करनी पड़ती है।

अजीर्ण में तथा वक्ष स्थल तथा हृदय से रक्त का अप्रसारण करने में यह प्रयोग बहुत प्रभावकारी होता है।

(5) स्नान

(अ) पाद स्नान

पाद स्नान दो प्रकार का हो सकता है : शीतल और ऊष्ण।

(1) शीतल पाद स्नान

इसके लिए पिंडली या इससे अधिक गहरे पानी में एक से तीन मिनट तक खड़ा रहा जाता है। रोग की अवस्था में शीतल पाद स्नान रक्त को सिर और सीने से नीचे उतारने का कार्य करता है। पर जब रोगी कुछ कारणों से पूर्ण या अर्ध स्नान सहन नहीं कर पाता है तो इस प्रकार के स्नान का प्रयोग करते हैं।

स्वस्थ व्यक्ति में इस स्नान से शरीर में ताजगी आती है, और शक्ति बढ़ती है। दिन भर के काम के बाद इस स्नान से थकान दूर होती है। विश्राम से और अच्छी नींद आती है।

(2) ऊष्ण पाद स्नान

इस स्नान को कई तरीकों से करते हैं। एक मुट्ठी नमक और दो मुट्ठी कन्डे की राख, 88° से 90° गर्म पानी में मिला देते हैं, और तब लगभग 12-15 मि0 तक पाद स्नान करते हैं। 100° फा0 वाले पाद स्नान के बाद आधे मिनट का शीतल पाद स्नान देने से लाभकारी परिणाम प्राप्त होते हैं।

निर्बलता, क्षीणता और आवश्यक उष्णता का अभाव होने के कारण शक्तिशाली और शीतल उपचार व प्रयोग बहुत कम प्रतिक्रिया होने या बिल्कुल न होने, रक्ताभाव के कारण जल के पर्याप्त उष्णता न उत्पन्न कर सकने की दशा में पाद स्नान समुचित रूप से लाभकारी होता है। यह पाद स्नान निर्बलों, अल्परक्त वालों, औरतों के लिए, रक्त संचालन की अस्तव्यस्तता, रक्त संकुलता, सिर और गर्दन के रोग में लाभकारी होता है। यह स्नान रक्त को खींचकर पैरों की ओर लाता है, पर जिनके पैरों से पसीना निकलता हो, उन्हें यह स्नान नहीं देना चाहिए।

यह स्नान विषाक्त पदार्थों को घुलाकर बाहर निकाल देते हैं तथा शक्ति वृद्धि करते हैं। गठिया ऐसे भयानक रोग से एक पाद स्नान के साथ भिगोयी पट्टी के प्रयोग से चंद घन्टों में ही छुटकारा पाया जा सकता है। पैर के घाव, जख्मों में पैदा सड़ान, संधिवात, तंगजूतों से हुआ घाव, पैरों की उंगलियों के बीच होने वाली गलने

की क्रिया, चोट के जख्म आदि में यह लाभप्रद सिद्ध होता है।

इसके साथ ही एक प्रकार का पाद स्नान जो तरल पदार्थ के स्थान पर ठोस पदार्थ से किया जाता है। उष्ण रहते ही खमीर वाला अन्न पाद स्नान पात्र में रख लेने के बाद उस पर पैर रखने से पैर सरलता से उस पदार्थ में प्रवेश हो जाता है। और उससे स्वास्थ्यप्रद उष्णता में बड़ा लाभ मिलता है। इसकी अवधि 15-40 मिनट तक होती है यह वात, संधिवात या इसी तरह के अन्य रोगों में लाभप्रद होता है।

जो रोगी शिरास्फीति से ग्रस्त होते हैं उनके पाद स्नान में पानी पिडली के आरम्भ से ऊपर कभी नहीं जाना चाहिए। और उसका तापमान 88^0 फा0 से ऊपर नहीं होना चाहिए। बिना किसी मिश्रण के पाद स्नान कभी नहीं देना चाहिए।

(ब) अर्द्धस्नान

इस प्रकार के स्नान का प्रयोग तीन प्रकार से करते हैं।

1. पानी में खड़े होकर जिसमें पानी पिंडुली या घुटने से ऊपर तक आये।
2. पानी में घुटने टेककर बैठना, जिसमें पूरी जाँघ पानी से ढक जायें।
4. पानी में बैठना इसमें पानी नाभि तक पहुँच जाय।

यह तीनों ही सदा ठन्डे पानी से किये जाते हैं। यह स्वास्थ्यवर्द्धन का एक उत्तम तरीका है। यह स्वस्थ आदमियों के साथ-साथ कमजोर आदमियों के लिए भी उपयुक्त होता है। इसका प्रयोग कम से कम आधे मिनट तथा अधिक से अधिक 40 मि0 तक करना चाहिए।

जिन व्यक्तियों का स्वास्थ्य किसी कारण से पतन की ओर अग्रसर होता है, अपनी दुर्बलता के कारण वे पूर्ण स्नान सहन नहीं कर सकते हैं, ऐसे लोगों पर प्रथम दो प्रकार का अर्धस्नान काफी सतोषजनक होता है। स्वस्थ व्यक्तियों के लिए तीसरे प्रकार का स्नान लाभप्रद होता है। अनेक रोग इससे समूल नष्ट हो जाते हैं। उनकी शक्ति यथास्थिति रहती है। अंग ग्रस्त भाग पर पट्टी बाँधने की अपेक्षा यह अधिक लाभप्रद होता है। इसके द्वारा निश्चित रूप से वायु प्रकोप, उदर, शूल, चिन्तोन्माद, हिस्टीरिया ऐसे भयंकर रोगों से मुक्ति मिल जाती है।

(स) बैठकर स्नान

यह स्नान भी ठन्डे और गरम दोनों प्रकार के जल में बैठकर किया जाता है।

1. ठन्डा कटि-स्नान

इस प्रकार के स्नान के लिए एक विशेष प्रकार का बर्तन होता है, जो नाँद के आकार का होता है। इसके अभाव में लकड़ी, टीन या प्लास्टिक के टब में भी इस प्रकार का स्नान ले सकते हैं। इस पात्र के चतुर्थांश भाग को पानी से भर देना चाहिए। रोगी को इसमें कपड़े उतार कर इस प्रकार बैठायें कि जैसे कुर्सी पर बैठता

है। नाभि तक शरीर का निचला भाग तथा जाँघ पानी में रहता है। पैर किसी लकड़ी के स्टूल पर रहते हैं तथा रोगी धीरे-धीरे मोटे कपड़े से अपने पेड़ू को दाहिने से बायें मलता रहता है। वैसे इसमें पूर्ण निर्वस्त्र होने की आवश्यकता नहीं होती है। इसका समय आधे मि0 से 40 मि0 तक होता है।

इससे पेट की वायु निकल जाती है कमजोर पाचन शक्ति सबल होती है, रक्त प्रवाह जियमित होता है, तथा उसे बल मिलता है, नींद अच्छी आती है, उत्तेजना दूर होती है, सिर का भारीपन दूर होता है। इस स्नान को सप्ताह में दो बार से अधिक नहीं लेना चाहिए।

2. ऊष्ण कटि-स्नान

ऊष्ण कटि स्नान के लिए शेवनामक घास या जई का डंठल या सुखायी घास में से एक को लेकर पानी में कुछ समय खौलाते हैं, जब इनका असर उस पानी में आ जाता है, तो उस पानी को कटिस्नान वाले पात्र में डाल देते हैं, जिसमें 80 से 90° फा0 का पानी भरा होता है। उसके बाद रोगी को उसमें बैठा देते हैं यह स्नान 15 मि0 का होता है। इस प्रकार का स्नान सप्ताह में दो बार देते हैं। इसमें ऊपर वर्णित पदार्थ को विशेष प्रकार के रोग में देते हैं। जैसे शेवनामक घास के जलवाला कटि स्नाज गुर्दे तथा मूत्र नली की बीमारी, बात पीड़ित तथा पथरी में लाभप्रद होता है, जईके जल का कटि स्नान गठिया के रोग में हितकर होता है।

(द) पूर्ण स्नान

यह स्नान भी शीतल और ऊष्ण दो प्रकार का होता है। ये दोनों प्रकार स्वस्थ और अस्वस्थ व्यक्ति दोनों के लिए लाभप्रद होते हैं।

(1) शीतल पूर्ण स्नान

शीतल पूर्ण स्नान की दो विधियाँ हैं- या तो रोगी खड़ा होकर अपना सारा शरीर पानी के नीचे रखता है, या फेफड़ों पर पड़ने वाले पानी के दबाव से बचने के लिए वह नाभि तक गहरे पानी में जाता है। जिससे फेफड़ों का सिरा मुक्त रहता है और तब उस ऊपर के हिस्से को मोटे तौलिये या हाथ से मर्दन कर दिया जाता है। इसकी अवधि कम से कम आधा मिनट और अधिक से अधिक 4 मिनट तक होती है। इस प्रकार के स्नान की बार-बार आवृत्ति शिथिलीकरण के साथ-साथ थकाती भी हैं। ये शरीर को क्रिया के लिए हानिप्रद होने के बजाय उसे क्षति भी पहुँचाते हैं। सशक्त और पोषण के स्थान पर संचित शक्ति का व्यय करते हैं।

स्वस्थ्य व्यक्ति के लिए ठण्डा स्नान

स्वस्थ व्यक्ति हर मौसम में इसका प्रयोग कर सकता है, इससे उसका स्वास्थ्य बना रहता है, और उसमें संवर्द्धन के रूप में सहायक होता है, त्वचा साफ होती है, उसकी क्रिया बढ़ती है, ताजगी मिलती है, फलस्वरूप पूरे शरीर को

कार्यप्रणाली को शक्ति मिलती है। जाड़े में यह स्नान सप्ताह में दो बार से अधिक नहीं लेना चाहिए। वैसे 15 दिन में एक बार भी स्वास्थ्य को बनाये रखने में सहायक होता है। स्वास्थ्य बनाये रखने में मौसम के परिवर्तन के समय कठोरीकरण बड़ा लाभदायक सिद्ध होता है। हर ठण्डे प्रयोग के बाद नियमित और निश्चित रूप में व्यायाम करना लाभप्रद होता है।

अगर शरीर ठन्डा हो, पैर ठण्डे हो या सिहरन हो तो शीतल पूर्ण स्नान कभी नहीं करना चाहिये, पहले श्रम द्वारा पूर्ण शरीर को ऊष्ण कर लेना चाहिये। इसके विपरीत यदि शरीर से पसीना निकल रहा हो , तो बहुत गर्मी हो तो बिना किसी भय के पूर्ण स्नान किया जा सकता है। जितना अधिक पसीना निकलता है उतना ही यह स्नान प्रभावकारी होगा।

बीमार के लिए पूर्ण ठण्ड़ा स्नान

शक्ति सम्पन्न तथा स्वस्थ व्यक्ति विजातीय द्रव्यों को निकालने में स्वतः समर्थ हो जाता है, पर बीमारी से कमजोर हुये रोगग्रस्त शरीर को स्वयं इस दृव्य को निकालने के लिये सहायता की आवश्यकता होती है। जिसको पूर्ण ठण्डे स्नान के रूप में प्रदान करते हैं। इसका मुख्य प्रयोग उष्ण रोग में करते हैं। यानी वे रोग जिनके प्रारम्भ में ज्वर हो वह शरीर से शक्ति को खींच लेते हैं तथा शरीर को रोग का शिकार बना देते हैं। उनको प्रायः पूर्ण ठण्डे स्नान से सहायता पहुँचा देते हैं। जो भयंकर रूप से बीमार हैं और कमजोरी के कारण पूर्ण ठण्डा स्नान नहीं ले सकते हैं, उन्हें पूर्ण प्रक्षालन कराया जा सकता है, रोगी चाहे कितना भी कमजोर क्यों न हो, उसे विस्तर पर ही प्रक्षालन कर सकते हैं।

2. पूर्ण ऊष्ण स्नान

उष्ण स्नान भी स्वस्थ एवं कमजोर दोनों के लिए उपयोगी होता है। इस स्नान की दो विधियाँ हैं। स्नान के टब में पानी $90^0 - 95^0$ एफ० तापमान का इतना भर जाये कि पूरा शरीर उसमें डूबा रहे उसमें आदमी को 25-40 मि0 रखा जाये। उसी प्रकार के ठण्डे पानी के टब में रोगी को स्नान करने को कहा जाये, सिर को छोड़ कर सारा शरीर पानी में रहता है। दूसरे में जितनी जल्दी सम्भव हो पूरे शरीर को ठण्डे पानी से धो दिया जाता है। यह ठण्डे स्नान की क्रिया एक मिनट में अन्दर ही समाप्त कर देना चाहिए। उसके बाद बिना बदन सुखाये कपड़ा पहन लेना चाहिए और उसके बाद कम से कम आधा घन्टा तक व्यायाम करना चाहिए या तब तक व्यायाम करें, जब तक बदन सूख न जाये और गरम न हो जाये। इस स्नान को लेने वाले व्यक्ति एक निश्चित तापक्रम के पानी में 3 बार गर्म पानी में तथा तीन बार ठंडे पानी में जाते हैं। इस प्रकार स्नान में 33 मिनट लगता है।

गरम पानी में 10 मिनट
ठण्डे पानी में 1 मिनट
गरम पानी में 10 मिनट
ठण्डे पानी में 1 मिनट
गरम पानी में 10 मिनट
ठण्डे पानी में 1 मिनट

अन्तिम ठण्डे पानी में स्नान के बाद हाथ छोड़ कर अन्य कोई अंग सुखाया नहीं जाता है शरीर को व्यायाम के द्वारा सुखाते हैं। ठण्डे पानी के प्रक्षालन के बिना गरम पानी का स्नान प्रभावी नहीं होता है। पानी जितना गरम और अधिक समय का होगा वह शरीर को सशक्त नहीं करेगा, वरन् पूरे शरीर को कमजोर और उसका शिथलीकरण कर देगा। इस प्रकार गरम पानी कठोरीकरण न करके त्वचा को ठण्डक के प्रति अधिक संवेदनशील बना देताहै। गरम पानी रोम कूपों को खोल देता है। और उसमें ठन्डी हवा प्रवेश कर जाती है। इसका परिणाम बाद के घन्टों में देखा जाता है। ताजा पानी शरीर के उच्च तापमान को कम करके शरीर को सशक्त बनाता है। जो लोग ठन्डे जल से डरते है उन्हें पहले ठन्डे जल से प्रक्षालन करना चाहिए। इसमें उनकी हिम्मत बढ़ती है। ठण्डा गरम स्नान साथ लेने में किसी तैयारी की आवश्यकता बीच में नहीं होती है यानी शरीर में उचित तापमान लाने की अपेक्षा नहीं होती है।

स्वस्थ व्यक्ति के लिए उष्ण पूर्ण स्नान

पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति ऊष्ण स्नान से कभी लाभप्रद नहीं होते हैं। कम अवस्था वाले जो कमजोर हैं, जिनके बदन में रक्त की कमी है वह ९५° फा० तापमान वाले जल में स्नान और उसके बाद शीतल जल का स्नान २५ मि० से ४० मि० तक हर महीने में एक बार लें तो काफी लाभद होता है। अल्पवयस्क ग्रीष्मऋतु में शीतल पूर्ण स्नान करने से लाभ प्राप्त कर सकते हैं। अधिक अवस्था वाले कमजोर व्यक्ति ९५° से १००° एफ तापमान वाले जल में महीने में कम से कम एक बार ४० मि० तक लेने के बाद त्वचा की सफाई तथा ताजगी आती है। शक्ति वृद्धि के लिए शीतल जल से प्रक्षालन करना चाहिए। इसमे हर स्नान के बाद अधिक स्वेदन के कारण नयापन मालूम होगा, और रक्त संचालन की गति तीव्र होगी। रोगियों के लिए ऊष्ण स्नान सावधानी से लिये गए स्नान में कोई खतरा नहीं होता है। इन स्नानों से दोहरा प्रयोजन सिद्ध होता है एक दशा में तो यह शरीर में ऊष्णता लाते हैं दूसरी अवस्था में उन विषाक्त पदार्थों को शरीर से बाहर निकाल कर उसे निरोग बनाते हैं। ऊष्ण पूर्ण स्नान का जल निम्न प्रकृति प्रदत्त पदार्थों से तैयार करते हैं-

हे-प्लावर के योग से तैयार जल
जई के डन्ठल के योग से तैयार जल

देवदार की टहनी से तैयार जल

हे प्लावर वाला जल

एक छोटे थैले में डालकर 15 मि0 तक जल उबालते हैं फिर सारा क्वाथ उस ऊष्ण जल के तैयार टब में डाल देते हैं जब तक कि पानी का तापमान निश्चित निर्देशित दिशा में नहीं पहुँच जाता है। इससे स्वास्थ व्यक्ति जब चाहे ले सकता है, यह जल रोमकूपों को खोल देता है और शरीर के विषाक्त पदार्थो को घुला देता है।

जई के डन्ठल वाला जल

एक मुट्ठी जई लेकर करीब एक लीटर पानी में आधे घन्टे तक उबालते है, फिर ऊपर बताये तरीके से प्रयोग में लाते हैं। यह प्रथम प्रकार के जल से अधिक असर वाला होता है। यह वृक्कों तथा मूत्राशय के विकारों तथा बात सम्बन्धी विकारों में अधिक लाभदायक असर दिखाते हैं।

देवदार की टहनी वाल जल

इसमें जल में देवदार की टहनियाँ छोटी-छोटी करके तैयार करते तथा उसके फल डाल कर 15 मिनट तक उबाल कर तैयार करते हैं। स्नान देने का तरीका ऊपर बता चुके हैं! यह मूत्र रोगों में प्रभावकारी असर दिखाता है। इससे त्वचा की सक्रियता बढ़ जाती है। अन्दर की नलिकाओं पर भी इसका प्रभाव पड़ता है।

खनिज तथा लवण वाला स्नान

जब तक प्रकृति प्रदत्त पदार्थ मिले तब तक हमें इन्हीं की सहायता लेना चाहिए। रोग से ग्रस्त अंग की कोमलता से मदद करनी चाहिए। ऊष्ण जल का प्रयोग उग्र घर्षण के बिना करना चाहिये। खनिज लवण वाले स्नान का प्रयोग कठोर होता है। हर प्रवाहित जल में अल्पाधिक मात्रा में तीक्ष्ण लवण अवश्य रहता है। इस प्रकार का जल हमारे शरीर में अन्दर की सफाई कर देता है।

(द) खण्ड स्नान

वह स्नान है जिनका सम्बन्ध शरीर के किसी एक खण्ड या भाग से होता है।

(1) हस्त और बाहु का स्नान

जैसा कि नाम से ही ज्ञात हो जाता है पर इसमें हम यह मानकर चलते हैं, कि अगर किसी की अंगुली विकारग्रस्त है, तो हम उसके पूरे हाथ का या पूरे शरीर का इलाज करते हैं। विकृत अंगुली तो एक टहनी है, जो पूरे शरीर रूपी वृक्ष का एक भाग है। पर फिर भी हम उस भाग विशेष पर पट्टियों का प्रयोग करते हैं।

(2) सिर स्नान

सिर स्नान आंशिक स्नानों में बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह ठन्डा और गरम दोनों

इस प्रकार लेते हैं। पानी भरा एक बर्तन कुर्सी पर रख ली और सिर का ऊपरी भाग गर्दन के ऊपरी भाग से मस्तक तक का भाग ठण्डे पानी में एक मिनट तक रखते हैं, इसके बाद थोड़ी देर बाद ५–६ मि० के लिए उसी भाग को गर्म पानी में रखते हैं। अगर पानी ठन्डा गरम बालों तक न पहुँचे तो उसे हाथ से पहुँचाते हैं ताकि बाल पूरी तरह भीग जायें।

स्नान के बाद बाल को अच्छी तरह सुखा लेना चाहिये। बाल चाहे प्रक्षालन से भीगे हों या भाप से, सुखाना किसी हालत में नहीं भूलना चाहिये। सुखाने का काम सावधानी से पूरा करना चाहिये। अन्यथा सिर के विकराल रोग उत्पन्न हो जाते हैं। सुखाने के बाद कमरे में ही रहना चाहिये। उसके बाद सिर को टोपी से ढक लेना चाहिये। जब तक कि त्वचा तथा बाल पूरी तरह से न सूख जायें। इसमे अति नहीं होनी चाहिये। प्रायः सिर स्नान अधिक देर तक न लें तथा सिर सुखाना कभी न भूलें। यह स्नान उन लोगों के लिए अच्छा है जिनके बाल छोटे हों। बड़े बाल होने पर त्वचा तक पानी सरलता से न पहुँच पायेगा और यही स्नान का मुख्य उद्देश्य है। बाल बड़े होने पर सुखाने में अधिक समय लगता है। ऐसे लोगों को गरम सिर स्नान लेना चाहिये। क्योंकि उसमें अधिक समय लगता है कि कभी-कभी सिर की तकलीफ में सिर स्नान लाभप्रद होता है, यह स्नान अल्पकालीन तथा ठंडा होता है। बालों की जड़ों में फुन्सी, सिर में खाज या दाद, मुहांसे हों, उस समय गरम सिर स्नान लम्बा फिर ठण्डा स्नान अल्पकालिन देते हैं।

(3) नेत्र स्नान

यह स्नान भी ऊष्ण और शीतल दोनों प्रकार का होता है। पानी में चेहरा डुबो दिया जाता है और नेत्र खोलना 15 मि0 तक उसी में रखते हैं। इसके बाद 15 मि0 बाद फिर पानी में डुबाया जाता है। इसकी क्रिया आवृत्ति चार पाँच बार की जाती है। ऊष्ण नेत्र स्नान 86–90 फा0 होता है। हमेशा शीतल स्नान या ताजे पानी से किया जाता है। इसमें आधे चम्मच सतपुष्पा का चूर्ण भी डालते हैं। आज कल आँख स्नान के पात्र भी आने लगे हैं।

(1) शीतल नेत्र स्नान

शीतल नेत्र स्नान स्वस्थ पर कमजोर नेत्रों के लिए प्रभावकारी होता है। सारे दृष्टि क्षेत्र में ताजगी ला देता है।

(2) ऊष्ण नेत्र स्नान

इसका प्रयोग आँखों के बाहरी हिस्से पर के अबुर्द नमी लाने और पूयमय गाढ़े रस को घुलाकर निकालने के लिये किया जाता है।

(6) वाष्प

जल के सभी प्रयोगों में वाष्प का प्रयोग बड़ी कोमलता से किया जाता है। वाष्प के प्रयोग यदि सतर्कता से किया जाये, तो कोई हानि होने की सम्भावना नहीं होती है। निर्देशानुसार वाष्प करने से रोगी आरोग्य को प्राप्त करता है। वही उदासीनता से करने पर स्वस्थ व्यक्ति को रोगी बना देता है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति वाष्प स्नान के बाद बिना अपने को ठण्डा किये तत्काल खुली हवा में चला जाये, तो उसे रोग ही नहीं वरन घातक रोग भी हो सकता है।

ऊष्ण जल के प्रयोग का उद्देश्य निष्कासित किये जाने वाले पदार्थ को घुलना है, और शीतल जल का प्रयोग उस घुले हुये पदार्थ को प्रवाहित कर देने के उद्देश्य से किया जाता है। आरोग्य लाभ में भी इसी तरह की प्रक्रिया चलती है। रोगों में भी कई चीजों, विकृत रसों आदि को घुलाकर बाहर निकालना पड़ता है। यह कार्य ऊष्णता से सम्पन्न होता है। इसके अनन्तर शरीर को प्रतिरोध करने योग्य बनाने के लिए सशक्त बनाना पड़ता है।

इसलिए हर एक शरीर में, उसका कार्य ठीक तरह से होने के लिए एक विशेष परिणाम में ऊष्णता या ताप होना आवश्यक है। स्वस्थ शरीर में प्राकृतिक ऊष्णता स्वयं ही मौजूद रहती है। उसे ऊपर से बढ़ाने की जरूरत नहीं होती है। पर एक अस्वस्थ शरीर को जल्द ही अन्दर प्राकृतिक ऊष्णता की कमी महसूस होने लगती है। इसीलिये किसी तरह इस अभाव की पूर्ति करनी पड़ती है। बहुत से रोगियों को पट्टयाँ लाभ दे देती हैं, पर अन्य लोगों के लिए वाष्प द्वारा ऊष्णता पहुँचाना अधिक उपयोगी होता है। सिर और पैर के वाष्प बड़े हितकर रूप में सिद्ध होते हैं। इसका कारण यह है कि भाप बड़े तेज घुलाने तथा रिक्त करने वाले होते हैं। इससे रोगी को बड़ा आराम मिलता है। भाप स्नान की आवृत्ति बार-बार नहीं करनी चाहिए। जिनको भाप स्नान अनुकूल नहीं पड़ता है उनको पट्टी अधिक देते हैं। दुर्बल व्यक्ति को अर्धस्नान दे सकते हैं। वाष्प स्नान को भी निम्न रूपों में प्रयोग कर सकते हैं।

(1) सिर के लिए भाप स्नान

सिर पर भाप के प्रयोग एक छोटा लकड़ी का टब हो जिसकी गहराई अधिक हो चौड़ाई कम हो उसमें ऐसे छिद्र हों, जब उसपर हाथ टेके जा सकें, उसका ढक्कन ऐसा हो कि उसका मुँह पूर्णतया ढक सके। इसके लिए दो कुर्सियाँ हों, एक नीची, एक दूसरे से ऊँची। नीची पर टब तथा ऊँची पर रोगी बैठ कर, एक बड़ा कम्बल जिससे रोगी को ढक देते हैं। टब कुर्सी पर रख कर उसका 3/4 हिस्सा खौलते पानी से भर देना चाहिए, फिर उसका ढक्कन.बंद करके ढककर उस पर भीगा कपड़ा फैला देते हैं, जिससे वाष्प उसमें अन्दर ही रहे। रोगी के शरीर का उपरी हिस्सा खुला

तथा सूखा रहता है। कमर पर सूखा कपड़ा लपेट देते हैं, जिससे पसीने से उसके कपड़े गीले न हों। रोगी ऊँची कुर्सी पर बैठकर हथेलियों को हैन्डिल पर टिकाकर ऊपर का हिस्सा टब पर झुका लेगा, रोगी को कम्बल से ढक दिया जायेगा, इस तरह कि भाप निकलने न पाये, इसके बाद एक व्यक्ति सामने खड़ा होकर, कम्बल नीचे से उठाकर टब का ढक्कन और गीला कपड़ा दोनों हटा देगा। ऐसा करने पर वाष्प का प्रवाह निकल कर सिर वक्ष स्थल पीठ और ऊपर के सारे हिस्सों में घुलने का काम करने लगेगा। ध्यान रखना चााहिये कि पीठ के दर्द के रोगी कोआराम से बिठाना चाहिये। इसमें पहले तो रोगी को आराम नहीं लगता है। पर बाद में आराम मिलेगा, इस प्रयोग में 2 मिनट से 24 मिनट तक लगते हैं। प्रयोग समय सिर ही नहीं, मुंह और आँखें खुली रहना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो वाष्प अन्दर जाने देना चाहिए।

वन औषधि के रूप में एक चम्मच सतपुष्पा पर्याप्त होगा, इसके अलावा, पुदीना, सहस्रपर्णी आदि का प्रयोग कर सकते हैं। कुछ न मिलने पर एक मुट्ठी फूल पानी में मिला लेने से लाभप्रद हो जाता है।

रक्त अल्पता के रोगी को क्योंकि उसके शरीर में अधिक गर्मी नहीं होती है ऐसे लोगों के लिए भी ईंट का छठा भाग लेकर आग में खूब लाल करके वाष्प प्रयोग के लगभग 10 मि0 बाद पानी में डाल देने से उस पानी में जोर से भाप निकलती है, जो एक रक्त अल्पता के रोगी को उस स्नान में सहने की शक्ति ला देता है।

भाप स्नान के बाद शरीर को ठण्डा करके ठण्डे पानी से बिना शरीर ठण्डा किये रोगी को खुली हवा में नहीं जाना चाहिये, क्योंकि भाप स्नान से रोग कूप खुल जाते हैं, जो ठण्डक से बंद हो जाते हैं।

इसका प्रयोग शरीर के ऊपरी भाग की त्वचा पर पूरी तरह से काम करता है। यह नाक श्वांस नली फेफड़े आदि को साफ करता है। भीगने से जुकाम, तापमान परिवर्तन से उत्पन्न विकार, गठिया या बात व्याधि, गर्दन के पीछे भाग में या कंधों में दर्द, कफ से उत्पन्न ज्वर आदि में सिर का भाप स्नान बहुत लाभप्रद होता है। सिर में सूजन, गर्दन पर असामान्य चर्बी, जुकाम के कारण आँखों में धुँधलापन या आँखों में सूजन हो, तो इस स्नान से लाभ होता है। कभी-कभी पक्षाघात की दशा में सिर की भाप 15 मिनट देने के बाद पैरों का भाप स्नान देना चाहिये। इसको सप्ताह में दो बार से अधिक नहीं देना चाहिये।

(2) पैरों का भाप स्नान

जो कार्य सिर का भाप-स्नान ऊपरी भाग में करता है, वही काम पैरों का भाप स्नान आधे भाग में करता है। रोगी को नंगे बदन कुर्सी पर बैठा देते हैं। एक लकड़ी

के टब में आधे से कम खौलता पानी डाल देते हैं। इसके पूर्व टब के हैंडिल में लकड़ी के दो टुकड़े बांध देते हैं जिस पर रोगी पैर रख सके। जब रोगी भाप निकलते पानी पर पैर रखकर तैयार हो जाये, तो एक मोटा कम्बल पैर के चारों ओर डाल देना चाहिए। ताकि भाप निकल कर बाहर न जाये, और गर्मी पैरों से ऊपर चढ़कर आँतों तक या और ऊपर तक पहुँच सके। इसके बाद 5 से 10 मि0 के बीच एक ईंट का टुकड़ा गर्म करके इसमें डालकर इसकी गर्मी तथा स्नान की अवधि को 10 मि0 और बढ़ा सकते हैं। स्नान की अवधि इस पर निर्भर है, कि पसीना पैर के कितने भाग से निकालना है, यानी खाली तलवों से, पूरे पैरों से या पेडू तक यानी नाभि के नीचे तक के भाग से। भाप स्नान के बाद सदा ठण्डा करने वाले प्रयोग करने चाहिये। यदि केवल पैरों के तलवों पर पसीना है, तो तलवे पहले और बाद में उसके ऊपर का हिस्सा ठण्डे तौलिया से प्रक्षालन करें, यदि पूरे पैर से भाप द्वारा पसीना निकाला गया है, तो भी तौलिया से प्रक्षालन करें पर यदि पूरे शरीर से भाप द्वारा पसीना निकाला गया हो, तो शरीर के ऊर्ध्व भाग को धोयें, अर्ध स्नान लें या पूरे शरीर का प्रक्षालन करें-

पैरों का भाप स्नान पैरों के कष्ट के लिए किया जाता है, पैरों में सूजन, घुटनों में दर्द, पैरों के ठण्डा होने पर इससे लाभ होता है। इस प्रयोग से आँतों में शिकायत या सिर दर्द हो तो भी लाभ होता है।

(3) बंद स्टूल भाप स्नान

कमजोर लोगों में या काफी समय से बीमार लोग जिनसे इच्छित पसीना निकालना सम्भव नहीं होता है, उनको यह काफी प्रभावकारी सिद्ध होता है। रोगी को बंद स्टूल पर बैठने के पूर्व उसमें जड़े पात्र में खौलता पानी डाल देते हैं, ध्यान रखें कि भाप निकलने न पाये गरम भाप शीघ्र ही शरीर पर फैल जाती है, और तुरन्त थोड़ा या अधिक पसीना आ जाता है, जो बहुत प्रभावकारी असर छोड़ता है। इसकी अवधि 15 मि0 से 20 मिनट तक की होती है। इसके बाद पूरा बदन प्रक्षालित कर लेना चाहिये या पूर्ण स्नान करना चाहिये।

इस भाप स्नान का प्रभाव घुलाना, और प्रवाहित करना है, इस कारण भाप स्नान में गरम के समय- गरम जल का प्रयोग न करके, भाप द्वारा प्रतिफल अधिक अच्छा होता है। इसके जल में शेव घास, जई के डन्ठल या हेमपुष्प काष्ठौषधि मिलाकर देते हैं। गुर्दे या पथरी में जई का डंठल आतों की पीड़ा तथा गठिया जलोदर में हेफ्लावर के क्वाथ की भाप तथा शेवनामक घास को भाप से मूत्रावरोध, ठन्डक और सूजन से पीड़ा में शैव नामक घास के क्वाथ का भाप स्नान आश्चर्यजनक मात्रा में परिवर्तन लाता है।

(4) रोगग्रस्त विशेष भागों पर विशेष भाप का प्रयोग

आँख, कान, अंगुली, हाथ, पैर आदि के विकारों में अन्य प्रयोग के साथ वाष्प स्नान अत्यंत लाभप्रद सिद्ध होता है। अगर कोई जहरीला कीड़ा काट ले, किसी भाग में अचानक दर्द हो, शरीर के किसी भाग में ऐंठन होने पर वाष्प का प्रयोग चमत्कारी लाभ देता है। आँख के लिए सतपुष्पा, कान के लिए शेवघास तथा गले की सूजन तथा कफ के लिए सहस्रपर्णी का क्वाथ प्रयोग में लाते हैं। इसका प्रयोग बीस मिनट से अधिक नहीं होना चाहिए तथा 10 मि0 से कम का न हो।

7. धारा-पात

धारा पात का प्रयोग कठोरीकरण के प्रमुख प्रयोग में एक है। इसके दुर्बल भाग को सशक्त बनाया जाता है। इसको निम्न भागों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं।

(1) घुटनों पर धारा-पात

इसमें घुटनों तक कपड़े हटा देते हैं। रोगी कुर्सी पर बैठता है। और उसके पैर पात्र में रहते हैं, मानों पाद स्नान करना है। धारापात सिंचन पात्र से किया जाता है, जो एक हाथ से प्रयोग में लाया जा सकता है। पहले पात्र का जल भरपूर मात्र में ऊंगली से घुटनों तक दोनों पैरों पर डाला जाता है। पर बाद में पात्र का जल उतनी जोर धार से न डाले। पर कभी-कभी पैर के किसी विशेष भाग विशेष पिंडली पर जल समान रूप से बहता रहता है। इसमें 2 से 10 सिंचन पात्र तक पानी का प्रयोग करते हैं। इसका प्रयोग रक्त की कमी, जिनके पैरों पर ठोस मांसपेशियाँ न हों, दुर्बल हो उनको प्रारम्भ में पहले दिन 2-4 सिंचन पात्र पानी प्रयोग में लाना चाहिये, दूसरे दिन 4-6 पात्र इस प्रकार धीरे-धीरे 8 से 10 पात्र तक की संख्या बढ़ाते-बढ़ाते कष्ट नहीं रह जायेगा । धीरे-धीरे रोगी के पैरों में शक्ति आने से यह क्रिया अच्छी लगने लगती है।

(2) जाँघों के लिए धारापात

जाँघों का धारापात घुटने के धारापात से पेट की ओर बढ़ने की एक कड़ी है। जाँघों के धारापात में पेट का धारापात नहीं आता है। इस प्रयोग द्वारा जाँघ और शरीर के निचले भाग की चिकित्सा होती है। पहले सिंचन पात्र से बड़ी तेज से अंगूठे से जाँघ तक तेजी से, उसके बाद उसी पात्र से धीरे-धीरे डाला जाता है। शक्तिशाली मरीज को इससे खड़े होकर लाभ होता है, क्योंकि इससे घुटने से पिंडली तक की हड्डी को समान रूप से पानी मिलता है। पानी नीचे की ओर बहकर उत्तेजक के रूप में अच्छा लगता है।

जँघे पर धारापात का फ्ल घुटनों पर धारा फ्ल के प्रभाव का उच्चतर रूप है। घुटने के धारापात के बाद जंघे पर धारापात करना चाहिये।

(3) अधोभागं का धारा-पात

पीठ के निचले भाग पर पहले पात्र से जल डाला जाता है, पैर से शुरू करके यह नितंब तक आता है। उसके बाद तीन-चार या छः पात्र पानी भर के समान रूप से पूरे शरीर के पूरे अधो भाग पर डाला जाता है। (सामने की आरे से भी) पर कमर के नितंबों पर अधिक डाला जाता है। इसकों खड़े होकर ही लेते है। पैरों के वाष्प स्नान के बाद अर्द्ध स्नान या जल में खड़ा होने का प्रयोग करें। उतनी नियमतः धारापात आठ या नौ इंच से अधिक ऊँचाई से नहीं करना चाहिये।

(4) पीठ पर धारा-पात

यह निम्न भाग पर किये धारापात का बड़ा रूप है। इसे इस तरीके से करते हैं, कि पूरा पृष्ठ भाग गर्दन से एड़ी तक पहले ही पात्र में भीग जाता है। बाद के तीसरे से पाँचवे तक का पात्र का जल ठीक वैसी ही धारा में गर्दन से लेकर पीठ के निम्न भाग पर और बायें से दायें स्कंधास्थि तक डाला जाता है। इसको कम अधिक दूरी से जोरदार या कमजोर धारा में हो सकता है। पीठ पर धारापात के बाद तेजी से सीने उदर वाहु का प्रक्षालन करना चाहिये। क्योंकि पीठ पर धारापात का प्रभाव इन अंगों पर पड़ता है। इसमें खड़े होकर धारापात करने से पैरों का प्रक्षालन नहीं करते हैं पर बैठने पर इसको करते हैं। इस प्रकार का धारापात रक्त के संचालन में सहायक होता है, तथा पृष्ठ भाग पर शक्तिशाली प्रभाव डालता है।

(5) पूर्ण धारापात

यह धारापात पूरे शरीर पर दोनों ओर होता है। इसमें रोगी को नहाने वाले टब में पटरे पर बैठा देते हैं उसके बदन पर पैजामा कमीज रहता है, धारापात अंशतः पीछे और अंशतः आगे से किया जाता है। इसके लिये चार पात्र आवश्यक होते हैं। पहले पात्र के जल से पूरा शरीर भीग जाना चाहिये बाद के तीन पात्रों का जल ऐसे डाला जाता है सारे शरीर पर पड़े।

यह धारापात स्वस्थ तथा स्थूल काया वाले व्यक्तियों पर प्रयोग में लाते हैं। अल्परक्त और अति संवेदनशील में कठोरता लाता है और रक्त संचालन की शक्ति बढ़ाता है। इसमें धारापात बहुत ऊँचाई से कभी नहीं करना चाहिये। इससे विशेष लाभ नहीं होता है।

(6) भुजाओं पर धारापात

भुजाओं पर धारापात हाथ के छोर से आरम्भ करके ऊपर बढ़ाते हुये कंधे तक जाते हैं, यह हमेशा दोनों ओर से करते हैं। एक भुजा के लिए एक पात्र जल काफी होता है। यह प्रयोग भुजा पर सशक्त बनाने के लिये किया जाता है पर इसे

कभी-कभी विजातीय द्रव्य घुलाने के लिए भी किया जाता है। सूजन तथा पीड़ा को कम करने के लिए भी इसका प्रयोग करते हैं। जिनके हाथों में रक्त संचालन कम होता है उन्हें अपने हाथ पात्र के पानी में डालना इसी का रूप है। कम करने के लिए भी इसका प्रयोग करते हैं। जिनके हाथों में रक्त संचालन कम होता है उन्हें अपने हाथ पात्र के पानी में डालना इसी का रूप है।

(7) सिर का धारापात

यह धारापात आँख, कान और कंठ में बहुत लाभप्रद होता है। इसमें पानी पात्र से सिर पर डाला जाय यह कान तथा गालों पर बहता रहे साथ ही बंद आँखों पर भी बहे। इसमें पहले एक पात्र का फिर दो का प्रयोग किया जाना चाहिए। एक बार सिर के बाल सूख जाने पर दुबारा नहीं डालना चाहिये।

(8) प्रक्षालन

जल चिकित्सा में प्रक्षालन अपना विशेष महत्त्व रखता है। प्रक्षालन दो प्रकार का होता है। प्रथम पूर्ण प्रक्षालन तथा दूसरा आंशिक प्रक्षालन। इसमें भी घर्षण तथा अघर्षण का सिद्धान्त लागू होता है। प्रक्षालन में ध्यान रखना चाहिये कि शरीर के किस भाग की चिकित्सा करनी है। पानी समान रुप से लगाया जाय, पूर्ण वा आंशिक प्रक्षालन वही सर्वोत्तम होता है, जो अनुपात रूप में और जल्दी किया जाये। किसी भी प्रक्षालन में 1 या 2 मिनट से अधिक नहीं लगना चाहिये। जो आदमी अधिक ठन्ड से परेशान है, उसे ठण्डे पानी की चिकित्सा कम देनी चाहिए।

स्वस्थ शरीर का पूर्ण प्रक्षालन

(1) पूर्ण प्रक्षालन

पूर्ण प्रक्षालन का अर्थ सिर को छोड़कर पूरे शरीर का प्रक्षालन है। इसके लिए एक खुरदुरा तौलिया लेकर उसे ठण्डे पानी में भिगो लें। और उसे सीना तथा पेट धोयें फिर जहाँ तक हाथ पहुँचे पीठ धोयें। प्रक्षालन की समाप्ति भुजाओं तथा टांगों के प्रक्षालन से होती है। इसमें 2 मिनट से अधिक समय नहीं लगाना चाहिये। देर लगने वाले प्रक्षालन का परिणाम बुरा होता है। इसके बाद बिना सुखाये जल्दी से कपड़ा पहन लेना चाहिये। फिर तब तक टहले जब तक त्वचा पूर्णतया गरम होकर सूख न जाये। स्वस्थ व्यक्ति सुबह उठकर इसके द्वारा अधिकतम लाभ उठा सकता है। इस प्रक्षालन को प्रातः करने से शीतलता और ताजगी आती है, दिन भर के काम के लिये स्फूर्ति आती है, शरीर सशक्त होता है। टहलने के पूर्व प्रक्षालन से व्यक्ति कई गुना अधिक लाभ प्राप्त करता है। रात के समय पूर्ण प्रक्षालन करके देख लें, यदि आपको सहन हो, तो इसको रात में सोने के पूर्व भी कर सकते हैं। यह पूर्ण स्नान की जगह सौम्य प्रयोग है। अनिद्रा में इससे लाभ होता है।

अस्वस्थ के लिए पूर्ण प्रक्षालन

रोगी बिस्तर पर बैठ जाता है अगर कमजोर है तो एक व्यक्ति उसे सम्भालता है दूसरा व्यक्ति उसका सारे पृष्ठवंश के साथ पीठ का तेजी से मार्जन आधे मिनट में कर देता है। रोगी लेट जाता है, फिर सीने तथा उदर का मार्जन किया जाता है। अगर रोगी अधिक कमजोर नहीं है तो स्वयं ही कर लेते हैं। अन्यथा दूसरा व्यक्ति करता है। इसके लिए एक मि० से अधिक समय नहीं लगाना चाहिये। सारे शरीर के प्रक्षालन में तीन या चार मि० का समय लगाते हैं, रोगी को लगता है कि उसे नया जीवन प्राप्त हुआ है। अगर बहुत बीमार लोगों को यह प्रक्षालन एक बार में न दे सकें तो इसको दो बार में दे सकते हैं। प्रातःकाल सीने उदर और बाहों का तथा तीसरे पहर पीठ बाहुओं और पैरों का। इसके लिए ताजा पानी प्रयोग में लाना सर्वोत्तम होता है। बीमार लोगों को सिरके के जल का प्रयोग प्रक्षालन में करना चाहिये। इससे रोम कूप तो खुलते ही हैं। साथ ही शक्ति भी प्राप्त होती है।

खण्ड प्रक्षालन

इसका सम्बन्ध पूरे शरीर में न होकर विशेष से होता है। यह हाथ या मोटा तौलिया पानी में भिगो कर करते हैं। अगर यह हाथ पैर या किसी भाग पर प्रदाह हो तो इसका प्रयोग करते हैं।

(9) गीली पट्टियाँ

(1) सिर की पट्टी

इसका प्रयोग दो प्रकार से करते हैं। प्रथम में पूरा सिर चेहरा और बाल इस तरह भिगो देते हैं, कि जल त्वचा में प्रवेश कर जाता है। बालों से जल टपकना नहीं चाहिये। एक सूखा कपड़ा आधा ललाट ओर आँखें छोड़ कर सिर के चारो ओर इस प्रकार लपेटते हैं, कि वायु का प्रवेश न हो। एक घन्टे से कम में बाल सूख जाते हैं। इस प्रकार सिर ढकने की आवृत्ति दो या तीन बार कर सकते हैं। यह ध्यान रहे कि सिर ढकने वाली पट्टी पूरी तरह से सूखी होनी चाहिये। प्रयोग आधा घन्टा चलाया जाये, हर नये प्रयोग के पूर्व बाल अच्छी तरह सूखे हों।

अगर विकार अधिक निकालना हो, तो उस सूखी पट्टी पर एक ऊनी कपड़ा और बांध लेते हैं, ऐसी अवस्था में अधिक गर्मी मालूम पड़ने पर अन्दर का कपड़ा तथा बाल गीले कर लेते हैं। अगर प्रयोग लम्बा चलाना हो तो अन्दर का कपड़ा बदलने में देर नहीं करनी चाहिए। सिर की पट्टी का प्रयोग सिर के विकारों, विशेषकर सर्दी या तापमान में अचानक परिवर्तन से होने वाले वात्कि विकार शुष्क चर्म स्फोट और सिर की त्वचा पर के लघु क्षतों का सफलतापूर्वक उपचार किया जाता है।

(2) गर्दन की पट्टी

गर्दन की पट्टी के लिए सारी गर्दन हाथ या तौलिये से भिगो दी जाती है। उसके बाद सूखे मोटे लिलेन कपड़े की पट्टी गर्दन के चारों ओर सावधानी से चार-पाँच बार लपेट देते हैं। ताकि बाहर की हवा भीगे भाग तक न पहुँच सके। दूसरा तरीका यह भी है कि एक मुलायम तौलिया लपेट देते हैं, फिर उस गीले तौलिये से सूखे तौलिये को ढक देते हैं। ध्यान रहे कि हवा अन्दर न जाने पाये।

पट्टियों का उद्देश्य किसी विशेष भाग की ओर रक्त का अत्यधिक और अनियमित रूप में प्रवाहित होना बंद करना, किसी विशेष स्थान के रक्त को हटाना और अत्यधिक ताप को दूर करना होता है। पर अधिक देर की पट्टी से रक्त का प्रवाह ऊष्णता के कारण अधिक हो जाता है और लाभ के स्थान पर हॉनि होती है। हर आधा घंटे बाद इस क्रिया को कर सकते हैं या दिन मे दो या तीन बार टुकड़ों में भी। इसका प्रयोग गले में प्रदाह, निगलने में कठिनाई, सिर के विकारों में भी करते हैं।

(3) शाल

इसका प्रयोग गर्दन के ऊपरी भाग के लिये करते हैं, इसके लिए एक या डेढ़ गज चौकोर लिलेन का कपड़ा त्रिभुज के रूप में दोहरा कर लेते हैं। फिर उसे पानी में डुबाकर निचोड़ लिया जाता है और साधारण शाल के रूप में निर्वस्त्र चर्म पर डाल दिया जाता है। इसके बाद सूखे लिलेन या ऊनी कपड़े से ढक देते हैं ताकि वायु अन्दर न प्रवेश कर सके। रोगी शीघ्र ही सुखद ऊष्णता अनुभव करता है। अन्दर धीरे-धीरे गर्म हो जाता है। यह प्रयोग आधे घन्टे से डेढ़ घन्टे तक चलाया जा सकता है। अधिक समय तक चलाने में पट्टी फिर ताजे पानी में भिगों कर निचोड़ कर लगानी चाहिये। इसके द्वारा रक्त कमी, सिर प्रदाह की आरम्भिक अवस्था, स्वर की नली या सीने में जकड़न की अवस्था में प्रयोग की जाती है। विषादग्रस्त और क्षुब्ध मस्तिष्क में भी इस प्रकार के प्रयोग से लाभ होता है।

(4) पैर की पट्टी

यह पट्टी सदैव सहायक प्रयोग का काम देती है। इसका कार्य अन्य प्रयोगों की मदद हेतु होता है, इसको प्रमुख दो भागों में बाँटते हैं।

(1) पैर के निम्न भाग की पट्टी

इसके प्रयोग के लिए मोजे पानी में भिगो कर निचोड़ कर पहन लेते है, ऊपर से ऊनी मोजे पहन कर कम्बल ओढ़ कर लेटते हैं। इसके स्थान पर एक मीटर लम्बी लिलेन कपड़ों की पट्टी आधे सिरके तथा आधा पानी में भिगों कर निचोड़ कर उसे पैर के निम्न भाग पर लपेट देते हैं ऊपर से सूखा या गरम पट्टी ही लपेट देते हैं। सुविधा न होने पर कोई गरम कपड़ा डाल कर कम्बल ओढ़ कर लिटा

देते हैं। इस उपचार की अवधि एक से डेढ़ घन्टे होती है, पर ऊष्ण होने पर पट्टी बदल देते हैं। इसका प्रयोग फेफड़े की सूजन, आँतो की सूजन में करते हैं। जब विजातीय द्रव्य पैरों से निकालना हो तो यह पट्टी बहुत सहायक सिद्ध होती है। पैर स्नान और इसमें भेद है। पैर स्नान अल्प होता है। उसका प्रभाव भी सीमित होता है, यद्यपि यह सच है कि उससे पैरों में गरमी आती है, और उस क्षेत्र का रक्त संचार भी बढ़ता है, पर जहाँ निर्मलता लानी हो तथा विजातीय द्रव्य निकालने हों वहाँ यह पट्टी ही कारगर होती है। पैरों में पसीना अधिक आता हो तथा पैर ठन्डे रहते हों दोनों के लिये लाभप्रद होती है।

(2) घुटने की पट्टी

यह पट्टी जैसा कि नाम से स्पष्ट है कि घुटने के 4'' ऊपर और 4'' नीचे का हिस्सा इसमें शामिल करते हुये पट्टी लपेटते हैं। यथा सम्भव उसमें 1/2'', 1/2' ऊपर नीचे बढ़ा ऊनी कपड़े पट्टी लपेट देते हैं। इसकी अवधि भी 1/2 घन्टे से डेढ़ घन्टे तक होती है पर यदि डेढ़ घन्टे का प्रयोग हो तो बीच में पट्टी बदल देते हैं। संग्रहीत गैस को निकालने का कार्य करती है। इसका प्रभाव घुटने तक पानी में खड़े रहने से भिन्न है क्योंकि वह एक सुदृढ़ीकरण के लिये प्रयोग होता है पर इसका प्रयोग विजातीय द्रव्य निकालने हेतु करते हैं।

(3) निचले भाग की पट्टी

इसका प्रयोग टाँगों तथा निचले भाग में कष्ट के निवारण हेतु करते हैं। यह बाँह के मूल से शुरू होकर पैरों तक पहुँचाती है। यह कंधे और भुजाओं को स्पर्श नहीं करती है। विस्तार पर एक चौड़ा कम्बल बिछा देते हैं, सूती कपड़ा इतना बड़ा हो कि वह दोबार रोगी के शरीर पर लिपट सके तथा नीचे के पैर भी ढक ले उसे दोहरा करके ठण्डे पानी में भिगो लेते हैं। फिर उसे अच्छी तरह निचोड़कर बिस्तर पर आयाताकार बिछा देते हैं। रोगी विस्तर पर लेट जाता है। फिर भीगी चादर का कम्बल दोनों ओर से कस कर लपेट देते हैं पैर ढकने के लिये ओढ़ने की आवश्यकता महसूस होती है। इस कार्य को शीध्रता शीघ्र करना चाहिये। यदि रोगी शरीर में गरमी कम है तो इसको गरम पानी में डुबाते हैं। कमजोर व्यक्ति अधिक आयु के व्यक्तियों तथा रक्त की कमी वाले व्यक्तियों को इसे गरम पानी में ही भिगोना चाहिये। इसके भी स्थान पर हे फ्लावर, जई का डंठल और देवदार की टहनी के क्वाथ का प्रयोग अधिक लाभप्रद होगा।

(4) छोटी पट्टी

इसका प्रयोग सर्वत्र कर सकते हैं। यह स्वाभाविक ऊष्णता बढ़ाता है। इसका प्रयोग बगल के नीचे से घुटनों के ऊपर तक करते हैं। कमजोर वृद्ध तथा अल्प रक्त

वाले इसका प्रयोग गरम पानी जिसमें जई के डन्ठल का क्वाथ हो, में भिगोकर करने में दूना लाभ उठा सकते हैं। इसका उपचार एक, डेढ़ या दो घन्टे तक चलाना लाभप्रद होता हैं। अगर स्वस्थ व्यक्ति इसका प्रयोग .15 दिन में एक बार करे तो इसका वृक्कों यकृत और आँतों पर अच्छा और शुद्धीकरण का प्रभाव होता है। यह अपान वायु को रोककर कष्ट कर गैसों के रूके हुए मल और पानी से आँतों को मुक्त कर शोध हृदय और आमाशय के विकारों को जो प्रायः गैस के दबाव से उत्पन्न होते हैं इस प्रकार की पट्टी के प्रयोग से दूर हो जाते हैं। आमाशय, सिर और गले के विकार की अवस्था, में यह पट्टी एक चमत्कारी कार्य करती है। पर इसके बाद कपूर के तेल की मालिश करनी चाहिए।

(10) स्पेशल लबादा

इसमें पूर्ण स्नान या छोटी पट्टी की तरह सारे शरीर का प्रयोग है इसका प्रयोग हम जल के अन्य प्रयोगों के साथ बारी-बारी से भी करते हैं। लिलेन कपड़े का एक गाऊन जो नीचे पैर की उँगलियों तक पहुँचता है, इसको जल में भिगोकर निचोड़ कर पहन लेते हैं। कमजोर, वृद्ध और कम रक्त वाले तथा ठण्डे पानी से घबराने वाले लोग गरम पानी में भिगो कर बिस्तर तैयार करके जिसमें रोगी अपने पर उस गाउन को पहनने के बाद ऊनी आवरण डालने को एक उसमें रोगी को टुकड़े से ढकने में देर नहीं करनी चाहिये। इस क्रिया को हफ्ते में दो बार तक कर सकते हैं। इसका प्रयोग कितने समय तक करते हैं। यह रोगी की शक्ति पर निर्भर करता है, पर फिर भी इसका प्रयोग 1 घन्टे से कम और दो घन्टे से अधिक नहीं चलना चाहिये। इसका प्रयोग गठिया संधिवात, श्लेष्मिक ज्वर आदि में करते हैं।

●●●

अध्याय-13

मृदा चिकित्सा

पंचतत्त्वों में पृथ्वी तत्त्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जिससे मानव की उत्पत्ति हुई है। उसका पालन पोषण, वृद्धि, विकास तथा विनाश पृथ्वी पर पूर्णतया निर्भर है। पृथ्वी तत्त्व से ही पेड़-पौधों, वनस्पतियों, जड़ी बूटियाँ एवं अन्नों का प्रादुर्भाव हुआ है। मानव जीवन पूर्णतया इन्हीं पर निर्भर है। यही कारण है कि पृथ्वी को माता- कहा गया है। यह शरीर द्वारा किये गये सभी अपराधों को क्षमा करके सदैव स्वस्थ, निर्मल एवं बलवान बनाने का प्रयत्न करती रहती है। मृदा (मिट्टी) ही पृथ्वी है। यही मिट्टी इतनी मामूली चीज है कि हम उससे मिलने वाले लाभों की गणना नहीं करते हैं। लेकिन यदि गम्भीरतापूर्वक विचार करें, तो ज्ञात होता है कि हमारा अधिकांश जीवन का भाग मिट्टी में ही मिल जाता है। मिट्टी से ही अनाज पैदा होते हैं, और अनाज से ही पौष्टिकता प्राप्त होती है। मिट्टी में शरीर सफाई तथा विष मारण की क्षमता होती है। मिट्टी में अनेक रासायनिक तथा खनिज तत्त्व होते हैं जो हमें अनेक प्रकार से लाभ पहुँचाते हैं। हमारे शरीर में पृथ्वी के अनेक तत्त्व हैं। इसी कारण शास्त्रों में पृथ्वी और शरीर में घनिष्ठ सम्बन्ध वर्णित किया गया है।

I. मृदा चिकित्सा का अर्थ एवं परिभाषा

आधुनिक समय में मनुष्य प्रकृति से दूर होता चला जा रहा है, और इसी कारण से प्राकृतिक चिकित्सा के उपायों एवं तरीकों का महत्त्व नहीं समझा पा रहा है। लेकिन यदि भारत का चिकित्सा इतिहास उठा कर देखें तो अधिकांश कालों में जल तथा मिट्टी दो से ही उपचार कार्य होता आया है। आयुर्वेद में मिट्टी की महिमा का वर्णन मिलता है। हमारे ऋषियों, मुनियों ने प्रत्यक्ष उपयोग द्वारा मिट्टी के महत्त्व को समझा और शरीर तथा मन को स्वस्थ रखने के लिए विभिन्न प्रकार से उपयोग करने की कला विकसित की। यदि हम आश्रम व्यवस्था की ओर दृष्टिपात करें, तो पता चलता है कि पृथ्वी पर सोना, नंगे पैर रहना एवं चलना, शरीर की मिट्टी से सीधा सम्पर्क रहना, मिट्टी से ही हाथों पैरों की सफाई, वस्त्रों की सफाई तथा निवास स्थान की सफाई तथा आकस्मिक समय पर गीली मिट्टी का उपयोग पढ़ने एवं समझने को मिलता है। मिट्टी में अनेकानेक भौतिक, रासायनिक तथा चिकित्सीय विशेषतायें होने के कारण स्वस्थ तथा अस्वस्थ दोनों दशाओं में इसका

उपयोग होता रहा है। चिकित्सा के रूप में जब इसका उपयोग किया जाता है, तो इसका महत्त्व अमूल्य औषधि से भी अधिक हो जाता है।

मृदा (मिट्टी) चिकित्सा एक प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति है जिसमें विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक रोगों एवं विकृतियों को दूर करने के लिए तथा शरीर स्वास्थ्य के संवर्धन हेतु मृदा का विभिन्न रूपों में उपयोग किया जाता है।[1]

मृदा चिकित्सा एक ऐसी विशिष्ट चिकित्सा पद्धति है, जिसके द्वारा शरीर के विजातीय दृव्यों एवं मल विकारों को विभिन्न रूपों के द्वारा शरीर से वाहीकृत किया जाता है।[2]

मृदा चिकित्सा का उपयोग न केवल रोगों के उपचार हेतु करते हैं अपितु शरीर को बलशाली, पुष्ट एवं रोग प्रतिरोधक क्षमता की वृद्धि के लिए भी करते हैं।[3]

मृदा चिकित्साएक ऐसी अमूल्य पद्धति है जिसका शरीर तथा मन दोनों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। और समाजन रूप से दोनों ही स्वसी स्थिति को प्राप्त होते हैं।

II. मृदा चिकित्सा की विशेषतायें

मृदा चिकित्सा की निम्नलिखित प्रमुख विशेषतायें हैं :-

1. सर्दी तथा गर्मी देने की अद्भुत क्षमता

मिट्टी में सर्दी और गर्मी रोकने की अद्भुत क्षमता होती है। जल चिकित्सा से भी अधिक प्रभावकारी मिट्टी चिकित्सा है क्योंकि एक ही तापक्रम पर शरीर को बिना किसी यांत्रिक सहायता से मिट्टी द्वारा रखा जा सकता है। मिट्टी में गर्मी अभिशोषित करने की असीम क्षमता होती है। अतः शरीर की आवश्यकता से अधिक गर्मी को अपने में समाहित कर लेती है जिससे शरीर का तापक्रम सामान्य हो जाता है। इसी प्रकार मिट्टी सर्दी को भी अपने में समाहित कर लेती है। उस अवस्था में गर्म मिट्टी की पट्टी का उपयोग किया जाता है।

2. मृदा चिकित्सा में शरीर से सभी प्रकार की दुर्गन्ध दूर करने की क्षमता

चाहे जैसी दुर्गन्ध शरीर में आती हो वह मिट्टी के उपयोग से जड़ से समाप्त

1- Mud therapy is a natural therapy in which mud is used to treat physical and mental disorders and promotion of bodily health.

2- Mud therapy is such a unique type of therapy through which foreign matter or accumulated and waste in the body is thrown out by using mud in different forms.

3- *Mud therapy is used not only for treatment of diseses but also to* provide strength and energy and to improve immunity system of the human body.

हो जाती है। प्रायः यह देखा गया है, कि कुछ लोगों में पसीने से काफी दुर्गन्ध आती है। किन्हीं रोगों में शरीर से दुर्गन्ध आने लगती है, ऐसी अवस्था में यदि मृदा का उपयोग किया जाता है, तो वह अपने विशिष्ट गुणों के कारण दुर्गन्ध को दूर कर देती है, और शरीर निर्मल हो जाता है।

3. वातावरण को शुद्ध एवं स्वच्छ बनाने की क्षमता

वातावरण की दुर्गन्ध को मिटाने के लिए मिट्टी से बढ़कर और कोई पदार्थ नहीं है। इसी कारण सड़ी चीजों पर मिट्टी डालने से उसकी दुर्गन्ध चली जाती है तथा हानिकारक कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। मृत शरीर का विसर्जन भी मिट्टी में दबाकर करने से शरीर से किसी प्रकार की दुर्गन्ध न तो वातावरण में मिलती है और नहीं अधिक व्यय होता है। इसीलिए प्राचीन समय में मृत शरीर को गाड़ देते थे। आज भी मृत को मिट्टी ही कहते हैं।

4. अद्भुत विद्रावक शक्ति

मिट्टी चिकित्सा के उपयोग से शरीर से विजातीय तत्त्व या विष मिट्टी में समाहित हो जाता है। बड़े से बड़े फोड़े पर मिट्टी की पट्टी देने से अपनी विद्रांवक शक्ति के कारण उसे पका देती है, पीबं को बहा देती है, तथा घाव भर देती है।

5. विषादि शोषण की क्षमता

मिट्टी में विष को शोषण करने की विचित्र क्षमता होती है। विषैले जीव जन्तु, जैसे- सांप, बिच्छू आदि के काटने पर मिट्टी का लेप करने पर सारा विष मिट्टी में उतर जाता है और रोगी ठीक हो जाता है। फोड़े का विष भी मिट्टी खींच लेती है और जिससे शीघ्र ही ठीक हो जाता है।

6. उपयोग सरल है

मिट्टी चिकित्सा का उपयोग कोई भी व्यक्ति कर सकता है, यदि उसने थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इसके साथ ही साथ विशेष हानि होने की कोई सम्भावना नहीं रहती है। अतः बिना संकोच उपयोग किया जा सकता है।

7. अत्यंत सस्ती पद्धति

मिट्टी चिकित्सा पद्धति अत्यन्त सस्ती है। इसमें न तो किसी यंत्र की आवश्यकता होती है, और न ही किसी रासायनिक पदार्थ का जनसामान्य में यदि इसके उपयोग को महत्त्व दिया जाय, तो भारत की स्वास्थ्य की समस्या काफी सीमा तक समाधान हो सकती है।

8. बलवर्धक पद्धति

मृदाचिकित्सा का उपयोग न केवल रोग की अवस्था में लाभकारी है अपितु सामान्य अवस्था में समझदारी से उपयोग करने पर बल प्रदान करती है तथा शरीर स्वस्थ रखती है।

9. मानसिक स्वास्थ्यवर्धक

वर्तमान समय में मानसिक स्वास्थ्य की एक गम्भीर समस्या उत्पन्न होती जा रही है। मानसिक चिंता, तनाव, भग्नाशा के कारण लोग परेशान हो रहे हैं। मृदा चिकित्सा के उपयोग से मानसिक तनाव को काफी सीमा तक नियंत्रण में लाया जा सकता है।

मनुष्य थलचर प्राणी है अर्थात् पृथ्वी पर रहने वाला प्राणी है। अतः वह पृथ्वी (मिट्टी) से सदैव सम्पर्क रखने से अन्य थलचरो जैसे-पशु की भाँति सदैव स्वस्थ रह सकता है। लेकिन आज कृतिमता के कारण मनुष्य मिट्टी से काफी दूर रहता है, जिसका फल यह है कि वह अस्वस्थ और शक्तिहीन होता जा रहा है। प्रकृति के नियमानुसार प्रत्येक जीव की एक जीवन पद्धति निश्चित है। उसी पर चलकर वह स्वस्थ रह सकता है। यह सिद्धान्त मनुष्य के विषय में भी लागू होता है।

III. मृदा चिकित्सा में उपयोग की जाने वाली मिट्टी

मृदा चिकित्सा के लिए निम्न प्रकार की मिट्टी रोग की प्रकृति के अनुसार उपयोग में लायी जाती है।

(1) पीलापन वाली मिट्टी

ऐसी मिट्टी देखने में पीली सी लगती है। यह अत्यन्त मुलायम तथा जल सोखने वाली होती है। इसमें मिट्टी में शीत तथा ऊष्णता रोकने तथा समाहित करने की क्षमता अधिक होती है। इसका उपयोग सामान्य रोगों पर किया जाता है।

(2) पिन्डोर

यह अधिक चिकनी मिट्टी होती है। यद्यपि शरीर की सफाई के लिए विशेष कर बालों की सफाई के लिए बहुत उपयोगी है, लेकिन चिकित्सा के लिए इसमें कुछ बालू अवश्य मिलाते हैं, जिससे सोखने की क्षमता बढ़ जाती है।

(3) काली मिट्टी

काली मिट्टी भी चिकनी होती है। अतः उसमें भी सोखने की क्षमता कम होती है। शरीर के ताप व विषादि को सोखने के लिए बालू का मिलाना आवश्यक ही माना जाता है।

(4) ईंटों के भट्ठे की मिट्टी

ऐसी मिट्टी का निःसंकोच उपयोग किसी भी प्रकार के घाव पर किया जा सकता है, क्योंकि इसमें कोई भी वैक्टीरिया या जीवाणु नहीं होते हैं।

(5) मुलतानी मिट्टी

त्वचा के रोगों में यह मिट्टी विशेष लाभकारी होती है। इसके उपयोग से त्वचा में चमक आती है तथा स्वच्छ बनती है।

(6) गेरू

यह लाल रंग की मिट्टी होती है। विशेष रूप से पित्ती निकलने पर इसका उपयोग किया जाता है। सामान्य रूप से भी इसका उपयोग किया जा सकता है।

(7) बालू

बालू का उपयोग पेट की सफाई तथा ऊपर से सेंकने के लिए करते हैं।

मिट्टी चाहे जिस किस्म की हो, लेकिन साफ सुथरी तथा स्वच्छ होनी चाहिये। आवश्यक है कि उसमें रासायनिक खाद, कूड़ा करकट, मल, कंकड़ पत्थर इत्यादि न मिले हों, अन्यथा पूरा लाभ नहीं मिल पाता है।

IV. चिकित्सा योग्य मिट्टी की तैयारी

निम्नलिखित सावधानियाँ एवं नियम बरतने आवश्यक हैं :-

1. मिट्टी को धूप में सुखाना अत्यन्त आवश्यक होता है। इससे जो भी कीड़े-मकोड़े, जीवाणु, रोगाणु आदि सुप्तावस्था या जाग्रतावस्था में रहते हैं वे नष्ट हो जाते हैं,और मिट्टी अपने गुणों से भरपूर हो जाती है।
2. धूप लगने के पश्चात बारीक पीस कर उसे चलनी से छान लेना भी आवश्यक होता है। इससे जो भी छोटे-छोटे पथरीले कण या अन्य कठोर वस्तु होती है, वह बाहर निकल जाती है।
3. जहाँ पर बजरी मिली मिट्टी हो, उसे पहले पानी में घोल लें। फिर एक कपड़े से छानकर बजरी बाहर निकाल दें तथा पानी जो मिट्टीयुक्त होता है, उसे धूप में फैलाकर सुखा लें।
4. मिट्टी अधिक चिकनी न हो इसके लिए यदि आवश्यक हो तो बालू मिला लें। इससे शोषण की क्षमता बढ़ जाती है।
5. इस प्रकार तैयार की गयी मिट्टी को उपयोग करने से एक-दो घन्टे पहले बड़े बर्तन में भिगो दें, जिससे पूरी तरह से भीगकर मुलायम हो जाय।
6. मिट्टी को हाथ नहीं लगाना चाहिये इससे उसकी पौष्टिकता एवं गुणवत्ता में की कमी आती है। उसे घेपने या बारीक करने के लिए लकड़ी का यंत्र उपयोग करना चाहिये।
7. मिट्टी की पट्टी बनाने के लिए हलुआ के समान मिट्टी बनाना चाहिये। इसमें सभी तत्त्व सक्रिय होकर पूर्णतः को प्राप्त होते हैं।
8. ग्रीष्मकाल में ठंडा पानी मिलाकर मिट्टी की पट्टी तैयार करनी चाहिये। बर्फ का पानी भी पट्टी को गीली करने में उपयोग में लाते हैं। इससे ताप सोखने की क्षमता बढ़ जाती है।
9. जाड़ों में प्रायः मिट्टी को गीला करने के लिए ऊष्ण जल का उपयोग करते हैं। इससे मिट्टी जहाँ शीतलता प्रदान करती है, वहीं ऊष्णता कम खींचती है।

10. एक बार प्रयोग में लायी गयी मिट्टी दोबारा तब तक उपयोग मे नहीं लानी चाहिये, जब तक उसे खूब धूप में कई दिनों तक सुखा न लिया जाय। क्योंकि मिट्टीमें विषादि शोषित करने की क्षमता होने के कारण उपयोग में लायी गयी मिट्टी दोषी हो जाती है।

V. पट्टी बनाने के तरीके तथा यन्त्र

मिट्टी की पट्टी बनाने के लिए लकड़ी के फ्रेम का आकार प्रायः 10 इंच X6 इंच X3 इंच होता है, पेडू पर पट्टी देने के लिए 10''X8''X1'' होता है। इसी प्रकार मेरुदण्ड पर पट्टी देने के लिए फ्रेम का आकार 2X''X6''1 होता है। सीने पर पट्टी देने के लिए फ्रेम 10''X12''X1'' होता है। इसका कोई निर्धारित मापक नहीं है। क्योंकि रोगी के शरीर के आकार के अनुसार ही पट्टी बनायी जाती है। पट्टी बनाने के लिए लकड़ी फ्रेम में टाट या पतला कपड़ा डाल लेते हैं, जिससे फ्रेम से पट्टी निकालने में आसानी रहे। इसके बाद गीली मिट्टी उसमें भरकर बेलन से ऊपरी सतह चौरस कर लेते हैं। इसके बाद जिस अंग पर मिट्टी की पट्टी देनी होती है। वहाँ पर यही पलट कर रख देते हैं। मिट्टी का प्रत्यक्ष सम्पर्क शरीर के विशिष्ट अंग से रहता है। साधारण अवस्था में जहाँ कहीं मिट्टी बांधना हो,वहाँ पर आधा इंच मिट्टी समान रूप में रखकर हाथ से बराबर कर देते हैं, और ऊपर से कपड़ा लपेट देते हैं।

जब पट्टी तैयार हो जाती है, तो उपयोग करने से पहले जहाँ कहीं मिट्टी की पट्टी देनी हो, उस अंग को थोड़ा गरम कर लेते हैं। इससे रक्त का संचार बढ़ जाता है, और विषादि गतिगामी हो जाती हैं। मिट्टी रखने पर वे शीघ्रता से मिट्टी को आकृष्ट होते हैं।

VI. मिट्टी की पट्टी देने के नियम

मिट्टी की पट्टी देने के लिए निम्नलिखित नियमों का होना अत्यन्त आवश्यक होता है :-

1. मिट्टी साफ सुथरी, धूप में सुखायी हुई एवं बारीक हो।
2. मिट्टी की पट्टी में न अधिक चिकनापन हो और न ही अधिक बलुई हो।
3. पट्टी रोगाणुओं तथा जीवाणुओं से मुक्त हो।
4. पट्टी जिस अंग में देना हो, उसको पूर्ण रुप से ढंक अवश्य लें।
5. मिट्टी की पट्टी सीधे त्वचा के सम्पर्क में हो। बीच में कपड़ा नहीं डालना चाहिये। इससे उसकी शक्ति कम हो जाती है।
6. मिट्टी की पट्टी सामान्य अवस्था में आधा घन्टा तक ही देनी चाहिये। क्योंकि इसके बाद शरीर में प्रतिक्रियायें होने लगती हैं।
7. हैजा, तथा विषैले, जन्तुओं के काटने पर 10–10 मिनट पर पट्टी बदलना

चाहिये। मिट्टी यदि शरीर तापक्रम से गरम हो जाती है, तो लाभ नहीं होता है। अतः पट्टी की मोटाई 3/4 इंच से कम नहीं होनी चाहिए।

8. पट्टी रखने के बाद ऊपर से मोटा कपड़ा डालकर उस स्थान को ढक देना चाहिये, जिससे वाह्य वातावरण का प्रभाव न पड़े। जाड़ों में ऊनी कपड़ों का उपयोग करने की सलाह दी जाती है।
9. पट्टी हटाने के बाद, उस अंग को गीले कपड़े से पोंछकर साफ कर देते हैं। फिर हाथ से तौलिये से रगड़कर उस स्थान पर गर्मी ला देते हैं। इससे रक्त संचार में वृद्धि होती है।
10. यदि तत्काल लाभ की आवश्यकता हो, तो गरम सेंक देकर मिट्टी की पट्टी रखते हैं।
11. तत्काल लाभ के लिए गरम पट्टी तथा ठंडी पट्टी दोनों क्रमानुसार पाँच-सात मिनट की देते हैं। पहले ठण्डी पट्टी पाँच मिनट देते हैं, फिर दो मिनट गरम पट्टी देते हैं। यह क्रम तीन बार करते हैं।
12. पेडू पर पट्टी रखने के बाद दो घन्टे तक भोजन नहीं करना चाहिए। तीन-चार घन्टे भोजन करने के बाद ही पट्टी रखनी चाहिए।
13. शीघ्र लाभ के लिए दिन में दो-तीन बार पट्टी का उपयोग करना चाहिए।
14. चोट, अथवा फोड़े पर एक-दो दिन तक बराबर मिट्टी की पुल्टिश बांधना आवश्यक होता है। लेकिन आधे घन्टे के बाद पुल्टिस बदल अवश्य देनी चाहिए।
15. कभी-कभी मिट्टी की पट्टी शरीर के अन्दर से विकार को बाहर निकालती है। अतः घबड़ाने की आवश्यकता नहीं होती है। विकार निकल जाने पर शरीर स्वस्थ हो जाता है।
16. मिट्टी की पट्टी का उपयोग विश्वास के साथ करें, क्योंकि अविश्वासी तनमन कभी फलित नहीं होता है।

VII. मिट्टी की पट्टी के प्रकार

(1) उदर की पट्टी

उदर ही जीवन का मुख्य अंग है, जहाँ पर पाचन क्रिया होती है, और इसकी गड़बड़ी से रोग उत्पन्न होते हैं। उदर की पट्टी अत्यंत उपयोगी मानी गयी है। इस पट्टी की इतनी चौड़ाई होनी चाहिये कि वक्ष के नीचे के हिस्से से मूत्रेन्द्रिय तक ढक लें। रोगी के पेट की नाप लेकर पट्टी तैयार करते हैं।

(2) उदर की पूरी पट्टी

पेट के चारों ओर आगे पीछे दोनों ओर के लिए गोलाई में मिट्टी की पट्टी तैयार करते हैं, जिससे रोग के पीठ के नीचे हिस्से से लेकर पेट की ओर का पूरा हिस्सा ढंक जाय।

(3) पेडू पर मिट्टी की पट्टी

मिट्टी की पट्टी इतनी चौड़ी होती है, कि वह नाभि के एक अंगुल ऊपर से लेकर मूत्रेन्द्रिय तक पहुँच जाय तथा पेडू के दोनों ओर 1 इंच लटकने लगे। रोगी के पेडू की आकार के अनुसार ही पट्टी तैयार की जाती है।

(4) पेडू के चारों ओर की पट्टी

इस प्रकार की पट्टी पेडू (नाभि) प्रदेश के चारों ओर के स्थान को पूर्णरूप से ढॅंक लेती है। रोगी को पट्टी पर लिटा देते हैं और पट्टी के दोनों सिरों को आगे पेडू पर पलट कर एक दूसरे से मिलाकर जोड़ देते हैं। इस पट्टी की चौड़ाई पेडू पर मिट्टी की पट्टी के समान ही रहती है।

(5) मेरुदण्ड की पट्टी

रोगी के मेरुदण्ड की लम्बाई को नाप लेते हैं, फिर उपयुक्त लकड़ी के फ्रेम में मिट्टी भरकर पट्टी तैयार करते हैं। इस पट्टी की चौड़ाई लगभग 4 इंच होती है।

(6) वक्षस्थल की पट्टी

गले से लेकर वक्ष के पूरे भाग के लिए जहाँ तक अस्थियाँ होती हैं, वहाँ तक के लिए मिट्टी की पट्टी तैयार करते हैं। चौड़ाई में इतनी हो कि वक्ष के दोनों ओर पीठ के हिस्से को छूती रहे।

(7) वक्ष प्रदेश की पूरी पट्टी

इस प्रकार की पट्टी भी वक्ष स्थल की पट्टी के समान होती है, लेकिन इसकी लम्बाई इतनी होती है, कि वह पीठ से लेकर वक्ष तक के सारे क्षेत्र को ढक लेती है।

(8) विभिन्न जोड़ों की पट्टी

हाथ-पाँव के जोड़ों के लिए मिट्टी तैयार करते समय ध्यान रखते हैं कि पट्टी की चौड़ाई तथा लम्बाई, इतनी हो कि वह जोड़ के ऊपर तथा नीचे दो -दो इंच का स्थान ढंक ले।

(9) गले की पट्टी

रोगी के गले की चौड़ाई तथा लम्बाई के अनुरूप पट्टी तैयार की जाती है। इसकी मोटाई $\frac{1}{2}$ इंच कम होती है।

(10) आँखों की पट्टी

इस प्रकार की पट्टी की चौड़ाई, मस्तक से लेकर नाक तक होती है। लम्बाई में दोनों कानों तक छूती रहती है। इस प्रकार की पट्टी की मोटाई $\frac{1}{2}$ इंच ही होती है।

(11) कान की पट्टी

इस प्रकार की पट्टी चार इंच चौड़ी तथा छः इंच लम्बी होती है जिससे गले के ऊपरी हिस्से से लेकर कनपटी के ऊपरी हिस्से का अंग पूर्णतया ढँक जाय।

(12) मस्तक की पट्टी

मस्तक के लिए ही इतनी चौड़ी होती है। कि वह दोनों कानों को छूती रहे तथा ऊपर ढँक ले। सामान्यतः $2\frac{1}{2}$ इंच चौड़ी तथा 9 इंच लम्बी पट्टी होती है।

(13) सिर की पट्टी

इस प्रकार की पट्टी गोल तैयार की जाती है। जिससे सारे सिर को पूरी तरह से ढंक लें। कानों के ऊपर तक रहे तथा मस्तक को पूरा ढँके रहे।

(14) पूरे शरीर की पट्टी

एक टाट के टुकड़े को या सूती चादर को लकड़ी की चौकी पर फैलाकर उस पर गीली मिट्टी 1 इंच ऊँचाई में फैला लेते हैं। रोगी की लम्बाई तथा गोलाई की नाप के अनुसार ही पट्टी तैयार की जाती है। रोगी को उस पर लिटा देते हैं। फिर चादर सहित मिट्टी की पट्टी को ऊपर की ओर लाकर एक हिस्से से दूसरे हिस्से को मिलाकर शरीर से छिपा देते हैं। ऊपर से चादर या कम्बल से पूर्ण रूप से ढंक देते हैं।

(15) गुदा की पट्टी

यह मिट्टी की पट्टी प्रायः तीन इंच चौड़ी तथा छः इंच लम्बी होती है, जिससे गुदा से लेकर मूत्रेन्द्रिय का स्थान ढँक जाय।

(16) जननेन्द्रियों की पट्टी

जनेन्द्रियों की चिकित्सा के लिए आठ इंच लगभग लम्बी तथा 4 इंच चौड़ी पट्टी बनाते हैं, जिससे कि जननेन्द्रिय से 2 इंच ऊपर के हिस्से से गुदा तक का हिस्सा पूरी तरह से ढँक जाय।

(17) मिट्टी स्नान

एक गड्ढा खोदकर उसमें पानी भर देते हैं, ताकि उसके अन्दर की मिट्टी साफ, मुलायम कर लेते हैं, फिर रोगी को उसमें बिठाकर गीली मिट्टी से स्नान करवाते हैं। आधे घन्टे तक मिट्टी से सने रहने के बाद बाहर निकाल कर रोगी को ठंडे जल से स्नान करवाते हैं।

VIII. विविध रोगों की मृदा चिकित्सा

कब्ज तथा पेट के रोग

प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार जब पाचन क्रिया में गड़बड़ी होती है, तभी

किसी रोग का प्रादुर्भाव होता है। अतः पाचन क्रिया पर सदैव ध्यान रखना चाहिए और यदि उसमें कोई व्यतिक्रम हो गया है तो मिट्टी की पट्टी द्वारा बिना किसी दवा लिये हुये ठीक किया जा सकता है। कब्ज को दूर करने के लिए पेडू की पट्टी तैयार करते हैं। फिर पेडू पर थोड़ा गरम सेंक देते हैं। उसके पश्चात पट्टी रख देते हैं। 30 मिनट के बाद पट्टी हटा देते हैं और हाथ से रगड़कर इस स्थान को गरम कर देते हैं। दिन में दो-तीन बार मिट्टी की पट्टी लेने से सात-आठ दिनों में कब्ज दर हो जाती है।

पेचिस तथा अतिसार में मृदा चिकित्सा

इन रोगों से रोगी को काफी कमजोरी होती है तथा शरीर में पानी की कमी होने लगती है। पेचिस में पतले दस्त, आँव में चिकनाहट तथा अतिसार में पानी जैसे दस्त होते हैं। इन रोगों में शरीर दिनो-दिन कमजोर तथा क्षीण होता चला जाता है। इन रोगों में ठंडी मिट्टी की पट्टी पेडू पर दिन में तीन-चार बार गरम सेंक के बाद दी जाती है। अगर रोग विषम हो तो दो-तीन बार लगातार देते हैं। मिट्टी की पट्टी जितनी ही ठंडी होगी उतना ही लाभ रोगी को मिलेगा। लेकिन ऐसे रोगों में अधिक समय तक उपचार करने की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही साथ प्राकृतिक चिकित्सा की अन्य विधियों का भी उपयोग आवश्यक होता है।

बवासीर में मृदा चिकित्सा

बवासीर का मुख्य कारण पेट की गड़बड़ी होती है, जब शरीर में पाचन क्रिया सामान्य न होने के कारण विजातीय पदार्थ बढ़ जाते हैं तो बवासीर रोग हो जाता है। यह दो प्रकार की होती है। एक बादी तथा दूसरी खूनी। खूनी बावसीर में मल के साथ रक्त आने लगता है। रक्त पाखाने के साथ आता है या बाद में निकलता है। बादी बवासीर में मस्से फूल जाते हैं, जिससे मल निकलने में असीम कष्ट होता है। गुदा द्वार पर असहनीय पीड़ा होती है। इस हालत में गुदा तथा पेडू पर ठंडी मिट्टी की पट्टी का दिन में तीन-बार उपयोग करने से कुछ ही समय में रोग जाता रहता है।

पेट में अचानक दर्द की मृदा चिकित्सा

कभी-कभी पेट में ऐठन, मरोड़, तथा अचानक दर्द होने लगता है। रोगी को किसी भी प्रकार से आराम नहीं मिलता है। इस हालत में पहले पेडू पर गरम ठंडा सेंक देते हैं। पहले गरम सेंक तीन मिनट देते हैं, फिर 1 मिनट ठंडा सेंक देते हैं। यह क्रिया तीन-चार बार करने के बाद पेडू पर मिट्टी की पट्टी चढ़ा देते हैं। 15-20 मिनट के बाद पट्ठी हटाकर दो मिनट गरम सेंक फिर मिट्टी की पट्टी रखते हैं। यदि तुरन्त लाभ न होता है, तो गरम पानी का एनिमा देते हैं और फिर पट्टी रख देते हैं।

ज्वर की मृदा चिकित्सा

ज्वर तभी आता है जब शरीर में विजातीय पदार्थ अधिक हो जाता है और उसमें सड़न होने लगती है। गैसें बनती हैं जिसके कारण शरीर का तापक्रम बढ़ जाता है। साधारण प्रकार के ज्वर में पेडू की पट्टी दिन में दो-तीन बार देने तथा एनिमा देने से रोगी को आराम मिलता है। अन्य सावधानियाँ भी बरतना आवश्यक होती हैं। टाइफाइड में भी इसी प्रकार की चिकित्सा की जाती है।

हैजे की मृदा चिकित्सा

गाँवों में हैजे का प्रकोप बड़ा भयंकर होता है और यदि तत्काल उपचार नहीं किया जाता है तो रोगी का जीवन संकट में पड़ जाता है। मिट्टी सदैव सभी जगह उपलब्ध है। अतः उसके उपयोग से हैजे के रोग की गम्भीरता को कम किया जा सकता है। यदि उपचार कार्य ठीक से हो तो रोगी को लाभ भी शीघ्र ही होता है। ठंडे पानी की मिट्टी की पट्टी का समय बढ़ा कर आधा घन्टा कर देते हैं।

मूत्रावरोध या मूत्र में जलन

अनियमितता कभी-कभी शरीर में मल संचय के कारण पेशाब अवरुद्ध हो जाती है, अथवा पेशाब करने में अधिक चिलकन, जलन, व कष्ट होता है। ऐसी दशा में पेडू पर 1 मिनट का गरम सेंक देकर मिट्टी की पट्टी दस-दस मिनट में बदल कर रखते हैं। कुछ ही समय में पेशाब होने लगती है। लेकिन उपचार कार्य एक सप्ताह तक अवश्य करना चाहिए।

सूखारोग (Ricket) की मृदा चिकित्सा

छोटे बालकों में यह रोग प्रायः हो जाता है। बालक दुबला, पतला हो जाता है, खाना नहीं अच्छा लगता तथा सुस्त रहता है। ऐसे बालक की दिन में तीन-चार बार सूखी मिट्टी से मालिश करना चाहिए। फिर गीली मिट्टी से पूर्ण स्नान कराकर शरीर साफ कर देना चाहिए।

सिर दर्द में मृदा चिकित्सा

सिर दर्द का कारण कुछ भी हो, लेकिन तत्काल लाभ पाने के लिए मस्तक पर ठण्डी पट्टी बीस-बीस मिनट पर बदल -बदल कर रखने से सिर दर्द कम हो जाता है। साथ ही साथ पेडू पर मिट्टी की पट्टी रखने से पेट की सफाई भी हो जाती है, ओर मल विकार को बाहर निकलने में सहायता मिलती है।

गले के विकारों की मृदा चिकित्सा

गले के नाना प्रकार के रोग जैसे टांसिल, गले की खरास, गला भरना आदि आजकल प्रायः हो जाते हैं। इनसे छुटकारा पाने के लिए दिन में तीन-चार बार मिट्टी की पट्टी गले में बांधने से कुछ ही दिनों में मुक्ति मिल जाती है। लेकिन गले की हर बार गर्म सेंक आवश्यक है।

फोड़ा की मृदा चिकित्सा

फोड़ा चाहे छोटा या बड़ा सभी के लिए मिट्टी की पुल्टिस लाभकारी होती है। गर्म मिट्टी की पुल्टिश आधे-आधे घंटे में बदल -बदल कर रखने से फोड़ा पक जाता है तथा पीब बाहर निकल जाता है।

अँधोरी की मृदा चिकित्सा

गर्मियों तथा बरसात में शरीर पर प्रायः छोटी-छोटी फुन्सियां या दाने निकल आते हैं उनसे बड़ी तकलीफ होती है। मुलतानी मिट्टी से सम्पूर्ण स्नान करने से त्वचा की सभी बीमारियाँ एवं विकार दूर हो जाते हैं।

बिच्छू के काटने पर मृदा चिकित्सा

बिच्छू के डंक मारने पर बहुत दर्द होता है। अतः तत्काल उपचार की आवश्यकता होती है। बिच्छू के डंक मारने के बाद जहाँ तक जहर का असर हो वहाँ पर कपड़े से खूब कसकर बाँध देते हैं, तथा काली मिट्टी का 1 इंच मोटा लेप कर देते हैं। लगभग आधा-आधा घन्टे पर बदल देते हैं। कुछ ही समय में जहर उतर जाता है। बर्र तथा मधु-मक्खी के काटने पर भी यही करते हैं।

सर्प काटने पर मृदा चिकित्सा

गॉवों में सर्प काटने की अधिकांश घटनायें होती हैं और जब उनका उचित उपचार नहीं हो पाता, तो दुर्घटनायें भी हो जाती हैं। मृदा चिकित्सा द्वारा सफलता-पूर्वक उपचार सम्भव है। साँप काटने के तुरन्त बाद सारे शरीर पर गीली मिट्टी थोप देनी चाहिए तथा सिर पर गीली पट्टी रखनी चाहिए। हर पन्द्रह-बीस मिनट पर मिट्टी का लेप बदलते रहना चाहिए। इससे सारा विष रोगी के शरीर से निकल कर मिट्टी में समाहित हो जाता है। गीली मिट्टी में यदि सम्पूर्ण शरीर समाहित कराये रखा जाय, तो शीघ्र लाभ होता है।

मानसिक तनाव की मृदा चिकित्सा

मानसिक तनाव मनोदैविक तंत्र की एक ऐसी अवस्था है, जिसमें व्यक्ति बेचैनी, व्याकुलता, अकुलाहट तथा माँसपेशियों में जकड़न, अनुभव करता है। शारीरिक रूप से सिर दर्द, कमरदर्द, जोड़ों में दर्द, हृदय की अधिक धड़कन, भूख की कमी, शारीरिक शिथिलता आदि की शिकायत रहती है। इन शिकायतों को मृदा चिकित्सा के द्वारा बिना कोई औषधि लिए दूर किया जा सकता है। गीली मिट्टी की पेडू की पट्टी मस्तक की पट्टी, मेरुदण्ड की पट्टी तथा पाँवों के नीचे ठंडी मिट्टी के उपयोग से मानसिक तनाव दूर हो जाता है।

स्वास्थ संवर्धन हेतु मिट्टी का उपयोग

नंगे पाँव जमीन पर प्रातः काल चलने से जो शारीरिक व मानसिक शांति

प्राप्त होती है उसका मूल्यांकन करना कठिन है। यह भी अनुभव किया गया है कि नंगे पाँव सूखी मिट्टी के अपेक्षा गीली घास वाली मिट्टी पर चलने से अधिक लाभ होता है क्योंकि इससे शरीर का अनावश्यक ताप मिट्टी में समाहित हो जाता है। दूसरे पृथ्वी में एक ऐसी विद्युत शक्ति होती है, जो नंगे पैर चलने से शरीर में प्रवेश करती है और ऊर्जा का संचार करके शरीर को तरोताजा करती है। यह जीवनी शक्ति को विशेष बल प्रदान करती है। नंगे पाँव चलना, पृथ्वी पर लेटना, बैठना सभी कुछ शरीर की शक्ति को बढ़ाता है। आयु भी इससे बढ़ती है। इसीलिए साधु संयासी जो गुफाओं और कंदराओं में रहते हैं, वे पूर्ण स्वस्थ एवं दीर्घजीवी होते हैं। पृथ्वी के स्पर्श से ही प्राणियों में जीवन-शक्ति की यथेष्ठ उपलब्धियां होती हैं। योगाभ्यास में इसी कारण शारीरिक व अध्यात्मिक बल मिलता है, क्योंकि इससे क्रिया में शरीर का सीधा पृथ्वी से सम्पर्क बना रहता है।

अनिद्रा की दशा में जमीन पर लेटने से शीघ्र ही नींद आ जाती है। पृथ्वी पर लेटने से शरीर से सभी विकार दूर रहते हैं।

सूखी मिट्टी के स्नान से भी शरीर को बल मिलता है तथा नयी शक्ति का संचार होता है। सूखी मिट्टी को प्रति दिन 10-15 मिनट रगड़ने से तथा ठंडे पानी से स्नान करने से त्वचा नरम, लचीली तथा कोमल होती है। साथ ही साथ त्वचा के छिद्रों से शरीर का विजातीय द्रव्य बाहर निकल जाता है। आयुर्वेद में मिट्टी के इस स्नान को रज स्नान कहा गया है। महीन पिसी हुई कपड़े से छनी हुई मिट्टी को जब पानी के साथ घोलकर उसे पतला कर लेते हैं, फिर स्नान करते हैं तो गीली मिट्टी का स्नान कहा जाता है। यह स्नान फोड़े-फुन्सियों में अत्यन्त लाभकारी है।

●●●

अध्याय-14

वायुतत्त्व चिकित्सा

जीवन के लिए भोजन तथा वायु दो प्रमुख आधार हैं। पर इन दोनों में मुख्य वायु है। पृथ्वी के सभी जीवों, कीट पतंगों, चौपायों तथा सूक्ष्मतर जीवों को भी वायु की आवश्यकता होती है। मनुष्य भोजन के बिना कई दिनों तक जीवित रह सकता है, पानी के बिना भी कुछ घंटों तक जीवित रह सकता है, लेकिन वायु के बिन मिनटों में भी जीवित रहना असम्भव है। इसीलिए वायु को प्राण कहा गया है। यह प्राणवायु हम जन्म के बाद से ही मृत्युपर्यन्त ग्रहण करते रहते हैं। इस पृथ्वी के चारों ओर लगभग 500 मील तक वायु है, जिसे वायुमण्डल कहते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से शुद्ध वायु का सेवन अत्यन्त आवश्यक है। दूषित वायु के सेवन से अनेक रोग हो जाते हैं, शरीर दुर्बल होता चला जाता है। पर्याप्त शुद्ध वायु के न मिलने से शरीर की अनेक क्रियायें अपूर्ण रहती हैं जैसे पाचन क्रिया तथा रक्त शुद्धिकरण क्रिया पूरी नहीं होती है, और मनुष्य रोगी हो जाता है।

वायु कई गैंसों का मिश्रण है। इसमें 20.96 प्रतिशत आक्सीजन 76 प्रतिशत नाईट्रोजन तथा .4 प्रतिशत कार्बन डाईआक्साइड होती है। आक्सीजन के बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता है, इसलिए इसे प्राणवायु कहते हैं। नाईट्रोजन से वनस्पतियों का पोषण होता है। वृक्षादि कार्बनडाईआक्साइड वायु का शोषण करके जीवित रहते हैं और उसके बदले में आक्सीजन देते हैं। इससे वातावरण में संतुलन बना रहता है।

आक्सीजन में जलन शक्ति प्रचण्ड होती है। नाईट्रोजन वायु इस पर नियंत्रण रखती है, अन्यथा सारा संसार जल कर राख हो जाय। आक्सीजन से प्रकाश तथा ताप दोनों की उत्पत्ति होती है। आक्सीजन लाल कणों के साथ मिलकर प्रत्येक कोश में पहुँचती है, और उसमें रासायनिक क्रियायें (Oxidation) होती है जिससे ताप उत्पन्न होती है। परिणामस्वरुप शरीर का तापक्रम समान स्थिर रहता है। अत शरीर में पर्याप्त आक्सीजन का होना अत्यन्त आवश्यक होता है।

वायु चिकित्सा के निम्न साधन हैं:-

1. पवन स्नान (Air bath)
2. प्राणायाम (Pranayam)

पवन स्नान

पवन स्नान का तात्पर्य वायु के सेवन से है, जिसे प्रातःकाल टहलने से अधिकांशतः प्राप्त करते हैं। प्रातःकाल के टहलने से शरीर की बाहरी तथा भीतरी दोनों प्रकार की सफाई होती है।

प्रातःकाल का टहलना

प्रातःकाल टहलने का सबसे उचित समय सूर्योदय से 1 घन्टा पहले होता है। उस समय वायु मंद-मंद चलती है। सूर्य से ऐसी सूक्ष्म किरणें निकलती हैं, जो शरीर के सभी अंगों को पुष्ट करती हैं, तथा रोगाणुओं को नष्ट करती हैं। अतः प्रातःकाल टहलने से शरीर की सभी माँसपेशियों तथा अंगों की कसरत हो जाती है। प्रातःकाल टहलने के कुछ नियम हैं, जिनका पालन करना अनिवार्य है।

1. शरीर पर कम से कम कपड़े हों।
2. नंगे पैर टहलना उत्तम हैं, लेकिन यदि ऐसा न हो सके, तो कपड़े के जूते पहनें।
3. घास पर टहलने से विशेष लाभ होता है।
4. टहलने के समय चलने की गति सामान्य से अधिक रखें।
5. टहलते समय दूसरों से बातचीत, गपशप न करें।
6. ईश्वर का स्मरण करें, अथवा उन शब्दों की याद करें, जो मनमोहक एवं आकर्षक है।
7. सदैव विचार करें कि उसके शरीर से दोष बाहर निकल रहे हैं तथा असीम शक्ति का संचार हो रहा है।
8. गहरी सांस लें।
9. ऐसे स्थान पर न टहलें जहाँ पर टेम्पो, मोटर, गाड़ियाँ, निकलती हैं।
10. स्नान करने के बाद टहलें। ऐसा करने से शरीर का प्रत्येक रोम प्रफुल्लित होता है।
11. तीन-चार किलोमीटर टहलना स्वस्थ व्यक्ति के लिए पर्याप्त है।

प्रातःकाल टहलने से लाभ

1. शरीर की बाहरी तथा आंतरिक सफाई होती है।
2. शरीर की त्वचा स्वास्थ, लचीली तथा कोमल होती है।
3. फेफड़े सबल होते हैं।
4. रक्त शुद्ध होता है।
5. प्राणवायु सदैव शुद्ध रहती है।
6. प्राण, अपान, समान, व्यान, तथा उदान वायु नैसर्गिक रूप से कार्य करती है।

7. पवन-स्नान के अभाव में समान वायु विकृत होकर पेट में अनेक रोग उत्पन्न कर देती है।
8. शारीरिक सहनशक्ति बढ़ती है।
9. मानसिक शक्ति बढ़ती है।
10. मानसिक शांति तथा अत्यधिक सुख मिलता है।
11. आयु बढ़ती है।
12. स्नायु क्षैर्बल्य, मानसिक रोग, अनिद्रा, स्वप्नदोष, दमा क्षयरोग, कब्ज मोटापा, दुबलापन, तथा कमजोरी में प्रातःकाल का टहलना विशेष लाभकारी होता है।

I. प्राणायाम

प्राणायाम दो शब्दों से मिलकर बना हैः प्राण+ आयाम। प्राण का अर्थ ऊर्जा या जीवनी शक्ति है तथा आयाम का तात्पर्य है, ऊर्जा को नियंत्रित करना है। प्राण शब्द प्रा तथा ण से मिलकर बना है। प्र का अर्थ है "प्रथम इकाई" तथा ण का तात्पर्य "ऊर्जा" है। ऊर्जा की प्रथम इकाई मनुष्य में सूक्ष्म रूप में रहती है। यह सम्पूर्ण ब ाण्डमें फैली हुई है। मानव तथा ब्र ाण्ड दोनों का मूलभूत तत्त्व प्राण है। सृष्टि के आरम्भ में केवल आकाश था। प्राण के कारण ही ब्र ाण्ड का स्वरूप प्रगट हुआ। इन्द्रियों के द्वारा हमें जगत में जो कुछ बोध होता है वह सब महज ऊर्जा की अभिव्यक्ति मात्र है। प्राण ही मन का संपोषण और संरक्षण करता है तथा विचारों को उत्पन्न करता है। अतः प्राण-मन से सम्बन्धित है, मन का इच्छा से इच्छा पर बुद्धि की आत्मा से और अन्त में आत्मा का विश्वात्मा या ब्रह्म से सम्बन्ध है। समस्त संवेदनाओं चिंतन, भावनायें और बोध केवल प्राण से सम्भव है।[1]

प्राण से ही जीवन रहता है। हम जो भोजन ग्रहण करते हैं तथा जो सांस लेते हैं, इन्हीं से शरीर में प्राण प्रवेश करता है। भोजन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग प्राण है, जिसके बिना कोई क्षणमात्र भी जीवित नहीं रह सकता है। लेकिन साँस, की अपेक्षा भोजन में स्थूल रूप में प्राण रहता है। साँस के द्वारा अधिक सूक्ष्म रूप में प्राण को ग्रहण किया जाता है। दूसरे शब्दों में भोजन द्वारा जो हम प्राण ग्रहण करते हैं वह अवश्य महत्त्वपूर्ण है, लेकिन इससे भी अधिक अनिवार्य ऊर्जा वह है, जो साँस द्वारा हम हवा से प्राप्त करते हैं। मनुष्य को आज तक ऐसी कोई औषधि प्राप्त नहीं हुई हैं, जो उस महत् ऊर्जा का विकल्प हो सके, जिसे मनुष्य साँस द्वारा वायु प्राप्त करता है। लेकिन प्राण वह वायु नहीं है, जो हम साँस से ग्रहण

1- Swami Ram: Yoga Sadhana, Sahitya Niketan, Kanpur, 1984, p.42

करते हैं, तथा वह भोजन नहीं है, जिसे हम खाते हैं। वस्तुतः भोजन और वायु प्राण शक्ति के वाहक मात्र हैं।[2]

प्राणायाम की परिभाषा

प्राणायाम एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा श्वसन तंत्र के अनैच्छिक कार्य मानव नियंत्रण में लाये जाते हैं।[3]

प्राणायाम एक यौगिक प्रविधि है, जिसके द्वारा ऊर्जा शक्ति का संवर्धन तथा सदुपयोग करना सम्भव होता है।[4] प्राणायाम "प्राण" का विस्तार है।[5]

प्राणायाम वह प्रविधि है, जिसके द्वारा प्राण शक्ति को सम्प्रेरित, नियंत्रित, नियमित तथा संतुलित किया जाता है।[6] स्वांस प्रक्रिया में परिवर्तन करना प्राणायाम है।[7] शरीर की वायुओं का निरोध होना ही प्राणायाम है।

2. प्राणायाम की विशेषतायें

प्राणायाम की निम्नलिखित विशेषतायें हैं :-

प्राणायाम जीवन का आधार है

मानव जीवन का निर्माण आक्सीजन, कार्बन, हाइड्रोजन, कैल्शियम आदि 16 मूल तत्त्वों से हुआ है, उनमें आक्सीजन का भाग सबसे अधिक 49 प्रतिशत है। आक्सीजन की विशेषता अन्य तत्त्वों से इस कारण अधिक है क्योंकि इसके द्वारा ही सारे खाद्य पदार्थ का पचन तथा जलन सम्भव होता है। अगर आक्सीजन का अभाव हो जाय तो खाद्य पदार्थ आमाशय में ठीक उसी तरह जैसे के तैसे पड़े रहेंगे, जिस तरह वायु का प्रवेश रुक जाने पर भट्ठी में डाला हुआ ईंधन बिना जले ही पड़ा रह जाता है। इसके अतिरिक्त आक्सीजन ही शरीर की क्रियाओं से उत्पन्न कार्बन

2- Ibid, P, 43

3- Pranayam is a process through which involuntary functions of respiratory mechanism are brought under human control.

Suren, Aviyogi; cyclopaedia of Yoga, vol,I Saru Publishing House, Meerut, 1992. p.106

4- Pranayam is a yogic technique through which promotion and proper utilization of vital force is made possible.

5- pranayam is the expansion of Pran.

6- Pranayam may be defined as a process and technique through which stimulation and increase of vital energy, thus bringing about perfect control over the flow of pran within the body are made possible.

7- Modification of breathing process is called pranayam.

डाईआक्साइड से रक्त को मुक्त कर उसे शुद्ध और सप्राणयुक्त बनाता है, जो शरीर का जीवन है। आक्सीजन का अधिकांश भाग प्राण ही है, जो श्वांस के द्वारा अंदर प्रवेश करने वाली वायु से प्राप्त होता है।

2. प्राणायाम द्वारा शरीर के आंतरिक अंगों की सफाई होती है

मानव शरीर के विभिन्न अंगों की सफाई के लिए फेफड़ों को स्वच्छ और सक्रिय रखना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। फेफड़े एक प्रकार से विनियम की प्रकिया करते हैं। साँस लेने से वायु फेफड़ों में जाती है, उससे फेफड़े प्राण तत्त्व को ग्रहण कर लेते हैं, तथा जो शेष अनावश्यक तत्त्व रह जाता है, उसे फेफड़े बाहर निकाल देते हैं। अप्राकृतिक भोजन करने से यह विनमय प्रक्रिया विकृत हो जाती है। जब व्यक्ति प्राणायाम के द्वारा फेफड़ों के कार्य को नियमित करता है, तो शरीर के रोमकूप ठीक से काम करने लगते हैं, उनसे विजातीय पदार्थ बाहर निकलने लगता है, और शरीर स्वच्छ हो जाता है। कोई भी व्यक्ति प्राणायाम के द्वारा फेफड़े की गति को नियंत्रित करके रोमकूपों की क्रिया को नियंत्रित कर सकता है। जो सम्पूर्ण शरीर की स्वच्छता के लिए नितांत आवश्यक है। योग ग्रन्थों में रोमकूपों द्वारा शरीर की स्वच्छता के लिए तरंगिनी क्रिया बताई गयी है। इसे प्राण स्नान कहा गया है।

3. प्राणायाम द्वारा रक्त शोधन सम्भव होता है

रक्त का शोधन फेफड़ों में बड़े विचित्र ढंग से हुआ करता है। श्वांस द्वारा ग्रहण की गयी वायु गले से वायु नलियाँ फेफड़ों की ओर ले जाती हैं। फेफड़ों के नीचे तनुपुट (डायाफ्राम) होता है। इस डायफ्राम के कारण ही फेफड़ों के अंदर हवा खिंचकर पहुँचती है। डायफ्राम जब सिकुड़ता है, तब फेफड़े फैलते हैं, जिससे उनके अन्दर आंशिक रूप से शून्यता पैदा हो जाती है, और वायु बाहर से खिंचकर अंदर आती है। जब डायफ्राम विश्राम करता है,या निष्क्रिय होता है तो फेफड़े सिकुड़ते हैं, जिससे फेफड़ों की हवा बाहर निकलती है। इसलिए डायफ्राम का समुचित रूप से संचालन श्वांस प्रश्वास के व्यायामों में पहली शर्त है।

श्वास ली गयी वायु स्वर नली से प्रवेश करके आगे चलकर वाम तथा दक्षिण दो शाखाओं में विभक्त शाखाओं में होती हुई आगे बढ़ती है। वे दोनों शाखायें भी अनेकानेक छोटी-छोटी शाखाओं तथा उसके बाद सूक्ष्म शाखाओं (Arterioles) में विभक्त हो जाती है। इस सीमा पर पहुँच कर वे सूक्ष्म वायुकोष में प्रवेश कर जाती हैं, जो दूषित रक्त लाने वाली और पंप करने के लिए शुद्ध रक्त ले जाने वाली दो प्रकार की रक्त कोशिकाओं के संयोग से बने जाल से ढके रहते हैं। फेफड़े इन्हीं वायु कोषों और रक्त कोशिकाओं के मेल से बने हुये स्पंज जैसे पिण्ड मात्र हैं। रक्त कोशिकाओं से बने जाल का और वायु कोषों का आवरण इस प्रकार बना होता है कि रक्त तो उनसे नहीं गुजर पाता पर श्वास द्वारा ग्रहणं की गयी वायु की, जो वायु

कोषों के आगे नहीं बढ़ती, आक्सीजन और रक्त कोशिकाओं द्वारा लाये हुए दूषित रक्त की कार्बन डाईआक्साइड बड़ी आसानी से पास में मिल जाते हैं, और तब श्वांस वाली वायु तो कार्बन डाईआक्साइड ग्रहण कर लेती है। और रक्त आक्सीजन को ग्रहण कर लेता है। श्वांस के द्वारा अंदर जाने वाली वायु में 79 प्रतिशत आक्सीजन, 20.96 प्रतिशत नाइट्रोजन तथा 0.04 प्रतिशत कार्बन डाइआक्साइड होती है। पर रक्त आदान-प्रदान की क्रिया सम्पन्न्न होने के बाद श्वांस के द्वारा जो हवा बाहर निकलती है, उसमें नाइट्रोजन की मात्रा तो पहले जैसी ही रहती है, परन्तु आक्सीजन 16.2 प्रतिशत तथा कार्बन डाईआक्साइड 4.38 प्रतिशत हो जाती है। चिकित्सा शास्त्रियों का मत है कि श्वसन क्रिया बंद होने से मृत्यु हो जाना मुख्य कारण आक्सीजन की कमी नहीं, बल्कि कार्बन डाइआक्साइड का शरीर में रुका रह जाना है। सामान्यतः रक्त शोधन का कार्य होता रहता है, लेकिन अप्राकृतिक जीवन शैली के कारण रक्त दोष उत्पन्न हो जाते हैं। प्राणायाम के द्वारा इस प्रक्रिया को सुदृढ़ बनाते हैं।

4. प्राणायाम प्राणशक्ति या ऊर्जा शक्ति को सबल बनाता है

योग का विश्वास है कि सारे विश्व में एक रहस्यमयी शक्ति है,जो प्रत्येक प्राणी के जीवन का आधार है। इसे प्राणशक्ति कहते हैं। यह श्वांस क्रिया के द्वारा नासामूल में स्थित नाड़ी विशेष से अंदर प्रवेश करती है। यह दो प्रकार की होती है। धन तथा ऋण दाहिनी श्वांस छिद्र से तथा ऋण शक्ति बाये श्वांस छिद्र से अंदर प्रवेश करती है। नासिका के एक छिद्र से जब काम होता है तो दूसरा बंद रहता है। इन्हीं दोनों श्वांसों का नियमन तथा संतुलन सारे प्राणियों के जन्म, वृद्धि क्षय और मृत्यु का नियंत्रण करता है। धन शक्ति सूर्य शक्ति का वहन और ताप उत्पन्न करती हैऔर ऋण श्वास चन्द्रर्शक्ति का वहन ओर शीतलता तथा शक्ति प्रदान करती है। महिलाओं में यह क्रिया उल्टी होती है। जब दोनों श्वांस साथ-साथ चलते हैं तो दोनों शक्तियों का समान रूप में प्रवेश करती हैं। ये दोनों शक्तियाँ नाड़ी तंत्र के द्वारा सारे शरीर में पहुँच कर उसे सप्राण बनाती हैं। जब दाहिनी श्वास चलती है, तो क्रोध तथा आसुरी वृत्तियों को प्रकोप होता है। इससे शरीर को हानि पहुँचती है। प्राणायाम के अभ्यास से इन दोनों शक्तियों में संतुलन बनाये रखना सम्भव होता है। जिससे प्राणशक्ति संवर्धित होती है।

5. प्राणायाम मानसिक क्रियाओं को प्रभावित करता है

प्राणायाम स्नायुतंत्र (Nervous system) विशेषकर स्वतंत्र स्नायु तंत्र (Autonomic Nervous system) के कार्यो से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। स्वतंत्र स्नायुतंत्र शरीर की उन क्रियाओं को नियंत्रित करता है, जो व्यक्ति के ऐच्छिक नियंत्रण के अधीन नहीं है। जैसे हृदय का स्पंदन, फेफड़ों का संचालन, पाचन अंगों में रसों का स्राव आदि। प्राणायाम के द्वारा इन अनैच्छिक कार्यों को ऐच्छिक नियंत्रण के अधीन करना सम्भव होता है। श्वास क्रिया को विनियमित करके हृदय

की गति तथा वेगस (Vagus Nerves) स्नायु को नियंत्रित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्भव होता है। ऐसा होने पर मस्तिष्क के सूक्ष्म स्तरों को अनुभव करने का मार्ग खुल जाता है। इससे मॉसपेशियों की व्याधि तथा मानसिक तनाव, क्रोध, ईर्ष्या, आदि को रोका जा सकता है। दूसरे शब्दों में, श्वास क्रिया को विनियमित करने से शरीर में अनेक प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करने वाली विभिन्न प्रणालियाँ विनियमित हो जाती हैं। व्यक्ति ज्ञान के सूक्ष्मतर स्तरों की ओर बढ़ता है।

यदि हम प्राणायाम (PRANAYAM) शब्द का विश्लेषण करें, तो निम्न तथ्य सामने आते हैं :

P = Preservation of life.
R = Respiration
A = Acquisition of Power.
N = Normalization of breathing.
A = Association of physical and mental energy.
Y = Yogic Technique
A = Animate and inanimate.
M = Mastery of mind.

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्राणायाम ऊर्जाशक्ति के संग्रह, श्वांस-प्रश्वास के सामान्यीकरण, शारीरिक तथा मानसिक ऊर्जा में संघ और अंतिम रूप से मन की क्रियात्मकता पर सम्पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने की एक योगिक प्रविधि है।

3. प्राणायाम के उद्देश्य

प्राणायाम के निम्नलिखित उद्देश्य है :–

1. प्राणशक्ति का संवर्धन करना।
2. श्वास- प्रश्वास क्रिया का निमयन करना।
3. प्राणशक्ति पर नियंत्रण प्राप्त करना।
4. मन का शुद्धिकरण करना।
5. स्मृति शक्ति तथा ध्यान शक्ति में सुधार लाना।
6. शरीर तथा मन दोनों को सशक्त बनाना।
7. शांरीरिक अंगों जैसे लिवर, उदर, आँतें, हृदय, फेफड़े, वृक्क आदि को सुदृढ़ तथा अधिक कार्यात्मक बनाना।
8. इन्द्रियों तथा मन पर नियंत्रण प्राप्त करना।
9. कोश ऊर्जा (Cell energy) में वृद्धि करना।
10. शरीर के अंगों को स्वच्छ तथा निर्मल बनाना।
11. रक्त शुद्धिकरण करना।
12. शरीर से विजातीय तत्त्व बाहर निकालना।

13. शारीरिक रोगों को दूर करना।
14. मानसिक तनाव तथा चिंता को कम करना।
15. सकारात्मक मनोवृत्ति का विकास करना।

4. प्राणायाम के विशेष लक्षण

प्राणायाम के तीन लक्षण हैं :-

(1) सही लय की विकास

प्राणायाम से डाइफ्राम की श्वांस-प्रश्वास (Diaphramic Breathing)क्रिया सीखते हैं, तथा श्वास की दर कम करते हैं। इस विधि में प्रत्येक प्रश्वास के समय उदर की दीवारों को अंदर की ओर खींचते हैं। इस क्रिया से उदर को काफी लाभ होता है। उसे विश्राम मिलता है। हृदय अस्थिपंजर को विश्राम करने का अवसर मिलता है, परिणामस्वरूप हृदय को लाभ होता है। इस प्रकार की श्वांस क्रिया का चिकित्सकीय प्रभाव निम्न है :-

1. हृदय की माँसपेशियाँ सशक्त होती है। विशेष रूप से जब उड्डियान बंध लगाया जाता है, तो वह पेसमेकर (Pacemaker) का कार्य करता है।
2. श्वांस के रोगों में लाभ होता है।
3. नाक, गले, श्वास-नलिका आदि से सम्बन्धित रोग नहीं होते हैं।
4. शरीर में अनेक बंधक (Spyhieterx)है उनकी शक्ति बढ़ती है।
5. रक्त का शुद्धिकरण होता है।
6. फेफड़ों की कार्यक्षमता बढ़ती है।
7. चयापचय (Metabolism) को अतिरिक्त शक्ति मिलती है।

(2) सामान्य रूप से नाक से श्वांस लेने के लिए जोर देना

1. इससे श्वास ली गयी वायु को बाहर निकलने की सामान्य शक्ति मिलती है।
2. अधिकतम आक्सीजन अभिशोषित होती है।
3. विचार तरंगें सामान्य रूप से मस्तिष्क को प्रभावित करती हैं।

(3) विशिष्ट क्षमताओं का विकास

पित्रैक, क्रोमोसोम्स तथा सभी प्रकार के कोषाणु बढ़ते हैं।

5. प्राणायाम करने की तैयारी

प्राणायाम प्रारम्भ करने से पूर्व निम्नवत बातों पर ध्यान देना आवश्यक होता है:

(1) वातावरण तथा स्नान का चुनाव

जहाँ पर प्राणायाम करना है वह स्थान साफ, सुथरा, शांत, हवादार तथा एकान्त होना चाहिए। अगर बाहर से शीतल मंद सुगंध हवा का प्रवेश हो जहाँ पर प्राणायाम करना है, तो अति उत्तम होता है।

(2) समय तथा दिशा

प्रातःकाल 4 बजे से 8 बजे तक तथा सांय 6 बजे से 8 बजे तक का समय उत्तम माना गया है। क्योंकि इस बीच न तो अधिक गर्मी होती है, और न अधिक हवा ही तेज चलती है। प्रातः काल पूरब की ओर तथा सायं पश्चिम की ओर मुँह करके प्राणायाम करना श्रेष्ठ माना गया है। उत्तर दिशा की ओर मुँह प्रातः तथा शाम दोनों समय कर सकते हैं। लेकिन हवा का झोंका सामने से आता हो। दक्षिण की ओर मुँह करके प्राणायाम करना वर्जित है।

(3) पोशाक

यह सांस्कृतिक विशेषताओं, ऋतु तथा सामाजिक प्रतिमानों पर निर्भर होता है, लेकिन कपड़े ऐसे हों, जो ढीले हों, शरीर में हवा लग सके। जहाँ तक हो के कम से कम वस्त्र शरीर पर हों।

(4) समय सीमा

प्राणायाम की अवधि कोइ निश्चित नहीं है, लेकिन कम से कम 20 मिनट प्राणायाम करना सामान्य रूप से लाभकारी माना गया है। इतने समय में सभी प्रकार की क्रियायें हो जाती हैं।

(5) आहार

प्राणायाम के लिए यह आवश्यक माना गया है कि शाकाहारी भोजन करे। सात्विकी भोजन करने से सात्विकी विचार आते हैं। इससे प्रसन्नता का संचार होता है।

(6) नियमित अभ्यास

प्राणायाम से तभी लाभ होता है, जब इसका अभ्यास नियमित रूप से किया जाय।

(7) शरीर शुद्धि

प्राणायाम का अभ्यास करने से पहले शरीर स्वच्छ तथा निर्मल होना चाहिए। अतः जल नेति, कुंजल, शौच, स्नान आदि करने के बाद ही प्राणायाम करना चाहिए।

(8) आसन या मुद्रा

प्राणायाम अभ्यास के लिए सुखासन, सिद्धासन, पद्मासन, बज्रासन में से

किसी एक का चुनाव करके उस आसन में बैठने का अभ्यास करना आवश्यक होता है। अन्यथा प्राणायाम का अभ्यास नहीं किया जा सकता है।

6. प्राणायाम की अवस्थायें

प्राणायाम की क्रिया चार अवस्थाओं में पूरी होती है :

1. पूरक (Inhalation)

बाहर से वायु अंदर खींचने को पूरक कहते है।

2. कुम्भक (Neither inhale nor exhale)

श्वास द्वारा वायु अंदर खींचने के बाद उसे रोक-रोक कर लेने की क्रिया को कुम्भक कहते हैं।

3. रेचक (Exhalation)

अंदर से वायु बाहर निकालने को रेचक कहते हैं।

4. शून्यक (Airless)

अन्दर से वायु बाहर निकालकर रोक लेने को शून्यक कहते हैं। इसे वाह्य कुंभक भी कहते हैं।

7. प्राणायाम सम्बन्धी क्रियाओं की मात्रा

प्राणायाम के अन्तर्गत होने वाली क्रियाओं में पूरक, रेचक और कुंभक की मात्रा क्या होनी चाहिए तथा उनका क्या अनुपात हो इस सम्बन्ध में योगाचार्यों में काफी मतभेद है। लेकिन मुख्यरूप से 1:4 :2 और 1:2 :2 के पक्ष में बहुमत है। इसका अर्थ यह हुआ कि अगर पूरक 4 मात्राओं का है, तो रेचक आठ मात्राओं का होगा, कुम्भक, सोलह मात्राओं का होगा। लेकिन नये अभ्यास को चार पूरक, आठ कुम्भक तथा आठ रेंचक रखना चाहिए।

पारस्परिक सम्बन्ध का निश्चय हो जाने के बाद इनकी मात्रा कितनी होनी चाहिए, यह निश्चित करना होता है। प्राणायाम सुखपूर्वक किया जाना चाहिए। शरीर पर किसी प्रकार का दबाव नहीं आना चाहिए। अतः पहले यह निश्चित कर लेना होता है कि आराम के साथ कितनी देर कुम्भक करना सम्भव होता है, उसी के अनुसार अन्य क्रियाओं का समय निर्धारित हो जाता है।

पूरी श्वास लेने की विधि का अभ्यास

बैठकर या लेटकर श्वांस खींचिए (पूरक) उस समय उदर फूल जाना चाहिये। जितना उदर फूलेगा उतनी ही अधिक वायु फेफड़ों में प्रवेश करेगी। श्वांस निकालने (रेचक) पर उदर अंदर की संकुचित होता है। जितना अधिक संकुचित होगा, उतनी

ही कार्बन डाईआक्साइड गैस बाहर निकलेगी। उदर द्वारा श्वसन तथा छाती द्वारा श्वसन दोनों ही के योग से फेफड़ों में पूरक द्वारा अधिकतम मात्रा में वायु का प्रवेश करना या रोचक द्वारा अधिकतम वायु का निष्कासन ही पूर्ण यौगिक श्वसन कहलाता है।

8. प्राण के तत्त्व या सम्भाग

यद्यपि प्राण एक है लेकिन इसमें 5 उपभाग हैं।

1. प्रान, 2. अपान, 3. समान, 4. उदान, 5. ब्यान।

प्राण शक्ति का मूल है। इसी से निर्जीव तथा सजीव का भेद होता है। इसे संजीवनी शक्ति या मूल ऊर्जा कहते हैं इसके द्वारा ही शरीर क्रियाशील रहता है।

1. प्राणवायु

प्राण का क्षेत्र कंठ नली तथा श्वास पटल (Diaphram) तक का माना गया है। यह वह शक्ति है जिससे इस प्रदेश के अंग अपना कार्य सुचारु रुप से करते रहते हैं तथा वायु अन्दर प्रवेश करती है।

2. अपान वायु

अपान वायु का क्षेत्र नाभि प्रदेश के नीचे का होता है। यह वायु आंत, गुदा उदर, गुर्दे, एवं मूत्रेन्द्रियों को शक्ति प्रदान करती है। इस शक्ति के कारण ही मल निष्कासन की क्रिया होती है। यह शीघ्र प्राणवायु को गुदाद्वार तक खींचने का एवं नासिका द्वारा दूषित वायु के निष्कासन का भी कार्य करती है।

3. समानवायु

इसका क्षेत्र हृदय तथा नाभि के बीच का माना गया है। यह पाचन क्रिया को उत्तेजित करता है तथा उस पर नियंत्रण रखता है। यह यकृत, वृक्क, अंतणियाँ पेनक्रियाज, आदि को उत्तेजित करता है तथा उनकी क्रियाओं पर नियंत्रण रखता है। उनकी क्रियात्मकता को सामान्य बनाये रखता है। यह हृदय के रक्त संचार को भी नियंत्रित रखता है। समान वायु प्राणवायु तथा अपानवायु को संतुलित बनाये रखती है।

4. उदानवायु

उदान वायु के द्वारा कंठ नली के ऊपर के अंगों का नियंत्रण होता है। नेत्र, नासिका, कान, सम्पूर्ण शरीर की इन्द्रियाँ तथा मस्तिष्क इसी वायु के द्वारा कार्य करते हैं।

5. ब्यान वायु

इसका क्षेत्र सम्पूर्ण शरीर माना गया है। इसका कार्य अन्य वायुओं में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना है। शरीर की सभी गतिविधियों पर नियंत्रण तथा उनका

नियमन इसी वायु के द्वारा होता है। शरीर की माँसपेशियों, नाड़ियों एवं संधियों का कार्य व्यानवायु के द्वारा ही सामान्य बना रहता है।

यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि वायु कई प्रकार की नहीं होती है बल्कि शरीर के जिस क्षेत्र में प्रवेश करती है, उसी के अनुरूप उसका नाम बदल जाता है। उदाहरण के लिये हृदय में स्थित वायु को प्राणवायु कहते हैं। जब यह गुदा में स्थित होती है तब इसे अपान वायु कहते हैं। जब नाभि प्रदेश में होती है तब समान वायु कहते हैं। कंठ प्रदेश की वायु को उदान वायु कहते हैं तथा शरीर की सभी प्रणालियों में जो वायु रहती है उसे व्यान वायु कहते हैं।

प्राणायाम की प्रक्रिया में साँस लेने से ब्रह्माण्डीय ऊर्जा(प्राण) आक्सीजन के द्वारा शरीर में प्रवेश करती है, व्यान के रूप में शरीर की सभी कोशिकाओं में प्रवेश कर उनसे समस्त विजातीय तत्त्व को निकाल ले जाती है। प्रश्वास (रेचक) में अपान की शक्ति से कार्बन डाईआक्साइड के द्वारा निरर्थक पदार्थ बाहर निकल जाते हैं। श्वांस तथा प्रश्वांस की गति को रोकना तथा उनका मिलन प्राणायाम कहलाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राणायाम एक प्रक्रिया है जिसमें प्राण के रहस्य और उसके नियंत्रण को समझकर शरीर व मन की क्रियाशीलता को बढ़ाने के उपयोग में लाया जाता है।

Pranayam is a process which is used to increase the functioning of mind and body by understanding the mistries of Pran and its control.

9. प्राणायाम के प्रकार

योगशास्त्रों में निम्नलिखित प्रकार के महत्त्वपूर्ण प्राणायाम बताये गये हैं

1. नाड़ी शोधन प्राणायाम (अनुलोम-विलोम)
2. सूर्यभेदी तथा चंद्रभेदी प्राणायाम।
3. भस्त्रिका प्राणायाम।
4. उज्जायी प्राणायाम।
5. भ्रामरी प्राणायाम।
6. शीतली प्राणायाम।
7. शीतकारी प्राणायाम।
8. मूर्छाप्राणायाम।
9. प्लावनी प्राणायाम।

1. नाड़ी शोधन प्राणायाम

यह प्राणायाम सबसे मह वूपर्ण माना गया है क्योंकि इससे शरीर की समस्त नाड़ियों के दोष व विकार जलकर नष्ट हो जाते हैं। फलस्वरूप शरीर की सभी

नाड़ियों में प्राण वायु का संचार अबाध गति से होने लगता है।

इस प्राणायाम का अभ्यास करने के लिए ध्यान के किसी आसान सुखासन, सिद्धासन, पद्मासन लेकिन ब्रजासन-नहीं- में बैठकर हाथों को घुटनों पर रखते हैं, मेरुदण्ड सीधा करते हैं। सीधी मुद्रा में बैठते हैं, आँखें बंद करते हैं, तथा मानसिक रूप से अंगों की क्रिया के लिए शरीर को तैयार करते हैं।

प्रथमावस्था

अब दाहिना हाथ ऊपर अंगूठे से दायीं नाक के छिद्र को बंद करते हैं। तर्जनी अंगुली (Index) तथा मध्यअंगुली को भ्रूमध्य (Egelrow Centre) पर रखते हैं। अब बायीं नासिका से श्वास खींचते हैं (पूरक) तथा उसी नासिका से प्रश्वास (रेचक) भी करते हैं, अर्थात् श्वांस बाहर निकालते हैं। पूरक तथा रेचक दोनों अवस्थाओं में सांस की गति बराबर रखते हैं। कम से कम पाँच बार पूरक व रेचक करना चाहिये। अब यही क्रिया बायी नासिका को बंद करके दायीं नासिका से करते हैं। इसे भी कम से कम पाँच बार करते हैं।

द्वितीय अवस्था

इस अवस्था में दाहिनी नासिका को बंद करके बायें से श्वांस लेकर (पूरक) फिर बायीं नासिका को बंद करके दाहिनी से श्वांस निकालते हैं। (रेचक) अर्थात पूरक बायें से तथा रेचक दायें से करते हैं। इस क्रिया को भी पाँच बार कम से कम करना चाहिए।

तृतीय अवस्था

इस अवस्था में दायीं नासिका को अंगूठे से बंद करके बायीं नासिका से पूरक करते हैं, अर्थात् साँस लेते हैं। फिर बायीं नासिका को बंद करके दायीं से प्रश्वास करते हैं। (रेचक) उसके उपरान्त इसी तरफ से (दायीं) से श्वांस खींचते हैं। और बायी नासिका से बाहर निकालते हैं। इस क्रिया को पाँच बार करते हैं।

चौथी अवस्था

इस अवस्था में श्वांस खीचने के बाद यानी पूरक के बाद रोकते है। कुंभक करते हैं तथा प्रश्वास के बाद भी कुछ समय के लिए रुकते हैं। (शून्यक) फिर पूरक करते हैं। दोनों प्रक्रियाओं को मिलाकर एक बार की क्रिया मानी जाती है। इसमें 1 : 4 : 2 : 2 का अनुपात होता है।

नाड़ी शोधन प्राणायाम से लाभ

नाड़ी शोधन, प्रणायाम से निम्न लाभ होते हैं:–

1. मन शांत होता है, उसकी चंचलता पर नियंत्रण लगता है।
2. धमनियाँ तथा रक्तवाहिनियाँ सभी दोषमुक्त रहती हैं। रक्त शुद्ध रहता है।

3. रक्त में विजातीय तत्त्व नहीं इकट्ठा होने पाता है।
4. शरीर को अतिरिक्त आक्सीजन मिलती है तथा अधिक कार्बन डाईआक्साइड निकलती है।
5. इससे शरीर के सभी कोशों (Cells) का शुद्धिकरण हो जाता है।
6. मस्तिष्क की क्रियाशीलता बढ़ती है।
7. फेफड़ों में रुकी हुई वायु बाहर निकल जाती है।
8. तनाव को कम करता है।
9. शारीरिक तथा मानसिक रूप से शरीर को स्वच्छ बनाता है।

2. सूर्यभेदी- चन्द्रभेदी प्राणायाम

सूर्य नाड़ी दाहिनी नासिका में होती है। इस प्राणायाम में दाहिनी नासिका से पूरक तथा बांयी नासिका से रेचक किया जाता है। यह प्राणायाम शक्ति अर्जित करने विशेष रूप से मात्रा बढ़ाने तथा अग्नि त व को प्रज्ज्वलित करने के लिए किया जाता है।

विधि

प्राणायाम की स्थिति में बैठकर दाहिने हाथ से बायीं नासिका को बंद कर लेते हैं। तत्पश्चात मूलबंद लगाकर दाहिनी नासिका से श्वांस खींचते हैं। फिर दोनों नासिकाओं को बंद कर लेते हैं। जालन्धर बंध लगाकर तब तक कुम्भक करते हैं, जब तक कष्ट अनुभव नहीं होता है। तत्पश्चात् मूलबंध फिर जालंधर बंध खोलकर दायीं नासिका बंद रखते हुये बायीं नासिका से (रेचक) करते हैं। उहड्डयान बंध लगाकर बायीं नासिका से सम्पूर्ण वायु को बाहर निकाल देते हैं। यह पूरी क्रिया एक चक्र मानी जाती है। कम से कम पाँच बार इसे करना चाहिए। पूरक कुम्भक तथा रेचक का अनुपात 1 : 1 : 2 का होता है। कुछ समय बाद यह अनुपात 1 : 2 तथा उसके उपरांत 1 : 3 : 2 तथा बाद में 1 : 4 : 2 तक हो जाता है।

लाभ

इससे पाचन सक्रिय होती है। कब्ज, अपच, भोजन की अरुचि आदि में यह प्राणायाम विशेष लाभकारी है। भोजन तभी करना चाहिए जब दाहिना स्वरं चलता है। यदि ऐसा नहीं है, तो सूर्यभेदी प्राणायाम करके दाहिनी स्वर को चालू कर लेते हैं।

1. बात तथा कफ से उत्पन्न होने वाले दोष जैसे सर्दी, जुकाम, वायु विकार, खाँसी आदि में लाभकारी है।
2. रक्तदोष में लाभ होता है।
3. आमाशय का कार्य सुचारु रूप से होता है।
4. कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है।

इस प्राणायाम को करने से शरीर में ऊष्णता की वृद्धि होती है, इसलिए पित्तप्रधान वाले व्यक्तियों के लिए यह हितकर नहीं होता है। यह प्राणायाम जाड़ों में ही करना हितकर होता है।

चन्द्रभेदी प्राणायाम

इस प्राणायाम में चन्द्र स्वर अर्थात् बायीं नासिका से पूरक तथा दाहिनी नासिका से रेचक करते हैं। प्राणायाम की मुद्रा में बैठकर दाहिने हाथ के अंगूठे से दाहिनी नासिका बंद कर लेते हैं, फिर मूल बंद लगाते है। दहिनी नासिका बंद कर जालंधर बंद लगाते है। जब तक कष्ट नहीं होता है, तब तक श्वांस रोकते हैं। फिर मूलबंध खोलते हैं, जालंधर बंद खोलते हैं, तत्पश्चात दायीं नासिका को खोलकर श्वांस बाहर निकाल देते हैं।

लाभ

इस प्राणायाम का मुख्य कार्य शीतलता प्रदान करना होता है। मानसिक तनाव में कमी आती है, थकान दूर होती है एवं शांति मिलती है।

3. भस्त्रिका प्राणायाम

इस प्राणायाम में बड़े बेग से लोहार की धौंकनी के समान श्वांस को अन्दर बाहर ले जाते हैं। इस प्राणायाम की विशेषता है, कि इसमें न तो बंध लगाते हैं, और न ही कुंभक करते हैं। जल्दी-जल्दी पूरक व रेचक करते हैं।

विधि

प्राणायाम की स्थिति में बैठकर दायीं नासिका को दायें हाथ के अंगूठे से बंद कर लेते हैं। अब बायीं नासिका से तेज आवाज के साथ श्वास जल्दी-जल्दी खींचते तथा निकालते हैं। दस-पन्द्रह बार करने के बाद कुंभक करते हैं। तत्पश्चात बायीं नासिका को बंद करके यही क्रिया दायीं नासिका से करते हैं। 10-15 बार करने के बाद दोनों नासिकाओं से जल्दी -जल्दी श्वास खींचते तथा निकालते हैं ऐसा भी 10-15 बार करते हैं, फिर कुम्भक लगाते हैं।

लाभ

1. भस्त्रिका प्राणायाम से शरीर के सम्पूर्ण विकार जल जाते हैं।
2. फेफड़ों को ऊर्जा मिलती हैं।
3. शरीर के सभी अंग सक्रिय होते हैं।

4. उज्जायी प्राणायाम

यह प्राणायाम उच्च रक्तचाप को कम करता है तथा शरीर को शान्ति प्राप्त होती है।

विधि

प्राणायाम की स्थिति में बैठकर चेहरे को थोड़ा नीचे को झुकाकार दोनों नासिकाओं से श्वांस खींचते है। (पूरक) पूरक करते समय श्वास क्रिया गहरी, धीमी तथा आवाज छोटे बच्चों के कोमल खर्राटें की भाँति आवाज आती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि श्वांस क्रिया नासिका से नहीं गले से आ रही हो। कुछ समय का कुम्भक करते हैं। तत्पश्चात कंठ से हल्की आवाज करते हुये बायीं नासिका से रेचक करते हैं। इस प्राणायाम में पूरक व कुम्भक हल्का करते हैं। कुम्भक में वायु हृदय के नीचे नहीं ले जाते हैं। रेचक धीरे-धीरे करते है। प्रारम्भ में इस प्राणायाम का अभ्यास पाँच बार करते हैं। लेकिन धीरे-धीरे इसका समय बढ़ा देते हैं।

लाभ

1. अनिद्रा के रोगी को लाभ होता है। नींद आने लगती है।
2. उच्च रक्त चाप कम हो जाता है।
3. दमा में भी लाभ होता है।
4. मानसिक थकावट दूर होती है।
5. स्नायुतंत्र के मल विकार दूर होते हैं।

5. भ्रामरी प्राणायाम

भ्रामरी शब्द भ्रम से लिया गया है, जिसका तात्पर्य भौंरे से होता है। भौरे के उड़ने में जिस प्रकार की आवाज आती है, उसी तरह की आवाज इस प्राणायाम के अभ्यास में होती है।

विधि

प्राणायाम की स्थिति में बैठकर दोनों नेत्र बंद करके दोनों कानों के छिद्र को तर्जनी अंगुली से बंद करते हैं। फिर मूलबन्ध लगाते हैं। मूलबंध लगाने के बाद दोनों नासिकाओं से गहरी श्वांस खींचते हैं (पूरक) फिर जालंधर बंध लगाते हैं। कुछ सेकेण्ड के बाद बंध खोल देते हैं। तत्पश्चात भौंरे की तरह अखण्ड आवाज करते हुए श्वास बाहर निकालते हैं। (रेचक)

6. सीत्कारी प्राणायाम

सीत्कारी प्राणायाम से शरीर में शीतलता की वृद्धि होती है तथ शरीर का ताप का स्तर कम होता है। इस प्राणायाम का अभ्यास गर्मियों में ही करते हैं।

विधि

प्राणायाम की स्थिति में बैठकर, जीभ को ओंठों से थोड़ा बाहर निकालकर दाँतों से हल्का दबाव देते हुए पूरक करते हैं। श्वांस खींचते समय सी-सी की आवाज करते हैं। वायु को जीभ और दाँत के मिलाने में रह जाने वाले बीच के स्थान से

खींचते हैं। तत्पश्चात कुम्भक लगाते हैं। कुछ समय पश्चात दोनों नासिकाओं से श्वास बाहर निकालते हैं (रेचक)। इस प्राणायाम में मुंह से साँस खींचते हैं तथा नाक से बाहर निकालते हैं। प्रारम्भ में कम से कम पाँच बार करते हैं।

लाभ

1. इस प्राणायाम से पाचन तंत्र के रोग जैसे अजीर्ण, अम्लता, कब्ज, आदि रोग दूर होते हैं।
2. पित्त की शांति होती है।
3. रक्त पित्त में लाभ होता है।
4. पूरे शरीर की आवश्यकता से अधिक ताप बाहर निकलती है।

7. शीतली प्राणायाम

शीतली प्राणायाम भी शीतलता प्रदान करता है। इसका भी अभ्यास सीत्कारी के समान ही होता है। केवल जीभ की स्थिति में अंतर होता है।

विधि

प्राणायाम की स्थिति में बैठकर, मुँह खोलकर होंठों को गोलाकार बनाते हैं। फिर जीभ को थोड़ा बाहर निकाल कर उसको नाली के समान बनाते हैं। तत्पश्चात नालीदार बनी जीभ से श्वांस खींचते हैं। फिर कुंभक लगाते हैं। कुंभक उतने समय का करते हैं। जितने समय शरीर को कष्ट न अनुभव हो। उसके बाद दोनों नासिकाओं से धीरे-धीरे श्वास बाहर निकालते हैं।

लाभ

इस प्राणायाम से शीतलता अधिक प्राप्त होती है जिसके कारण सीत्कारी से इसका प्रभाव अधिक होता है।

8. मूर्छा प्राणायाम

इस प्राणायाम अभ्यास से मन से सभी भावनायें व इच्छायें निकल कर शून्य की स्थिति ला देती है जिससे मूर्छा सी अनुभव होती है।

विधि

प्राणायाम की स्थिति में बैठकर दोनों हाथों के अँगूठे अपनी तरफ के कान पर तर्जनी अंगुली से अपनी तरफ की आँख पर मध्यमा अँगुली से अपनी- अपनी तरफ की नासिका पर अनामिका से अपनी अपनी ओर के ऊपर वाले होंठों को तथा कनिष्ठ अंगुली से अपनी-अपनी तरफ के नीचे व होठ को बंद कर लेते हैं। तत्पश्चात अंगुलियों को नासिका से ढीला कर दोनों नासिकाओं से गहरी श्वांस खींचते हैं। (पूरक) जालंधर बंध लगाते हैं, साथ ही साथ कुंभक करते हैं। जालंधर बंध बिना खोले धीरे-धीरे दोनों नासिकाओं से श्वांस धीरे-धीरे बाहर निकालते हैं। इस

प्राणायाम को उच्च रक्त चाप वाले व्यक्तियों को नहीं करना चाहिए।

लाभ

1. इस प्राणायाम से चित्त में एकाग्रता आती है।
2. ध्यान करने में सहायता मिलती है।
3. ऊर्जा का संचार होता है।

9. प्लावनी प्राणायाम

प्लावा का तात्पर्य तैरने से होता है। इस प्राणायाम के अभ्यास से शरीर में चुस्ती-फुर्ती आती है तथा हल्कापन अनुभव होता है।

विधि

इस प्राणायाम में पहले पद्मासन पर बैठते हैं। फिर पल्थी की स्थिति रखते हुये चित्त लेट जाते हैं। फिर दोनों हाथ सिर के ऊपर से लेकर बायें हाथ से दाहिनी भुजा को व बायें हाथ से बायीं भुजा को पकड़ते हैं। इस प्रकार मत्स्यासन करके पूरक से पेट में अधिकतम वायु भर लेते हैं। फिर कुंभक लगाते हैं। ऐसा अनुभव होता है कि सारे शरीर की वायु पेट में एकत्र हो गयी है। शरीर हल्का होता अनुभव होता है। कुंभक के पश्चात धीरे- धीरे रेचक करते हैं।

लाभ

1. इस प्राणायाम के अभ्यास से शरीर का भारीपन कम हो जाता है।
2. प्राणवायु पर पूर्ण अधिकार होता है। जिससे पेट से सभी रोगों पर प्रभाव पड़ता है।
3. शरीर से मल दोष दूर होते हैं।
4. रक्त की शुद्धता होती है।
5. कमर के जोड़ों का दर्द कम होता है।

10. प्राणायाम -अच्छे स्वास्थ्य की कुंजी अथवा प्राणायाम से लाभ

स्वास्थ्य का तात्पर्य शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथ आध्यात्मिक रूप से संतुष्ट तथा उच्चतम क्रियाशीलता से होता है। इस आधार पर स्वास्थ्य को निम्न शब्दों में पारिभाषित कर सकते हैं। "स्वास्थ्य पूर्ण ऊर्जा शक्ति" तत्परता लचीलापन तथा विभिन्न कार्यों में संतुलन की स्थिति है।"

Health is a state of sum total of vitality, endurence, flexibility, and balance of the various functions.

प्राणायाम के द्वारा स्वास्थ्य के इन विभिन्न पहलुओं को किस प्रकार प्रभावित किया जाता है तथा विभिन्न कार्यों में किस प्रकार संतुलन बनाये रखने में सहायता

करता है, यहाँ पर वर्णन करेंगे। शरीर के निम्न कार्य पाचन, रक्तपरिभ्रमण, श्वसन, स्राव, प्रजनन आदि, मह वपूर्ण हैं। ये सभी प्राणायाम द्वारा प्रभावित होते हैं।

पाचन क्रिया

पाचन क्रिया मुँह से प्रारम्भ होकर गुदा तक चलती है। यह पाचन नलिका लगभग 32 फीट होती है। भोजन मुँह में लार मिलाकर लुग्दी के रूप में तैयार होता है। उसके बाद भोजन नलिका द्वारा आमाशय में पहुँचता है। यहाँ पर अनेक इन्जाइम्स भोजन में मिलते हैं जो उसे पाचक बनाते हैं तथा सूक्ष्म कणों में बदलते हैं। कार्बोडाईट्रेटस, फैट्स तथा प्रोटीन के सूक्ष्म रूप ग्लूकोस, फैटीएसिड तथा एमिनों एसिड मे परिवर्तन होते हैं। ये तत्व छोटी अंतणी में अधिशोषित होते हैं तथा शेष बचा पदार्थ मल के रूप में गुदा द्वारा बाहर निकल जाता है। उदरीय क्षेत्र में लिवर तथा पेनक्रियाज मह वपूर्ण ग्रन्थियाँ हैं, जो पाचन तत्त्व मिलाती हैं। और उनके रोगग्रस्त होने पर शरीर के सभी अंग प्रभावित होते हैं। यदि पाचन क्रिया में किसी प्रकार का व्यतिक्रम होता है तो अम्लता बढ़ जाती है, अपच हो जाती है, वायु की शिकायत हो जाती है। कब्ज रहने लगता है तथा इसी प्रकार के अन्य दोष उत्पन्न हो जाते हैं। प्राणायाम के द्वारा पाचन तंत्र के सभी अंग स्वस्थ रहते हैं। यह निम्न प्रकार से सम्भव होता है।

(1) श्वास-प्रश्वास से सभी अंगों में दबाव तथा शिथिलता होती है, जिससे अंगों की क्षमता (Tone) बढ़ती है।

(2) प्रत्येक अंग को पूर्ण रक्त आपूर्ति प्राप्त होती है, जिससे पर्याप्त पोषक तत्त्व मिलते हैं।

(3) उपरोक्त दोनों स्थितियों के कारण भूख अधिक लगती है। आमाशय अपना कार्य सुचारु रूप से करता रहता है।

(4) उदरीय माँसपेशियाँ सशक्त बनती हैं तथा पेट पर अधिक वसा नहीं इकट्ठा होता है।

रक्त परिभ्रमण

शरीर के प्रत्येक अंग को पोषकों की आवश्यकता होती है, जो रक्त द्वारा उन्हें प्राप्त होते हैं। रक्त परिभ्रमण द्वारा ये पोषक तत्त्व एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं तथा सूक्ष्म अंगों तक पहुँचते हैं। भोजन पचने के बाद छोटी आंत के द्वारा ग्लूकोष, फैटीएसिड तथा एमीनोएसिड रक्त में मिल जाते हैं। श्वसनतंत्र से आक्सीजन प्राप्त होती है। नलिकाविहीन ग्रन्थियों से निकले हारमोन्स सीधे रक्त में मिलते हैं। हृदय रक्त परिभ्रमण का मुख्य यंत्र है जिसके द्वारा पम्प करने पर रक्त धमनियों तथा शिराओं व उपशिराओं में पहुँचता है, तथा प्रत्येक कोष कार्बन डाईआक्साइड एवं अन्य विजातीय तत्त्व पुनाः रक्त में मिलकर वापस हृदय में आ जाते हैं, और

फेफड़ों के द्वारा बाहर निकलते हैं। विजातीय तत्त्व (Waste matter) त्वचा, व्रक्क (Kindneys) फेफड़े (Lung) तथा गुदा (Anus) द्वारा शरीर से बाहर निकलता है।

यदि शरीर के अंग निष्क्रिय रहते हैं, तो इनमें रक्त आपूर्ति कम हो जाती है, क्योंकि सूक्ष्म शिरायें (Capillaries) बंद हो जाती हैं तथा कभी-कभी विजातीय त व (जैसे अधिक कोलास्ट्राल) जमा हो जाता है तब रक्त के आवागमन में बाधा उत्पन्न होती है। इससे पोषक त व कम मात्रा में अंगों को मिल पाते हैं तथा विजातीय पदार्थ भी बाहर निकलने में समय लेता है। इन दोनों दशाओं से कार्यक्षमता कम हो जाती है, तो किसी भी अंग में दोष उत्पन्न हो सकता है।

प्राणायाम के द्वारा रक्त परिभ्रमण सभी अंगों में समान रूप से रहता है। जब प्राणायाम से शारीरिक अंगों पर दबाव एवं शिथिलन होता है, तो विजातीय त व स्वाभाविक रूप से बाहर आ जाते हैं और रक्त आपूर्ति प्रत्येक कोष को समान रूप से मिलती है। प्राणायाम से पूरे शरीर के आंतरिक अंगों का व्यायाम हो जाता है तथा किसी अंग पर आवश्यकता से अधिक भार भी नहीं पड़ता है। विश्राम की स्थिति (Relaxation) हृदय रोगियों तथा सामान्य व्यक्तियों दोनों के लिए लाभकारी होती है।

श्वसन तंत्र

श्वसन तंत्र प्रत्यक्ष रूप से प्राणायाम से प्रभावित होता है। फेफड़ों के सभी हिस्से पूरी तरी से वायु से भर जाते हैं, एलवेओलाई (Alveloi) की दीवारें सिकुड़ती है तथा शिथिल होती हैं, श्वास प्रश्वास की दर बढ़ती है जिससे दोनों फेफड़ों का व्यायाम होता है। प्राणायाम से श्वसन माँसपेशियाँ सशक्त होती हैं तथा फेफड़ों की कार्य क्षमता बढ़ती है। श्वसन तंत्र की स्वच्छता अत्यंत आवश्यक हैं, क्योंकि उसी अवस्था में शरीर के सभी कोषों को पर्याप्त आक्सीजन मिल सकती है। यह कार्य प्राणायाम के द्वारा सम्भव होता है। इस कारण से श्वसन रोगों में प्राणायाम मह वपूर्ण उपचार विधि है।

स्राव

मानव शरीर में अनेक ग्रन्थियाँ हैं, जिनसे स्राव होता रहता है। प्रत्येक ग्रन्थि से निकलने वाले पदार्थ का एक विशिष्ट कार्य होता है। कुछ गन्थियाँ सीधे रक्त से स्राव करती हैं, जिनका प्रभाव बहुत अधिक होता है। तथा कुछ ग्रन्थियाँ खाली स्थानों पर स्राव करती हैं। शरीर की लार ग्रन्थियाँ, लिवर पेनक्रियाज आदि भोजन तत्व में स्त्राव करते हैं। नलिकाविहीन ग्रन्थियों से हारमोन्स निकलते हैं, जिनसे शरीर के अनेक कार्य प्रभावित होते हैं। चयापचय, हृदय के कार्य, रक्त भार, लैंगिक व्यवहार आदि सभी हारमोन्स के द्वारा प्रभावित होते हैं। हारमोन्स की

कमी या अधिकता दोनों ही अवस्था में शरीर को क्षति होती है। प्रमुख नलिकाविहीन ग्रन्थियाँ हैः पिट्यूटरी (मस्तिष्क में) थापराँयड तथा पैराथायरापन (गले में) थायमस (हृदय के निकट), एड्रीनल (वृक्क के ऊपर) तथा गोनाइस। प्रश्न उठता है कि किस प्रकार प्राणायाम इन ग्रन्थियों को स्वस्थ रखता है। जालंधर बंध के द्वारा थायराइड तथा पैराथायरायड ग्रन्थियों पर दबाव पड़ता है। थइमस तथा एड्रीमस ग्रन्थियों पर उस समय दबाव पड़ता है तब उदरीय तथा हृदय अस्थिपंजर प्राणायाम के द्वारा प्रभावित होता है। गोनाड्स ग्रन्थि उड्डयान तथा मूलबंध से प्रभावित होती है। ये सभी ग्रन्थियाँ प्राणायाम से प्रभावित होती है तथा उनमें रक्त संचार एवं वायु संचार सामान्य रहता है।

पेनक्रियाज पर प्राणायाम का विशेष प्रभाव पड़ता है। इस ग्रन्थि से दो प्रकार के हारमोन्स निकलते है। पेनक्रियर्टिक जूस डियोडेनम में आकर भोजन के साथ मिलता है। दूसरे प्रकार का हारमोन्स ''इनसुलिन'' के रूप में निकलता है, जो ग्लूकोष को ग्लैकोजीन में बदलता है। इस हारमोन्स की कमी से मधुमेह हो जाता है। प्राणायाम पेनक्रियाज ग्रन्थि की समुचित देखभाल करता है।

शरीर में विसर्जित, विजातीय, विषाक्त, मल आदि पदार्थ प्रत्येक क्षय अर्जित होते रहते हैं, और सामान्य प्रक्रिया से बाहर निकलते रहते हैं। यदि ये अनावश्यक विजातीय पदार्थ शीघ्रता से शरीर से बाहर नहीं निकलते हैं तो शरीर में विष त व बढ़ने लगता है। जो किसी कोष अथवा कशेरू (कोष्ठक) को नष्ट कर देता है। कार्बन डाईआक्साइड सबसे अधिक जहरीला तत्त्व है, जो किसी भी कोश (Cell) या कशेरू (Tissue) को शीघ्रातिशीघ्र नष्ट कर देता है। विजातीय तत्त्वों का निष्कासन वृक्क, फेफड़े, त्वचा, गुदा के द्वारा होता है। ये सभी अंग प्राणायाम से प्रभावित होते हैं। प्राणायाम से हाइपोयेलेमस केन्द्र प्रभावित होता है। जिसके परिणामस्वरूप सभी तंत्र प्रभावित होते हैं।

योगिक शुद्धिकरण तरीकों से भी शरीर से विजातीय तत्त्वों का निष्कासन किया जाता है।

प्रजनन

प्रजनन ग्रन्थियों पर प्राणायाम का प्रभाव पड़ता है। उड्डियान बंध तथा मूलबंध प्रजनन ग्रन्थियों पर दबाव डालते हैं। जिससे लैंगिक जीवन पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

विभिन्न कार्यों में समन्वय

मानव शरीर पूर्णता में कार्य करता है। शरीर का कोई भी कार्य एकाकी नहीं होता है। सभी एक दूसरे से सम्बन्धित तथा निर्भर होते हैं। शरीर के विभिन्न अंगों में समन्वय का कार्य स्नायु संस्थान द्वारा किया जाता है। स्नायु संस्थान के दो भाग

हैं : केन्द्रीय स्नायु संस्थान तथा स्वतंत्र स्नायु संस्थान केन्द्रीय स्नायु संस्थान से ऐच्छिक क्रियायें नियंत्रित होती हैं तथा स्वतन्त्र स्नायु संस्थान से अनैच्छिक नियंत्रित होती हैं। स्नायु कोष आक्सीजन का कार्य तथा कार्बन डाइआक्साइड की अधिकता के प्रति अति संवेदनशील होते हैं। प्राणायाम द्वारा स्नायु कोषों को अधिक से अधिक आक्सीजन प्राप्त होती है। कार्बन डाइआक्साइड बहुत ही जल्दी से बाहर निकल जाती है। कपाल भाँति क्रिया इसके लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

●●●

अध्याय-15

सूर्य किरण चिकित्सा

सूर्य संसार की आत्मा है। संसार का सम्पूर्ण भौतिक विकास सूर्य की सत्ता पर निर्भर है। सूर्य की शक्ति के बिना पौधे उग नहीं सकते, वायु का शोध नहीं हो सकता है जल की उपलब्धि नहीं हो सकती तथा जीवन का प्रादुर्भाव हो ही नहीं सकता। सूर्य की शक्ति के बिना मानव का जन्म तो होना दूर इस पृथ्वी का जन्म भी न हुआ होता। प्रकृति का केन्द्रबिन्दु सूर्य है। इसकी सभी शक्तियाँ सूर्य से ही प्राप्त हैं। जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर का अस्तित्व नहीं हो सकता, उसी प्रकार जगत की सत्ता सूर्य पर अवलम्बित है। पृथ्वी को यदि हम माता कहते हैं, तो सूर्य पिता के समान है। शारीरिक क्रियायें ताप पर निर्भर हैं। शक्तियों का विकास, अंगों की परिपुष्टि और मलों का निकलना सूर्य शक्ति पर निर्भर है। सूर्य की किरणों मे इतनी प्रचण्ड रोगनाशक शक्ति होती है, जिसके बल से कठिन से कठिन रोग दूर हो जाते हैं। सूर्य में पौष्टिक तत्त्वों की कमी को पूरा करने की भी शक्ति होती है। इसी कारण जो लोग धूप में काम करते हैं, उनको भोजन में चाहे जितने तत्त्वों एवं विटामिनों की कमी हो, सूर्य से उन तत्त्वों की पूर्ति हो जाती है, और वे स्वस्थ रहते हैं। शहरों में जहाँ धूप की कमी होती है, पौष्टिक पदार्थ खाने के बाावजूद भी रोगी रहते हैं। पेट की शिकायत, भोजन हजम न होने, कब्ज बने रहने, ट्टटी साफ न आने की शिकायत तो प्रायः शत्-प्रतिशत लोगों को बनी रहती है। जुकाम, रक्त हीनता, आँखों की बीमारी आदि प्रायः शहरों में अधिक है।

स्वस्थ जीवन व्यतीत करने के लिए सूर्य की शरण में जाना अति आवश्यक है। इसीलिए हमारे प्राचीन आचार्यों ने सूर्य नमस्कार, प्राणायाम, सूर्य उपासना, सूर्य योग, सूर्य चक्रमंदन आदि अनेक क्रियाओं को धार्मिक स्थान दिया था। गुरु लोग बालकों को अपराध करने पर धूप में खड़ा रहने का दण्ड देते थे। योगी लोग धूप में तप करते थे।

1. सूर्य किरण चिकित्सा की परिभाषा

सूर्य किरण चिकित्सा एक ऐसी चिकित्सा पद्धति है, जिसके द्वारा शारीरिक

रोगों का उपचार सूर्य किरणों तथा रोगों की विभिन्न विधियों द्वारा किया जाता है।[1]

रंग चिकित्सा एक प्राकृतिक साधन है, जिसके द्वारा एक व्यक्ति न केवल अपने स्वास्थ्य को बनाये रख सकता है तथा अपनी शक्ति का विस्तार कर सकता है, वह प्राकृतिक नियमों के आधार पर शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के रोगों का उपचार भी कर सकता है।[2]

रंग चिकित्सा का तात्पर्य रंग के माध्यम से अथवा रंगों के साथ उपचार करना है। साधारण तथा प्रभावकारी है। रंग चिकित्सा का उपयोग सदियों से रोगों को दूर करने में होता आया है। त्वचा पर विभिन्न रंगों को पेंट कर दिया जाता था, जिस पर सूर्य की किरणें-प्रभाव डालती थीं, या अन्य कोई तरीका शरीर को रंग देने के उपयोग में लाया जाता था।[3]

सूर्य चिकित्सा शास्त्र शरीर की कमी या अधिकता को रोगों का होना मानता है। संसार के सम्पूर्ण पदार्थ परमाणुओं के द्वारा बने हुये हैं। विश्व में असंख्यों प्रकार के रसायनिक तत्त्व व्याप्त हैं। विभिन्न-विभिन्न प्रकार के तत्त्वों के विभिन्न भागों में मिलने पर अलग-अलग पदार्थ बन जाते हैं। यह मिश्रित पदार्थ जड़ और चेतन दोनों प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए यदि दूध को कई पात्रों में रखकर एक में दही, दूसरे में नमक, तीसरे मे शकर डालकर कुछ देर तक रखा रहने पर भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवर्तन देखते हैं। उसके गुण और रूप आपस में भिन्न होते हैं। चूना और हल्दी मिलाने से उसका रंग लाल हो जाता है। नारियल के तेल में रतन ज्योति बूटी डाल देने से उसका रंग भी लाल हो जाता है। इन चारों मे किसी का रंग लाल नहीं था, लेकिन मिश्रण होते ही रंग बदल गया। इससे सिद्ध होता है कि रंग कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है, वह विभिन्न रासायनिक पदार्थों के आपस में विभिन्न मात्रा में मिश्रण के परिणाम हैं।

1- Heliotherapy is a treatment method though which various diseases of the body are treated by using sun rays and colour in different ways.

2- Chromotherapy means healing with colour or through the use of colour, which is at once simple and effective. Chromotheraphy has been used for ages in treating diseeses. Different colours were either painted on the skin upon which the sun radiated or some other method was used for giving colour emanations to the body.emanations to the body.

Singh, S.J. Chromotherapy p-17

3- Chrmotherapy is a natural means by which one can not only preserve ones health and increase his energy but also cure diseases both physical and mental in accordance with Nature's law of healing.

Colvile,W.J. Light and Colours The power - Book Company, Londan.

जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु के स्थूल, सूक्ष्म तथा अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु होते हैं उसी प्रकार रंगों के भी होते हैं। उदाहरण के लिए कपड़े रंगने में स्थूल परमाणु पानी के सहारे सूक्ष्म होकर कपड़े के रेशे में मिल जाते हैं। ऐसी स्थिति में रंग के अणु सूक्ष्म ही होते हैं क्योंकि उन्हें साबुन या किसी अन्य तत्त्व से छुड़ाया जा सकता है। अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु वह है कि जो किसी पदार्थ में इतना मिल जाय कि बिना उस पदार्थ को नष्ट किये वह पृथक न हो सके। पत्तियो का रंग़, शरीर का रंग, बालों का रंग, ऐसे ही अत्यंत सूक्ष्म परमाणुओं से बना है। रंगीन काँच में भी इसी श्रेणी के रंग के परमाणु होते हैं।

हमारा शरीर रासायनिक तत्त्वों से बना हुआ है। उसके जिस अंग में जिस प्रकार के तत्त्व अधिक होते हैं, वहीं रंग भी हो जाता है। त्वचा का रंग गेंहुआ, बालों का काला, आँखों का सफेद, पुतली का कसीसी, जीभ का गुलाबी, नाखूनों का फिरोजी, नसों का नीला, फेफड़े का पीला, आँतों का भूरा, हड्डियों का सफेद होता है। यदि इसमें पृथक-पृथक प्रकार के दृव्य न होते और दृव्यों के मिश्रण से विभिन्न रंग न बनते तो भीतर बाहर सभी जगह एक सा रंग होता। शरीर में स्थित पदार्थों की कमी या अधिकता किसी भी अंग का रंग देखकर की जा सकती है। पीला चेहरा देखकर पता चलता है कि उसमें रक्त की कमी है। पीली आँखें, पीलिया रोग का सूचक है। कफ, पेशाब, मल आदि का रंग शरीर में उपस्थित रोग की सूचना दे देता है। इससे स्पष्ट होता है कि शरीर में रंग एक विशिष्ट तत्त्व है और इसका सामान्य रहना आवश्यक है। प्राकृतिक चिकित्सक इसी आधार पर रंग की कमीवेशी को लक्ष्य करके पीड़ित स्थान पर उसी के अनुसार रंग पहुँचा कर चिकित्सा करते हैं।

कोई भी परिवर्तन तभी होता है जब वहाँ गर्मी पहुँचे। गर्मी तथा जल से हर जीवित पदार्थ में तुरन्त परिवर्तन हो जाता है। गर्मी का केन्द्र सूर्य हैं। इसे अग्नि तत्त्व का अधिष्ठाता माना जाता है। जो आग खाना बनाने या अन्य कार्यों में उपयोग में लाते हैं, वह भी सूर्य की शक्ति से ही आती है। मानव शरीर ताप के कारण सजीव रहता है। गर्मी समाप्त होते ही शरीर शांत हो जाता है। यह गर्मी हमें सूर्य से प्राप्त होती है। इसलिए सूर्य की किरणों को पानी में मिश्रित करके उसे इस योग्य बनाया जाता है कि वह शरीर में आवश्यक परिवर्तन करता हुआ उचित दृव्यों को पहुँचा सके। सूर्य किरणों मे स्वयं रंग होते हैं। आकाश, चन्द्र, मंगल, बुद्ध, वृहस्पति, शुक्र, शनि, आदि ग्रहों की किरणें भी पृथ्वी पर आती हैं। ये सूर्य की किरणों में मिल जाने के कारण उन्हें सप्तरंग बना देती हैं। इन्द्रधनुष में सात रंग स्पष्ट दिखायी देते हैं। सूर्य किरणों में गर्मी के साथ-साथ बे रंग भी मौजूद हैं जिनको रोगी शरीर को जरूरत है।

प्राकृतिक चिकित्सक जिन रंगों की रुग्ण शरीर में कमी देखता है, उन्हें पहुँचाता है। इस रंग को वह सूर्य किरण्रों से प्राप्त करता है। रंगीन काँच में एक ही ऐसी वैज्ञानिक किरण पार हो सकती हैं और शेष रंगों की किरणें बाहर ही रह जाती

हैं। इसलिए रंगीन काँचों को आवश्यकतानुसार उपयोग करके उनके द्वारा वांछनीय रंगों को प्राप्त कर लिया जाता है। रोगग्रस्त शरीर के अंग पर रंगीन काँच द्वारा प्रकाश देना इसी सिद्धांत पर निर्भर है। बोतलों में पानी भरकर उनमें उन रंगों को आकर्षित इसलिए किया जाता है कि यह रंगों से प्रभावित जल पेट में पहुँचकर रक्त में मिल जाय और अपने प्रभाव से अव्यवस्था को दूर कर दें तथा क्षतिपूर्ति करता हुआ रोगी अंग को स्वस्थ कर दें। जल सूर्य की किरणों के साथ समिश्रण से जीवित पदार्थों में तुरन्त सजीव प्रतिक्रिया पैदा करता है।

II. रंग तथा रोग

यहाँ पर कुछ रोगों का उल्लेख कर रहे हैं जो रंगों की कमी से हो जाते हैं :

(1) नीले रंग की कमी से रोग

आँखों में जलन, तथा सुर्खी, नाखूनों पर अधिक सुर्खी, पेशाब में ललाई या पीलापन, दस्त पतले , चमड़ी पर पीलापन, चंचलता, क्रोध की अधिकता, अतिसार पाण्डुरोग।

(2) पीले रंग की कमी से रोग

खुष्की, मन्दाग्नि, भूख न लगना, नींद कम आना, शरीर में दर्द, हाथ पैरों में दर्द।

(3) लाल रंग की कमी से रोग

नींद की अधिकता, सुस्ती, आलस्य, कब्ज, आँख, नख, मल-मूत्र आदि में सफेदी के साथ नीली झलक दो रंगों की कमी होने पर दोनों के लक्षण मिलते हैं। तीनों रंग कम हो जाने पर तीनों के लक्षण पाये जाते हैं।

III. सूर्य की किरणों का रंग

सूर्य की किरणों में सात रंग होते हैं। ये सभी रंग अलग-अलग ग्रहों के हैं। सूर्य के आस-पास जो ग्रह घूमते हैं, उनकी किरणें पृथ्वी पर आती हैं और वे सूर्य की किरणों के साथ मिल जाती हैं। ज्योतिषियों तथा विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है, कि चन्द्रमा का रंग चाँदी जैसा सफेद ,मंगल का तांबे के समान, बुद्ध का गहरा पीला, वृहस्पति का सुनहरा, शुक्र का नीलमणि के समान, शनि का लोहे जैसा, राहू का अंधियारा और केतु का अनिश्चित रंग है। राहुकेतु की किरणें चमक नहीं सकतीं। इसलिए सात ग्रहों के सात रंग ही सूर्य की किरणों में पाये जाते हैं। ग्रह हमेशा घूमते रहते हैं। अपनी गति के अनुसार जब पृथ्वी के निकट या दूर होते हैं तो उनकी किरणों में भी घट बढ़ हो जाती है तदनुसार प्रभाव भी घट-बढ़ जाता है। सूर्य किरणों के सात रंग हैं :

1. लाल, 2. पीला, 3. नीला 4. बैगनी, 5. आसमानी, 6. नारंगी 7. हरा

यदि सूर्य के प्रकाश पुंज (किरणों को) त्रिपार्श्व शीशा (Prism) के अन्दर से गुजारे तो प्रकाश सात रंगों में विभाजित दिखायी देता है। इस सात रंगों के प्रकाश को अंग्रेजी में स्पेक्ट्रम (Spectrum) कहते हैं। स्पेक्ट्रम एक सिरे पर लाल और दूसरे सिरे पर बैगनी रंग आँखों को दिखता है। बैगनी सिरे से आगे अदृश्य किरणों को लाल नीलोत्तर किरणों (Ultra Violet Rays) और लाल किरणों से आगे वाली अदृश्य किरणों को इन्फ्रारेड रेज (Infra Red Rays) कहते हैं। इसके अतिरिक्त भी अनेक अदृश्य किरणें हैं। अदृश्य गर्मी की किरणें (Infra Red Rays) वनस्पति संसार को जीवन प्रदान करती हैं। इन किरणों से रक्त की कमी, अंग की सूजन, गठिया, बात, आदि में लाभ होता है। लेकिन इन किरणों को इनके अदृश्य होने के कारण हम जब चाहें तब प्राप्त नहीं कर सकते हैं, अतः कृतिम यंत्रों द्वारा इन्फ्रारेड किरणों का प्रयोग करते हैं।

प्रकाश विश्लेषण

IV. शरीर में रासायनिक पदार्थ तथा रंगों में रासायनिक पदार्थों की समानता

मानव शरीर में तीन चौथाई भाग आक्सीजन है, और शेष नाइट्रोजन हाईड्रोजन, क्लोरिन, फ्लोरीन है। इसके अतिरिक्त आहार द्वारा विभिन्न मात्राओं में मैंगनीशियम, पोटेशियम, सोडियम, सिलिकान, चूना, कैल्शियम, लोहा, कार्बन, लिथियम, पारा, शीशा, तांबा, गन्धक, फासफोरस आदि पदार्थ मिलते हैं। यही पदार्थ रंगों में भी पाये जाते हैं। विभिन्न रंगों में पाये जाने वाले पदार्थ निम्न हैं -

नारंगी रंग

नारंगी रंग में अल्पकालीन, वेरियम, लोहा, तांबा, आर्सनिक, कैल्शियम, हाइड्रोजन, निकिल, कार्बन, अल्मूनियम, मैगनीज पांया जाता है।

हरा रंग

हरे रंग में वेरियम, कार्बन क्लोरोफिल, क्लोरीन, तांबा नाईट्रोजन, निकिल, प्लेटीनम, सोडियम, रेडियम, हाइड्रोक्लोनिक एसिड पायां जाता है।

नीला रंग

इसमें अल्मूनियम, वेरियम, क्लोरोफार्म, तांबा, शीशा, आक्सीजन फासफेरिक एसिट, टीन पायी जाती है।

लाल रंग

रूवोडियम, कैडमियम, स्टन्टियम, जस्ता, वेरियम, नाईट्रोजन, आक्सीजन पायी जाती है।

पीला रंग

पीले रंग में नाईट्रोजन, कार्बन, आक्सीजन, वेरियम, कोवाल्ट, एल्युमिनियम, क्रोमियम, लोहा, तांबा, जस्ता आदि पाया जाता है।

V. रंग के गुण

भिन्न-भिन्न रंगों के भिन्न-भिन्न्न गुण होते हैं। अतः प्रत्येक रंग का वर्णन करना आवश्यक हो जाता है।

हल्का नीला रंग (Sky blue) या आसमानी रंग

सारे शरीर में या उसके किसी भाग में यदि गर्मी बढ़ गयी हो तो उसे शान्त करने के लिए नीला रंग बहुत ही गुणकारी होता है। बुखार तेज हो, बार-बार प्यास लगती हो, प्यास न बुझती हो, उसके लिए नीला रंग बड़ा लाभकारी है। चक्कर आना, सरदर्द, माथे में ठनक, मूर्छा, आदि में नीले रंग की किरणों से तैयार किया पानी शीतलता प्रदान करता है। जिन लोगों को गर्मी अधिक परेशान करती हो, उन्हें नीले रंग का पानी बहुत लाभ पहुँचाता है। आधे-आधे घन्टे में ५० ग्राम जल देने से यह जल औषधि का काम करता है। हैजा या कै दस्त, पेचिश, ऐंठन, के साथ दस्त, आँव, खूनी ट्टटी, आदि सभी में नीला रंग लाभ पहुँचाता है। हैजा जब बहुत उग्र अवस्था में पहुँच जाता है तो रोगी मे लाला रंग की कमी हो जाती है, शरीर ठंडा पड़ने लगता है तब नीले रंग के साथ लाल रंग का पानी देंना लाभकारी होता है। पेट पर इसी जल के भीगे हुए कपड़े की पट्टी रखने से दस्तों में रुकावट आती है तथा वमन होना रुक जाता है। पाँच छः खुराकों मे उपर्लिखित सभी रोगों में लाभ होता है। यदि नीले रंग की बोतल में दूध भरकर १५ मिनट धूप में रखा जाय, यह औषधि ा तथा पथ्य दोनों का काम करता है। जननेन्द्रिय सम्बन्धी रोगों में नीला रंग अद्‌भुत गुण दिखाता है। प्रमेह, स्वप्नदोष, सूजाक, गर्मी, रक्त प्रदर, मासिक धर्म की खराबी, जल्दी रजस्वला हो जाना, रक्त अधिक जाना आदि में यह रंग लाभकारी है। क्षय, दमा, पित्त के विकार आदि में भी लाभ पहुँचाता है।

लाल रंग के गुण

लाल रंग का स्वभाव ऊष्ण है। शरीर को इससे बल तथा उत्तेजना मिलती है। जो अंग-कारणवश शिथिल हो जाते हैं ठीक प्रकार से काम नहीं करते हैं, वे लाल रंग से उत्तेजित होकर अपने काम में प्रवृत्त हो जाते हैं। सुस्ती, आलस्य, कमजोरी, रक्त, की न्यूनगति आदि में लाल रंग बहुत प्रभावकारी है। लकवा, गठिया, जोड़ों का दर्द, वात, पसली का दर्द, आदि में लाल रंग उपयोगी है। लैंगिक कमजोरी में लाल रंग के उपयोग से लाभ होता है। अनावश्यक चर्बी बढ़ जाने से शरीर मोटा होने पर लाल रंग का जल लाभकारी है। अण्डकोष बढ़ जाने पर लाल रंग की सेंक से फायदा पहुँचता है।

पीले रंग के गुण

पीला रंग पाचक तथा शोधक होता है। यह रसों को पचाता है तथा शारीरिक विकारों का शोधन करता है। उस रंग से तैयार जल का सेवन करने से अमाशय तथा आंतों की खराबियाँ दूर हो जाती हैं। मुख, नाक, या गुदा द्वारा रक्त जाने, कण्डमाला, मधुमेह, प्रमेह, बहरापन, चर्मरोग एवं कुष्ट रोगों में पीले रंग से बहुत लाभ होता है। दस वर्ष से कम उम्र के बच्चों को लाल रंग की अपेक्षा पीला रंग देना चाहिए, क्योंकि अधिक गर्म न होते हुये भी लाल रंग के सभी गुण रखता है। छोटे बच्चों को अधिक गर्मी की आवश्यकता नहीं होती है। अतः उन्हें पीला या नारंगी रंग ही देना चाहिये। विशुद्ध पीले रंग की बोतलें अक्सर प्राप्त नहीं होती हैं। उनमें कुछ लाल रंग की झलक होती है। इनमें तैयार किया गया जल अधिक ऊष्ण होता है।

मिश्रित रंगों के गुण

लाल, पीले तथा नीले रंगों के आपस में मिलने से ही अन्य रंग बनते हैं इन अन्य मिले हुये रंगों के गुण वहीं होते हैं जो उसमें मिले हुये मूल रंगों के होते हैं।

नारंगी रंग

यह रंग कब्ज को दूर करने वाला होता है। इस रंग की किरणों से तैयार जल का सेवन करने से आमाशय पूर्वतः काम करने लगता है। लेकिन ५० ग्राम से अधिक एक बार मे तथा दिन में सात-आठ बार से अधिक नहीं होना चाहिए। अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि होने की सम्भावना रहती है। जो लोग शारीरिक श्रम नहीं करते, घूमते फिरते नहीं हैं, उनको नारंगी रंग का सेवन करते रहना बड़ा उपयोगी होता है। १२ वर्ष से कम आयु के बालकों को लाल रंग नहीं दिया जाता, क्योंकि उनके स्वभाव में ही स्वयं ही गर्मी तथा चंचलता अधिक होती हैं। नारंगी रंग के कुछ लगातार सेवन के बाद रक्त के दोष तथा चर्म रोग दूर हो जाते हैं। यदि दस्त आने लगे, तो इस रंग की मात्रा कम देना आवश्यक होता है। इस रंग का प्रयोग शीत ज्वर, नजला, छाती की जलन, पेटदर्द, फेफड़े के रोग आदि में नारंगी रंग के अदभुत लाभ होते हैं।

बैंगनी रंग

यह रंग शीतल तथा मंदक है। जब शरीर में गर्मी अधिक बढ जाती है तथा ज्ञान तंतुओं में उत्तेजना हो जाती है तब इस रंग का उपयोग बड़ा लाभकारी होता है। सन्यपात, बहुमूत्र, प्रमेह में इसके द्वारा अद्‌भुत लाभ होता है।

गुलाबी रंग

यह रंग कुछ उत्तेजना देने वाला, पाचन करने वाला तथा शीतल होता है। गर्भवती स्त्रियों के रोगों में गुलाबी रंग देना हितकर होता है। प्रसूत रोग, गर्भाशय की पीड़ा, सिरदर्द, मुंह में छाले आदि में यह रंग गुणकारी है।

गहरा नीला

गहरा नीला रंग एक प्रकार का टानिक होता है, जो ताकत प्राप्त करने के लिए उपयोग में लाया जाता है। अर्थात इस रंग के प्रभाव से शरीर में अधिक ऊर्जा तैयार होती है। क्षय रोग, जब कि रोगी की दशा दिनोदिन गिरती जा रही है, तब गहरा नीला रंग उपयोगी होता है।

हरा रंग

यह रंग मस्तिष्क को शांति देता है तथा बुद्धि का विकास करता है। यह रंग आँख तथा त्वचा के रोगों में विशेष उपकारी है। इस रंग से पाँव का फटना, खाज, फोड़ा, रक्त पित्त, रक्त प्रदर, तथा बवासीर अच्छा हो जाता है। यह रंग भूख बढ़ाता है तथा ज्ञानतन्तुओं और स्नायुतन्तुओं को बल देता है। स्वप्न दोष में लाभ होता है। हरी किरण से तृप्त जल पीने, पट्टी रखने तथा मालिश करने से उपरोक्त लाभ होते हैं। हरे रंग की कमी तथा लाल रंग की वृद्धि से शरीर में फोड़ा, फुन्सी, खजुली, दाद, आदि त्वचा के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यदि हरे रंग की अधिकता कर दी जाय, तो लाल रंग के विकार कम हो जाते हैं। हरे रंग से, समय से पहले ही सफेद होने वाले बाल फिर काले हो जाते हैं।

नीलोत्तर किरणें

इन किरणों को अदृश्य किरणें भी कहते हैं। इनका स्थान बैंगनी किरण के ठीक बाद होता है जो अनेक प्रकार से गुणकारी है। इनके प्रभाव से भंयकरतम रोग के कीटाणु व जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। यद्यपि इन किरणों में जीवन शक्ति तथा स्वास्थ्यवर्धक के गुण अपार होते हैं लेकिन इनको प्राप्त करना दुर्लभ होता है। ये किरणें केवल सूर्योदय के समय ही थोड़ी मात्रा में प्राप्त की जा सकती हैं। लेकिन केवल नंगे बदन पर ही प्रभाव डालती हैं। वस्त्रों के वेध नहीं पाती हैं। यही कारण है कि भारतीय धार्मिक परम्पराओं में सूर्योदय के समय नंगे बदन जलदान देना आवश्यक माना जाता है। लेकिन आज धार्मिक कृत्य समाप्त हो रहे हैं, जिससे हमारी जीवन शक्ति कम होती जा रही है। जब ये किरणें मनुष्य के नंगे बदन पर पड़ती हैं, वे रक्त में प्रवेश कर जाती हैं और वहाँ पर विटामिन "डी" की वृद्धि करती हैं। शरीर में काफी मात्रा में लाल रक्तकण उत्पन्न होते हैं, जिससे शरीर हृष्ट-पुष्ट तथा बलवान बनता है। इन किरणों से कैल्शियम की मात्रा शरीर में बढ़ जाती हैं नीलोत्तर किरणों के रोगनाशक प्रभाव को वैज्ञानिक जगत में पूर्णतया स्वीकार किया है। इन किरणों से त्वचा के रोग, ब्रण, फोड़े, फुन्सी, नासूर, ज्वर आदि दूर हो जाते हैं। गहरे घावों मे जहाँ औषधियाँ नहीं पहुँच सकती हैं, वहाँ इन किरणों से कीटाणुओं को मारा जा सकता है। यह किरणें बच्चों की हड्डियों को टेढ़ा होने की स्थिति में लाभ पहुँचाती हैं। मधुमेह, हिस्टीरिया तथा स्त्रियों के मासिक धर्म सम्बन्धी रोगी में ये किरणें हितकर हैं।

VI. सूर्य की किरणों की प्रयोग विधियाँ

निम्न प्रकार से सूर्य की किरणों का उपयोग चिकित्सा तथा स्वास्थ्य के लिए किया जाता है-

1. धूप स्नान।
2. रंगीन काँच के द्वारा।
3. जल में समाहित करके।
4. वायु के द्वारा।
5. तेल में समाहित करके।
6. मिश्री शकर, आदि में समाहित करके।
7. मिट्‌टी में समाहित करके।

(1) धूप स्नान

शरीर की स्वस्थता के लिए धूप स्नान आवश्यक माना गया है। जाड़े के दिनों मे तो प्रायः सभी धूप का सेवन करते हैं तथा उससे लाभ प्राप्त करते हैं। लेकिन रोग की अवस्था में धूप स्नान का सेवन करके रोग से मुक्ति पायी जा सकती है। धूप स्नान करते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान रखना चाहिये।

1. सूर्य स्नान करते समय सिर को धूप से बचाये रखना चाहिए। इसके लिए सिर को साये में रखना चाहिये या भीगे रुमाल या हरे पत्तों (केले का पता) से ढके रखना चाहिये। धूप स्नान लेने से पहले सिर, मुँह, गर्दन को अच्छी तरह से धो लेना भी जरूरी है।
2. कड़ी धूप में सूर्य स्नान न लें। इसके लिए प्रातःकाल और सायंकाल की हल्की किरणें ही उत्तम होती हैं।
3. धूप स्नान का समय रोज धीरे-धीरे बढ़ाये। एक बारगी ही अधिक देर तक धूप स्नान न लें, एक घन्टे से अधिक कभी भी धूप स्नान न लें। उचित समय से धूप स्नान लेने से शरीर को अनेक प्रकार से लाभ होते हैं। शारीरिक जीवनी शक्ति बढ़ती है, हड्डियाँ दृढ़ होती हैं। किन्तु जब आवश्यकता से अधिक देर तक धूप स्नान किया जाता है, जो शरीर झुलस सकता है, भूख मर सकती है। कमजोरी की दशा में सूर्य स्नान, जाड़ों में 9 मिनट तथा गर्मियों में 3 मिनट से ही शुरु करनी चाहिए।
4. धूप स्नान लेते समय जितनी देर स्नान करना हो, उसके चार भाग करके पीठ के बल, पेट के बल, दाहिनी करवट तथा बार्यी करवट लेट कर धूप का सेवन करने से शरीर का कोई भी अंग धूप स्नान से वंचित नहीं रहता है।
5. धूप स्नान लेते समय शरीर निर्वस्त्र हो अन्यथा केवल एक लंगोटी धारण करना चाहिए। स्त्रियों को पतले कपड़े का पेटीकोट तथा चोली पहनकर धूप स्नान करना चाहिए।

6. खुले स्थान में जहाँ हवा का झवोंका न आता हो वहाँ सूर्य स्नान करना चाहिए।
7. भोजन के डेढ़ दो-घन्टे के बाद सूर्य स्नान करना चाहिए। इसी तरह सूर्य स्नान के बाद भोजन नहीं करना चाहिए।
8. सूर्य स्नान के बाद अच्छी तरह ठंडे जल से नहाकर, या भीगी तौलिया से शरीर के प्रत्येक अंग को अच्छी तरह पोंछकर थोड़ी देर तेजी से टहलना चाहिए।
9. सूर्य स्नान के बाद यदि शरीर में फुर्ती, उत्साह आता जान पड़े, तो स्नान को सफल समझें। परन्तु यदि सिर में दर्द, तथा अन्य किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव हो, तो सूर्य स्नान का समय दूसरे दिन कम कर दें।
10. सूर्य स्नान रोज नियमित रूप से लें। इसमें नागा करना ठीक नहीं हैं। ऐसा करने से लाभ नहीं होता है।
11. जाड़ों में सूर्य स्नान के लिए जाड़ों में 12 से 2 बजे के बीच तथा गर्मियों में 8 बजे से 10 बजे तक, फिर इसे 5 बजे तक शाम का समय ही श्रेष्ठकर है। किन्तु लू चलते समय यह स्नान कदापि नहीं लेना चाहिए।
12. दिल की बीमारी तथा ज्वर वाले रोगियों को सूर्य स्नान नहीं करनी चाहिये।

धूप स्नान के प्रकार [1]

1. साधारण धूप स्नान।
2. पसीना लाने के लिए धूप स्नान।
3. रिकली का धूप स्नान।
4. कूने का धूप स्नान।
5. भीगी चादर के माध्यम से धूप स्नान।
6. जीवनी शक्ति धूप स्नान।
7. ठंडी पट्टी के योग से धूप स्नान।
8. स्थानीय धूप स्नान।
9. आँखें बंद करके धूप स्नान।
10. आँखें खोलकर धूप स्नान।
11. हरी पत्ती की ओट से धूप स्नान।

1. साधारण धूप स्नान

जमीन या तख्त पर कम्बल, चटाई या दरी बिछाकर ऐसे स्थान पर लेटते हैं, जहाँ पर धूप तो काफी होती है, परन्तु हवा तेज नहीं लगती है। सिर को छतरी से या

1- Gour Ganga Prasad Nahar; Prakratik Aaragya vigyan; Arogya Seva Prakashan, 1994] P. 203-204

कपड़े से ढक लेते हैं, तथा इच्छानुसार धूप का सेवन करते हैं। पसीना निकल आये, तो अच्छा है, क्योंकि उस पसीने द्वारा शरीर के अंदर का विकार बाहर निकलता है।

2. पसीना लाने के लिए धूप स्नान

पसीना निकालने के लिए सर्वप्रथम गरम पानी पीते हैं फिर बीस-तीस मिनट तक धूप में लेटते हैं। इतने समय में पसीना निकलने लगता है। लेकिन यदि आध ो घन्टे के बाद भी पसीना न निकले, तो आगे धूप स्नान नहीं करनी चाहिए। दोनों परिस्थितियों में धूप स्नान बाद शीतल जल से स्नान करना आवश्यक होता है। ध ूप स्नान लेते समय सिर पर ठंडे पानी से भीगी तौलिया रखना तथा बीच-बीच में गरम पानी पीते रहना चाहिए।

3. रिकली का धूप स्नान

डा0 रिकली के नाम से धूप स्नान लेने की विधि इस प्रकार है :

शरीर पूर्णतयः निर्वस्त्र होता है। स्नान सूर्योदय के तुरन्त बाद लिया जाता है। इस विधि में एकदम सारे शरीर पर धूप नहीं पड़ने दी जाती है। पहले दिन पैरों की फित्ती, दूसरे दिन पैर, तीसरे दिन जंघा, चौथे दिन नाभि तक, पाँचवे से दसवें दिन तक गले तक धूप स्नान करायी जाती है। दसवें दिन रोगी के पूरे शरीर को धूप में लाते हैं।

धूप स्नान का समय भी धीरे-धीरे बढ़ाते हैं। पहले दिन रोगी को पाँच-पाँच मिनट के बाद तीन-तीन मिनट के हिसाब से कुल नौ मिनट तक रखते हैं। दूसरे दिन 5 मिनट के बाद 6 मिनट, तीसरे दिन प्रति बार 9 मिनट, इसी प्रकार बढ़ाते जाते हैं। दसवें दिन 3 बार आध घन्टा की धूप स्नान कराते हैं। प्रत्येक धूप स्नान के बाद रोगी को 5 मिनट के लिए छाया में रखते हैं। इसके बाद धूप लगे स्थान विशेष को या पसीना होने पर सारे शरीर को ठंडे या हल्के जल से भीगी तौलिया से पोछ कर साफ कर देते हैं। फिर पुनः धूप स्नान कराते हैं। एक्जिमा, कोढ़, घाव, अजीर्ण टी0बी0, सूखा रोग, रक्तहीनता, बच्चों की शारीरिक व मानसिक निर्बलता एक विकास के अभाव में यह धूप स्नान बड़ी लाभकारी है।

4. कूने का धूप स्नान

रोगी को ऐसी जगह धूप में लंगोटी पहनाकर लिटाते हैं, जहाँ पर हवा का झोका न आता है। चेहरा, सिर तथा नाभि को धूप से बचाने के लिए केले या अन्य पत्तियों से ढक देते हैं। गीला कपड़ा भी ढकने के लिए काम में लाते हैं। धूप स्नान आधा से डेढ़ घन्टे तक चलता है। अगर पसीना नहीं निकलता है तो रोगी कुछ समय और धूप स्नान करता है। धूप बहुत तेज होने पर स्नान का समय कम कर देते हैं। यदि सर दर्द करने लगता है या चक्कर आने लगते हैं, तो प्रारम्भ में कम समय की धूप स्नान करते हैं।

ऐसा प्रायः उन्हीं रोगियों में होता है जिनमें पसीना नहीं निकलता है या देर से निकलता है। धूप स्नान के बाद बंद कमरे में ठंडे पानी से सिर से नहाकर शरीर तौलिया से पोंछते हैं। तत्पश्चात कटि स्नान या मेहन स्नान के बाद भी शरीर में गर्मी न आये तो पुन: धूप स्नान करते हैं। धूप में टहल भी सकते हैं अथवा कसरत भी कर सकते हैं।

धूप स्नान से एक ओर शरीर के विकार निकलते हैं दूसरे गर्मी आती है। इस गर्मी को शांत करने के लिए तथा विकारों को पेडू में लाकर पेशाब व पाखाने द्वारा बाहर निकला देने के लिए ही धूप स्नान के बाद ठंडे पानी से स्नान करते हैं। रोगी यदि कमजोर है, तो गीली तौलिया से सारा बदन पोंछते हैं। यदि कटि स्नान न सम्भव हो, तो गीले कपड़े की ठंडी पट्टी पेडू पर बीस-पच्चीस मिनट तक रखते हैं।

जीर्ण रोगों में यह धूप स्नान विशेष लाभकारी है, क्योंकि इससे विजातीय दृव्य आसानी से शरीर से बाहर निकल जाते हैं। घावों, गांठों, जोड़ों का दर्द, टी0बी0, गठिया, पीलिया, रक्तहीनता, वृक्क प्रदाह, जलंधर आदि में यह प्रविधि विशेष लाभकारी है।

5. भीगी चादर द्वारा धूप स्नान

रोगी को पहले निर्वस्त्र करके सूखे कपड़े या कम्बल से गले तक ढंककर चटाई पर धूप में लिटा देते हैं। थोड़ी देर बाद शरीर के गर्म हो जाने पर सूखे कपड़े को हटाकर एक दूसरे कपड़े को ठंडे जल में भिगोकर तथा थोड़ा निचोड़कर उससे रोगी को कंधों से लेकर जांघों तक ढक देते हैं सिर हमेशा भीगी तौलिया से ढंका रहता है तथा चेहरा छाया में रहता है। जांघों के नीचे का हिस्सा सूखे कपड़े से ढका रहता है। यदि गीला कपड़ा सूखता है, तो उस पर पानी का छिड़काव करते रहते हैं। यह स्नान २०-३० मिनट तक की होती है। इसके बाद कटि स्नान पर मेहन स्नान आवश्यक होती है।

6. जीवनशक्ति धूप स्नान

रोगी को प्रातःकाल एवं सायंकाल हल्के कपड़े पहनाकर धूप में बिठाते या लिटाते हैं। सिर को छाया में रखते हैं। रोगी उस समय तक धूप में रहता है, जब तक उसे गर्मी न अनुभव हो। शरीर गरम होने पर रोगी को छाया में कर देते हैं। और गीले कपड़े से सारे शरीर को रगड़कर पोछते हैं। पुनः फिर धूप में बैठाते हैं। यही क्रिया कई बार करते हैं।

7. ठंडी पट्टी से धूप स्नान

इस विधि के लिए एक टब का प्रयोग करते हैं। टब में गीला कपड़ा ४ इंच चौड़ा तथा २ इंच मोटा तथा मेरुदण्ड की पूरी लम्बाई का होता है, उसे रखते हैं, रोगी को उस पर लिटा देते हैं, कि मेरुदण्ड कपड़े की पट्टी पर रहे। तथा टब धूप में रहते हुये भी सिर छाया में रहता है। एक दूसरी भीगी चादर से ऊपर से गले तक ढक देते हैं।

धूप की गर्मी से जब ऊपर का कपड़ा सूख जाता है,, तो पुनः गीला कर देते हैं। इस स्नान को आवश्यकतानुसार काफी समय तक लिया जा सकता है।

8. स्थानीय धूप स्नान

इसमें जिस अंग पर धूप स्नान देना चाहते हैं, उसे खुला करके धूप में रखते हैं। उसके बाद उस अंग को गीले कपड़े से पोंछकर पुनः धूप स्नान ३-४ बार कराते हैं। घाव, फोड़ा, ट्यूमर, नासूर तथा आँखों के रोगों को इस आर्थिक धूप स्नान से बड़ा लाभ होता है।

9. आँखें बंद करके धूप स्नान

आँख की बीमारियों में यह विधि काम में लायी जाती है। जमीन पर सूर्य की ओर मुँह करके और नेत्र बंद करके १०-२० मिनट तक बैठ्ते हैं। प्रातःकाल तथा सायंकाल जब धूप तेज न हो तभी बैठ्ते हैं। ध्यान केन्द्रित करते हैं। तथा अच्छे विचार मन में लाते हैं। मंत्र का उच्चारण करते रहते हैं। धीरे-धीरे अभ्यास के बाद बड़ा हल्कापन महसूस होने लगता हैं।

10. आँखें खोलकर धूप स्नान

यह क्रिया स्वस्थ नेत्रों वालों को ही करनी चाहिए। यह अभ्यास प्रातःकाल सूर्य निकलने के समय तथा सूर्य अस्त होने के समय करते हैं। सूर्य की ओर टकटकी लगाकर देखते हैं, लेकिन केवल कुछ ही समय के लिए जिससे अधिक आँखों पर तनाव न अनुभव हो।

11. हरी पत्ती से सूर्य स्नान

सूर्य निकलने के थोड़ी देर बाद तक तथा सूर्य अस्त होने के थोड़ी देर पहले सूर्य के सामने मुँह करके बैठ जाते हैं तथा आँखों पर केले की हरी रंग की पत्ती का टुकड़ा रखकर उसके बीच में ५-७ मिनट तक सूर्य की ओर टकटकी लगाकर देखते हैं। उसके पश्चात पत्ती को हटाकर १५ मिनट तक आँखें बंद करके शांत बैठे रहते हैं। फिर छाया में आकर अपने दोनों हाथों की हथेलियों की हथेलियों से दोनों आँखों को आराम देते हैं।

धूप में स्नान से लाभ

1. विजातीय द्रव्यों का शरीर से निष्कासन होता है।
2. सभी रंगों का शरीर में प्रवेश होता है। जिससे किसी भी रंग की कमी नहीं होने पाती अथवा कमी होने पर क्षतिपूर्ति हो जाती है।
3. धूप स्नान के बाद ठंडे स्नान से शरीर की गंदगी दूर हो जाती है। शरीरिक रोमकूप खूल जाते हैं।
4. रोग के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं।

5. शरीर के भीतरी अंग भी प्रभावित होते हैं। सारे कोषाणु सशक्त बनते हैं।
6. शरीर को विटामिन "डी" प्राप्त होता है।
7. जीवनी शक्ति बढ़ती है।
8. शारीरिक दुर्बलता दूर होती है।
9. स्नायुविक कमजोरियाँ दूर होती हैं।
10. विशाक्त रक्त शुद्ध हो जाता है।
11. प्रत्येक धूप स्नान के बाद लगभग 2 प्रतिशत शरीर के रक्त में हीमोग्लोवीन की मात्रा बढ़ जाती हैं।

(2) रंगीन काँच या शीशी से सूर्य किरणों का प्रयोग

इस विधि का उपयोग दो तरीके से किया जाता है। एक तो ऐसा कमरा तैयार किया जाता है, जिसमें खिड़की और दरवाजों पर विविध रंगों के चौखटे लगाते हैं, जब शरीर के किसी अंग पर किसी विशेष रंग का सूर्य किरण प्रकाश डालना होता है, तो उसी रंग के शीशे के सामने जिसमें से सूर्य प्रकाश आता है सामने करते हैं। तथा अन्य सभी चौखटों को बंद कर देते हैं। या फिर चौखटों में रंगीन शीशे नहीं लगाते हैं, केवल खाली रखते हैं, जिससे सूर्य प्रकाश कमरे में आ सके। रोगी के उस हिस्से को प्रकाश में रखते हैं तथा आवश्यकतानुसार रंग के शीशे को सामने रखते हैं, जिससे सूर्य प्रकाश शीशें से होकर रोगी के अंग पर पड़ता है।

रंगीन सूर्य किरणों से चिकित्सा करने के लिए एक ताप-प्रकाश यंत्र भी आता है। इस यंत्र द्वारा रोगी के किसी भी अंग को सूर्य रश्मियों से स्नान कराया जा सकता है। इस यंत्र के प्रयोग से रोगी को सूर्य ताप और सूर्य प्रकाश दोनों के लाभ एक साथ प्राप्त होते हैं। यह यंत्र लकड़ी के बक्से की तरह होता है। जिसके चारों तरफ रंगीन शीशों के लगाने के लिए रंगीन किरणों का उपयोग किया जाता है। सूर्य के अभाव में बिजली के द्वारा शरीर पर प्रभाव डाला जाता है।

(3) सूर्य किरणों से तैयार जल का चिकित्सकीय उपयोग

सूर्य किरणों से समाहित जल औषधि का काम करता है। सूर्य की सातों रंगीन किरणों को उन्हीं रंगों की बोतलों के माध्यम से जल में समाहित करके चिकित्सा के काम में लाते हैं। यदि किसी रंग की बोतल नहीं मिलती है, तो सफेद बोतल पर इच्छित रंग का सिलोफिन कागज लपेट कर सूर्य किरणों को समाहित करते हैं। जिस रंग का जल तैयार करना होता, उसी रंग की बोतल में साफ पानी भरते हैं तथा बोतल चौथाई भाग खाली रखते हैं। जहाँ पर १० बजे से ५ बजे तक धूप उस पर पड़ती है। ५ बजे शाम को बोतल के खाली भाग में भाप के बिन्दु झलकने लग़ते हैं। तब समझना चाहिए कि जल में औषधीय गुणों का प्रवेश हो गया है। सूर्य किरणो से तृप्त इस जल को कभी भी सीधे जमीन पर नहीं रखना

चाहिए। तथा अन्य प्रकाश भी इस पर नहीं पड़ना चाहिए नहीं तो औषधीय गुण कम हो जाते हैं। यह जल ९२ घंटे तक गुणकारी रहता है। लेकिन दूसरी बोतल में केवल २४ घन्टे तक उपयोग के लायक रहता है।

सेवन के लिए जल की मात्रा निम्न होनी चाहिए।

आयु	मात्रा
एक माह तक बच्चे के लिए	1 छोटा चम्मच
1 माह से 3 माह तक के लिए	2 छोटा चम्मच
3 माह से 1 वर्ष तक के लिए	3 छोटा चम्मच
1 वर्ष से 5 वर्ष तक के लिए	4 छोटा चम्मच
5 वर्ष से 10 वर्ष तक के लिए	5 छोटा चम्मच
10 वर्ष से 15 वर्ष तक के लिए	25 ग्राम
15 वर्ष से ऊपर	50 ग्राम

औषधीय जल 10 वर्ष तक के बालकों को दो-दो घंटे के अंतर से और 10 वर्षसे अधिक आयु वालों को तीन-तीन घंटे के अंतर से देना चाहिए। इस जल का उपयोग पीने तथा मालिश दोनों के लिए कर सकते है।

4. सूर्य किरणों को वायु के माध्यम से उपयोगः

इस विधि में केवल खाली बोतलों को खूब कड़ी डाट लगाकर धूप में रखते हैं। उसमें भरी हवा गुणकारी हो जाती है। इस बोतलों को केवल १२ बजे से १ बजे तक धूप में रखने से ही उसकी हवा औषधीय हो जाती है। उसमें भरी हवा को नासिका द्वारा रोगी अंदर खींचता है तथा रोग पर आशातीत प्रभाव पड़ता है। कई बोतलों को इस प्रकार चिकित्सा के काम में लाते हैं। एक बार मे एक बोतल की हवा को रोगी से नाक या मुंह द्वारा खिंचवाते हैं। प्रत्येक बोतल की हवा ३-३ बार प्रति १०-१५ मिनट के अंतर से २४ घन्टे में ४-६ बार खिंचवाते हैं। उसी रंग की बोतल की हवा का प्रयोग करते हैं, जिस रंग की आवश्यकता होती है।

(5) सूर्य की किरणों से तृप्त तेल का उपयोग

जिस प्रकार सूर्य की किरणों को समाहित कर जल तैयार किया जाता है, उसी प्रकार तेल भी तैयार किया जाता है। लेकिन तेल तैयार होने के लिए गर्मियों में ३०-४० दिन तथा जाड़ो में ६० दिन लगते हैं। सरसों, जैतून या तिल का तेल उपयोग में लाया जाता है। लाल रंग का तेल शरीर के जोड़ों में दर्द , बात, पेशाब की अधिकता, छाती तथा पसली में दर्द, स्त्रियों के मासिक स्त्राव की कमी में मालिश के काम आता है। हरे रंग का तेल यकृत, गुर्दा तथा आँतों में दर्द के काम आता है। नीले रंग का तेल, त्वचा के रोगों के काम में आता है।

(6) सूर्य किरणों से तृप्त मिश्री व शकर का उपयोग

जिस प्रकार जल का या तेल तैयार करते हैं, उसी प्रकार मिश्री या शकर को तैंयार करते हैं। होमियोपैथी की दवाविहीन गोलियों का उपयोग अधिक सुविधाजनक होता है। अप्रैल से जून तक सूर्य की किरणों को रंगीन बोतलों मे गोलियाँ रखकर आवश्यकतानुसार उपयोग में लाते हैं। दवा के लिए गोलियों की मात्रा 2-4 होती है। तथा दिन में 5-6 बार उपयोग करते हैं। गोली मुंह में रखकर पानी -पीना चाहिए।

(7) सूर्य किरणों से तृप्त भीगे कपड़े की पट्टी का उपयोग

जिस प्रकार गीली पट्टी का उपयोग साधारणतया करते हैं, उसी प्रकार सूर्य किरणों से तृप्त जल में कपड़े की पट्टी से रोगी को दुगना लाभ होता है।

(8) सूर्य किरण तृप्त जल से मिट्टी की पट्टी का उपयोग

साधारण जल के स्थान पर सूर्य किरण तृप्त जल का उपयोग मिट्टी की पट्टी बनाने में लाते हैं। इससे साधारण पट्टी से अधिक लाभ होता है।

डा. नाहर ने सूर्य किरण चिकित्सा चार्ट विधिवत रूप से वैज्ञानिक आधार पर तैयार किया है। यहाँ पर वही चार्ट दर्शाया जा रहा है :-

VII.सूर्य किरण चिकित्सा चार्ट

नाम रोग	रंगीन जल पीने के लिए	रंगीन तेल मालिश	रंगीन प्रकाश	रंगीन जल की पट्टी आदि
1	2	3	4	5
सभी प्रकार के ज्वर	आसमानी या गहरा नीला	-	आसमानी	आसमानी कपड़े या मिट्टी की पट्टी पेडू पर
पेचिश/ हैजा	आसमानी आसमानी, दस्त के बंद हो जाने पर गहरा नीला	-	-	10-15 मिनट का बीच देकर आसमानी रंग की पट्टी।
कैंसर	हरा	-	हरा	-
कुत्ता, गीदड़ सांप, बिच्छू, मधुमक्खी, बर्र के काटने पर	आसमानी	आसमानी	आसमानी और हरा जब सूजन हो।	हरी पट्टी जब सूजन हो अथवा आसमानी

1	2	3	4	5
गठिया	नारंगी	-	दर्द की जगह लाल पहले 1 घंटे फिर नीला 2 घन्टे	नारंगी (कपड़े या मिट्टी) की पट्टी स्थान पर
राजयक्ष्मा (टी0बी0)	गहरा नीला	-	गहरा नीला फेफड़ों पर	-
सिर दर्द	गहरा नीला	आसमानी	नीला सिर पर	-
गला बैठना	गहरा नीला	-	-	आसमानी या गहरे नीले से कुल्ली गहरा नीला (पट्टी गले में)
छाले	गहरा नीला	-	-	-
कुकर खाँसी	गहरा नीला	-	-	-
सूखी खाँसी	गहरा नीला	-	-	-
तर खाँसी	नारंगी	-	-	-
दमा के दौरे में	नारंगी हर 10 मिनट बाद	श्वर सूखा होता लाल तेल छाती पर	-	-
दमा के दौरे जब बंद रहे	नारंगी भोजन के साथ	-	-	-
दाँत का दर्द खून, पीव, मसूढ़ा फूल कर	गहरा नीला + हरा + पीला	- -	- -	गहरे नीले जल से ऊपर से सेंक और उसी पट्टी, गहरा नीला +हरा जल का कुल्ला 6-7 बार नारंगी जल से कुल्ला करना 6-7 बार।
दांत का दर्द बिना मसूढ़ा फूले बच्चों के दांत निकलने में तकलीफ	-	-	नीला	

1	2	3	4	5
मोटों का कब्ज	नारंगी	-	-	-
पतलों का कब्ज	गहरा नीला	-	-	-
गला जलना	नारंगी	-	-	-
पेट में हवा भरना	नारंगी या गहरा नीला	-	-	-
कै या मितली	आसमानी	-	-	-
दर्द पेट	नारंगी या गहरा नीला	-	-	-
पीलियारोग	पीला+गहरा नीला	गहरा नीला सारे शरीर पर	मुँह छाती पर रोज एक घंटा	-
दस्त	आसमानी	-	-	-
दौरे का दर्द	नीला हर 10 मिनट बाद	-	-	-
बादी बवासीर	3-4 बार नारंगी या गहरा नीला +पीला	-	नीला मस्से पर	नीला (पट्टी मस्से पर)
खूनी बवासीर	आसमानी या हरा	-	आसमानी या हरा मस्सों पर	हरा एनिमा
मूत्रबंद	-	-	-	नीला जल (पट्टी पेडू पर)
आँख आना आदि	-	-	-	नीला चश्मा, नीला जल (पट्टी पेडू पर दिन में दो बार)

1	2	3	4	5
कान का आदि	गहरा नीला +पीला	हरा कान में डालना	पहले गहरा नीला+/2 घंटे तक फिर हरा 1 घंटा तक	गर्म हरा+पीला जल से दर्द कान धोना आसमानी गर्म जल से सेंकना
फोड़ा, घाव	-	-	हरा या आसमानी	हरा+आसमानी (मिट्टी-पट्टी) दिन में 4 बार, ऊपर से ऊनी वस्त्र लपेटना।
दाद, खाज	आसमानी	-	हरा या नीला दो घन्टा रोज	हरा या नीला जल से धोना
नकसीर	पीला, गहरा नीला + हरा	-	-	पीला+हरा से नाक धोना, हरा का नसावर लेना, हरा जलबत्ती नाक में।
दिल की धड़कन	नीला	-	-	-
जल, कटना कुचलना	-	-	-	नीली (पट्टी दिन में 3 बार)
बंद माहवारी	नारंगी सुबह शाम	लाल 1 घंटा रोज	-	-
माहवारी दर्द से और अधिक खून	पीला माहवारी के कुछ दिन पहले से	-	-	अधिक खून में नीला रंग (पट्टी पेडू पर)
लकवा (फालिश)	पीला	-	लाल, अकड़ी नसों पर 1 घंटा, फिर नीला 2 घंटा	लाल कपड़ा पहनना, 2 घन्टा रोज धूप में बैठना
पागलपन	आसमानी	-	नीला मुंह पर	-

1	2	3	4	5
पुराना जुकाम	नारंगी+गहरा नीला+हरा	-	-	हरा+नारंगी पर हरी से बत्ती नाक में
कृमि के रोग	पीला+हरा	-	गहरा नीला सिर और मुँह पर	हरा का एनिमा
सिर में जूँ	आसमानी	-	-	-
अजीर्ण से पेट फूलना	पीला	-	-	-
अजीर्ण से खट्टी डकार	आसमानी	-	-	-
प्राणघातक हिचकी	गहरा नीला +लाल	लाल पसलियों पर	-	-
हल्की हिचकी	आसमानी	-	-	-
मंदाग्नि (दस्त साफ न हों)	पीला+ आसमानी	-	-	-
मंदाग्नि दस्त साफ न हों भूख न लगे	गहरा नीला + पीला	-	-	-
भूख न लगे पेट भरा हो	गहरा नीला	-	-	लाल (नाभि के आसपास)
भस्मक (अत्यधिक भूख)	आसमानी	-	-	-
तृषा (घास)	आसमानी + पीला	-	-	-
वायु गोला· (कालिक)	नारंगी+ आसमानी	-	लाल	हरा (सेंक और पट्टी)

1	2	3	4	5
शोथ (सूजन)	पीला+गहरा नीला	-	आसमानी (सारे शरीर पर)	लाल (पेट तथा पाँच पर मालिश)
श्वेत कुष्ठ	पीला	आसमानी (सफेद दागों पर)	-	-
कंठमाला	'आसमानी +लाल	-	गहरा नीला एक घंटे तक गांठों पर	आसमानी+लाल (पट्टी गजे पर)
मुँह के छाले	गहरा नीला + हरा + पीला 2+1+1	-	-	गहरा नीला + हरा 2 + 2
नामर्दी	आसमानी व गहरा नीला 2+1	सूर्य स्नान के बाद आसमानी तेल से सारे शरीर की मालिश	इंद्रिय पर लाल (आधा घंटा)	पीला (गुनगुना एनिमा) लाल (मालिश)
औरतो की हिस्टीरिया	गहरा नीला	आसमानी (सिर के पिछले भाग में)	आसमानी सिर पर एक घंटा	आसमानी (पेडू पर)
बातरोग	पीला	लाल या पीला स्थानीय	लाल या पीला स्थानीय	-
मोटापा	नारंगी	लाल (शरीर पर)	लाल पेट पर (1 घन्टा)	-
मधुमेह	नारंगी+ आसमानी सुबह शाम (खाने के बाद और सोते वक्त)	-	-	-

VIII. विभिन्न रोगों में रंगों का प्रयोग

रंग	क्रिया	(रोग जिसमें प्रयोग किया जाता है)
1	2	3
लाल	गर्मी प्रदान करता है,स्नायु उत्तेजक है, सहानुभूति स्नायु संस्थान पर अधिक प्रभावकारी, शक्ति से परिपूर्ण, ऊर्जायुक्त	सभी शीतलता रोगों में, न्यून रक्त चाप, गठिया, टी0बी0, बात, श्वास के रोग, लैंगिक कमजोरी
नारंगी	रक्तवाहिनियों तथा स्नायुओं को उत्तेजित करता है। ऊष्ण प्रभाव, शक्ति दापी, है, कम गर्मी	नाड़ी की कम गति, वृक्क तथा पथरी, एपेन्डीसाइटिस
पीला	पेट साफ करने वाला, मस्तिष्क को उत्तेजना देनेवाला, यकृत स्प्लीन को शक्ति देने वाला।	हतोत्साह मानसिक रोग, यकृत की खराबी, पक्षपात, नामर्दी, कब्ज, मधुमेह, वृक्क विकार।
हरा	कुछ जुलाबकारी, रोगनाशक आँखों को शक्ति देनेवाला, स्नायु को लाभकारी।	हिस्टीरिया, लैंगिक, समस्या, स्वप्नदोष, अल्सर, कैंसर आदि।
गुलाबी	शक्ति देनेवाला, तरोताजा करने वाला।	दुर्बलता, हृदय तथा मानसिक
आसमानी	उत्तेजक, स्नायुसंस्थान को लाभकारी।	दुर्बलता, कमजोरी, सर दर्द।
बैंगनी	लाल रक्त कणों को बढ़ाना।	स्नायुविक कमजोरी स्नायुविक रोग।

सूर्य किरण चिकित्सा के द्वारा न केवल विभिन्न रोगों का उपचार सम्भव है, बल्कि शारीरिक रोगों से भी बचा जा सकता है, यदि हम इस चिकित्सा पद्धति को अपने दैनिक जीवन में अपनावें। स्वास्थ्य बनाये रखने तथा बीमारियों से बचने के लिए यह आवश्यक है, कि हम धूप और प्रकाश के निकट रहें तथा प्रातःकाल की धूप का सेवन करें।

●●●

अध्याय-16

उपवास (आकाश) चिकित्सा

आकाश तत्त्व पंच तत्त्वों में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जिसके कारण ही मानव का जीवन सम्भव होता है, इसी कारण आन्तरिक तथा वाह्य दोनों प्रकार की क्रियायें कर लेता है। यदि आकाश तत्त्व न होता तो हम न साँस ले सकते और न ही हमारी अपनी गति होती। शरीर में आकाशतत्त्व का विशिष्ट स्थान है : सिर, कण्ठ, हृदय, उदर, तथा कटि प्रदेश। मस्तिष्क में स्थिति आकाश तत्त्व, प्राण का मुख्य स्थान है। हृदय में आकाश तत्त्व पित्त है, उदर में जल का भाग है। आकाश तत्त्व का तात्पर्य है रिक्त स्थान। सामान्य रूप से शरीर के प्रत्येक आन्तरिक अंग में आकाश तत्त्व होता है। त्वचा के एक छिद्र में तथा दो छिद्रों के बीच जहाँ रिक्त या खाली जगह हैं, वहीं आकाश है। इस प्रकार प्रत्येक कोष में आकाश तत्त्व है। जब खाली स्थान विजातीय तत्त्वों से भर जाता है। तभी व्यक्ति रोगी होता है। अतः रिक्त स्थान को यथावत रखने के लिए समय-समय पर उपवास करना आवश्यक होता है।

मोटे तौर पर उपवास के लाभों से सभी परिचित हैं। इससे अपच दूर होती है। पाचन अंग नई चेतना के साथ दुगुने काम करने लगते है। आमाशय में भरे हुये अपक्व अन्न से जो विष उत्पन्न होता है वह वहीं बनता है। स्वल्पाहारी दीर्घजीवी होते हैं। जो बहुत खाते हैं, पेट को ठूँस-ठूँस कर भरते हैं, कभी पेट को आराम नहीं देते हैं, वे अपनी जीवन सम्पदा को जल्दी ही समाप्त कर लेते हैं।

स्वास्थ्य की दृष्टि से इसके असाधारण महत्त्व को स्वीकार करते हुये आयुर्वेद शास्त्र में लिखा है कि "बीमारी को भूखा मारो"। भूखा रहने से बीमारी मर जाती है और रोगी बच जाता है। संक्रामक कष्ट साध्य एवं खतरनाक रोगों में उपवास भी एक चिकित्सा का अंग हैं। जटिल रोगों जैसे ज्वर, निमोनिया, विशूचिका, सन्निपात, में कोई भी चिकित्सक उपवास कराये बिना रोगी को आसानी से ठीक नहीं कर सकता है। प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान में तो सभी रोगों में पूर्ण या आंशिक उपवास को प्रधान उपचार माना गया है।

1. उपवास का अर्थ

फास्टिंग शब्द लैटिन भाषा का फास्टेन (Fasten) से बना है। जिसका वास्तविक अर्थ दृढ़ या निश्चित है। इसी अर्थ में यह कहा जाता है कि उपवास वह क्रिया है जो

नियंत्रित व निर्धारित अवस्थाओं में दृढ़ निश्चय के साथ की जाती है। जिसमें भोजन का त्याग कुछ निश्चित अवधि के लिए करते हैं।

उपवास, रोगों के उपचार की वह वैचारिक विधि है, जिसमें रोगी आवश्यकतानुसार कम या अधिक समय के लिए पानी को छोड़कर किसी प्रकार का ठोस अथवा तरल आहार ग्रहण नहीं करता है।[1]

उपवास, शरीर के सभी अंगों की मरम्मत करने की प्रक्रिया है। उपवास शरीर तथा मन के शोधन तथा पुनर्ऊर्जा प्रदान करने का एक प्राकृतिक तरीका है। वह केवल पाचन तंत्र का विश्राम अथवा शरीरिक विश्राम है, जिसके दौरान सम्पूर्ण शारीरिक शक्ति शरीर में एकत्रित विजातीय दृव्यों को बाहर निकालने में लगती है।[2]

उपवास एक प्रकार का तप-आत्मशुद्धीकरण का तरीका है।[3]

शरीर तंत्र में विषाक्त भोजन एवं अनावश्यक अतिभार को दूर करने का यह (उपवास) शीघ्रतम सरलतम एवं अत्यधिक दक्ष तरीका है।[4]

उपवास एक नैसर्गिक तरीका है जिसको सभी जीवित प्राणी अस्वस्थता की दशा में उपयोग करते हैं। जीवित प्राणी का यह नैसर्गिक तरीका है, जिसके द्वारा वह पुनः संतुलन प्राप्त कर लेता है और रोग से मुक्ति पाता है।[5]

1- Macfadden B :" Fasting" Translated in Hindi by Aroya Mandir, Gorakhpur and Published by the same agency. 1991-P-8

2- Fasting is an overhauling process, it is constructive. .... fasting is nature's own way of cleaning and regenerating the body and mind. It is merely digestive or physioligical rest during which the body is enabled to devote all its energies into eliminating the accumulation of waste poisonous matter from the system.
Jussawala, J.N. The key to Nature Cure, Sangam Book, Ltd. london, 1983, P. 4

3- Fasting is a sort of tapa, a method of self purification.
Pal, Satya agarwal P.D.Yogasana and Sadhana, Bhartiya Yoga Sansthan, Delhi, 1989, P. 99.

4- It is quickest, simplest and most efficient method of relieving the overloaded food poisoned system.
Lindlahr, Henry: Prctice of Natural Therapeutics.
Sat Sahitya Sahyogi Sangh,
Hyderabad, 1990, P. 114-115

5- Fasting is a natural expedient restored by all living creatures when unwell, It is a natural reaction to diseese or malaise of any Kind by which the living organism seeks to set itself in proper equilibrium again.
Benjamin, Hary: Every body's Guide to Nature Cure, Kitabistan, Allahabad, 1943 PP 42-43

उपवास प्राकृतिक चिकित्सा का मूल आधार है जो सदैव रोगी शरीर में स्थिति उपचार शक्तियों को क्रियाशील बनाती हैं तथा इन शक्तियां को कार्य करने का पूर्ण अवसर देती है और इस प्रकार सामान्य कार्य की स्थिति पुनः उत्पन्न करता है, जिसे स्वस्थ कहते हैं।

यदि हम फास्टिंग (FASTING) शब्द का अक्षरशः विश्लेषण करें, तो उपवास का वास्तविक अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

F = Fight against diseases and freedom from illness.

A = Accumulated morbid matter

S = Stimulatin

T = Treatment

I = Internal power (Healing Power)

N = Normal Functioning

G = Goal of life.

Thus we can say that fasting is a treatment method which fights against diseases and makes the body free from illness by stimulating internal power inherent in the human body and thus restores normal functioning, the ultimate goal of health.

इस प्रकार हम कह सकते है कि उपवास उपचार का एक तरीका है, जो रोगों से युद्ध करता है, तथा शरीर को रोगमुक्त आन्तरिक शक्ति जो सभी में होती है, को उत्तेजित करके करता है, और इस प्रकार सामान्य कार्यात्मकता पुनः कायम होती है, जो कि स्वास्थ्य का अंतिम लक्ष्य है।

II. उपवास की विशेषतायें

प्राकृतिक चिकित्सा में उपवास एक चिकित्सा पद्धति के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। अतः सामान्य उपवास जो लोग धार्मिक कारणों से रखते हैं तथा इस उपवास में अन्तर होता है। चिकित्सकीय उपवास केवल जल पर आधारित होता है तथा उसकी एक वैज्ञानिक पद्धति होती है। लेकिन धार्मिक उपवास पूर्ण उपवास नहीं होता है, क्योंकि केवल अन्न तथा अन्न से बने पदार्थ एवं आमिष भोजन ग्रहण करना निषिद्ध होता है। बहुत से चीजें मेवा, पकवान, दूध, दही, फल, आदि खाते हैं। जिनके परिणामस्वरूप लाभ होने के स्थान पर कभी-कभी हानि की भी सम्भावना बनी रहती है। जो लोग एक दिवसीय उपवास रखते हैं वे सायं को कुछ न कुछ अवश्य खाते हैं। ऐसा देखा गया है कि ऐसे उपवास करने वाले व्यक्तियों का भार पहले से बढ़ जाता है।

चिकित्सकीय उपवास की निम्नलिखित विशेषतायें हैः-

(1) उपवास एक प्रक्रिया है जो पाचन संस्थान को पूर्ण विश्राम देती है

पाचनतंत्र जीवन का आधार है, यही ऊर्जा का साधन है तथा रक्त निर्माण का कारखाना है, लेकिन आजकल खाने-पीने के पदार्थो की संख्या ओर विविधता दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। खाने-पीने के समय तथा भोजन पदार्थो की निश्ंचितता न होने के कारण शरीर का मल निष्कासन कार्य अस्त-व्यस्त हो जाता है। आजकल कब्ज की शिकायत तो सामान्य हो गयी है। उपवास में केवल जल या रस ही ग्रहण करते हैं, ऐसी दशा में शरीर के पाचन अंगों को पूर्ण विश्राम मिलता है। इससे कुछ समय बाद वे पुनः सबल एवं कार्यशील बन जाते हैं।

(2) उपवास शारीरिक तथा मानसिक पवित्रता का एक साधन है

उपवास से शरीर के विजातीय पदार्थ बाहर निकल जाते हैं। उपवास के तीसरे या चौथे दिन जब भूख सताना बंद कर देती है, तब शारीरिक मल, विष, विजातीय तत्त्व शरीर से बाहर निकलने की स्थिति में होते हैं। अतः एक-दो दिन का उपवास लाभकारी नहीं होता है। उपवास के दौरान मस्तिष्क से दूषित भावनायें दूर हो जाती हैं, तथा मन अच्छे कार्यो तथा ईश्वर भक्ति में लगता है। साथ ही साथ मनोवृत्ति सकारात्मक बनती है।

(3) उपवास एक प्राकृतिक स्थिति है

पशु पक्षी जब बीमार होते हैं जो वे उपवास का सहारा लेते हैं। हमारे वेदों एवं धार्मिक ग्रन्थों में उपवास का महत्त्व बताया गया है। रोगी पशु रोगी मनुष्य से अधिक समझदार होता है, जो रोगावस्था में चाहे जितना अच्छा चारा भोजन उसके सामने रखा जाय, वह नहीं खा सकता है। उसे प्रकृति ने सिखा दिया है, कि रोगावस्था में भोजन करना विष तुल्य है, केवल उपवास ही साधन है, जो रोगों से लड़ सकता है, और उसे रोगमुक्त कर सकता है। वैसे भी देखा जाय तो बीमार होने पर प्रायः भूख की कमी हो जाती है, और कुछ रोगों में भूख लगती ही नहीं है। उपवासकाल में शरीर की सारी शक्ति रोग दूर करने में लग जाती है।

(4) विजातीय दृव्यों को दूर करने का एक प्रबल साधन है

जीवनी शक्ति जो पहले पाचन कार्यों में ज्यादा शक्ति एवं ऊर्जा लगती थी, उपवासकाल में केवल रोग के कारणों को दूर करने में लगाती है। प्राकृतिक चिकित्सा में माना गया है, जब शरीर से विजातीय दृव्य बाहर नहीं निकल पाते हैं, तो वे शरीर में रहकर उपद्रव के रूप में रोग़ उत्पन्न करते हैं। उपवासकाल मे इन विजातीय तत्त्वों को निकलने का अवसर प्राप्त होता है।

(5) जीवनी शक्ति को बढ़ाती है

शरीर के सभी अंगों को क्रियाशील बनाना तथा उन्हें शक्ति प्रदान करना जीवनी शक्ति का कार्य है। जीवनी शक्ति इन अंगों प्रत्यंगों के कार्यों को ऊर्जा देकर संचालित करती है। जब पाचन अंगों को उपवास काल में कार्य नहीं करना होता है या न्यूनतम करना होता है तो वह ऊर्जा जो इन अंगों को शक्ति देती थी, खर्च नहीं होती है। इस कारण जीवनी शक्ति की ऊर्जा का संरक्षण होता है।

(6) भोजन की जगह अन्य पदार्थ लेना उपवास नहीं है

प्रायः जब लोग उपवास रखते हैं, तो अन्य फलों, मेवों, पकवानों आदि का अधिकाधिक उपयोग करते हैं। चिकित्सा की दृष्टि से यह उपवास किसी भी प्रकार से लाभ नहीं देता है।

III. उपवास का शरीर पर प्रभाव

उपवास निःसंदेह सभी प्राकृतिक चिकित्सा विधियों में सबसे सस्ती विधि है। लेकिन इसका उपयोग सामान्य रूप से क्यों नहीं अधिक होता है, इसको समझने की आवश्यकता है। लोगों की यह पक्का विश्वास है कि कुछ समय के लिए भी भोजन का त्याग शरीर में कमजोरी उत्पन्न करता है। इस विचारधारा के पीछे यह विश्वास कार्य करता है कि भोजन ही शक्ति का श्रोत है। लेकिन वास्तविकता इससे कुछ भिन्न है। जीवनी शक्ति जो सभी अंगों को ऊर्जा प्रदान करती है, वह पूर्णतयाः भौतिक शरीर तथा भोजन, दवा, टॉनिक आदि से परे है। यह शक्ति प्रकृति से प्राप्त होती है।[1]

उपवास का प्रभाव शरीर के सभी अंगों पर पड़ता है, क्योंकि शरीर के सभी अंग एकता में काम करते हैं। यहाँ पर कुछ महत्त्वपूर्ण अंगों पर उपवास के प्रभाव का उल्लेख कर रहे हैं।

(1) पाचन संस्थान पर प्रभाव

रोग का कारण रक्त तथा लसीका में विजातीय तत्त्वों का एकत्रित होना है। ये तत्त्व पाचन क्रिया के माध्यम से ही रुधिर तथा लसीका में प्रवेश करते हैं। उपवास का सबसे अधिक प्रभाव पाचन तंत्र पर पड़ता है। पहले दो-तीन दिन काफी भूख

1- This Popular fallacy is caused by the belief that food and drink are the only source of strength.... is not ..so that life force which is the real source of our vitality or strength is entirely independent of material bodies (physical and spiritual) and of food, drink, medicines, tonic and stimulants, that this life force flows into us from the source of all life, intelligence and creative force in the universe, from that which whe variously call god, Nature, universal intelligence, the oversoul, the will to live, and by many other names,

Lindlahr, henry : Op at, P-116

सताती है, लेकिन दृढ़ भाव तथा संयम के कारण भूख कम होती जाती है। इस समय शरीर के अनावश्यक एवं विजातीय तत्त्व भस्म होने लगते हैं, तथा कुछ बाहर निकलने लगते हैं। इन विषों, विजातीय पदार्थों के निकलने के कारण जीभ मैली तथा खास दुर्गन्ध से भरी हो जाती है। धीरे-धीरे रोग का प्रभाव कम होता जाता है। पेट हल्का हो जाता है तथा भूख लगने लगती है। आँतों पर अनावश्यक दबाव न पड़ने के कारण एवं मल निष्कासन के कारण वे पुनः सक्रिय एवं शक्तिशाली हो जाती है। मल त्यागने की प्रक्रिया पर भी प्रभाव पड़ता है। पेट अपच, कब्ज तथा अन्य रोगों के कारण पूरा मल गुदा से निकल नहीं पाता है। और कभी-कभी तो काफी पेट पर दबाव डालना पड़ता है, जब मल निष्कासित होता है, साथ ही साथ कभी-कभी मल के साथ रक्त भी आने लगता है। उपवास से ये सभी समस्यायें समाप्त हो जाती हैं।

(2) यकृत पर प्रभाव

रोगावस्था मे यकृत कमजोर हो जाता है। अप्राकृतिक भोजन करने से यकृत पर अधिक दबाव पड़ता है, जिसके कारण उसे आवश्यकता से अधिक कार्य करना होता है। उपवास काल में यकृत से पित्त अधिक निकलता है, जिससे आँतों में जमा मल बाहर निकलने लगता है तथा यकृत की सभी गड़बड़ियाँ दूर हो जाती हैं।

(3) मूत्र संस्थान पर प्रभाव

पाचन क्रिया में वृक्क का विशिष्टतम कार्य है। जिसके द्वारा आमाशय में उत्पन्न विजातीय दृव्य तथा विष दृव्य रक्त द्वारा शरीर में फैलता है, वृक्क (Kidneys) द्वारा बाहर निकल जाता है। यूरिया का उत्पादन शरीर मे होता है। यह यदि शरीर में कुछ समय के लिए रुक जाय तो सारा शरीर विषाक्त हो जायेगा। उपवास के द्वारा वृक्क पर अनावश्यक पड़ने वाला दबाव समाप्त हो जाता है। तथा कुछ समय के विश्राम के बाद वे पुनः कार्यशील हो जाते हैं।

(4) फेफड़ों पर प्रभाव

फेफड़ों के द्वारा ही आक्सीजन शरीर के सभी तंतुओं को प्राप्त होती है। जब हम अधिक भोजन तथा अप्राकृतिक जीवन शैली पर चलते हैं तो फेफड़ों को अधिक कार्य करना पड़ता हैं, क्योंकि उस समय शरीर को ऊर्जा की अधिक आवश्यकता होती है। उपवास काल में फेफड़ों को कम कार्य करना पड़ता है। अतः कुछ दिनों के बाद वे सबल तथा सशक्त हो जाते हैं।

(5) रुधिर पर प्रभाव

रक्त में ही विजातीय तत्त्व प्राय एकत्रित होते हैं, जिससे वे शरीर को रोगग्रस्त कर देते हैं। उपवासकाल में ये विजातीय .तत्त्व, पेशाब, पसीना, मल के द्वारा बाहर निकल जाते हैं, और रक्त पुनः शुद्ध हो जाता है।

(6) त्वचा पर प्रभाव

त्वचा का मुख्य कार्य शरीर की रक्षा करना, संवेदनाओं को मस्तिष्क तक पहुँचाना तथा शरीर के विष को पसीने द्वारा बाहर निकालता है। त्वचा के नीचे जब चर्बी ;थ्ंजेद्ध अधिक जमा हो जाता है, तो रोमकूप के छिद्र बंद हो जाते हैं। जिससे पसीना निकलना कम हो जाता है। उपवासकाल मे रोमकूपों के छिद्र खुल जाते हैं और संचित विष पसीने के द्वारा बाहर निकल जाता है।

(7) स्नायु संस्थान

शरीर में कोई भी रोग हो उसका प्रभाव स्नायु संस्थान पर पड़ता है। मानसिक कार्यों जैसे सोचनें, समझने, पढ़ने-लिखने, आदि कार्यों में मन नहीं लगता। उसमें धैर्य तथा उत्साह की भी कमी हो जाती है। उपवास से रक्त शुद्ध हो जाता है, जिससे मस्तिष्क पर पड़ने वाले कुप्रभावों का दबाव कम हो जाता है। तथा मानसिक शक्तियाँ पुनः सक्रिय एवं शक्तिशाली होकर जीवन को नये दृष्टिकोण से देखने लगती हैं।

(8) मोटापे पर प्रभाव

मोटापा कम करने का एक मात्र अचूक साधन उपवास है, इसके लिए सम्पूर्ण उपवास आवश्यक है। केवल जल ग्रहण करने से 7-8 दिन में 5-6 किलो भार कम किया जा सकता है।

IV. उपवास की आवश्यक दशायें या शर्तें

उपवास एक कला एवं विज्ञान है। उपवास तभी सार्थक एवं सफल होता है जब आवश्यक शर्तों को पूरा किया जाय तथा उन पर वैज्ञानिक तरह से अमल किया जाय। उपवासकाल में भी वे क्रियायें होती रहनी चाहिए, जो अन्य स्थिति में होती है, जिससे शरीर के अंगों को जीवनी शक्ति प्राप्त होती रहे। उपवासकाल में जल तथा आक्सीजन का उपभोग करते रहते हैं, जिससे शरीर की सभी क्रियायें यथावत चलती रहती हैं। लेकिन पौष्टिक पदार्थों का सेवन नहीं करते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शरीर को अपनी खुराक नहीं मिलती है। शरीर में पहले से जमा तत्त्व खुराक के रूप में काम आता है। अतः शरीर उपवासकाल में भी भोजन ग्रहण करता है। भोजन रूपी पोषक तत्त्व को जिसके द्वारा शरीर के तन्तुओं का निर्माण होता है, हम शरीर के पूर्ण संचित भंडार से प्राप्त करते हैं।

उपवास की निम्न शर्तें हैंः-

(1) उपवास प्रारम्भ करने से सभी भ्रमों को दूर करना

प्रायः लोग समझते हैं, कि उपवास से शारीरिक कमजोरी आती है अथवा भोजन करने से शरीर में रोग बढ़ सकता है अथवा उपवास में कुछ फल, मेवें अथवा अन्न के अतिरिक्त अवश्य खाना चाहिये। इन बातों को जब तक पूर्ण रुप से नहीं

समझेंगे कि उपवास तभी लाभकारी है, जब शारीरिक अंगों को विश्राम दें, तब तक उपवास लाभ के स्थान पर हानि भी पहुँचा सकता है। अतः मानसिक रूप से उपवास की तैयारी होनी आवश्यक होती है।

(2) शारीरिक तथा मानसिक व्यायाम

उपवास तभी सार्थक होता है जब शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं को काफी कम किया जाता है। ऐसा करने से शारीरिक ऊर्जा का व्यय नहीं होता है। वह ऊर्जा मल निकासी के काम आती है। उपवासकाल में शरीर को जितना ही विश्राम देते हैं। उतना ही लाभकारी होता है। मानसिक शान्ति के लिंए आध्यात्मिक पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिए, जिससे उत्तेजना उत्पन्न करने वाले विचार मन में न आवें।

(3) योगासन तथा व्यायाम

योगासन का अभ्यास सदैव करना चाहिए। परन्तु उपवासकाल में ध्यान करने वाले आसनों ;डमकपजंजपअमद्ध का अभ्यास अधिक करना चाहिये। इससे शारीरिक क्रियाशीलता बनी रहती है। ऊर्जा शक्ति बढ़ती है तथा मन शान्त रहता है।

(4) ऊष्णता बनाये रखने के व्यायाम

उपवासकाल में ठंड बरदाश्त करने की क्षमता कम हो जाती है, क्योंकि शरीर में अन्न न होने के कारण ऊष्णता का निर्माण कम होता है। अतः ठण्ड लग जाने का भय बना रहता है। इसके साथ-साथ यदि शरीर में ऊष्णता कम हो जाती है तो मल निष्कासन का कार्य भी मंद हो जाता है तथा सुरक्षित पोषक तत्त्वों को ऊष्णता के लिए शरीर व्यय करता है अतः रोगी को पैर स्नान (गरम) देनी आवश्यक होती है।

(5) अधिकाधिक जल का सेवन

उपवास काल में जल का अधिकाधिक सेवन करने से शरीर के आंतरिक अंगों की सफाई खूब हो जाती है, साथ ही साथ शरीर के विजातीय पदार्थ भी अधिक तेजी से शरीर से बाहर निकलते हें या उनका भस्मीकरण होता है।

(6) योगिक शुद्धिकरण

शरीर की आंतरिक तथा वाह्य दोनों प्रकार की सफाई आवश्यक होती है। अतः नेति, धोति, वस्ति, नौलि, कपाल भाति तथा त्राटक क्रियायें प्रतिदिन करनी चाहिये। वाह्य रूप से शरीर की सफाई के लिए गुनगुने पानी के स्नान करनी चाहिए, इससे शरीर में ऊष्णता बढ़ती है तथा शारीरिक ऊर्जा कम खर्च होती है।

(7) सूर्य किरण स्नान

उपवास करने वालों के लिए धूप स्नान आवश्यक होता है। इससे जहाँ एक ओर सूर्य किरणों से आवश्यक तत्त्व प्राप्त होते हैं, वहीं दूसरी ओर कैल्शियम तथा

फास्फोरस की मात्रा अधिक मिलने से माँसपेशियाँ सुदृढ़ होती हैं। धूप स्नान करते समय शरीर के सभी अंगों पर धूप पड़नी चाहिये। पाँच-पाँच मिनट शरीर के आगे-पीछे अंगों में धूप प्रारम्भ में लगनी चाहिये। यह समय आवश्यकतानुसार बढ़ाया जा सकता है।

(8) औषधियों का उपयोग नहीं

उपवास काल में शरीर की हालत बहुत नाजुक होती है। अतः औषधियों का प्रयोग करने से शरीर पर बुरा असर पड़ता है। यदि रोगी की हालत किसी कारण बिगड़ती है तो प्राकृतिक चिकित्सा विधियों का उपयोग ही लाभकारी हो सकता है। जल चिकित्सा, मिट्टी चिकित्सा, भाप चिकित्सा, आकाश चिकित्सा ये सभी लाभकारी होते हैं। उपवास काल में शरीर का तापमान घट जाने से रक्त संचार की क्रिया भी घट जाती है। अतः इसे बढ़ाने के लिए मालिश करना लाभकारी होता है।

V. उपवास की तैयारी

पूर्णोपवास के लिए तैयारी करनी आवश्यक होती है। जब से उपवास आरम्भ करना हो उससे तीन-चार दिन पहले से तैयारी करनी होती है। भोजन की मात्रा में कमी करनी होती है। उसे हल्का आहार लेना चाहिये, जिससे शरीर पूर्ण उपवास के लिए आगे बढ़े। सीमित आहार एक दो दिन लेने के बाद फलाहार एक-दो दिन लेना चाहिये। उसके बाद एक दिन फलों का रस ही सेवन करना चाहिये। इससे शरीर तथा मन दोनों की उत्तेजना कम होती है। इससे दूसरा लाभ यह होता है कि फलों मे विद्यमान खनिज लवण तथा विटामिन शरीर को प्राप्त हो जाते हैं, जो उपवासकाल में सहायता करते हैं। मानसिक रूप से भी तैयारी करनी आवश्यक होती है। अतः मन को उपवास के लाभों को बताकर संतुष्ट करना आवश्यक होता है।

उपवास में अखण्ड आस्था होनी आवश्यक होती है। उसे विश्वास होना चाहिये कि उसे उपवास द्वारा दिनोदिन लाभ हो रहा है। उपवास का प्रत्येक क्षण उसके शरीर को स्वच्छ एवं निर्मल बना रहा है तथा रोग के मूलभूत कारणों से मुक्ति मिल रही है। ऐसा होने पर ही विजातीय पदार्थों का निष्कासन शरीर से होता है तथा जीवनी शक्ति का संचार होता है। हठ से किया गया उपवास अत्यंत हानिकारक होता है। अनाहार के अभाव में ऐसे लोग जल्दी ही जीर्ण क्षीण हो जाते हैं। वस्तुतः उनकी इस स्थिति का कारण उनकी मानसिकता होती है। संकल्प करना अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य है। उपवास प्रारम्भ करने से पहले तथा उपवासकाल में स्वाद इन्द्रिय पर नियंत्रण आवश्यक है। अतः कम से कम स्वादयुक्त आहार अथवा अन्य खाद्य सामग्री लेनी चाहिए।

VI. उपवास तोड़ने के नियम

लम्बे उपवास से मनुष्य की पाचनशक्ति शरीर से मल या विकार निकालते -निकालते अपना स्वाभाविक कार्य भूल जाती है। अतः उसे पूर्व स्वाभाविक रूप से कर्म का पुनः अभ्यासी बनाने के लिए जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये। उपवास

समाप्त करने में अत्यंत सावधानी की आवश्यकता होती है। जितना अधिक लम्बा उपवास हो उतने ही अधिक समय पर तक उपवास की समाप्ति पर ध्यान रखना चाहिये। हर्वर्ट एम० शेल्टन ने बीस दिन के उपवास समाप्ति की निम्न योजना प्रस्तुत की है :

1. उपवास समाप्ति के प्रथम दिन आधा गिलास फल का रस एक-एक घन्टे पर सुबह 8 बजे से प्रारम्भ कर सायंकाल 6 बजे तक।
2. दूसरे दिन एक गिलास फल का रस प्रत्येक दो घन्टे मे एक बार।
3. तीसरे दिन प्रातःकालीन नाश्ते में एक सन्तरा, दोपहर के भोजन में दे सन्तरे तथा सायंकालीन भोजन में तीन संतरे। संतरे के स्थान पर उसी बराबर मात्रा में अंगूर पर जाता पका टमाटर।
4. चौथे दिन नाश्ते में नींबू या चकोतरा अल्प मात्रा में एक या दो दूसरे प्रकार के ताजाफल, दोपहर के भोजन में सब्जी की सलाद तथा एक उबली सब्जी सायंकालीन भोजन में फल।
5. पाँचवे दिन सुबह नाश्ते में फल, सलाद, पकी हुई दो हरी सब्जियाँ एक भुन हुआ आलू, दोपहर तथा सायंकाल के भोजन में पुनः फलाहार।
6. छठे दिन पथ्याहार की मात्रा कुछ बढ़ाकर पाँचवे दिन की तरह ही दिया जात है।

इसके बाद उपवास करने वाला स्वाभाविक आहार लेने योग्य हो जाता है।

VII. उपवासकालीन संकट तथा उपद्रव

लम्बे उपवास काल में अनेक संकट उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहती है जिसमें मुख्य निम्न हैं :

(1) हल्का सा ज्वर या हरारत

उपवासकाल में शरीर में हल्का ज्वर हो जाना प्रकृति की उपचार पद्धति क्रियाशीलता का द्योतक है। उपवासकाल में शरीर में उपस्थित विष, विजातीय पदार्थ जलने लगता है तथा उनकी निष्कासन की गति बढ़ती है। इससे शरीर का तापक्रम कभी-कभी बढ़ जाता है, लेकिन रोगी को प्रायः ज्वर न होने पर भी शिकायत बनी रह सकती है, जिसे कुछ लोग सुप्त ज्वर कहते हैं। ज्वर होने पर अधिक से अधिक पानी पीना चाहिये। इससे बढ़कर कोई दूसरा उपचार नहीं है। घर्षण स्नान तथा गीली पट्टियों का प्रयोग भी लाभकारी होता है।

(2) चक्कर आना

कभी-कभी उपवास करने वाले को सुबह उठने पर चक्कर आते हैं। लेटे रहने के बाद दिन में भी उठने पर चक्कर आते हैं। इसका कारण मस्तिष्क में रक्त की अपर्याप्तता होती है। उपवास काल में उदरीय क्षेत्र में रक्त अधिक इकट्ठा रहता है

जिससे मस्तिष्क को मिलने वाली रक्त की पूर्ति धीरे-धीरे होती है।

(3) मूर्छा

कभी-कभी मस्तिष्क में रक्ताभाव के कारण उपवासकर्ता को मूर्छा आ जाती है। ऐसी दशा में उसे इस प्रकार लिटाते हैं कि पाँवों से सिर नीचे रहता है। इससे रक्त की पूर्ति सही हो जाती है। हथेलियों तथा तलवों को रगड़ने से भी लाभ होता है। उसे खुली हवा मिलनी आवश्यक होती है।

(4) ऐंठन तथा मरोड़

उपवासकाल में उदरीय क्षेत्र की माँसपेशियों में संकुचन होता है। जिसके कारण पेट में ऐंठन तथा मरोड़ लगती है। यह ऐंठन कुछ समय के बाद स्वतः ठीक हो जाती है। यदि ऐंठन बनी रहे तो पेडू पर गरम सेंक देना चाहिये। तथा गुनगुना पानी पिलाना चाहिये। पेट पर हल्की मालिश तथा गुनगुने पानी का एनिमा भी दिया जा सकता है।

(5) अपच

उपवासकाल में कभी-कभी अपच भी हो जाती है। ऐसी दशा में एनिमा तथा गर्म ठंड कटि स्नान लाभकारी होता है।

(6) मूत्रावरोध

उपवासकाल में पानी की मात्रा कम हो जाती है, तो मूत्रावरोध होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है, ऐसी दशा में गुनगुने पानी का पीना तथा पेडू पर गर्म जल से सिंकाई अथवा पट्टी रखना चाहिये। गर्म पानी का कटि स्नान लाभप्रद होता है।

(7) सिर दर्द

उपवासकाल में सिर दर्द होना स्वाभाविक घटना है। ऐसा प्रायः शरीर के विषमय द्रव्यों के कारण होता है। जब उनके विनाश की प्रक्रिया चलती है, तो गैसें बनती हैं, और वे गैसें ऊपर बढ़कर सिर दर्द उत्पन्न कर देती हैं। ऐसी दशा में गुनगुने पानी का एनिमा, सिर पर ठंडी गरम पट्टी, तथा सेंक लाभकारी होता है।

(8) मुँह का अजीबो–गरीब स्वाद

उपवासकाल में मल निष्कासन की क्रिया के कारण जीभ गंदी बनी रहती है, श्वांस में बदबू आने लगती है, तथा मुँह का स्वाद बिगड़ जाता है। अतः दिन में कई बार मुँह को साफ करना चाहिये तथा गरारा भी करते रहना चाहिए।

(9) अनिद्रा

उपवासकाल में प्रायः उपवासकर्ता को नींद की कमी महसूस होती है। शारीरिक श्रम की कमी होने से तथा आहार की अनुपस्थिति में ऐसा होता है। इस दशा में कोई विशेष घबड़ाने की आवश्यकता नहीं होती है।

(10) हृदय पीड़ा एवं धड़कन

मल निष्कासन प्रक्रिया में गैसों के बनने के कारण कभी -कभी छाती पर दबाव अनुभव होता है, जिससे धड़कन भी बढ़ जाती है। ऐसी हालत में गुनगुना पानी पीकर लेट जाने से राहत मिलती है। छाती पर गोली लपेटने से भी ऐसा कष्ट दूर हो जाता है।

(11) नाड़ी की मंदगति

उपवासकाल में नाड़ी की गति मंद हो जाती है। लेकिन इससे कोई हानि की सम्भावना नहीं होती है। लेकिन यदि रोगी के हाथ पैर ठंडे होने लगें, और ओंठ नीले होने लगें, चक्कर आने लगें, तो सोचने की बात होती है। ऐसी दशा मे गर्म पानी से स्नान तथा रगड़ अथवा छाती के आसपास गर्म कपड़ा लपेटना लाभकारी होता है, किन्तु जब तक नाड़ी की गति प्रतिमिनट ५० बार से कम न हो जाय तब तक उपचार कार्य नहीं करना चाहिये।

(12) नाड़ी की तीव्रगति

उपवास के दिनों में नाड़ी की गति का तेज हो जाना प्रायः बहुत कम होता है, लेकिन यदि ऐसा हो जाय, तो ठंडे पानी से स्नान करने से गति सामान्य हो जाती है।

(13) वमन

उपवासकाल में वमन की पद्धति अधिकांशतः देखने को मिलती है। वमन से दूषित पदार्थ बाहर निकलता है। अतः इससे प्रकृति उपचार कार्य करती है। यदि आवश्यकता हो तो रोगी को गर्म पानी पिलाना चाहिये। इससे पेट की सफाई भी होती है, तथा माँसपेशियों की ऐठन कम होती है। गर्म पानी में संतरे का रस पिलाना लाभकारी होता है।

(14) शारीरिक दुर्गन्ध

उपवासकाल में पसीने से दुर्गन्ध आने लगती है। गठिया तथा मधुमेह के रोगों में ऐसा अधिक होता है। ऐसी दशा में पानी अधिक से अधिक मात्रा मे पीना चाहिये तथा त्वचा की सफाई करते रहना चाहिये।

VIII. उपवास के प्रकार

डा० गंगाप्रसाद गौड़ "नाहर" ने 13 प्रकार के उपवासों का उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है। ये निम्न है :-

(1) प्रातःकालिक उपवास

यह सबसे आसान उपवास है। इसके केवल सुबह का नाश्ता छोड़ देना होता है। चौबीस घन्टे में केवल दो बार भोजन की व्यवस्था रहती है।

(2) सायंकालिक उपवास

इसमें केवल एक बार भोजन करते हैं। रात का भोजन बंद कर देते हैं। जो भोजन किया जाता है, वह सुपांच्य एवं प्राकृतिक होना आवश्यक होता है।

(3) एकाहारोपवास

एक बार एक ही चीज खाना एकाहारोपवास कहा जाता है। उदाहरण के लिए सुबह को यदि रोटी खायें तो शाम को केवल सब्जी, दूसरे दिन कोई एक फल तथा शाम को दूध। शरीर को मामूली गड़बड़ी में यह उपवास लाभ देता है।

(4) रसोपवास

इस उपवास में अन्न तथा फलादि ठोस पदार्थ नहीं ग्रहण करते हैं। फलों का रस अथवा सब्जियों का सूप लेकर उपवास करते हैं। दूध लेना वर्जित होता है।

(5) फलोपवास

रसदार फलों तथा शाक-भाजी पर उपवास करना फलोपवास कहलाता है। जो फल आसानी से पच जाता है, उन्हीं का सेवन करते हैं।

(6) दुग्धोपवास

इसे दुग्ध कल्प भी कहते हैं। कुछ दिनों तक दिन में चार-पाँच बार केवल दूध पीकर ही रहना होता है। गाय का दूध उपवास में अनुकूल होता है।

(7) मठोपवास

इसे मट्ठा कल्प भी कहते हैं। पाचन शक्ति की दुर्बलता में यह उपवास लाभकारी होता है। मट्ठा घी रहित तथा कम खट्टा होने पर ही लाभ होता है। कम से कम इक्कीस दिन का उपवास करना चाहिये।

(8) साप्ताहिक उपवास

सप्ताह में केवल एक दिन पूर्ण उपवास करना साप्ताहिक उपवास कहलाता है।[1]

(9) लघु उपवास

तीन दिन से लेकर सात दिन के पूर्णोपवास को लघु उपवास कहते हैं।

(10) कड़ा उपवास

यह उपवास असाध्य रोगों के लिए होता है। इसमें पूर्णोपवास के सभी नियमों का कड़ाई के साथ पालन करना होता है।

1- उल्लिखित पृ० 115-116

(11) टूट उपवास

इसमें दो से सात दिनों का पूर्णोपवास करने के बाद कुछ दिनों तक हल्के प्राकृतिक भोजन पर रहकर पुनः उतने ही दिनों का उपवास करते हैं। यह प्रक्रिया कई बार करते हैं।

(12) पूर्णोपवास

स्वेच्छापूर्वक विशुद्ध ताजे जल के अतिरिक्त किसी प्रकार की खाद्य वस्तु ग्रहण न करना पूर्णोपवास कहलाता है।

(13) दीर्घ उपवास

इस उपवास में पूर्णोपवास काफी दिनों तक चलाना होता है। इसका कोई निश्चित समय नहीं है। फिर भी कम से कम इक्कीस दिन का होना चाहिये। इसमें अधिक 50-60 दिन का भी उपवास हो सकता है। ऐसे उपवास सदैव विशेषज्ञ की देख-रेख में किये जाते हैं।

●●●

अध्याय-17

चुम्बक चिकित्सा

I. मानव, पृथ्वी और चुम्बक

सृष्टि का एक प्रमुख आधार चुम्बकत्व है। यह वैज्ञानिकों द्वारा सिद्ध किया जा चुका है कि चुम्बक का प्रभाव सारे विश्व में पाया जाता है। सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी तथा अनेक ग्रह स्वयं में एक बड़े चुम्बक हैं अनेक ग्रह इस चुम्बकत्व के द्वारा ही एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। चुम्बक एक मौलिक शक्ति है। पृथ्वी एक बड़ा प्राकृतिक चुम्बक है, पर प्रश्न यह है कि चुम्बत्व का स्रोत क्या है। पृथ्वी में चुम्बकत्व का कारण उसके चारों ओर वायु मण्डल में विद्युत है। पर कुछ लोगों का विचार है कि चूँकि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती रहती है इससे चुम्बकत्व उत्पन्न होता है। इसी स्थान पर अन्य लोगों का कहना है कि पृथ्वी के मर्म में अनेक विद्युत धारायें हैं, जो चुम्बकत्व उत्पन्न करती हैं। पृथ्वी एक बड़ा चुम्बकत्व है। जिसके उत्तरी और दक्षिणी दो ध्रुव होते हैं जिसके बीच चुम्बक की शक्ति प्रवाहित होती है। चूँकि मानव पृथ्वी का निवासी है, अतः वह उसके प्रभाव से वंचित नहीं रह सकता है।

शरीर मूल रूप से एक विद्युत चुम्बकीय यंत्र है, शरीर का प्रत्येक कोष विद्युत इकाई है तथा उसका अपना एक चुम्बकीय क्षेत्र है। परिणामस्वरुप जीवों का स्वास्थ्य तथा उनकी जीवन शक्ति का सम्बन्ध पृथ्वी से है। पृथ्वी और मानव दोनों में चुम्बकत्व होने के कारण ही पृथ्वी का स्पर्श ही मानव के रोगों का निवारक, पीड़ाहारक तथा शक्तिवर्धक होता है। इसी कारण नंगे पैरों घास पर टहलने के लिए कहते हैं तथा शरीर पर रोगों के निवारण हेतु मिट्टी का लेप करते हैं।

II. सूर्य और चुम्बक का प्रभाव

सूर्य भी पृथ्वी की अपेक्षा एक बड़ा चुम्बक है। सूर्य का यह क्षेत्र पृथ्वी (1,05,600 मील) से कई सौ गुना अधिक है। पृथ्वी पर धूप छाया दिन रात ऋतुएँ सभी प्रकार का जीवन गर्मी तथा अग्नि सूर्य के ही कारणों से हैं। सूर्य के प्रकाश के अभाव में पृथ्वी पर जीवन सम्भव नहीं हो सकता है, सूर्य के चुम्बकीय क्षेत्र में परिवर्तन होने से ही तूफान आते हैं। यह परिवर्तन जीवों पर उनके मस्तिष्क के माध्यम से प्रभाव डालता है।

III. चन्द्रमा और चुम्बक का प्रभाव

चन्द्रमा भी पृथ्वी से न समाप्त होने वाला सम्बन्ध रखता है। तिथि पत्रों का निर्धारण चन्द्रमा के आधार पर ही हुआ है। यह सिद्ध किया जा चुका है कि शुक्लपक्ष में हमारे शरीर के द्रव आसानी से द्रवित होते हैं। पूर्णमासी अमावस्या का व्रत धर्म के साथ-साथ वैज्ञानिक भी होता है क्योंकि इससे द्रव्यों में संतुलन बना रहता है।

IV. मानव और चुम्बकत्व का प्रभाव

मानव सृष्टि का एक छोटा प्राणी है, इसमें सृष्टि के तत्त्वो एवं गुणों का समावेश होता है। अनेक ग्रह चुम्बकीय शक्ति के कारण ही संतुलन की अवस्था में अपने रास्ते पर चलते रहते हैं। चुम्बकीय शक्ति के कारण ही मानव शरीर जीवित रहता है। मानव शरीर के आसपास चुम्बकीय क्षेत्र होता है जिसे सूक्ष्म शरीर की संज्ञा देते हैं। मानव का विकास आध्यात्मिक,,शारीरिक और मानसिक उस चुम्बकीय सूक्ष्म शरीर में निहित होता है।

किसी व्यक्ति से चुम्बकीय शक्ति की अधिकता के कारण उसके प्रति आकृष्ट होते हैं। उसके सम्पर्क में आकर द्वेष भावनायें लुप्त हो जाती हैं। यह तो चुम्बक शक्ति का आध्यात्मिक पहलू होता है। चुम्बक चिकित्सा का सम्बन्ध शरीर की व्याधि से है।

V. बिजली और चुम्बक शक्ति का प्रभाव

मानव निर्मित यंत्र चाहे कितना विकसित एवं परिष्कृत क्यों न हो, मानव शरीर का गठन बड़ा अनूठा और जटिल है, उनसे उसकी तुलना नहीं की जा सकती है। मानव शरीर में विद्युत आवेग से चलता है तथा लगातार उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया के साथ ही चुम्बकत्व जन्म लेता है। यह सिद्ध हो चुका है कि प्रत्येक जीवन में विद्युत के कुछ तत्त्व होते हैं। जन्म से पूर्व से मृत्यु तक चुम्बकीय शक्ति विद्यमान रहती है।

शरीर और मन की सारी क्रियाओं पर नियंत्रण डालने वाले वयस्क व्यक्ति के मस्तिष्क में स्नायु के सेलों के माध्यम से तीस वाट बिजली पैदा होती है। ये सेल अपने में छोटे-छोटे डायनमों हैं। इसी प्रकार हृदय, आमाशय, मॉसपेशियां अपनी आवश्यकतानुसार बिजली उत्पन्न करती हैं। मानव शरीर में विद्युत चुम्बकीय तरंगें प्रति सेकेण्ड ८ करोड़ साइकिल की दर से उठती हैं, तथा बराबर निकलती रहती है। विद्युत और चुम्बकत्व दोनों मानव शरीर में कार्बन, नाइट्रोजन और फास्फोरस जैसे रसायन भोजन के माध्यम से निश्चित रूप से शरीर में पहुँचते हैं। मस्तिष्क में सबसे शक्तिशाली चुम्बकत्व उत्पन्न होता है। यह सबसे अधिक सोते समय उत्पन्न होता है। हृदय का चुम्बकीय क्षेत्र 107 औंस होता है।

सभी रोगों का इलाज इस चिकित्सा पद्धति के द्वारा रोगी के शरीर पर चुम्बक लगाकर किया जाता है। इसमें दबाई नहीं देते हैं न खाने की न लगाने की। अतः इसे प्राकृतिक चिकित्सा की श्रेणी में रखते हैं। चुम्बक चिकित्सा में केवल चुम्बक का ही प्रयोग करते हैं।

VI. चुम्बक चिकित्सा का इतिहास

अथर्ववेद में चुम्बक चिकित्सा के संदर्भ में कहा है कि चुम्बक की सहायता से बहता रक्त रोका जा सकता है। स्त्री रोगों का इलाज चुम्बक लगाकर किया जाता है। चुम्बक चिकित्सा गुणों का ज्ञान 19 वीं शताब्दी में आकर प्राप्त हुआ। मिश्र में शवों को सड़ने से बचाने के लिए चुम्बक का प्रयोग किया जाता था। ईसा से 20-30 वर्ष पूर्व मिस्र में रानी क्लोपेट्रा अत्यन्त सुन्दरी थीं, वह सदैव उसको सुरक्षित रखने के लिए माथे पर चुम्बक लटकाये रहती थीं। प्राचीनकाल में चुम्बक की कुछ रहस्यमयी शाक्तियाँ होती थी।

चीन के नाविकों ने समुद्री जहाज में दिशा निर्देश हेतु इसका प्रयोग किया। बाद में योरोप में दिशासूचक यंत्र के रूप में इसका प्रयोग किया गया। इसके बाद चुम्बक के गुणों का पता अनायास चला, इसका प्रयोग बिना वैज्ञानिक विधि के अपनाये ही रोगों के निदान में प्रयुक्त हुआ। स्वीट्जरलैण्ड का एक रसायन शास्त्री और डॉक्टर पैरासेल्सस (1493-1541) था। चुम्बक के, रोग दूर करने के गुणों के बारे मे पता लगाया। उन्होंने बताया कि चुम्बक सूजन, मवाद तथा फोड़े फुन्सी में गुणकारी है। और आन्तरिक तथा वाह्य रोगों में इसका प्रयोग सफलतापूर्वक कर सकते हैं। पैरासेल्सेस और हनीमून ने चुम्बक के चिकित्सकीय गुण का पता लगाया । इससे लोगों को पता लगा कि चुम्बक में रोग दूर करने की शक्ति होती है। इंग्लैण्ड के डाक्टर विलियम गिलवर्ट (1540-1600) जो रानी एलिजावेथ प्रथम के डाक्टर थे ने विद्युत और चुम्बक की शक्ति का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया। माइकल फैराडे (1791-1867) ने जैव चुम्बकीय और चुम्बक रसायन की नींव डाली, उन्होंने यह सिद्ध किया कि द्रव्य किसी न किसी प्रकार चुम्बकीय होते हैं। चुम्बकीय द्रव्य आपस मे या तो आकृष्ट होते हैं या दूर भागते हैं।

वैज्ञानिकों ने जैव चुम्बकत्व के असंख्य प्रयोगों के बाद निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला :

(1) जीवों पर चुम्बकीय क्षेत्र का प्रभाव पड़ता है जो शरीर के प्रत्येक कण में पहुँचता है।

(२) सारे शरीर में विद्युत ऊर्जा होती है, उसके प्रत्येक भाग मे चुम्बकीय क्षेत्र होते हैं, यदि चुम्बकीय शक्ति का प्रयोग ठीक से किया जाये तो विद्युत ऊर्जा पर गुणकारी प्रभाव पड़ता है।

(3) यदि शरीर लगातार चुम्बकीय क्षेत्र के सम्पर्क में लाया जाय, रक्त में रासायनिक परिवर्तन हो जाने से ई0 एस0 आर0 पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है।

(4) शरीर में सेलों तथा टिशूज की यवस्था पर भी चुम्बकीय क्षेत्र गुणकारी प्रभाव डालते हैं।

(5) शरीर के टिशूज मे एक प्रकार के सेल फाइब्रोब्लास्ट के बढ़ने और टिशूज की नवीनीकरण की प्रक्रिया चुम्बकीय क्षेत्र के प्रभाव से बदल जाती है।

(6) स्नायु व्यवस्था भी चुम्बकीय क्षेत्रों के प्रभाव से प्रभावित होती है।

(7) मस्तिष्क के मध्य क्षेत्र पर प्रत्यक्ष रूप से चुम्बकीय क्षेत्र प्रभावित करता है, जो शरीर को आन्तरिक ग्रन्थियों का विनिमय करता है।

(8) चुम्बक चिकित्सा का उत्पत्तिमूलक व्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ता है।

VII. चुम्बक क्या है?

चुम्बक का आविष्कार ईसा मसीह से कई शताब्दी पूर्व यूनान के मैगनेट नाम के गड़रिये ने अनजाने में इसको खोजा था, उसी के नाम पर इसका नाम चुम्बक रखा गया। यह भी कहा जाता है कि चुम्बक सबसे पहले एशिया माइनर के क्षेत्र मैगनेशिया क्षेत्र मे मिला इससे इसे मैग्नेराइट कहा जाने लगा। प्राकृतिक चुम्बक में लोहा और आक्साइड के रूप में आक्सीजन होती है, इसका फार्मूला, एक $ई_2 ओ_4$ है। जिसके माध्यम से बिना तार के प्रयोग के चुम्बक बनाया जा सकता है।

चुम्बक को बनाने का सरल एक आसान तरीका यह है कि चुम्बक को धातु पर रगड़ते हैं इससे उसका गुणा धातु में आ जाता है। पर यह चुम्बक कम शक्तिशाली होते हैं। अधिक शक्तिशाली चुम्बक बनाने के लिए बिजली का सहारा लेना पड़ता है। वैज्ञानिकों ने मैग्नेटाइजर नाम के यंत्र का आविष्कार किया है जिससे बिना तार के माध्यम से चुम्बक बनाया जा सकता है। यह सबसे नया तरीका है।

चुम्बक की वस्तु में सारे वास्तव में छोटे-छोटे चुम्बक होते हैं। जिस धातु में चुम्बक की शक्ति नहीं होती उसमें ये सारे अणु अस्त-व्यस्त रहते हैं, यानी एक से ध्रुव एक ही दिशा में नहीं होते। उत्तरी ध्रुव दक्षिणी ध्रुव का तथा दक्षिणी ध्रुव उत्तरी ध्रुव का असर दूर कर देता है। जब किसी धातु में चुम्बकत्व आता है, तो उन अणुओं के ध्रुवों की स्थिति बदल जाती है। एक ही दिशा में स्थित कण जिनके ध्रुव ठीक स्थिति में ही दोनों छोरों पर सबसे अधिक और बीच में सबसे कम होते हैं दोनों छोरों को ध्रुवों की संज्ञा दी जाती है।

चुम्बक दो प्रकार के होते हैं : स्थायी और दूसरे विद्युत चुम्बक। स्थायी चुम्बकों में सदा चुम्बकत्व रहता है। जबकि विद्युत चुम्बक तभी सक्रिय होते हैं जब उनका सम्पर्क बिजली से होता है।

स्थायी चुम्बक

स्थायी चुम्बक अनेक धातुओं से बनते हैं, जिसमें लोहा प्रमुख है। पर इसके लिये एक मिश्रित धातु आलनीसो काम में आती है। जिसमें अलग-अलग मात्रा में अल्मुनियम, निकल, लोहा और कोबाल्ट मिलाया जाता है, इसके अलावा फोरिक और बेरियम के आक्साइड से तैयार की गई कृत्रिम सामग्री से भी से भी चुम्बक तैयार किया जाता है।

VIII. चुम्बक के गुण

चुम्बक में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं

(1) चुम्बक चाहे छोटा हो या बड़ा इसके दो ध्रुव होते हैं। एक उत्तरी ध्रुव तथा दूसरा दक्षिणी ध्रुव। भौतिक विज्ञान के शास्त्री बैबर ने यह सिद्ध कर दिया कि चुम्बकीय सामग्री के अणु वास्तव में छोटे-छोटे चुम्बक होते हैं उनका वजन चाहे कितना भी कम क्यों न हो, उनमें यह दोनों ध्रुव विद्यमान रहते हैं। यदि एक चुम्बक को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त कर दें, तो उनका प्रत्येक टुकड़ा अपने में एक चुम्बक बन जायेगा। चुम्बक में दोनों ध्रुवों पर किनारे शक्ति होगी, यही कारण है कि यदि इस पर आलपीन रखते हैं तो यह किनारे पर चिपक जाती है तथा बीच में खड़ी रहती है। चुम्बक चिकित्सा में अकेले ध्रुवों का भी प्रयोग होता है।

(2) चुम्बकत्व का एक महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि विरोधी ध्रुव एक दूसरे को आकृष्ट करते हैं लेकिन समान ध्रुव एक दूसरे से परे रहते हैं। इसी आधार पर चुम्बक चिकित्सा में इसका अपना अलग ही महत्त्व है। इन ध्रुवों के विरोधी गुण के कारण ही दोनों ध्रुवों का स्वरुप भिन्न-भिन्न है और उनमें चिकित्सा की शक्ति भी भिन्न है।

(3) चुम्बक का तीसरा गुण चुम्बकीय पंक्तियों अथवा धाराओं की संकल्पना है। चुम्बक के आस-पास जो धारा है, उसी क्षेत्र को उसका चुम्बकीय क्षेत्र कहा जाता है।

(4) चुम्बकीय क्षेत्र की शक्ति पर चुम्बक की शक्ति आधारित है। चुम्बक की शक्ति चाहे कितनी भी क्यों न हों, चुम्बकीय क्षेत्र का विस्तार असीमित होता है।

IX. चुम्बक की शक्ति का माप

चुम्बक की शक्ति के सामने वाले यंत्र को मैग्नेटोमीटर कहते हैं, जो गौस इकाइयों में उसकी शक्ति नापता है। यह यंत्र प्रयोगशाला में पाया जाता है। इस

कारण सामान्यता इसकी शक्ति मापने के लिए लोहे के भार को उठाने की शक्ति का प्रयोग करते हैं। जैसे यदि एक चुम्बक दो पौंड लोहा उठा सकता है तो उसमें 500 से 600 गौस शक्ति होती है, पाँच पौंड लोहा उठाने वाले·चुम्बक की शक्ति नौ से साढ़े बारह सौ तक, पच्चीस पौंड लोहा उठा सके, उसमें साढ़े तीन हजार से चार हजार तक गौस की शक्ति होती है।

X. चुम्बक का प्रभाव

हम इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि चुम्बक की शक्ति का प्रभाव शरीर और उसकी क्रियाओं पर बहुत दूर तक पड़ता है। अनेक जैव-चुम्बक शास्त्री इस संदर्भ में प्रयत्नशील हैं कि चुम्बक शक्ति के प्रभाव स्वरुप और विस्तार के सिद्धांत क्या हैं।

पहले पानी और बाद में रक्त पर वैज्ञानिकों द्वारा चुम्बक शक्ति का प्रभाव अध्ययन किया गया। अगर नमक जमे पानी की नली से चुम्बक युक्त पानी निकाला जाता है तो उसमें जमा नमक निकल जाता है। पानी पर जब चुम्बकीय क्षेत्र का प्रभाव डाला जाता है तो उसके गुणों में अनेकों परिवर्तन हो जाते हैं। जैसे कि तापमान, घनत्व, तनाव और बिजली संवर्धन की शक्ति बदल जाती है। चुम्बकत्व के पानी में लवण आदि के छोटे-छोटे कण नीचे बैठ जाते हैं। इनसे बिजली आसानी से चल सकती है, पानी में आयन बनाने की गति तीव्र हो जाती है।

चुम्बक के प्रयोग से रक्त में लोहे का तत्त्व अधिक सक्रिय हो जाता है। बिजली की हल्की सी धारा उत्पन्न होती है। चुम्बकत्व का क्षेत्र जितना अधिक शक्तिशाली होता है, लोहे के कण के उतने ही अधिक केन्द्र बनते चले जाते हैं। इससे लहू में थक्के जमने की सम्भावना नहीं रहती है। अतः वह आसानी से शरीर में प्रवाहित हो सकता है, चुम्बक के प्रभाव से लाल रक्त कण बढ़ जाते हैं और वे अधिक सक्रिय हो जाते हैं।

मानव शरीर पर चुम्बकीय क्षेत्र के प्रभाव के संदर्भ में निम्न प्रभावों का पता चला है :-

(1) विभिन्न ग्रन्थियों से निकलने वाले स्राव (हारमोन) अन्य द्रवों पर तथा ग्रन्थियों की क्रियाओं पर गुणकारी प्रभाव पड़ता है।

(2) इसके प्रयोग से स्नायु व्यवस्था सामान्य हो जाती है। परिणामस्वरूप आन्तरिक सभी अंग अच्छा काम करने लगते हैं।

(3) नये सेलों का निर्माण होता है और टिशूज में नये जीवन का संचार होता है।

(4) इसके प्रयोग का जनन क्रिया पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप से चुम्बक के प्रयोग के तीन प्रकार के प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। शरीर पर चुम्बक की क्रिया प्रतिक्रिया के पीछे कौन से मूलभूत

सिद्धांत हैं, इस बारे में अभी पूर्ण एकमतता नहीं हैं फिर भी कुछ प्रमेय अवश्य सामने आये हैं।

(1) प्रत्येक जीवित शरीर में विभिन्न रसायन और अणु होते हैं जो परमाणुओं के पुंज मात्र होते हैं, जिनमें इलेक्ट्रोन और न्यूक्लयांस ऐसे कण होते हैं, जिनमें विद्युत का संचार होता है। जब शरीर पर चुम्बकीय क्षेत्र पड़ता है तो अणुओं में विद्युत वाले कण अपने स्थान में हट जाते हैं जिससे तनाव उत्पन्न होता है या यूँ कहें कि अनेक परमाणु और अणु विद्युत से प्रभावित होते हैं।

(2) इन विद्युत कणों के हटने से ही या उनकी स्थिति परिवर्तन से ही शरीर में और अधिक गर्मी आती है।

(3) शरीर के सभी अंगों में विभिन्न रसायन विद्यमान होते हैं। उनमें हल्की गर्मी पैदा होती है। उनकी सहज क्रियायें पहले से सुधारात्मक हो जाती है। मस्तिष्क से स्नायुओं के मध्य से भेजे संदेश चुम्बकीय क्षेत्र की सहायता से अच्छी प्रकार पहुँच जाते हैं।

इस प्रकार यह तीनों मूलभूत सिद्धांत एक दूसरे से मिले जुले हैं। इसके सर्वप्रथम अणुओं में विद्युत के कण हट जाने या परस्पर स्थिति परिवर्तन सबसे महत्त्वपूर्ण है बाकी दोनों प्रभाव इसी के परिणाम का प्रतिफल होते हैं। रक्त में बिजली वाले कणों पर चुम्बक का प्रत्यक्ष प्रभाव और अन्य रसायनों पर भी उसका प्रभाव शरीर की क्रियाओं को अच्छा बनाती है। परिणामस्वरूप

(1) रक्त में थक्का नहीं जाता वह बिना अवरोध के नाड़ियों में प्रवाहित होता है।

(2) शरीर के द्रवों का स्राव सुधर जाता है।

(3) थकी कोशिकायें और टिशूज नया जीवन प्राप्त करते हैं।

(4) मस्तिष्क के विभिन्न अंगों तक संदेश का संचार अधिक सुचारुरूप से होता है। मलमूत्र निष्कासन क्रियायें अधिक सुचारुरूप से सम्पन्न होती हैं।

इसी कारण स्वास्थ्य बना रहता है और शरीर के रोग समाप्त हो जाते हैं। हमारा शरीर छोटी-छोटी कोशिकाओं का सम्मिश्रण है शरीर के सभी अंगों का निमार्ण इन्हीं चुम्बकीय कोशिकाओं से हुआ है। प्रत्येक अंग अपना चुम्बकीय क्षेत्र बनाता है, उसकी शक्ति सीमित होती है। शरीर के विभिन्न अंगों में पोटेशियम और सोडियम के कारण अनेक विद्युत धाराएँ प्रवाहित होती हैं, जिनका चुम्बकीय क्षेत्र से अटूट सम्बन्ध होता है। ये क्षेत्र सदा एक समान नहीं रहते हैं। उनमें सदा परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन शरीर की सक्रियता पर निर्भर करता है। स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए इन अंगों के चुम्बकीय क्षेत्र मे संतुलन बनाये रखना नितांत आवश्यक है। चुम्बक रक्त और अन्य द्रव्यों तथा रासायनिक पदार्थों के माध यम से और शरीर में विद्यमान चुम्बकीय क्षेत्र और विद्युत के आवेगों के माध्यम से शरीर की क्रियाओं को ठीक करके स्वास्थ्य प्रदान करते हैं।

XI. चुम्बक का प्रभाव, प्रयोग और उपयोग

चुम्बक के दो ध्रुव होते हैं : उत्तरी और दक्षिणी अब प्रश्न यह उठता है कि जब वे दोनों ध्रुव एक साथ लगाये जाते हैं, तो क्या उनका प्रभाव एक जैसा होता है या भिन्न। पर यह पाया गया कि दोनों ध्रुवों का प्रभाव अलग-अलग होता है। उत्तरी ध्रुव के पानी के प्रभावात्मक रूप में उसमें सारे कीटाणु मर जाते हैं। और यह अधिक समय तक रह सकता है। इसके विपरीत दक्षिण ध्रुव का प्रभाव पानी पर पड़े तो कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं, और उसमे दुर्गन्ध की प्रक्रिया तेज हो जाती है। यह बिजली की घनात्मक और ऋणात्मक धाराओं के प्रभाव के अनुकूल है, घनात्मक बिजली लगाने से उत्तेजना कम होती है। जब कि ऋणात्मक से उत्तेजना तेज होती है। अतः कीटाणु से जो रोग पैदा होते हैं जैसे जोड़ की सूजन, फोड़ा फुन्सी, दाँत की बीमारी, कंठमाला आदि का इलाज उत्तरी ध्रुव से होता है, जबकि दक्षिणी ध्रुव का प्रभाव सभी प्रकार की पीड़ा जैसे स्नायुसूजन से होने वाली पीड़ा, अकड़न, सूजन और सभी प्रकार की दुर्बलतायें कमजोर पाचन शक्ति पेट में वायु हृदय रोग आदि।

चुम्बक लगाने के बारे में दो सिद्धांत प्रचलित हैं। एक समय में शरीर के भाग विशेष पर एक ही ध्रुव के चुम्बक का प्रयोग होता है, पर इसके दूसरे सिद्धांत में शरीर पर चुम्बक के दोनों ध्रुव अलग-अलग एक साथ लगा देते हैं। यद्यपि यदि चुम्बक के दोनों ध्रुव एक साथ लगाने से ही अच्छा प्रतिफल मिलता है। क्योंकि इससे सर्किट पूरा होता है। एक ध्रुव का प्रयोग करने से हो सकता है, कि दूसरा ध्रुव उस सामान्य धारा से कार्य न कर सके, प्रतिफल के रूप में रोग का बढ़ा रूप सामने आ जाता है।

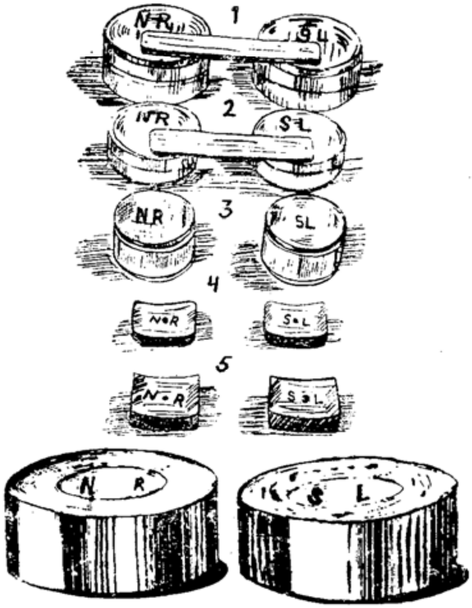
इस प्रकार, दो प्रकार की चिकित्सा की जाती है, एक अंग विशेष पर स्थानीय उपचार दूसरा पूरे शरीर पर यानी सामान्य उपचार। चुम्बक लगाते समय ध्यान रखें कि उस पर कोई दबाव नहीं डाला जाता है।

स्थानीय उपचार पद्धति

इसमें अंग विशेष पर जो भाग रोगग्रस्त है, या पीड़ा ग्रस्त है पर चुम्बक लगा कर रोग दूर करने का प्रयास करते हैं। इसमें यदि रोग कीटाणुओं के कारण हैं, तो उत्तरी ध्रुव पर यदि ऐसा न हो तो दक्षिणी ध्रुव लगाते हैं यदि रोग ग्रस्त अंग पर हाथ लगाने से पीड़ा होती है, सूजन अथवा घाव हो तो चुम्बक का उत्तरी ध्रुव उसके पास ही लगा देते हैं, यदि आवश्यक हो, तो दोनों का प्रयोग साथ-साथ भी कर सकते हैं।

सामान्य उपचार पद्धति

इसका प्रयोग तब करते हैं, जब रोग अंग विशेष पर न रहकर पूरे शरीर में फैल गया हो, तो ऐसी दशा में हथेली और तलवों पर साथ दोनों ध्रुव लगा देते हैं। ऐसा इस कारण करते हैं, क्योंकि हथेलियों और तलवे से मस्तिष्क और हृदय

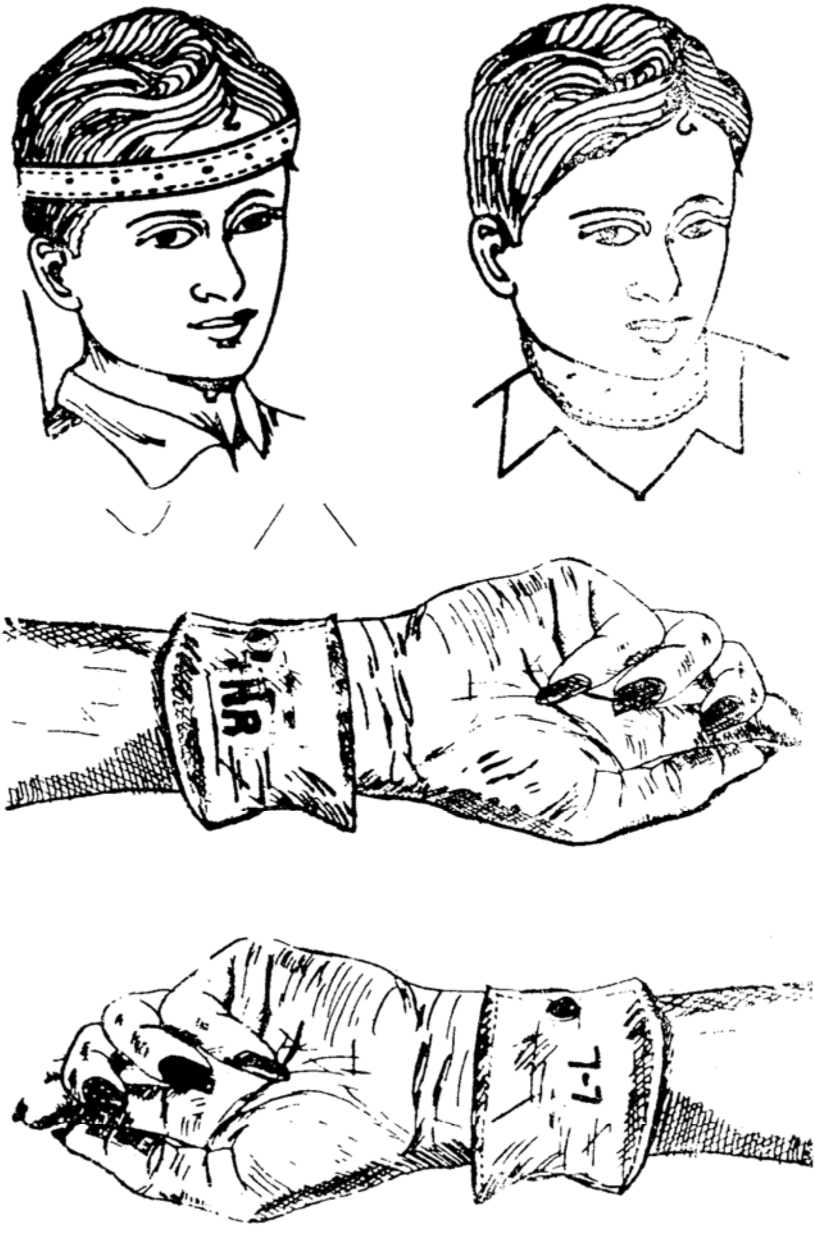


चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाले चुम्बक

से सम्बन्ध होता है और स्नायु और रक्त नाड़ियों के माध्यम से शरीर के अनन्य अंगों से भी सम्बन्धित होते हैं। इस प्रकार हथेली और तलवे के नीचे चुम्बक लगाने से चुम्बक का प्रभाव पूरे शरीर में फैल जाता है।

यदि रोग शरीर के ऊपरी भाग में है, तो चुम्बक दोनों हथेलियों के नीचे, इसके विपरीत यदि रोग नीचे के हिस्से में है, तो चुम्बक तो तलवे के नीचे रखते हैं। वैसे चुम्बक लगाने की अनेक विधियाँ होती हैं, जो आगे बतायी जायेंगी किसी एक का अमल न करके जो लाभदायक होती है, उसका अनुसरण करके हम अधिक से अधिक लाभ दे सकते हैं।

कौन सा ध्रुव लगाना है, इस संदर्भ में पाँच तरह से शरीर के विभिन्न भागों में लगाकर चुम्बक का प्रयोग करते हैं, प्रथम उत्तरी ध्रुव -दायाँ हाथ, दक्षिणी ध्रुव बायाँ हाथ, दूसरा उत्तरी ध्रुव दायाँ हाथ, दक्षिणी ध्रुव बायाँ पैर, तीसरी उत्तरी ध्रुव बायाँ हाथ दक्षिणी ध्रुव बायाँ पैर, चौथी स्थिति में उत्तरी ध्रुव बायाँ हाथ दक्षिणी ध्रुव बायाँ



चुम्बकीय पेटियां

पैर तथा पाँचवी में उत्तरी ध्रुव दायाँ पैर तथा दक्षिणी ध्रुव बायाँ पैर। कभी-कभी हाथ और पैरों पर साथ-साथ भी चुम्बक का प्रयोग करते है यह रोग की विकटता पर निर्भर करता है।

चुम्बक का चुनाव करते समय चिकित्सक को रोग और शरीर के उस अंग की आवश्यकता को ध्यान में रखना चाहिए। आजकल गोलाकार, नेत्रों के लिए चश्मा, बेलनाकार, अर्द्धचन्द्राकार, न जाने कितने रूपों में चुम्बक मिलते हैं।

ध्यान में रखना चाहिये दोनों ध्रुवों का प्रयोग अलग-अलग और सामान्यतयाः एक साथ करना पड़ता है। हथेलियों और तलवों के नीचे शक्तिशाली चुम्बकों की आवश्यकता होती है, जबकि कनपटी आँख, कान, सिर कलाई आदि पर कम शक्ति के चुम्बकों का प्रयोग लाभदायक सिद्ध होता है। 10 कि०ग्राम लोहे को उठाने वाले चुम्बक वयस्कों के लिए, मध्यम शक्ति के 5 कि०ग्रा० लोहा उठाने वाले चुम्बक 16 वर्ष तक की आयु के लिए तथा दो पौंड लोहा सभी उठाने के लिए होते हैं। फिर भी इसका प्रयोग बिना सोचे समझे न ही शुरू करना चाहिये और न ही बन्द कर देना चाहिये।

XII. चुम्बक चिकित्सा में सावधानियाँ

चुम्बक चिकित्सा देते समय कुछ बातों का ध्यान रखना परम आवश्यक होता है इसके अभाव में हम चिकित्सा के क्षेत्र में चुम्बक का सफलतापूर्वक प्रयोग नहीं कर सकते हैं। यह सावधानियां निम्न हैं :-

(1) चुम्बक चिकित्सा का सबसे अच्छा समय प्रातः काल का होता है। प्रातः स्नान के बाद चुम्बक लगवाये उसके बाद नाश्ता लें।

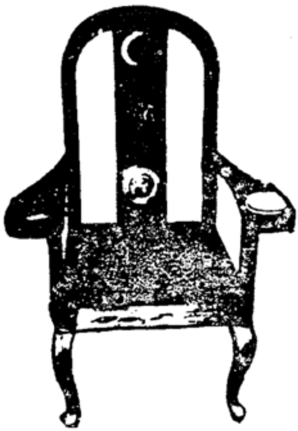
(2) अधिक शक्तिशाली चुम्बक के प्रयोग के बाद घन्टे भर तक कुछ नहीं खाना चाहिए।

(3) चुम्बक चिकित्सा से चूँकि शरीर में गर्मी उत्पन्न होती है अतः इसके एक घन्टे बाद नहाना नहीं चाहिए, न ही वर्षा में भीगना चाहिए।

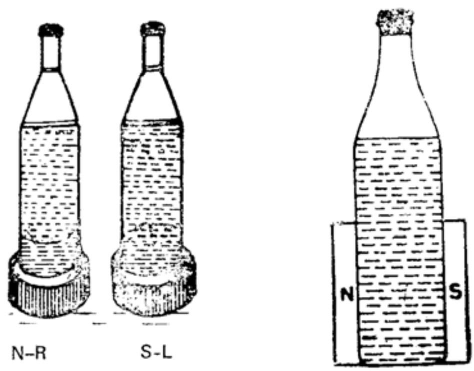
(4) खाना खाने के तुरन्त बाद अधिक या मध्यम शक्ति के चुम्बक नहीं लगवाने चाहिये। पर हल्का नाश्ता लेने के बाद चुम्बक लगाने में हानि नहीं होती है।

(5) अधिक शक्ति के चुम्बक कमजोर महिलाओं, बच्चों तथा गर्भवती स्त्रियों को नहीं लगाने चाहिये साथ ही इनका प्रयोग शरीर के कोमल अंगों जैसे मस्तिष्क और हृदय पर नहीं करना चाहिये।

(6) सामान्यतया चुम्बक चिकित्सा का कोई अप्रिय प्रभाव नहीं पड़ता है, पर ऊँची शक्ति के चुम्बक लगाने से सिर में भारीपन, नींद आना, जम्हाई आना, और सनसनाहट आदि लक्षण अनुभव हो सकते हैं,ऐसी अवस्था में चुम्बक का प्रयोग बन्द कर देना चाहिए।



चुम्बकीय कुर्सी- *इसमें चार शक्तिशाली चुम्बक लगे होते हैं। इसका प्रयोग गर्दन में बल पड़ने (स्पोंडेलाइटस), रीढ़ के रोगों और पीठ दर्द के लिए किया जाता है।*



चुम्बकीय पानी- *इससे अधिक भूख लगने लगती है और पाचन शक्ति बढ़ती है। मूत्र अधिक आता है और गुर्दों की पथरी टूट कर निकल जाती है।*

XIII. चुम्बक का समय

इस संदर्भ में कोई एक निश्चित नियम नहीं है, कि कितने समय के लिए चुम्बक लगाना चाहिये, इसका निर्णय रोग विशेष, रोगी, उसकी सहनशीलता और चुम्बक के शक्ति को देखते हुये, करना चाहिए। सामान्यतया समय-समय पर होने वाले सामान्य रोगों में कम से कम समय तक चुम्बक लगाना ही काफी होता है। पर पुराने रोगों में जैसे हड्डी के जोड़ों की सूजन, पक्षाघात और एग्जीमा में अधिक समय तक चुम्बक लगाने पर ही अपना प्रभाव दिखाता है। सामान्यतया एक बार ही चुम्बक लगाते हैं पर पुराने रोगों में सुबह शाम दोनों समय यह चिकित्सा दी जाती है। यदि रोगी दुर्बल है, तो उसे 5मि० का ही चुम्बक देंगे, इसके विपरीत होने पर भी समय धीरे-धीरे बढ़ाया जाता है। विभिन्न व्यक्तियों पर चुम्बक का प्रभाव अलग-अलग पड़ता है। छोटे बच्चों पर अधिक शक्तिशाली चुम्बकों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

साधारण परिस्थितियों में चुम्बक चिकित्सा में चुम्बक का प्रयोग केवल दस मिनट तक ही करना चाहिए, रोगी की दशा को देखते हुए, इसे 20 मिनट तक बढ़ा सकते हैं। जोड़ों के दर्द सूजन और पक्षाघात में यह समय 30 मि० का दिन में दो बार कर सकते हैं।

चुम्बक चिकित्सा की अवधि के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि यह कई दिनों सप्ताह तथा महीनों तक चल सकती है। रोग पूरी तरह से दूर हो जायें, तो भी रोगी की सहनशक्ति के अनुसार उपयुक्त समय तक प्रतिदिन चुम्बक का प्रयोग करते रहना चाहिये। यद्यपि इसके प्रयोग से बदलते मौसम के कारण खान-पान में अनियमितता के कारण उत्पन्न विकार दूर करने के लिए रोगी के दोनों तलवे और हथेलियों के नीचे जस्ते की चादर पर चुम्बक रखने चाहिये। यदि चुम्बक लगाने से रोग बढ़ जाता है, तो उसकी विरोधी स्थिति में रख देने से रोगी प्रथम स्थिति में आ जाता है। रोग घटने की अवस्था में भी पहुँच सकता है।

(9) विरोधी ध्रुवों को पास-पास लाते समय अपने हाथ का बचाव अवश्य करना चाहिये।

(10) जब हथेली के नीचे चुम्बक रखे तो लोहे की कोई भी वस्तु शरीर से स्पर्श न हो, साथ ही शरीर का कोई भी अंग फर्श पर या दीवार से स्पर्श नहीं करना चाहिये। और तलवों के नीचे प्लास्टिक या लकड़ी का पट्टा रख देना चाहिये।

XIV. चुम्बक : पानी और अन्य द्रव्य

चुम्बक चिकित्सा में चुम्बकत्व को पानी और अन्य द्रव्यों में लाकर उसका चिकित्सकीय क्षेत्र और व्यापक हो जाता है। इसके द्वारा तैयार किया गया पानी रस, तथा तैल पीने तथा मालिश में प्रयोग करने से चमत्कारी परिवर्तन होते हैं।

चुम्बकत्व पानी

जब पानी का सम्पर्क चुम्बक से होता है तो उसमें रोग को दूर करने की असीम क्षमता आ जाती है। इसका प्राकृतिक रूप बदल जाता है। पानी से तापमान, गाढ़ापन, तनाव और बिजली संवहन की क्षमता बदल जाती है, और उसमें रासायनिक परिवर्तन हो जाते हैं।

प्राचीनकाल में अनेक झरने कई चुम्बक की चट्टानों से गुजरते थे, उनके पानी में चुम्बकत्व आ जाता था, उसके पानी को पीने से रोग दूर हो जाते थे, तो लोग इसको चमत्कार स्वरुप मान लेते थे, पर इसका मूल कारण चुम्बकत्वयुक्त पानी होता था।

आजकल मानव ने स्थायी चुम्बक बनाना सीख लिया है, उनकी सहायता से पानी में चुम्बक का तत्त्व लाया जाता है।

द्रव्यों में चुम्बकत्व

जब पानी तथा अन्य द्रव्यों में चुम्बकत्व लाना होता है, तो उसको एक विशेष अवधि तक चुम्बक के सम्पर्क में रखना चाहिए। इससे उसके गुण में परिवर्तन आ जाता है। द्रव्यों में चुम्बकत्व निम्न विधियों द्वारा लाते है।

प्रथम चुम्बक को खाली बर्तन पर लटका देते हैं। चुम्बक से पतली धार पानी की गिराते हैं, और वह पानी या द्रव्य वर्तन में एकत्र हो जाता है। यह प्राकृतिक तरीका है। पर इससे पानी या द्रव्य में चुम्बकत्व बहुत कम मात्रा में आ पाता है, तथा दूसरा चुम्बक के पानी के सम्पर्क में आने से उसमें जंग लग जाने की सम्भावना रहती है।

दूसरी विधि में चुम्बक को पानी या द्रव्य में डालकर छह या आठ घन्टे के बाद उसको बाहर निकाल लेते हैं, पर यह भी तरीका त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि चुम्बक में जंग लग जाना स्वाभाविक है, साथ ही जो चुम्बक में दूध या रस में प्रयोग करते हैं, उसे पानी में नहीं कर सकते हैं। साथ ही उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के अलग-अलग पानी या अन्य द्रव्य तैयार नहीं कर सकते हैं।

तीसरी विधि जो सबसे सरल एवं सुविधाजनक है, इसमें द्रव को ग्लासं या शीसे की शीशी में भर कर दोनों ध्रुवों पर रख देते हैं। इसमें चुम्बक में जंग लाने का भय नहीं रहता और सरल तथा आसान विधि है।

चुम्बकत्व को द्रव्य में प्रवेश करने के बाद दो प्रश्न अपने आप सामने आते हैं। यह प्रथम है कि उस पानी या द्रव्य में चुम्बकत्व की मात्रा कितनी है दूसरी यह भी दोनों में से एक ध्रुव के पानी से इलाज भली प्रकार होता है या दोनों से। पानी में चुम्बकत्व को प्रभाव कहाँ तक हुआ इसका निर्धारण आज तक सम्भव नहीं हो पाया है।

अध्याय-18

मालिश चिकित्सा

मालिश चिकित्सा पद्धति प्राचीनतम पद्धति है जिसके द्वारा शारीरिक कष्टों को दूर किया जाता रहा है। यदि हम इतिहास के पन्ने पलटें तो ज्ञात होता है कि आदिकाल से ही दूसरों को आराम, विश्राम तथा कष्ट निवारण हेतु हाथों का शरीर से स्पर्श करने की कला का उपयोग होता आया है। स्पर्श करने से न केवल सौहार्द, प्रेम, आत्मीयता तथा सन्निकट्ता का परिचय होता है, अपितु एक प्रकार की शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक ऊर्जा का परस्पर मिलन होता है, जो मनोवैज्ञानिक स्तर पर अचेतन मन को प्रभावित करते हैं तथा एक दूसरे के अनुकूल प्रवृत्तियों का निर्माण होता है। यह सम्प्रेषण का सरल तरीका है। इस तरीके को चिकित्सा के कार्य में जब लाया जाता है, तो उसे मालिश कहते हैं। शरीर के सभी अंगों की सुरक्षा का कार्य त्वचा करती है। इसके द्वारा ही अधिकांश संवेदनायें होती हैं। भ्रूण ;म्उइतलवद्ध में सबसे पहले स्पर्श ;ज्वनबीद्ध की संवेदना होती है। चिकित्सा की अनेक वैज्ञानिक पद्धतियों के विकसित होने के बावजूद भी आकस्मिक मृत्यु से बचाने का मालिश ही एक तरीका अब भी उपयोग में लाया जाता है। जब श्वास रुक जाती है, या हृदय गति रुक जाती है, तो मालिश के द्वारा ही पहले उपचार शुरू किया जाता है उसके बाद अन्य तरीकों का इस्तेमाल होता है। सभी प्रकार के चिकित्सीय उपागमों में मालिश का किसी न किसी रूप में प्रयोग सदैव से होता रहा है, और आज भी होता है। आयुर्वेद में मालिश के अनेक शारीरिक लाभों का वर्णन मिलता है। सुश्रुत तथा अन्य भारतीय चिकित्सकीय ग्रंथों में अनेक प्रकार की मालिश तथा उसकी प्रयोग विधि का वर्णन मिलता है। आयुर्वेद के अनुसार वात, पित्त तथा कफ संतुलन होना शारीरिक स्वस्थता के लिए आवश्यक है। जीवनीशक्ति जिसे ''प्राण'' कहा जाता है बात के रूप में शरीर में व्याप्त रहती है जो पित्त तथा क्रोध के कार्यों को प्रभावित करती है। यदि बात सामान्य अवस्था में है, तो पित्त तथा कफ भी प्रायः सामान्य रहते हैं। मसाज के द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों के वात की स्थिति को सामान्य रखा जाता है।

शरीर विज्ञान की दृष्टि से स्पर्श तथा मालिश से रक्त तथा लसीका ;स्लउचीद्ध के संचार में सहायता मिलती है। स्पर्श से रक्तभार ;ठसववक च्तमेेनतमद्ध तथा हृदयगति कम होती है, स्नायुतंत्रुओं को विश्राम मिलता है, तनाव में कमी आती है,

पानी या द्रव्य में चुम्बकत्व को मात्रा का सम्बन्ध तीन बातों पर निर्भर है। प्रथम चुम्बक पर द्रव्य की रखी गयी मात्रा दूसरा चुम्बक की शक्ति तथा तीसरा वह समय जब तक वह द्रव्य चुम्बक के सम्पर्क में रहा। इन तीनों से द्रव्य में चुम्बक की मात्रा का निर्धारण होता है। इसके पीछे कोई वैज्ञानिक कसौटी नहीं है। इसको अनुभव के आधार पर ही प्रयोग करते हैं।

तीन प्रकार के द्रव्य

चुम्बक से तीन प्रकार के द्रव्य तैयार किये जाते हैं। एक में उत्तरी ध्रुव के गुण हों दूसरे में दक्षिणी ध्रुव के गुण हों तथा तीसरे में दोनों ध्रुवों के गुण विद्यमान हैं।

अन्य द्रव्यों में फलों का रस, दूध, अनेक तैल जैसे नारियल , जैतून तिल आदि। चुम्बक का तेल के रूप में प्रयोग बाल गिरने, गठिया, चर्मरोगों एवं सूजन आदि में बहुत लाभप्रद सिद्ध हुआ है। चुम्बक का पानी काफी लाभप्रद सिद्ध होता है विशेषकर पाचन रोगों, मूत्र रोगों एवं स्नायु रोगों में बहुत गुणकारी सिद्ध होता है।

चुम्बकत्व की प्रक्रिया

दो गोल चुम्बक जिनका 8 से 10 सेoमीo हो तथा शक्ति 3000 गौस हो तथा एक का उत्तरी तथा एक का दक्षिणी ध्रुव खुला हो अब दो शीशे ग्लास का या काँच की बोतलों में से पानी भर लें उसमें दोनों के खुले भाग पर पानी रख दें, जितने समय के पानी की आवश्यकता हो, उतना तैयार करके रोगी को देते हैं। इसी तरह अन्य द्रव्य भी तैयार करते हैं और उनका उपयोग करते हैं।

चुम्बकत्व चिकित्सा द्वारा शरीर की विभिन्न व्यवस्थाओं जैसे रक्त संचार, स्नायु व्यवस्था, पाचन क्रिया, श्वांस संस्थान, मलमूत्र तथा प्रजनन संस्थान को नियमित करके रोगों का उपचार करती है। अगर ये सभी संस्थान नियमित रूप से अन्यत्र कार्य सम्पन्न करते हैं तो मानव को कोई आन्तरिक रोग नहीं होता है।

प्रत्येक रोग या विकार किसी न किसी संस्थान से सम्बन्धित होता है, चूँकि चुम्बक चिकित्सा सभी विकारों को दूर कर सकती है, अतः यह सभी रोगों में संफलता पूर्वक प्रयोग की जा सकती है।

स्वास्थ्य की अवधि

प्रत्येक रोगी को चाहे रोग कोई भी क्यों न हो इलाज का समय और स्वास्थ्य लाभ की अवधि भिन्न -भिन्न हो सकती है। रोग दूर होने के समय की भिन्नता कई बातों पर निर्भर करती है :-

(1) रोग का स्वरूप,

(2) बीमारी की अवधि,

(3) रोगी की आयु,

(4) जलवायु,

(5) खान-पान की आदतें,

(6) शरीर का गठन,

(7) चुम्बक चिकित्सा के प्रति शरीर की प्रक्रिया,

चुम्बक चिकित्सा के प्रति शरीर की प्रक्रिया निम्न रूप में दृष्टिगोचर होती है।

(1) हड्डी की सूजन, गर्दन की अकड़न, पोलियो और पक्षाघात जैसे रोगों में दूसरी चिकित्सा पद्धति से इस पद्धति द्वारा रोगी शीघ्र लाभ प्राप्त करता है।

(2) रोग की अवधि पर भी स्वास्थ्य लाभ निर्भर करता है यदि रोग एक या दो सप्ताह से है तो जल्दी, महीने भर से तो कुछ अधिक समय, यदि सालों पुराना है तो उससे ज्यादा समय लगने की सम्भावना होती है।

(3) आयु का भी एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। एक 30-35 साल का युवक और उससे दुगने आयु के वृद्ध में चिकित्सा की अवधि में अन्तर हो जाता है।

(4) जलवायु का भी प्रभाव पड़ता है, कुछ रोग वर्षा वाले या ठन्डे प्रदेश में अधिक होते हैं वहाँ विकट रूप धारण कर लेते हैं जैसे सभी प्रकार की पीड़ा, दमा, श्वांस नली की सूजन आदि। सामान्यतया गर्मी के मौसम में ये रोग नहीं होते हैं, यदि हो भी जाते है, तो शीघ्र ही ठीक भी हो जाते हैं।

(5) खान पान की आदतें भी रोग को बढ़ावा देती है, जैसे सर्दी के दिनों में ठन्डी चीजें जैसे बरफ, दही आदि हानिकारक होते हैं इसी प्रकार गर्मी में चाय काफी आदि हानिकारक होते हैं इन वस्तुओं को हमें बचाना चाहिये।

(6) कुछ व्यक्ति स्वाभाविक रूप से नम होते हैं। इसके विपरीत कुछ लोग खुश्क होते हैं। नम स्वभाव वाले बरसात के दिनों में रोगी रहते हैं। इसके विपरीत के व्यक्ति गरमी में बीमारी से पीड़ित हो तो बीमारी मुश्किल से पीछा छोड़ती है।

(7) हर प्रकार के स्वभाव पर उपचार की प्रतिक्रिया भिन्न होती है। कुछ लोग ऊँची शक्ति के चुम्बक दो मिनट भी सहन नहीं कर पाते हैं। इसके विपरीत कुछ को 30 मि0 तक भी चुम्बक लगाने से कोई पता नहीं चलता है।

यद्यपि बीमारी के बाद स्वास्थ्य लाभ की अवधि बताना एक कठिन कार्य है फिर भी एक महीने की बीमारी एक सप्ताह में, कुछ वर्षों की बीमारी मे एक महीना, तथा 10 या 15 वर्ष की बीमारी में और भी अधिक समय लग सकता है।

जब रोगी की दशा में सुधार आने लगे तो चिकित्सक और रोगी को धैर्यपूर्वक उसका अनुसरण करते हुए रोग को दूर करना चाहिए।

चुम्बक-जैवकी बड़ा महत्वपूर्ण विज्ञान है जिसका चिकित्सा विज्ञान पर बहुत प्रभाव पड़ा है। बीमारी को रोकने, उसे दूर करने और मानव जीवन की रक्षा में इस चिकित्सा का बड़ा योगदान रहेगा। चुम्बक चिकित्सा में औषधि का प्रयोग नहीं होता है, यह चिकित्सा प्राकृतिक नियमों पर आधारित होती है। यह चिकित्सा का आसान और सस्ता इलाज है। इस चिकित्सा के द्वारा समय की बचत होती है चुम्बक चिकित्सा के द्वारा स्वास्थ्य बनाये रखते हैं। चुम्बक के प्रयोग का शरीर पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है। चुम्बक का काफी लम्बे समय तक प्रयोग करने से थकान आ सकती है तथा हो सकता है पेशाब अधिक होने लगे पर जब चुम्बक चिकित्सा कुछ समय के लिए बन्द कर देते हैं तो इसका प्रभाव दूर हो जाता है।

●●●

तथा पूरे शरीर को विश्राम मिलता है। यही कारण है कि मालिश चिकित्सा पद्धति जो कि प्राकृतिक चिकित्सा स्वरूप लिये हुये है, प्राकृतिक चिकित्सा में सम्मिलित किया गया है।

I. मालिश चिकित्सा का अर्थ तथा परिभाषा

मालिश शब्द इतना सामान्य एवं प्रचलित शब्द है, जिसके विषय में सभी लोग परिचित है, लेकिन वैज्ञानिक रूप से मालिश शब्द को समझना तथा उसकी उपयोगिता का ज्ञान प्राप्त करना प्राकृतिक चिकित्सक के लिए आवश्यक हो जाता है।

मालिश कष्ट निवारण अंगों को स्वाभाविक स्वरूप देने, ऊतकों में पुर्न ऊर्जा लाने तथा सभी आंतरिक अंगों को सही करने की सभी चिकित्सकीय प्रविधियों में प्राचीनतम प्रविधि है।[1]

मालिश एक ऐसा शब्द है जो सामूहिक स्तर पर व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक रूप से शारीरिक ऊतकों के प्रबन्ध कौशल के महत्त्व को दर्शाता है जो कि हाथों के माध्यम से भली प्रकार स्नायुतंत्रों, माँसपेशियों तथा सामान्य रक्तसंचार को प्रभावित करने के लिए सम्पन्न किया जाता है।[2]

शरीर, मन तथा संवेग इन तीनों का समन्वय ही स्वास्थ्य है। किसी प्रकार की स्पर्श चिकित्सा प्रविधि में न केवल शरीर के शारीरिक तत्त्व का उपचार करते हैं, बल्कि व्यक्तियों के शरीर के सूक्ष्मतर ';नइजसमद्ध अदृश्य तत्त्वों को भी प्रभावित करते हैं तथा ऊर्जा के संचारण की सामान्यता को पुनः प्राप्त करते हैं।

इन परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि मालिश चिकित्सा प्राकृतिक चिकित्सा की एक प्रणाली है, जिसके माध्यम से शरीर की माँसपेशियों तथा संधियों पर दबाव डालकर विजातीय तत्त्वों को रक्त परिभ्रमण के माध्यम से शरीर से बाहर करके रोगी का उपचार किया जाता है।[3]

1- Massage is the oldest of all techniques for relieving pain, shaping the organs, regenerating the tissues and correcting all internal functions.
Govindan, S.V. Techniques of Massage, Sarva Seva Sangh Prakashan, Varanasi, 1992, Preface, P.II

2- Massage is a term which is used to signify a group of system atic and scientific manipulation of bodily tissues which are best performed with the hands for the purpose of affecting the nerves and muscular systems and the general circulation.
Jussawala, J.M. Op. Cit. P.41

3- Massage is a method of natupathy through which pressurizing the muscles and joints and excreting morbid matter by the pro- cess of blood circulation, treatment of patient is made possible.

II. मालिश का महत्त्व

सभी जीवित प्राणी जन्म के प्रारम्भ से ही मालिश का उपयोग करते आ रहे हैं। पशु पक्षी तथा मानव अपने बच्चों की देख-रेख लालन-पालन, तथा स्वास्थ्य रक्षा में मालिश का उपयोग करते हैं। क्योंकि मालिश से जहाँ एक ओर सुगठित शरीर बनता है वहीं दूंसरी ओर परस्पर आत्मीयता का संचार होता है। चिकित्सकीय मालिश से निम्न लाभ होते हैं–

1. पाचन तंत्र सामान्य रहता है तथा उसका संवर्धन भी होता है।
2. अस्थियों में शक्ति आती हैं।
3. कंधे, गर्दन, मेरुदण्ड, पीठ, रुधिर नलिकायें स्नायु सभी को अतिरिक्त बल प्राप्त होता है।
4. स्नायुओं को उत्तेजना प्राप्त होती है, तथा वे सक्रिय होते हैं।
5. रक्त तथा लसीका (Lymph) संचार में वृद्धि होती है।
6. पसीने तथा पेशाब के द्वारा विजातीय पदार्थ शरीर से बाहर निकल जाता है।
7. त्वचा के कार्य में वृद्धि होती है।
8. आंतरिक अंगों से ऊपरीय भाग में रक्त संचारित होता है।
9. पक्षाघात, पोलियो, सिर दर्द तक इससे ठीक किया जा सकता है।
10. माँसपेशियाँ सुदृढ़ होती हैं।
11. सूजन कम होती हैं।
12. जीवनीशक्ति में वृद्धि होती है।
13. मालिश से रक्त भार तथा हृदय गति को भी कम किया जा सकता है।
14. मालिश से इन्डोरफीन्स (Endorphins) (मस्तिष्क का टॉनिक) की वृद्धि करता है जो कि प्राकृतिक कष्ट निवारण (Pain Killer) का काम करता है।

III. मालिश के नियम

शरीर का रगड़ना अथवा घर्षण करना मालिश चिकित्सा नहीं है। इसके कुछ नियम है, जिनका पालन करना आवश्यक है :

(1) मालिश करने वाले को शाँत स्वभाव, एवं प्रसन्न चित्त होना चाहिए। इसका प्रभाव इसकी मालिश चिकित्सा पद्धति पर पड़ता है तथा उसके माध्यम से रोगी तक पहुँचता है। यदि उसके मन में कोई द्वन्द्व है अथवा अस्थिरता है, तो वह अपना कार्य लगाव के साथ नहीं कर सकता है।

(2) मालिश करने वाले का हृदय निर्मल होना चाहिये। उसके कोई स्वार्थ की भावना नहीं होनी चाहिए। रोगी पर चिकित्सकीय प्रभाव उस समय शीघ्र देखने में आता है, जब उसके साथ निःस्वार्थभाव से मालिश की जाती हैं।

(3) मालिश करने का स्थान खुला तथा हवादार हो जहाँ पर्याप्त ताजी हवा आती हो। जाड़े के दिनों में कमरा गर्म हो तथा गर्मियों में ठंडा होना चाहिये। यदि मालिश सूर्य की धूप में होती है, तो प्रातःकाल की धूप सुविधाजनक होनी चाहिये।

(4) मालिश जमीन पर चटाई बिछाकर या तख्त पर करनी चाहिए, परन्तु तख्त पर एक चादर हो जो हर बार बदल दी जाय। अर्थात प्रत्येक रोगी के लिए पृथक-पृथक चादर का उपयोग होना आवश्यक है।

(5) रोगी को स्वतः मालिश करने को प्रोत्साहित किया जाय।

(6) गर्दन तथा सिर की मालिश रोगी को बिठाकर करनी चाहिए।

(7) सामान्य रूप से ऊष्ण मालिश पावों के तलवों से प्रारम्भ करके हृदय तथा सिर की ओर लाते हैं, इससे शिरायें (Veins) सक्रिय होती है, उन्हें अतिरिक्त शक्ति मिलती है, रक्त तेजी से हृदय को जाता है जहाँ उसका शुद्धिकरण होता है।

(8) जिन रोगियों को आँत का अल्सर हो, उनके उदरीय मालिश नहीं करनी चाहिए।

(9) मालिश में अस्थियों पर अधिक दबाव नहीं पड़ना चाहिए, केवल मॉसपेशियों पर दबाव डाला जाता है।

(10)ठंडी मालिश सिर से पाँवों की ओर करनी चाहिये। इसका प्रभाव धमनियों पर पड़ता है।

(11)मालिश धीरे-धीरे परन्तु दबाव के साथ की जाती है। रोगी की दशा को देखकर दबाव डाला जाना चाहिये।

(12)सामान्य रूप से मालिश का समय 30 मिनट से 45 मिनट तक होता है, लेकिन रोगी की दशा को तथा मालिश की विधि के अनुरूप समय निर्धारित किया जाता है।

(13)मालिश के दौरान रोगी को प्रसन्नचित्त रखने का प्रयास होना चाहिए। उसे किसी प्रकार का भय नहीं लगना चाहिए।

(14)मालिश करने के लिए अनेक प्रकार के तेल उपयोग मे लाते है। टेलकम पाउडर भी उपयोगी होता है।

(15) मालिश करने वाला व्यक्ति स्वस्थ हो। उसे किसी प्रकार का शारीरिक रोग विशेष कर स्वसन या त्वचा सम्बन्धी रोग न हो, नहीं तो रोगी को भी हो जाने का खतरा रहता है।

(16)मालिश करने वाले को अपनी सुरक्षा के लिए सफाई का पूरा ध्यान रखना चाहिये।

(17)मालिश करने वाले की हथेलियाँ गर्म होनी चाहिये।

(18)जाड़े के दिनों में सावधानियाँ बरतनी आवश्यक होती हैं, नहीं तो रोगी को ठंड लग सकती है। अतः रोगी को शरीर का अन्य हिस्सा ढ्का रहना चाहिये।

(19)जाड़े के पश्चात ठंडे जल से स्नान करना लाभकारी होता है, लेकिन रोगी को गुनगुने पानी से स्नान करना चाहिये। अथवा गीली तौलिया से सारे शरीर की रगड़ाई करनी चाहिये।

(20)स्नान करने के बाद 10 मिनट तक शरीर ढ्ककर लेट जाना चाहिये। तथा उसके पश्चात सूक्ष्म जलपान करना उचित होता है।

(21)अनिद्रा तथा कमजोरी में पाउडर से मालिश सोने के पहले करने से नींद आ जाती है।

(22)पेट पर मालिश तभी करनी चाहिये जब पेट खाली हो।

(23)प्रत्येक मालिश के बाद मालिश करने वाले को अपने हाथ साबुन से या मिट्‌टी से धो डालने चाहिये। कपड़े भी यदि बदल जाते है, अथवा एप्रिन बदल दे तो अति उत्तम है। इससे रोगाणु संक्रमित नहीं होते हैं।

(24)महिलाओं की गर्भावस्था में मालिश पेट के अतिरिक्त सभी अंगों की ज़ा सकती है।

(25) पेट पर मालिश करने से पहले प्राणायाम कराने से दोहरा लाभ होता है।

IV. मालिश के प्रकारः

मालिश के निम्नलिखित प्रकार के है :-

1. तेल मालिश। (Oil massage)
2. सूखी मालिश। (Dry massage)
3. पाँव की मालिश। (Massage With feet)
4. ठंडी मालिश। (Cold massage)
5. गर्म-ठंडी मालिश। (Hot-Cold Massage)
6. पाउडर की मालिश। (Massage with talcum Powder)
7. बिजली से मालिश। (Massage with electrical Equipment)

तेल मालिश

साधारणतयः सरसों का तेल या नारियल का तेल मालिश के काम में लाया जाता है। लेकिन रोगों के अनुसार तेल का प्रकार निर्धारित करना होता है। कमजोर रोगियों को जैतून का तेल लाभकारी होता है। गठिया, जोड़ों का दर्द, तथा साइटिका में महानारायण तेल अथवा लाल रंग की सूर्य किरणों से तृप्त सरसों, नारियल या जैतून का तेल उपयोग में लाया जाता है। सिर दर्द में कद्‌दू रोगन, बादाम रोगन अथवा हल्के नीले रंग की सूर्य किरणों से तैयार तेल का उपयोग होता

है। नाड़ी दुर्बलता, लैंगिक कमजोरी तथा शरीर में अधिक गर्मी होने पर नीले रंग की बोतल का तेल उपयोग में लाते हैं। चर्म रोगों में हरे रंग का तेल लाभप्रद होता है।

तेल मालिश की विधियाँ

तेल मालिश के लिए निम्नलिखित विधियाँ हैं

1. तालीय हाथ गति मालिश (Effleurage)

मालिश सदैव हृदय की ओर आगे बढ़ती है क्योंकि यहाँ पर रक्त का शुद्धिकरण होता है और शिरायें आक्सीजनविहीन रक्त लाती हैं। जिस अंग में मालिश देनी होती है उसकी रचना के अनुसार मालिश करने वाला अपने हाथों को ढीला करके ताल गति से हल्की दबावकारी ठोकर देते हुये मालिश करता है। जिस अंग की मालिश की जाती है, उस अंग के आरम्भिक स्थान से हाथ चलाने की गति एक रखी जाती है। यह क्रियाविधि शिराओं को उत्तेजित कर रक्त संचार की गति को तेज करती है। विजातीये तत्त्व, मृत अथवा मृत प्राय कोषाणु रक्त में मिलकर शिराओं द्वारा हृदय में आते हैं, फिर उनका शुद्धिकरण हो जाता है। इस विधि से माँसपेशियों की ऐठन, चोट की सूजन, नाड़ियों की उत्तेजना कम होती है।

2. थपकी (Stroking)

हाथों के पंजों तथा हथेलियों को थोड़ा मोड़कर इच्छित अंग पर थपकी देते हैं, हाथों को ढीला रखते हैं, जिससे रोगी को चोट न लगे। इस विधि का उपयोग पीठ पर ऊपर से नीचे की ओर अंगों में नाड़ियों के समानान्तर पेट पर गोलाकार बड़ी आंत पर दायें से बायें की ओर होता है। इस विधि से शरीर को विश्राम मिलता है, थकावट दूर होती है, माँसपेशियों का तनाव कम होता है, आमाशय, यकृत, फेफड़ा तथा आँतों को लाभ होता है। उच्च रक्तचाप तथा अनिद्रा में इस विधि से विशेष लाभ मिलता है।

3. मसलना (Petrissage)

इस विधि में रोगी की माँसपेशियों को मालिश करने वाला अपनी अँगुलियों और अँगूठे में पकड़कर मसलता है, लेकिन इस प्रकार करने में रोगी को पीड़ा का अनुभव नहीं होना चाहिएं। जिस अंग पर मालिश करनी होती है वहाँ से प्रारम्भ होने वाली माँसपेशियों को हड्डी के ऊपर से उठाकर मसलते हुये हृदय की ओर ले जाते हैं। इस विधि का प्रभाव माँसपेशियों पर अधिक पड़ता है। माँसपेशियाँ सबल होती हैं तथा रक्त संचारित तीव्र गति से होता है।

4. गूँथना अथवा मसलना (Kneeding)

मालिश की यह विधि विशेष कर पीठ, कमर तथा नितम्बों पर उपयोग में लायी जाती हैं। रोगी को पेट के बल लिटाते हैं, उस पर अपने हाथों का दबाव रोगी

की शारीरिक स्थिति के अनुसार डालते हैं। यह कार्य हथेलियों के गद्दे वाले भाग से किया जाता है। कमर से प्रारम्भ करके गर्दन तक दोनों हथेलियों से रीढ़ के दोनों ओर मसलते हुये आगे बढ़ते हैं। इसी प्रकार ऊपर से नीचे की ओर मेरुदण्ड पर तथा उसके इधर-उधर मसलते हुये आते हैं। इस क्रिया विधि से मोटापा कम होता है, बातरोग में लाभ होता है तथा नसों व नाड़ियों के विकार दूर होते हैं।

5. घर्षण (Friction)

इस क्रियाविधि में मालिश करने वाला अपनी अँगुलियों को खुली रखकर हाथों से जल्दी -जल्दी रोगी के अंगों को नीचे से ऊपर रगड़ देते हुये हृदय की ओर बढ़ता है। रोगी के शरीर पर पहले हाथों का दबाव डालते हैं, फिर एक जोड़ से दूसरे जोड़ तक नीचे से ऊपर को रगड़ते हैं। उदाहरण के लिए यदि पीठ की मालिश हो रही है, तो कमर से कंधे तक घर्षण देते हैं। इस क्रिया विधि से ग्रन्थियाँ कार्यशील होती हैं, त्वचा पुष्ट होती है, जोड़ों की सूजन कम होती है, शुद्ध रक्त का संचार होता है, जोड़ों के दर्द में विशेष लाभकारी है।

6. मरोड़ना (Wringing)

इस मालिश की विधि में मालिश करने वाला अपने दोनों हाथों की अँगुलियों से गोलाकार शक्ल बनाते हैं, फिर रोगो की वहाँ पर टाँगों का दोनों हाथों से कसकर पकड़कर माँसपेशियों पर दबाव डालते हुये गोलाई, के साथ धुमाते हुये ऊपर की ओर बढ़ते हैं। हाथों का दबाव केवल माँसपेशियों पर ही पड़ना चाहिये। यह क्रिया एक साथ एक जोड़ से दूसरे जोड़ तक की जाती है। उदाहरण के लिए टखनों से घुटनों तक, घुटनों से जाँघों तक, कलाई से कुहनी तक तथा कोहनी से कंधे तक। यह क्रियाविधि हाथों तथा पांवों से ही सम्भव है। इस विधि से नस व नाड़ियों में चेतना आती है, रक्त संचार बढ़ता है तथा माँसपेशियों में शिथिलता आती है।

7. रोलिंग (Rolling)

इस मालिश की विधि से पीठ तथा पेट की मसाज की जाती है। इस क्रियाविधि में माँस को दोनों हाथों से पकड़ कर बेलते हुये आगे की ओर बढ़ते हैं, जिससे हाथों में मॉस वैसा ही रहता है, परन्तु पिछला मॉस आगे बढ़ने से छूटता जाता है। पेट पर मालिश दायें से बायें गुलाई देकर हल्के दबाव से करते हैं। पीठ पर अधिक दबाव से करते हैं, मोटापा दूर करने के लिए यह विधि लाभकारी होती हैं।

8. खड़ी थपकी (Hacking)

मालिशकर्त्ता अपने हाथों की अँगुलियों को थोड़ी बंद करके हल्के तथा तेजी से हाथों को चलाता है। हाथ ढीला रहता है।

9. अँगुलियों से ठोकना (Tapping)

इस विधि में मालिशकर्त्ता खुले हाथों के पंजे से अंगुलियाँ ढीली रखकर भुजाओं को शिथिल करके, क्रमवार व रोगी की माँसपेशियों पर ठोकर देते हैं।

10. कटोरी थपकी (Clapping)

इस विधि में हाथों के पंजों तथा हथेलियों से कटोरी रूप देकर रोगी की पीठ, छाती तथा जाँघों पर थपकी देते हैं।

1. मुक्कामार : (Beating)

मालिशकर्ता अपने मुट्ठभी बंद करके पूरे जोर के साथ मारते हैं। अँगुलियों का दबाव ही माँसपेशियों पर पड़ना चाहिये, अतः मुट्ठी नीचे की ओर रखनी होती है। यह क्रिया प्रायः स्वस्थ व्यक्तियों के साथ की जाती है।

2. टाँगों से मालिश

मालिशकर्ता रोगी के शरीर पर खड़ा होकर दोनों पाँवों से या एक पाँव जमीन पर तथा दूसरे पैर से, दबाव डालता है। इससे पूरे शरीर की मालिश हो जाती है।

3. ठंडी मालिश

ठंडी मालिश पानी से की जाती है। इस मालिश का उद्देश्य धमनियों की कार्यात्मकता (Functioning of the arteries) की वृद्धि करना होता है। इस कारण से ऊपर से नीचे की ओर मालिश की जाती है। ठंडी मालिश करने के निम्न नियम हैं :-

(1) रोगी को चादर या कम्बल से लपेट देना चाहिये।

(2) वह अंग खुला रखें जहाँ मालिश करनी है।

(3) हृदय से नीचे की ओर मालिश की जाती है। उदाहरण के लिए कंधों से कलाई की ओर, पीठ के ऊपरी भाग से कमर की ओर मालिश करते हैं।

(4) ठंडी मालिश खुली जगह से नहीं करते हैं।

(5) जल का तापक्रम 70 से 90 डिग्री के बीच होना चाहिये।

(6) पानी को भगोने भरकर रखें तथा दो तौलियों को रखें। एक पानी में डालें तथा दूसरी का उपयोग करें। बार-बार तौलिया बदलते रहें।

(7) तौलिये को पानी में भिगोकर तथा निचोड़कर, उसकी तह बनाकर अंगों पर रगड़ते हैं।

(8) रोगी का सिर ठंडे पानी से गीला करके पोंछ देते हैं।

(9) ठंडी मालिश से शरीर में स्फूर्ति आती हैं, धमनियों को अतिरिक्त बल मिलता है, तथा मल व विकार तेजी से समाप्त होते हैं।

(10)छाती पर ठंडी मालिश से फेफड़ों को लाभ मिलता है।

(11) मालिश के पश्चात रोगी को आधा घन्टा विश्राम अवश्य करना चाहिये।

3. ठंडी-गर्म मालिश

इस विधि में पहले उस अंग को जिस पर मालिश करनी हैं, गर्म कर लेते हैं। गर्म करने के लिए रबर की थैली का उपयोग करते हैं। फिर ठंडी तौलियाँ करके ठंडी मालिश करते हैं। यह मालिश दुर्बल रोगियों को विशेष लाभ देती है।

4. सूखी तथा पाउडर से मालिश

सूखी तथा पाउडर से मालिश करने की क्रियाविधि एक सी जैसी रहती है। इसमें माँसपेशियों को धीरे-धीरे हल्के से मसलते हैं। इसमें अतिरिक्त उन सभी विधियों का उपयोग करते हैं, जो तेल मालिश में वर्णित की गयी हैं।

5. शरीर के विभिन्न अंगों की मालिश

शरीर के सभी अंगों की मालिश करने की एक विधि होती है, उसका जानना मालिशकर्ता को आवश्यक होता है।

पैरों की मालिश

सामान्य रूप से मालिश का कार्य पैरों से शुरू किया जाता है। पहले पैरों की अंगुलियों में तेल लगाकर अंगूठे से मालिशकर्त्ता रगड़ता है, जोड़ों को हिलाता-डुलाता है, फिर एक.एक अँगूली को पकड़कर खींचता तथा झटका देता है। तदुपरांत तलुवों पर मालिश की जाती है। इसके पश्चात पाँवों पर मालिश होती है, एक गोलाई से मालिश करते हुये जोड़ों पर विशेष मालिश करते हैं।

टाँगों की मालिश

पहले ठाँगों में तेल लगाकर घर्षण विधि का उपयोग करते हैं। पूरे हथेलियों का दबाव डालकर टखनों से घुटने की ओर घर्षण करते हैं। इसके अतिरिक्त थपथपाना, मरोड़ना, मसलना, ऐठन, थपकी देना आदि सभी विधियों का उपयोग किया जाता है। घुटने पर विशेष रूप से मालिश की जाती है। टाँगों की मालिश लेटने की अवस्था में उचित होती है।

हाथों की मालिश

हाथ की हथेली से मालिश प्रारम्भ की जाती है। हथेली के ऊपरी भाग को अंगूठे से रगड़ते तथा मसलते हैं। प्रत्येक अंगुली की मालिश कर झटका देकर खींचते हैं। सभी गोलाई से उन्हें रगड़ाई भी करते हैं। कलाई को गोलकार मसलते हैं तथा हिलाते -डुलाते हैं। फिर कलाई से कोहनी तक इसी प्रकार की मालिश करते हैं। बाजुओं पर तेल लगाकर मर्दन तथा घषर्ण करते हैं। बाद में गोलाई में मालिश करते हैं तथा मरोड़ते एवं रगड़ते हैं। कंधों पर गोलाकार दबाव से मर्दन करते हैं, तथा घर्षण करते हैं।

पेट की मालिश

रोगी की मालिश करते समय उसके पेट में भोजन नहीं होना चाहिये, इसलिए प्रातःकाल पेट की मालिश करना उपयुक्त होता है। पेट की मालिश करते समय पेट ढीला रहना चाहिये। पेट शरीर का प्रमुख अंग है, जिसमें यकृत, प्लीहा, आमाशय, पक्वाशय, क्लोमग्रन्थि, छोटी तथा बड़ी आँत होती है। पेट पर तेल लगाकर मर्दन करते हैं। सभी विधियों का उपयोग करते हैं, जो तेल मालिश में वर्णित हैं। बड़ी आंत के प्रारम्भिक हिस्से से मालिश शुरू करते हैं और ऊपर की ओर बढ़ते जाते हैं। बड़ी आँत के बाद लीवर की ओर बढ़ते हैं। फिर बायें मुड़कर आमाशय तक पहुँचते हैं। बड़ी आँत की बनावट के अनुसार मालिश की जाती है यह दाईं तरफ से पेट के निचले कोने से होकर यकृत के नीचे होते हुये आमाशय की तरफ बढ़ते हैं। वहाँ से दायीं तरफ नीचे जाती है, फिर थोड़ा दायें हटकर ऊपर को उठती हैं। तदोपरान्त दायें से मुड़कर नीचे को गुदा से जा मिलती है।

नाभि एक महत्त्वपूर्ण स्थिति है, जहाँ पर मालिशकर्ता अपना हाथ रखता है, वहीं से दायें से बायें चक्राकार धुमाते हुये धीरे-धीरे इस चक्र को बड़ा करता जाता है। चार-पाँच बार करने के बाद घर्षण देकर पेट की मालिश करता है।

छाती की मालिश

छाती पर तेल लगाकर बगलों की तरफ की मांसपेशियों को उसके बाद एक-एक पसली को मलते, मसलते, रगड़ते, घर्षण करते, थपथपाते हैं। हृदय पर गोलाकार मालिश करते हैं। कम्पन, छपकी, कटोरी थपकी, सभी का प्रयोग करते हैं।

गले की मालिश

गले की मालिश सावधानीपूर्वक करनी होती है। अँगुलियाँ एक तरफ तथा अंगूठा एक तरफ करके ऊपर से नीचे थोड़ा दबाव देकर मालिश करते हैं। कंधों पर दबाव अधिक देकर मालिश करते हैं।

पीठ की मालिश

पीठ में मेरुदण्ड होता है, जो स्नायु संस्थान का प्रमुख अंग होता है। पीठ की मालिश इसी कारण महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। पीठ की मालिश करने के कई प्रकार हैं :

पीठ पर तेल लगाकर कमर से ऊपर हृदय की ओर मसलते, रगड़ते तथा घषर्ण करते हैं। इसी प्रकार कंधों से हृदय की ओर ऊपर से नीये की ओर हृदय तक मसलते, रगड़ते तथा घर्षण करते हैं। मेरुदण्ड पर ऊपर से नीचे की ओर तथा नीचे से ऊपर की ओर मसलते, मलते तथा घर्षण देते हैं।

V. शरीर पर मालिश का प्रभाव

मालिश का शरीर के सभी अंगों पर प्रभाव पड़ता हैं :

रक्त प्ररिभ्रमण पर प्रभाव :

1. धमनियों में उत्तेजना आती है।
2. रक्त की मात्रा में भी वृद्धि होती है।
3. लाल रक्त कणों की वृद्धि होती है।
4. रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।
5. रक्त की सफाई होती है। विजातीय तत्त्व बाहर निकल जाते हैं।
6. शारीरिक अंगों की क्रियाशीलता बढ़ जाती है।
7. शरीर में पोषण तत्त्वों का शोषण तेज गति से होता है।
8. लसीका (Lymphs) तंत्र अधिक सक्रिय होता है।
9. चयापचय (Metabolism) की क्रिया तीव्र होती है।
10. श्वेतरक्त कम बढ़ते हैं। अतः रोगों से लड़ने की क्षमता शरीर में बढ़ती है।

स्नायु संस्थान पर प्रभाव :

1. स्नायुओं में उत्तेजना आती है।
2. स्नायुविक विकार दूर होते हैं।
3. उनकी क्रियाशीलता बढ़ती है।
4. स्नायु संस्थान की सक्रियता, तत्परता एवं आवश्यक ज्ञानात्मक क्रियाओं में वृद्धि होती है।
5. शरीर में हल्कापन आता है।

माँसपेशियों पर प्रभाव :

1. माँसपेशियाँ मजबूत बनती हैं।
2. उनकी थकान कम होती है, क्योंकि जो तनाव होता है, वह मालिश से दूर हो जाता है।
3. माँसपेशियों में जमा दूषित पदार्थ दूर हो जाता है।
4. माँसपेशियाँ सुडौल एवं सुगठित होती हैं।
5. माँसपेशियों में लोच आती है।
6. उनमें गति उत्पन्न होती है तथा सक्रियता बढ़ती है।

अस्थि संस्थान पर प्रभाव :

1. अस्थियाँ मजबूत बनती हैं।
2. अस्थियों का सामान्य रूप विकसित होता है।
3. अस्थियों को पोषक तत्त्व अधिक मिलते हैं।
4. बालकों में सूखा रोग दूर हो जाता है।

पाचन संस्थान पर प्रभाव :

1. कब्ज दूर होता है।
2. अपच कम होती है तथा भूख अधिक लगती है।
3. आँतों को अतिरिक्त बल मिलता है।
4. मल निष्कासन की गति बढ़ती है।
5. पोषक तत्त्व आँतों के द्वारा अधिक समाहित होते हैं।
6. यकृत पुष्ट होता है।
7. पेट की विभिन्न गन्थियों की क्रियाशीलता बढ़ती है।

वृक्क पर प्रभाव :

मालिश से वृक्कों (Kidneys) की कार्यशीलता बढ़ती है। जिससे रक्त साफ होकर यूरिक एसिड शरीर से बाहर निकल जाता है।

त्वचा पर प्रभाव :

1. त्वचा मुलायम होती हैं।
2. रोमकूप साफ रहते हैं।
3. त्वचा के टूटे कोषाणु शरीर की सफाई तंत्र द्वारा बाहर हो जाते हैं।
4. त्वचा में रोगों को रोकने की शक्ति बढ़ती है।

श्वसनतन्त्र पर प्रभाव :

1. मालिश से फेफड़े आक्सीजन अधिक ग्रहण करते हैं।
2. कार्बन डाई आक्साइड प्रश्वास-क्रिया से नासिका द्वारा अधिक बाहर निकलती है।
3. फेफड़े मजबूत होते हैं।
4. फेफड़े आक्सीजन अधिक ग्रहण करते हैं, जिससे हीमोग्लोबीन की मात्रा भी बढ़ती है।

शरीर की मालिश सदैव लाभकारी होती है। शारीरिक कमजोरी, जोड़ों का दर्द, पक्षाघात, साइटिका, पीलिया आदि में मालिश से बहुत लाभ होता है। शरीर की सुंदरता तथा शारीरिक अंगों की पुष्टता मालिश से आती है।

●●●

अध्याय-19

आहार चिकित्सा

जीवित प्राणियों के लिए वायु और जल के पश्चात तीसरा स्थान भोजन का है। वायु और जल मानव के प्राकृतिक रूप में उपलब्ध हो जाते हैं, परन्तु भोजन सामग्री प्रकृति से मिलने पर भी मानव को प्राप्त करने के लिए कठिन परिश्रम करना होता है। जिस प्रकार मोटरगाड़ी को पेट्रोल या डीजल की आवश्यकता होती है उसी प्रकार मानव शरीर रूपी गाड़ी को प्रतिदिन भोजन की आवश्यकता होती है, तभी वह अपने दैनिक कार्यों को सम्पन्न कर सकता है तथा स्वस्थ रह सकता है। सतत् कार्य करते रहने से शरीर कोश नष्ट होते रहते हैं, उनकी क्षतिपूर्ति के लिए नये कोषों का होना आवश्यक होता है। भोजन से शरीर में नये कोषों का निर्माण होता है और इस प्रकार प्रतिदिन नष्ट होने वाली पूँजी की क्षतिपूर्ति हो जाती है।

I. भोजन के कार्य

सामान्यतः भोजन के निम्न कार्य हैं :-

1. क्षतिपूर्ति

जन्म से मृत्यु तक मानव शरीर में कुछ न कुछ क्रियायें होती रहती हैं। आराम करने की स्थिति अथवा सोने की स्थिति में भी शरीर के अन्दर कुछ न कुछ क्रियायें सम्पन्न होती रहती हैं। सोने पर भी श्वास चलती रहती है, फेफड़े काम करते रहते हैं, रक्त संचालित होता रहता है, हृदय तथा रुधिर नलिकायें काम करती रहती हैं, खाया हुआ भोजन पचता है, जिसके लिए पाचनतंत्र के अंग काम करते रहते हैं। अंगों-प्रत्यंगों की विविध क्रियाओं के कारण शरीर के असंख्य कोष नष्ट होते रहते हैं तथा निकृष्ट वाहक संस्थानों के द्वारा मलमूत्र, थूक तथा पसीने के रूप में बाहर निकलते रहते हैं। यदि कोष नष्ट होते रहें, और नये कोष न बनें, तो कुछ दिनों के बाद शरीर नष्ट हो जायेगा। इसलिए इस कमी की पूर्ति तथा नवीन कोषों का निर्माण भोजन से होता रहता है और शरीर स्वस्थ बना रहता है। अस्वस्थ तभी होता है जब अखाद्य भोजन सामग्री खाते हैं।

(2) ऊर्जा प्रदान करना

मनुष्य को भोजन की आवश्यकता मुख्यतः दो कारण से होती है—

1. ऊष्मा की क्षति को पूरा करने के लिए

2. ऊर्जा के आवश्यक उत्पादन के लिए। यह ऊर्जा अथवा शक्ति ऊष्मा कार्य के रूप में प्रयुक्त होती है। भोजन में उपस्थित तत्त्वों द्वारा ऊर्जा प्राप्त होती है। जिसकी इकाई (Unit) जोल (Joule) होती है परम्परागत रूप में इसे ऊष्मा (Energy) की इकाई के रूप में कैलोरी (Calorie) भी कहते हैं।

विभिन्न प्रकार के भोजनों का ऊर्जा मान निम्न है:-

प्रोट्रीन से -	4.1 कैलोरी प्रति ग्राम
वसा (फैट) + -	9.3 कैलोरी प्रति ग्राम
कार्बोज (कार्बोहाईड्रेट्स)-	4.1 कैलोरी प्रति ग्राम

विभिन्न स्थितियों में दैनिक कैलोरी की आवश्यकता निम्न होती है :

शारीरिक श्रम करने वालों को -	3500 कैलोरी
बैठकर काम करने वालों को -	2500 कैलोरी
विश्राम के साथ -	1800 कैलोरी
बिस्तर पर लेटे रोगी को -	1200 कैलोरी

भोजन के तीन प्रमुख तत्त्व होते हैः कार्बोहाइड्रेट, बसा तथा प्रोटीन। उष्मा तथा ऊर्जा कार्बोहाइड्रेट्स तथा वसा से प्राप्त होती है। कुछ विशेष परिस्थितियों में प्रोटीन का उपयोग भी ईधन के रूप में प्रयोग होता है।

कार्बोहाइड्रेट्स

पाचन तथा अवशोषण के पश्चात शर्करा तथा स्टार्च रक्त में ग्लूकोज (Glucose) के रूप में प्रकट होते हैं। सामान्यतः रक्त ग्लूकोज स्तर 100 मिली ग्राम प्रति 100 मि0ली0 रक्त होता है। कार्बोहाइड्रेट का पाचन निम्न प्रकार से होता है।

टायलिन इन्जाइम जो कि लार में होता है स्टार्च को माल्टोज (Maltose) में प्रविर्तित करता है। आमाशय का एमाइलेंज (Amylase) सभी स्टार्चो को डाईसेकेराइडों (Disaccharides) में बदलता है। आँत्र के इन्जाइम सुक्रेज तथा इनवटेर्ज (Sucrase and Invertase) द्वारा डाइसेकेराइड्स मोनो सेकेराइड्स (Monosacchoriides) में बदल जाते हैं। लैक्टेज (Lactase) इन्जाइम लैक्टोज (Lactose) को ग्लूकोज (Glucose) तथा गेलेक्टोज (Galactose) में बदलता है। गेलेक्टोज यकृत (Liver) में पहुँच कर ग्लूकोज में बदल जाता है।

माल्टेज (Maltase)इन्जाइम माल्टोज (Maltose) को ग्लूकोज में बदलता है।

मोनोंसेकेराइड्स रक्त में अवशेषित होते हैं। रक्त में ग्लूकोज का स्तर इन्सुलिन द्वारा नियंत्रित होता है। उतको (Tissues) कार्बोहाइड्रेट्स आक्सीकरण द्वारा ऊष्मा उत्पन्न होती है। अतिरिक्त कार्बोहाइड्रेट, वसा (फैट) के रूप में संचित होता है, जिसके फलस्वरूप शरीर का वजन बढ़ता है। कार्बोहाइड्रेट के दाह (Combustion) से.सी0ओ0टू0 (Co_2) तथा जल का निमार्ण होता है। सी0ओ0टू0 (कार्बन डाईआक्साइड) का निष्कासन प्रश्वास क्रिया से होता है।

बसा शरीर में बसा ऊतक (Adepose) रूपी डिपो में संचित होता है क्योंकि अवशोषण के बाद इनकी तुरन्त आवश्यकता नहीं होती है। जब आवश्यकता होती है, तो इन डिपो से वसा बाहर निकलता है, तथा यकृत .(Liver) में यह ग्लेसरोल (Glycerole) तथा फैटी एसिड्स (Faltyacids)में परिवर्तित हो जाता है। यही रुप शरीर में ऊर्जा के काम आता है। बसा का चपायचप (Metabolism) निम्न प्रकार से होता है :

अग्न्याशय (Pancreas) से अग्न्याशय रस (Pencreatic juice)निकलते हैं, जिनमें एक लाइपेज (Lipase) भी होता है। यही आँत से भी निकलता है। यह वसा का वसा अम्ल तथा ग्लैसरोल (Fatty acid & glucerole) में परिवर्तित करता है गल्सरोल तथा वसा अम्ल लैक्टीपलों द्वारा अवशोषित होकर लसीका वाहिनियों (Thoracic ducts) में चले जाते हैं, जहाँ से वे रक्त प्रवाह में मिल जाते हैं। रक्त द्वारा वसा शरीर के प्रत्येक कोशिका(Cells) तक पहुँच जाता है। यकृत वसा के आक्सीकरण में सहायता करता है तथा उसे ऊतकों (Tissues) में संचय के योग्य बनाता है। ऊतको में वसा का कुछ अंश ऊष्मा तथा ऊर्जा प्रदान करने के लिए कार्बोहाइड्रेट की उपस्थिति में आक्सीकृत होता है। शेष भाग वसा डिपो में संचित हो जाता है।

यकृत में वसा के चपापचय के फलस्वरूप कीटोन पदार्थ (Ketone bodies) शेष रह जाते हैं। यदि ये शरीर में एकत्र हो जाते हैं तो कीटोसिस (Ketosis) की स्थिति हो जाती है जिससे मृत्यु निश्चित है।

प्रोटीन

प्रोटीन के पाचन के फलस्वरुप अनेक एमीनों एसिड (Amino acids) उत्पन्न होते हैं। बड़े एमीनों एसिड पूल में सम्मिलित होते हैं जहाँ से शरीर में कोशिकायें अपनी आवश्यकतानुसार प्रोटीन प्राप्त करती है। शरीर के ऊतकों (Tissues) की वृद्धि तथा मरम्मत के लिए एमीनोएसिड ही आवश्यक होते हैं। जब भोजन में प्रोटीन की अधिकता होती है, तो प्रोटीन की अतिरिक्त (अधिक) मात्रा यकृत में डीमिनेशन(Deamination) होता है। जिससे प्रोटीन का नाइट्रोजन भाग निकल जाता है। कार्बन हाइड्रोजन तथा आक्सीजन बच जाते हैं जिनका उपयोग ऊष्मा एवं ऊर्जा उत्पादन के लिए होता है। उपवास के समय अथवा भोजन की कमी के कारण आहार में कैलोरी की अत्यधिक कमी हो जाती है, तब ऊर्जा की उत्पत्ति के लिए शरीर के ऊतकों (Tissues) में विद्यमान प्रोटीन का भी आक्सीकरण होने लगता है।

प्रोटीन का पाचन मुख्यरूप से आंत्र में होता है। आमाशय में (Stomach) प्रेप्सिन (Pepsin) की क्रिया से प्रोटीन पेप्टोन्स (Peptones) में बदल जाता है। आंत में ट्राइप्सिन (Trypsin) प्रोटीन तथा पेप्टोन को पालीपेटेट्राइड्स (Polypeptides) में बदल देता है। इरेप्सिन (Erepsin) इन्जाइम पेप्टाइड्स को एमीनों एसिड (Amino acids) में बदल देता है।

एमिनोएसिड्स रक्त में मिल जाता है जो अपने साथ नाइट्रोजन तथा सल्फर भी लाता है। शरीर की उत्तक (Tissues) अपनी आवश्यकतानुसार विशेष एमीनोएसिड चुन लेते हैं। यकृत में एमीनो एसिड का डीमिनेशन (Deamination) होता है। इस प्रक्रिया द्वारा यूरिया बनता है।

आक्सीडेश (Oxidation)की प्रक्रिया द्वारा शरीर को ऊर्जा प्राप्त होती है।

3. शारीरिक विकास एवं वृद्धि में सहायता करना

जन्म के समय मानव शिुश का भार औसतन 6 से 9 पौण्ड होता है। लम्बाई, 18 से 22 इंच होती है। लेकिन प्रत्येक माह उसका भार बढ़ता जाता है। युवास्था में उसका भार 60-90 कि0ग्रा0 तक हो जाता है तथा लब्माई 60-90 इंच हो जाती है। शारीरिक वृद्धि के सयम उचित और पर्याप्त आहार न मिलने पर शरीरिक विकास नियमित और उचित नहीं हो पाता है। वास्तव में भोजन में उन सभी पोषक तत्त्वों को एकत्र करता है, जो शारीरिक वृद्धि के लिए आवश्यक होते हैं। लेकिन इसके बाद भी आवश्यक भोज्य पदार्थों की आवश्यकता होती है। शरीर में प्रतिदिन कई कोशिकायें टूटती और नष्ट होती रहती हैं। अतः नवीन कोशिकाओं के निर्माण एवं टूट-फूट की मरम्मत हेतु भोजन की आवश्यकता होती है।

4. रोगों से रक्षा करना

भोजन के द्वारा शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है जिससे शरीर रोगों से मुक्त रहता है। यद्यपि ऐसे भोज्य पदार्थों की कम आवश्यकता होती है। किन्तु फिर भी यदि ये प्रतिदिन के भोजन में उचित मात्रा में उपलब्ध न हो, तो कई शारीरिक क्रियायें असंतुलित हो जायेंगी। कुछ खनिज तथा लवण देने परमावश्यक हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि शारीरिक आवश्यकता के आधार पर भोज्य पदार्थों को तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :

1. ऊर्जा प्रदान करने वाले भोज्य पदार्थ।
2. वृद्धि और निर्माण करने वाले भोज्य पदार्थ।
3. रोगों से सुरक्षा प्रदान करने वाले भोज्य पदार्थ।

II. भोजन के तत्त्व

भोज्य पदार्थों की रचना निम्नलिखित रासायनिक अवयवों से हुई है :

1. प्रोटीन	2. कार्बोहाइड्रेट
3. वसा (फैट)	4. विटामिन्स
5. खनिज लवण	6. जल

शरीर में उपर्लिखित तत्त्वों की मात्रा

जल	63 प्रतिशत
प्रोटीन	17 प्रतिशत
वसा	12 प्रतिशत
खनिज तथा विटामिन्स	7 प्रतिशत
कार्बोहाइड्रेट	1 प्रतिशत

प्रोटीन

यह कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सीजन, नाइट्रोजन, गंधक तथा फासफोरस के संयोग से बनता है। इसमें 16 प्रतिशत नाइट्रोजन, 54 प्रतिशत कार्बन, 7 प्रतिशत हाइड्रोजन तथा 22 प्रतिशत आक्सीजन होता है। गंधक तथा फासफोरस सभी प्रोटीन में नहीं पाये जाते हैं। उपयोगिता की दृष्टि से दो प्रकार की प्रोटीन होती है। एक वे जिन्हें पूर्ण प्रोटीन कहते हैं जिन पदार्थों में लायसीन, सीसटीन, टायरोसीन, ट्राइप्लोफेन पाये जाते हैं, वे पूर्ण तथा उत्तम माने गये हैं। ये दूध, अण्डा, तथा माँस में पाये जाते हैं। जिन खाद्य पदार्थों में अल्ब्यूमिन (Albumin) पाये जाते हैं, उन्हें अपूर्ण प्रोटीन कहते हैं। ये वनस्पति वर्ग के दलहन में पाये जाते हैं। शारीरिक वृद्धि की दृष्टि से पूर्ण प्रोटीन की आवश्यकता अधिक होती है। शरीर के भिन्न -भिन्न अंगों में प्रोटीन का बहुत भाग रहता है। एक युवा शरीर में 10 किलो प्रोटीन होता है।

प्रोटीन के कार्य

प्रोटीन के निम्नलिखित प्रमुख कार्य है :

1. प्रोटीन के द्वारा क्षतिग्रस्त कोषों की पूर्ति होती है तथा नये कोषों का निमार्ण होता है।
2. शरीर के पाचक रसों का निर्माण करता है।
3. आक्सीजन के शोषण में सहायता करता है।
4. आवश्यकता होने पर ताप तथा ऊर्जा उत्पादन के काम आता है।

प्रोटीन के श्रोत

प्रोटीन के दो प्रमुख श्रोत है :

1. पशु श्रोत (Animal source)

दूध, अण्डा, माँस, मछली, में प्रोटीन पाया जाता है।

2.वनस्पति श्रोत (plant source)

दालों, बीजों तथा अन्न में प्रोटीन होती है। चना, मटर, सेम के बीज तथा सोयाबीन में प्रोटीन होता है।

कुछ खाद्यान्नों में प्रोटीन तत्त्व

खाद्य पदार्थ	प्रोटीन ग्रा0 प्रति0 100 ग्रा0 खाद्य पदार्थ
पशु खाद्य पदार्थ	
दूध	3.2-4.3
माँस	18.0-.26.0
मछली	15.0-23.0
वनस्पति खाद्यपदार्थ	
अन्न	6.0-13.0
दालें	21-28.00
सब्जियाँ	1.0-4.00
फल	1.0-3.0
नट्स	4.5- 29.0
सोयाबीन	43.2
अन्य	
तेल तथा वसा	नहीं
शकर	नहीं

एमीनों एसिड्स (Amino Acids)

एमीनों एसिड्स प्रोटीन का सबसे न्यूनतम भाग है, जो शरीर मे अवशेषित होता है। 22 प्रकार के एमीनोएसिड्स शरीर में पाये जाते हैं, लेकिन इनमें से 8 अत्यन्त आवश्यक होते हैं। ये हैं :

आइसोलेयूसाइन (Isoleu-cine)
ल्यूसाइन (Leucine)
लाइसिन (Lysine)
मेथीओनाइन (Methionine)
फेनीललाइन (Phenylalamine)
थ्रियोनाइन (Threonine)
ट्राइफ्टोफेन (Tryphotphane)
वेलाइन (Valine)

प्रोटीन की आवश्यकता

सामान्य युवक को प्रति किलो शरीर भार पर 1 ग्राम प्रोटीन की आवश्कयता होती है। गर्भावस्था में प्रोटीन की अधिक आवश्यकता होती है। दूध पिलाने वाली माताओं को 20 ग्राम प्रोटीन की अधिक आवश्यकता होती है। गर्भावस्था में प्रोटीन की अधिक आवश्यकता होती है।

शिशुओं तथा बालकों को प्रोटीन की आवश्यकता

आयु		प्रति दिन के भोजन में प्रोटीन की आवश्यकता ग्राम/ कि0ग्रा0 शरीर भार	कुल ग्राम
1		2	3
महीनों में	0-3	2.3	
दोनों लिगों	3-6	1.8	
के लिए	6-9	1.8	
शिशु	9-12	1.5	
बालकों में	1	1.90	16.5
(वर्षों में)	2	1.72	18.00
	3	1.70	20.0
	4-6	1.66	22.00
	7-9	1.59	33.0
	10-12	1.48	41.0
लड़कों			
के लिए	13-15	1.44	55.0
	16-19	1.33	60.00
लड़कियों	13-15	1.40	50.0
के लिए	16-19	1.27	50.0

वसा

यह कार्बन हाइड्रोजन तथा आक्सीजन के संयोग से बना है। तेल, मक्खन, घी आदि इसके उदाहरण हैं। एक ग्राम वसा कार्बोहाइड्रेट तथा प्रोटीन का दो गुना कैलोरी शक्ति प्रदान करता है। इसकी अधिकता होने पर त्वचा के नीचे उदर में चर्बी के रूप में जमा हो जाता है। वसा पशु तथा वनस्पति दोनों में पाया जाता है। पशु वसा में विटामिन ए तथा विटामिन बी तथा विटामिन डी होता है। जो आँखों तथा गले की बीमारियों के बचने के लिए आवश्यक है।

प्राप्ति के साधन

पशु वसा दूध, मक्खन, मलाई पनीर, बॉस, मछली तथा पक्षियों के माँस में पाया जाता है। वनस्पति वसा कपास के बीज सोयाबीन, नारिया, अलसी, सरसो, बादाम, मूँगफली तिल अखरोट इन सभी में पाया जाता है। मूँगफली तथा कुसुम को वसा में जलाशन (Hydrolyse) कर वनस्पति घी बनाया जाता है।

वसा का निर्माण फैटी एसिड्स (Fatty acids) से होता है। ये दो प्रकार के होते हैं :– सेचुरेटेड तथा अनसेचुरेटेड। सेचुरेटेड फैटी एसिड्स तरल अवस्था में अधिकांश रहते हैं। दूसरे ठोस (Solid) ज्यादा होता है।

कार्य

वसा के निम्नलिखित कार्य हैं :

1. ऊर्जा के श्रोत है। जब कार्बोहाइड्रेट की कमी हो जाती है तो शरीर को ऊर्जा वसा से प्राप्त होती है। एक ग्राम वसा 9 कैलोरी ऊर्जा उत्पन्न करता है, जो कार्बोज तथा प्रोटीन से दूना होता है।
2. ए0डी0 ई0 तथा (के) विटामिन पाया जाता है।
3. वसा आवश्यक फैटी एसिड्स प्रदान करता है जिनसे शरीर की वृद्धि होती है तथा त्वचा में एकरूपता बनी रहती है।
4. वसा शरीर के विभिन्न अंगों जैसे हृदय, वृक्क आन्त्र आदि को सहायता देता है।
5. त्वचा के नीचे संचित वसा ठंडक से शरीर की रक्षा करता है।

एक वयस्क को 50-60 ग्राम प्रतिदिन वसा की आवश्यकता होती है। यदि अधिक वसा का उपयोग होता है तथा मोटापा बढ़ता है, तथा हृदय के रोग होने का भय रहता है।

कार्बोहाइड्रेट

यह कार्बन हाइड्रोजन और आक्सीजन के संयोग से बना है। इसमें हाईड्रोजन तथा आक्सीजन का ऐसा अनुपात है, कि जिसके संयोग से जल बन जाता है। इसमें आक्सीजन एक भाग तथा हाइड्रोजन दो भाग है। कार्बोहाइड्रेट सभी प्रकार के कंद,अन्न, फल, शकर, गुड़ सभी पाया जाता है। चावल, गेहूँ, जौ, मकई, ज्वार आदि अन्नों में पाया जाता है। सबसे अधिक चावल में पाया जाता है।

दालों– मसूर, चना, उड़द आदि में कम मात्र में होता है। आलू, घुइयाँ, जिमीकंद, शकरकंद, मिलीकंद, तथा चुकंदर में पाया जाता है। हरी सब्जियों में लेशमात्र पाया जाता है।

केला, आम, लीची, पपीता, अंगूर, बेल, सेव इन सभी फलों में पाया जाता है।

पशु कार्बोज

दूध में लैक्टोज तथा लिवर में ग्लायकोजन के रूप में पाया जाता है।

कार्बोहाइड्रेट के कार्य

1. यह शरीर में शक्ति तथा गर्मी प्रदान करता है। एक ग्राम कार्बोज में 4.1 कैलोरी ऊर्जा उत्पन्न होती है। यकृत में यह ग्लायकोजीन के रूप में जमा रहता है और आवश्यकता पड़ने पर पुनः ग्लूकोज में बदल जाता है।
2. वसा तथा प्रोटीन के चपापचप में सहायता एवं रक्षा करता है।
3. वसा के आक्सीडेसन में सहायता करता है।

4. आँतों में गति पैदा करता है।

समस्त कैलोरी का 50 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट होना चाहिये।

कार्बोहाइड्रेट्स के 4 प्रकार हैं :

1. मानोसेक्राइड्स (Monosaccharides)
2. डायसेक्राइड्स (Disacchanides)
3. ट्राईसेक्राइड्स (Trisaccharides)
4. पोलीसेक्राइड्स (Polysaccharides)

मोनोसेक्राइड्स अंगूर तथा मीठे फलों में ग्लूकोज के रूप में पाया जाता है। यह रक्त के साथ संचारित हो जाता है। फ्रुक्टोज (Fruetose)फलों में पाया जाता है।

डायसेक्राइड्स के दो परमाणु होते हैं। सुक्रोज तथा लेक्ट्रोज एवं माल्टोज सुक्रोज गन्ने तथा चुकन्दर से प्राप्त होता है। तथा माल्टोज अनाज के अंकुरों में होता है। लोक्टोज दूध में पाया जाता है। पोलीसेक्राइड्स में कई परमाणु पाये जाते हैं। इसके अन्तर्गत लाइक्रोजीन, सेलूबोज तथा डनसुलिन आदि हैं।

लवण एवं खनिज

शरीर को कैलसियम, फासफोरस, गंधक, सोडियम, क्लोरीन, मैगनीसियम, लोहा, ताँबा, मैगनीज, तथा आयोडिन की आवश्यकता होती है।

कैलिशयम

99 प्रतिशत कैल्शियम अस्थियों तथा दाँतों में होता है। कैल्शियम की कमी से हड्डियाँ कमजोर तथा कोमल हो जाती हैं। यह रक्त के जमने में सहायता करता है, पाचक रस (Enzyme) को सक्रिय करता है। दाँतों तथा हड्डियों का निर्माण करता है। हृदय में गति के लिए उत्तरदायी है तथा स्नायुविक उद्दीपन का कार्य करता है। युवा व्यक्ति को केवल 1 ग्राम प्रतिदिन इसकी आवश्यकता होती है। इसकी प्राप्ति दूध, हरी पत्ती वाली सब्जियों, महुआ, बादाम, आदि से होती है।

फासफोरस

अस्थियों तथा दाँतों की रचना में फास्फोरस महत्त्वपूर्ण है। हर प्रकार की चपापचय भूमिका होती है। सभी प्रकार के खाद्यान्नों में फासफोरस पाया जाता है। एक व्यक्ति को 1.2 ग्राम प्रतिदिन फासफोरस की आवश्यकता होती है।

लोहा

शरीर के लिए लोहा एक आवश्यक खनिज है। यह शरीर में 3.4 ग्राम तथा 75 प्रतिशत रक्त में पाया जाता है। होमोग्लोबीन के निर्माण मे लोहे की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कोष की सही रचना तथा कार्य के लिए लोहे की एक निश्चित मात्रा आवश्यक होती है। यह दो श्रोतों से प्राप्त होता है :

पशु श्रोत (Animal source)

यकृत, वृक्क, माँस, मुर्गी अण्डा, मछली में लोहा अधिक मात्रा में पाया जाता है। दूध में बहुत कम लोहा पाया जाता है।

वनस्पति श्रोत (Plant Source)

अन्न, दालों सब्जियों में विशेष कर पत्तेदार तिलहन, में लोहा होता है। गुड़ में सबसे अधिक लोहा होता है। युवाओं को 20 ग्राम प्रतिदिन, गर्भवती महिलाओं को 40 ग्राम प्रतिदिन, दूध पिलाने वाली माताओं को 30 ग्राम प्रतिदिन, बच्चों को 15.20 ग्राम लोहे की प्रतिदिन आवश्यकता होती है।

सोडियम क्लोराइड

यह खाने वाला साधारण नमक है। यह शरीर में अधिक मात्रा में पाया जाता है। मनुष्य के शरीर में 100 ग्राम लवण होता है। इसकी दैनिक आवश्यकता 5 ग्राम होती है। यह शरीर से मूत्र तथा पसीने के साथ बाहर निकलता है। इसकी कमी से माँसपेशियों में ऐंठन होने लगती है।

आयोडीन

आयोडीन, थाइराक्सीन तथा थाइराइड हारमोन्स के निर्माण के लिए आवश्यक होता है। यह प्राकृतिक रूप से जल तथा मिट्टी में पाया जाता है। जिस मिट्टी में आयोडीन की कमी होती है वहाँ के अन्नों तथा सब्जियों में आयोडीन की कमी हो जाती है। आयोडीन की कमी से घेंघा रोग (Goitre) हो जाता है। भोजन में प्रतिदिन मात्र 0.2 ग्राम आयोडीन की आवश्यकता होती है। आयोडीन को भोजन में पूरा करने के लिए आयोडीन सहित नमक का उपयोग करना चाहिये।

फ्लोरीन

यह अत्यन्त आवश्यक तत्व है। यह जल में पाया जाता है। यह दाँतों की चमक तथा अस्थियों के सामान्य खनिजों की मात्रा निश्चित करने के लिए आवश्यक होता है। इसकी कमी तथा अधिकता दोनों हानिकारक होती है। अधिकता में दाँतों तथा अस्थियों को हाँनि पहुँचाती है। फ्लूरोसिस (Flurosis) हो जाती है। तथा कमी से दॉतों की चमक जाती रहती है, कमजोर हो जाते हैं।

ताँबा (Copper)

ताँबा भी आवश्यक खनिज है, क्योंकि अनेक इन्जाइम्स का आवश्यक अंग है। एक युवा व्यक्ति में 100 .150 ग्राम ताँबा होता है। एक-दो मिली0 ग्राम प्रतिदिन इसकी आवश्यकता होती है। सभी खाद्य पदार्थों में अल्प मात्रा में पाया जाता है।

जस्ता (Zinc)

20 से अधिक इन्जाइम्स की क्रियाओं के लिए जस्ते का होना आवश्यक होता है। प्रोटीन के निर्माण में भी जस्ते की आवश्यकता होती है। डी0एन0 ए0 तथा आर0

एन0 ए0 के निर्माण के लिए यह जरूरी है। एक युवा व्यक्ति में 2.3 ग्राम जिंक होता है।

विटामिन

शरीर की वृद्धि तथा रोगों की रोकथाम एवं अन्य रसायनिक क्रियाओं के लिए विटामिन्स आवश्यक होते हैं। ये निम्न हैं :

विटामिन "ए"

यह सभी कोशिकाओं और शारीरिक वृद्धि के लिए आवश्यक होता है। यह आँखों को ज्योति, मस्तिष्क की तत्परता तथा रोगों के रोकथाम के लिए आवश्यक होता है। इसकी कमी से रतौंधी (Night blindness) हो जाती है। शरीर की वृद्धि रुक जाती है। त्वचा के ऊपर का भाग खराब हो जाता है। मूत्राशय तथा वृक्क में पथरी हो जाती है आमाशयिक रोग (Gastro-Intestinal diseases) हो जाते हैं।

यह पालक, गाजर, शलजम इसके अतिरिक्त दूध, मलाई, मक्खन, घी, आदि में पाया जाता है। 5000 आई0यू0 आवश्यक है।

विटामिन "डी"

विटामिन "डी" अस्थियों तथा दाँतों में कैल्शियम तथा फासफोरस को एकत्रित करने में सहायक है। यह कैल्शियम की चपापचय (Metabolism) की क्रिया में सहायता करता है। यह माँस, मछली, तेल, अण्डा, मक्खन, सूर्य की किरणों तथा दूध में पाया जाता है। इसकी कमी से अस्थियाँ कमजोर हो जाती हैं तथा वक्र हो जाती है। इसकी कमी से झुँझलाहट बढ़ती है।

विटामिन "ई"

पुरुषत्व के लिए तथा महिलाओं में गर्भधारण के लिए यह विटामिन आवश्यक है। इसकी कमी से पुरुषों के शुक्र अच्छी तरह काम नहीं करते हैं। स्त्रियों में गर्भपात हो जाता है। ऋतुस्राव की गड़बड़ी हो जाती है। यह अंकुरित अन्नों में पाया जाता है। सेब, मटर, मूँगफली, दलहन तथा कुछ हरी सब्जियों में भी पाया जाता है।

विटामिन "के"

रक्त के जमाव में यह सहायक है। इसकी कमी से रक्तस्राव अधिक होता है। यह पालक, टमाटर, गाजर पातगोभी, सोयाबीन में पाया जाता है।

विटामिन "बी"

शरीर की वृद्धि तथा रोगों की रोकथाम के लिए विटामिन "बी" की आवश्यकता होती है। इसके निम्न भेद हैं।

थिमोमीन (Thiomine-B_1)

यह अनाजों के ऊपरी छिलकों में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त नारियल, अखरोट, मूँगफली, टमाटर, दूध, अण्डा, आदि में पाया जाता है। यह पाचक रस

(Enzyme) बनाता है। मानसिक संतुलन के लिए यह आवश्यक है। वयस्क को 1 से 2 मि0 ग्राम प्रतिदिन इसकी आवश्यकता होती है। इयकी कमी से कमजोरी, दुर्बलता, मांसपेशियों में क्षीणता, शोथ, बेरीबेरी, हृदय दुर्बलता आदि रोग हो जाते हैं।

विटामिन "बी$_2$" (Rithoflavin-B$_2$)

यह पाचक रसों (Enzymes) के लिए आवश्यक होती है। इसकी कमी से त्वचा फ्राट जाती है। ओंठ फ्ट जाते हैं। जीभ का रंग सफेद हो जाता है। यह दूध अण्डा, माँस, तथा जौ में पाया जाता है। एक वयस्क को 1.6 मिली0ग्राम बी$_2$ की आवश्यकता होती है।

नायसिन एसिड (Niacin Acid)

यह अन्तः तथा कोषीय श्वसन क्रिया में सहायक है। इसकी कमी से प्लेगरा रोग हो जाता है। सिर दर्द, कमजोरी, वजन का घटना, चिड़चिड़ापन आदि लक्षण प्रकट हो जाते हैं। यह माँस मछली, मूँगफ्ली, जौ तथा सब्जियों में पाया जाता है। 12 मि0ग्रा0 प्रतिदिन इसकी आवश्यकता होती है।

पायरोडाक्सीन : (Pyrodoxine B$_6$)

यह एमीनो एसिड को कार्बन डाईआक्सइड में परिवर्तित करता है। यह एमीनों तथा गंधक वर्ग में रासायनिक परिवर्तन करता है। एसिड में भी रासायनिक परिवर्तन लाता है। इसकी कमी से शारीरिक वृद्धि में रुकावट तथा रक्त अल्पता हो जाती है। यह गेहूँ के अंकुर, माँस, गुर्दा, तथा अनाजों में पाया जाता है।

पैन्टोथेनिक एसिड (Pantothenic Acid)

यह कोलेस्ट्रारोल (Choleterol) तथा स्टेरोआइड हारमोन्स को शरीर में एकत्रित करता है। पायरूवकि अम्ल का आक्सीडेशन करता है। यह माँस, मछली जौ, अण्डा, मूँगफ्ली, टमाटर, गुड़, आलू, आदि में पाया जाता है।

विटामिन बी$_2$ (Antipernicidus Amaemia)

यह लाल रक्त कण की परिपक्वता के लिए आवश्यक है। इसकी कमी से रक्त संचालन अच्छी तरह नहीं होता है। कमजोरी आती है। जीभ शुष्क रहती है, जीभ में दाने निकल आते है।, पाचन क्रिया गड़बड़ हो जाती है, यह दूध पनीर, छेना, अण्डा, आदि में पाया जाता है।

फोलिक एसिड (Folic Acid)

यह रक्त के निर्माण में सहायक होता है। आम, सेम के पत्ते, गेहूँ कंद, दूध, तथा हरी सब्जियों में पाया जाता है।

विटामिन "सी"

यह अस्थि, दाँतों, रक्तवाहिनी नालिकाओं के लिए आवश्यक है तथा लाल रक्तकणों की उत्पत्ति में सहायक है। कोषीय तथा अंतः स्वसन में सहायता करता

है। दाँतों के लिए आवश्यक है। इसकी कमी से दातों से रक्तस्राव होने लगता है। तथा स्कर्वी (दंतरोग) हो जाता है। दाँत कमजोर हो जाते हैं हड्डी के जोड़ों में दर्द होता.है, कमजोरी लगती है। जख्म भरने में देर लगती है, जोड़ों में सूजने तथा डारिया हो जाता है। यह गांठगोभी, प्याज, लहसुन, गाजर, टमाटर, आंवला, नींबू, अमरूद, अंकुरित अनाज, आदि में पाया जाता है।

व्रिटामिन "के"

विटामिन के की कमी से रक्त स्राव होने लगता है। इसकी कमी से शरीर की रासायनिक क्रियाओं में गड़बड़ी हो जाती है।

जल

जल सभी प्रणियों के जीवन का आधार है। इसके अभाव में कोई भी जीव जंतु, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे जीवित नहीं रह सकते हैं। इसकी कमी से मानव शरीर में अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। वैज्ञानिकों ने मानव शरीर, उसके विभिन्न अंग एवं अनेक आवश्यक तत्त्वों का विश्लेषण कर उनमें जल का अनुपात इस प्रकार निश्चित किया है।

नाम अवयव	जल का अंश
शरीर	70 प्रतिशत
लार	99.5 प्रतिशत
आमाशयिक स्राव	97.5 प्रतिशत
मूत्र	93.3 प्रतिशत
पित्त	88.00 प्रतिशत
माँसपेशियाँ	75.00 प्रतिशत
पसीना	56.8 प्रतिशत
हड्डी	13.00 प्रतिशत
रक्त	79.00 प्रतिशत

III. संतुलित आहार

स्वस्थ शरीर के लिए संतुलित आहार का होना आवश्यक होता है। व्यक्ति भूख मिटाने के लिए किसी प्रकार का खाद्य पदार्थ खाकर तथा पानी पीकर तृप्ति कर लेता है, लेकिन इससे शरीर की सभी आवश्यकतायें पूरी नहीं होती हैं। संतुलित आहार का उद्देश्य है शरीर में शक्ति, गर्मी, शारीरिक वृद्धि तथा रोगों से शरीर की रक्षा करना है। इसके अन्तर्गत उचित मात्रा में कार्बोज, वसा, प्रोटीन लवण, विटामिन्स होते हैं।

मनुष्य को अपने भोजन में कौन से तत्त्वों की कितनी मात्रा लेनी चाहिये, इस बात पर निर्भर करता है, कि वह कितना कार्य करता है, शारीरिक

टूट-फूट कितनी होती है तथा दैनिक कार्यों के लिए कितनी कैलोरी ऊर्जा की आवश्यकता है। इन्डियन कौंसिल आफ मेडिकल रिसर्च की पोषाहार समिति 1981 ने इस सम्बन्ध में कुछ मापदण्ड निश्चित किये हैं। इन मापदण्डों की तालिका से आवश्यकतानुस ऊर्जा (कैलोरी), प्रोटीन, कैल्शियम, लोहा, विटामिन्स की आवश्यकता का बोध होता है।

वयस्क पुरूष के लिए संतुलित आहार

क्र0 सं0	विवरण	बैठने का काम शा0हा0 ग्राम	माँ0हा0 ग्राम	मध्यम वर्ग शा0हा0 ग्राम	माँ0हा0 ग्राम	अधिक परिणाम शा0हा0 ग्राम	माँ0हा0 ग्राम
1	2	3	4	5	6	7	8
1.	अनाज	400	400	475	425	650	650
2.	दालें	70	55	80	65	80	65
3.	हरीपत्ती वाली सब्जियाँ	100	100	125	125	125	125
4.	अन्य सब्जियाँ	75	75	75	75	100	100
5.	जमीकंद	75	75	100	100	100	100
6.	फल	30	30	30	30	30	30
7.	दूध	200	100	200	100	200	100
8.	घी, तेल	35	40	40	40	50	50
9.	माँस, मछली	-	30	-	30	-	30
10.	अण्डा	-	30	-	30	-	30
11.	शकर, गुड़	30	30	40	40	55	55
12.	मूँगफली	-	-	-	-	50	50

वयस्क स्त्री के लिए संतुलित आहार

क्र0 सं0	विवरण	बैठने का कार्य शा0हा0 ग्राम	मॉँ0हा0 ग्राम	मध्यम वर्ग शा0हा0 ग्राम	मॉँ0हा0 ग्राम	परिश्रम कार्य शा0हा0 ग्राम	मॉँ0हा0 ग्राम	अतिभोजन शा0हा0 ग्राम	मॉँ0हा0 ग्राम
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
1.	अनाज	300	300	350	550	475	475	50	100
2.	दालें	600	45	70	55	70	55	-	10
3.	हरीपत्ती वाली सब्जियाँ	125	125	125	125	125	125	125	125
4.	अन्य सब्जियाँ	75	75	75	75	100	100	-	-
5.	जिमीकंद	50	50	75	75	100	100	-	-
6.	फल	30	30	30	30	30	30	-	-
7.	दूध	200	100	200	100	200	100	-	-
8.	घी, तेल	.30	35	35	40	40	45	-	15
9.	माँस, मछली	-	30	-	30	-	30	10	20
10.	अण्डा	-	30	-	30	-	30	-	-
11.	शकर, गुड़	30	30	30	30	40	40	-	-
12.	मूँगफली	-	-	-	-	40	40	-	-

उपर्लिखित तालिकाओं में कार्बोहाइड्रेट तथा वसा की मात्रा दर्शायी नहीं गयी है, किन्तु निर्देश दिये गये हैं, कि कार्बोहाड्रेट्स तथा वसा की मात्रा क्रमशः इतनी हो जाय कि जिससे 70 प्रतिशत तथा 12 से 20 : ऊर्जा प्राप्त हो सके। फासफोरस की मात्रा भी नहीं दर्शायी गयी है क्योंकि जिन पदार्थो से कैल्शियम मिलता है उन्हीं से फासफोरस स्वतः प्राप्त हो जाता है।

संतुलित भोजन में निम्नलिखित बातें अनिवार्य हैं :

(1) सभी भोज्य तत्त्वों का उत्तम एवं उचित समन्वय हो।

(2) भोजन शारीरिक आवश्यकताओं के अनुरूप पोषक तत्त्व प्रदान करता हो।

(3) भोजन वांछित ऊर्जा तथा ऊष्मा प्रदान करता हो।

(4) जिसमें वांछित शारीरिक वृद्धि होकर प्रतिदिन की शारीरिक टूट -फूट की मरम्मत हो सके।

भोज्य समूह

पाँच भोज्य समूह माने गए हैं :

	शारीरिक निर्माण करने वाले पदार्थ	संरक्षण देने वाली सब्जियाँ	संरक्षण देने वाले फल	शक्तिदायक पदार्थ	भोजन
1.	दूध, पनीर, दही, छाछ, लस्सी आदि	शलजम और मूली के पत्ते	पपीता, संतरा टमाटर, नींबू चीकू, आँवला अमरूद आदि	घी मक्खन वनस्पति तेल, आदि	चावल गेहूँ, मक्का ज्वार बाजरा
2.	दालें, सोयाबीन मूंगफली, अनाज	फूलगोभी पातगोभी, सरसों चौलाई	- -	- केला, गुड़	आलू, रतालू चीनी
3.	अण्डा, माँस	गाजर, कद्दू भिंडी, बैंगन, चुकन्दर, टिण्डा धान, सेम आदि	-	-	-

IV. भोजन की पौष्टिकता बढ़ाने के सरलतम उपाय

1. यदि हाथ की चक्की का पिसा आटा चोकर सहित काम में लाया जाता है, तो पौष्टिकता बढ़ जाती है।
2. हाथ का कुटा चावल ही भोजन का अंग होना चाहिए।
3. छिल्के सहित दालें जहाँ तक सम्भव हो काम में लाना चाहिए।
4. चावल व दालों के अतिरिक्त उबले पानी को फेंकने के बजाय रसा या सूप को काम में लाना चाहिये।
5. किसी भी भोज्य पदार्थ को उबालने के लिए सोडा या बैकिंग पाउडर काम में नहीं लाना चाहिये, अन्यथा थायमिन विटामिन नष्ट हो जाता है।
6. सब्जियों को काटकर अधिक देर तक खुले रखने से पोषक तत्त्वों का ह्रास हो जाता है।
7. आटा गूँथते समय उसमें हरी पत्तियाँ (मेथी, पालक) आदि डालने से भोजन में खनिज लवण की मात्रा बढ़ जाती है।
8. अनाजों तथा दालों में खमीर विटामिन "बी" बढ़ा देते हैं।
9. गेहूँ के साथ दालों को पिसवाकर उस आटे की रोटी से खनिज लवण, और प्रोटीन अधिक मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है।
10. कच्ची खायी जा सकने वाली सब्जियों को कच्चा ही खाया जाय तो उनकी पौष्टिकता बढ़ायी जा सकती है।

11. अकुंरित दालों का भोजन में प्रयोग विटामिन "बी" और "सी" की वृद्धि करता है।
12. गेंहूँ के साथ-साथ ज्वार, और चना आदि खाने से संतुलित आहार मिल जाता है।

V. पुरुषों के लिए संतुलित आहार योजना

भारतीयों के लिए प्रस्तावित संतुलित आहार योजना 1981 के अनुसार एक व्यस्क पुरुष के भोजन में विभिन्न तत्वों की मात्रा निम्नलिखित तालिका के अनुसार होनी चाहिए।

खाद्य पदार्थ	बैठ्कर काम करने वाले ग्राम	साधारण कार्य ग्राम	कठिन कार्य ग्राम
अनाज	460	520	670
दाल	40	50	60
पत्तेदार सब्जियाँ	40	40	40
अन्य सब्जियाँ	60	70	80
जड़वाली सब्जियाँ	50	60	80
दूध	150	200	250
तेल तथा वसा	40	45	65
चीनी तथा गुड़	30	35	55
कुल मात्रा	870 ग्राम	1020 ग्राम	1300 ग्राम

वृद्धावस्था में चपायचप ऊर्जादर (Metabolic energy) में कमी आने लगती है। अतः उपरोक्त तालिका से 55 वर्ष की उम्र में 3 प्रतिशत तथा 55 से 75 वर्ष तक 7.5 प्रतिशत और 75 वर्ष के ऊपर 10 प्रतिशत की कमी करनी चाहिए।

VI. शिशुओं के लिए आहार योजना (0-12 महीने तक)

शिशुओं के लिए चार माह तक की आयु के लिए माँ का दूध सर्वोत्तम आहार है। इस आयु तक यदि माँ का दूध पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो, तो गाय के दूध को पतला करके दिया जा सकता है, किन्तु 4 माह के पश्चात अतिरिक्त आहार की आवश्यकता होती है। इसके लिए दूध, उबले आलू, केला, हरी सब्जियाँ, दी जा सकती हैं। 5-6 महीने के बाद ज्वार बाजरे की खिचड़ी तथा दलिया भी दिया जाना चाहिए।

बालकों के लिए आहार योजना

खाद्य पदार्थ	बालक		बालिकायें	
	1-3 वर्ष	4-6वर्ष,	10-12 वर्ष	10-12 वर्ष
अनाज	175	270	420	380
दालें	35	35	45	45
पत्तेदार सब्जियाँ	40	50	50	50
अन्य सब्जियाँ	20	30	50	50
जड़वाली सब्जियाँ	10	20	30	30
दूध	300	250	250	250
तेल/वसा	15	15	40	35
चीनी तथा गुड़	30	40	45	45

VII. महिलाओं के लिए आहार योजना

खाद्य पदार्थ	बैठकर काम करने वाली महिलायें ग्राम	साधारण कार्य ग्राम	कठिन परिश्रम का कार्य ग्राम
अनाज	410	440	575
दालें	40	45	50
पत्तेदार सब्जियाँ	100	100	50
अन्य सब्जियाँ	40	40	100
जड़वाली सब्जियाँ	50	50	60
दूध	100	150	200
तेल व वसा	20	25	40
गुड़ तथा चीनी	20	20	40

VIII. गर्भावस्था तथा स्तनपान के दौरान महिलाओं के लिए अतिरिक्त आहार

खाद्य पदार्थ	गर्भावस्था	कि0 कैलौरी	स्तनपान के समय	कि0 कैलोरी
अनाज	35	118	60	203
दालें	15	52	30	105
दूध	100	83	100	83
तेल व वसा	-	-	10	90
गुड़ तथा चीनी	10	40	10	40
कुल	160	293	210	521

XI. कुपोषण की समस्या

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि संतुलित आहार का जीवन में इतना अधिक महत्त्व होने पर भी केवल कुछ ही प्रतिशत ऐसे लोग हैं, जो संतुलित आहार का सेवन कर पाते हैं। इसका कारण केवल गरीबी ही नहीं हैं आज अन्य कारण भी महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। अपर्याप्त पोषण से पीड़ित भारत के लगभग 75 प्रतिशत व्यक्तियों में 1 से 5 वर्ष के बच्चों की स्थिति तो अत्यंत शोचनीय है। लगभग 30 से 40 प्रतिशत बच्चे प्रोटीन कैलोरीज के अभाव से ग्रस्त हैं। आइरन तथा विटामिन के अभाव में लगभग 60 प्रतिशत बच्वें के खून की कमी (एनेमिया) से ग्रसित रहते हैं। विटामिन ''ए'' के अभाव में अनेक बच्चे अंधे हो जाते हैं। आयरन तथा कैल्शियम की कमी से अधिकांश युवक तथा महिलायें परेशान रहती हैं। कुपोषण एक गम्भीर स्वास्थ समस्या है, जिसके लिए न केवल गरीबी बल्कि अज्ञानता, आहार सम्बन्धी गलत प्रथायें, सफाई का कम ज्ञान, भोजन पकाने की गलत त्रुटि, खाने की त्रुटि, पर्याप्त संतुलित करके न खाने की आदत आदि जिम्मेदार हैं। सामान्य रूप से कुपोषण के निम्न कारण हैं :-

1. पर्याप्त खाद्यान्नों का अभाव :
   व्यापारीकरण।
   ज्ञान का अभाव।
   उपयुक्त भूमि का का अभाव।
   दैवी प्रकोप
   अच्छे बीजों की कमी।
   सिंचाई व्यवस्था की कमी।

2. उर्वरकों का अधिक उपयोग-
   कीटनाशक, दवाओं से स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव।
   रासायनिक खादें पौष्टिकता को कम करती हैं।
   संतुलित फसल का प्रत्यय अर्थहीन।
3. दूध देने वाले पशुओं की कमी-
   -चारागाहों की कमी।
   मशीनरीकरण।
4. गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले व्यक्तियों की संख्या में अनुपातिक वृद्धि।
5. अज्ञानता-
   संतुलित आहार का ज्ञान नहीं।
   पेट भरना ही सम्पूर्ण भोजन।
   स्वास्थ्य शिक्षा की कमी।
6. खाद्यान्नों में मिलावट
7. उचित पाक कला की शिक्षा की कमी।
8. स्वच्छ जल का अभाव।
9. भोजन करने की कला में गड़बड़ी।
10. आत्म नियंत्रण (जीभ पर) की कमी।
11. नये -नये रसायनीकृत खाद्य पदार्थों की बाहुल्यता।

X. कुपोषण से सम्बन्धित रोग–

कुपोषण एक व्याधिकीय अवस्था है, जो एक या अधिक आवश्यक तत्त्वों की कमी या अधिकता के कारण उत्पन्न होती है। इस अवस्था को जैव-रासायनिक तथा शारीरिक परीक्षाओं के द्वारा ही ज्ञात किया जाता है।[1]

कुपोषण की अवस्था को 4 भागों में वर्गीकृत किया गया है :

1. निम्न पोषण (Under Nutrition)

वह अवस्था है, जब भोजन की मात्रा काफी समय तक आहार में कम होती है। इसे भुखमरी भी कह सकते हैं।

1- Malnutrition has been defined as a pathological state resulting from a relative or absolute deficiency or excess of one or more essential nutrients, this state being clinically manifested or detected only by biochemical anthropometric or physical tests.

Jelliffe, D.B.·The Assessment of the Nutritional Slatus of the Community. W.H.O. Monograph, 1966, No-53

2. अतिपोषण (Over nutrition)

जब आवश्यकता से अधिक भोजन की मात्रा लम्बे समय तक ग्रहण की जाती है तब यह दशा उत्पन्न होती है। इससे मोटापा मधुमेह, आदि रोग हो जाते हैं।

3. असंतुलित पोषण (Imbalance nutrition)

आहार तो पूरा लिया जाता है, लेकिन कभी -कभी संतुलित तत्त्व उसमें नहीं होते हैं, कोई तत्त्व अधिक होता है, और कोई कम, इस कारण रोग उत्पन्न हो जातें हैं।

4. विशेष कमी (Special deficiency)

जब काफी समय तक किसी एक विशेष पोषक तत्त्व की कमी होती है, तो रोग का कारण बनता है।

प्रोटीन -कैलोरी कुपोषण

यह अवस्था अधिकतर 6 महीने से तीन वर्ष की आयु तक के बच्चों में प्रोटीन तथा कैलोरी की कमी से हो जाता है। इसमें दो प्रकार के रोग प्रमुख हैं।

1. क्वाशियोरकोर (Kwashiorkor)
2. मरसमस (Marasmus)

क्वाशियोकोर

इस रोग में बालक का वास्तविक वजन कम होता रहता है, लेकिन सूजन (Oedema) के कारण पता नहीं चलता है। ऊपरी भुजा पतली हो जाता है। त्वचा पर फीके धब्बे पड़ जाते हैं। माँसपेशियाँ कमजोर हो जाती है। उसे भूख कम लगती है। वह दुखी तथा कमजोर नजर आता है। उसे प्रायः दस्त लगते हैं। खून की कमी हो जाती है। कभी कभी अतिसार भी हो जाता है।

मरसमर (सूखा रोग)

इस रोग में बच्चे का वजन बहुत कम हो जाता है। ऊपरी भुजा बहुत पतली हो जाती है। शरीर पर झुर्रियां पड़ जाती हैं। कभी दस्त तथा कभी कब्ज हो जाता है। खून की कमी हो जाती है। मानसिक कमजोरी आती है।

खनिज तत्वों की कमी के रोग :–

घेंघा (goitre)

कुछ क्षेत्रों में जहाँ पर पानी में आयोडीन (Iodine) की मात्रा कम होती है वहाँ के निवासियों में घेंघा रोग हो जाता है।

दाँत का रोग (Goitre)

जब पीने के पानी में फ्लूरीन (Fluorine) की मात्रा 0.5 पी0 पी0 एम0 से कम हो जाती है तो दाँतों को अनेक रोग हो जाते हैं।

सूखा रोग तथा लचीली अस्थिरोग

भोजन में कैल्शियम की मात्रा कम होने से ये रोग हो जाते हैं। विटामिन "डी" की कमी से भी ये रोग होते हैं।

विटामिन की कमी से सम्बन्धित रोग

रतौंधी तथा आँखों के रोग

भोजन में विटामिन "ए" की कमी से आँखों के अनेक रोग हो जाते हैं। यह समस्या एक से 5 वर्ष के बच्चों में खासकर पायी जाती है। गाँवों में गर्भवती व दूध पिलाती माताओं में रतौंधी सामान्य रूप से पायी जाती है। विटामिन "ए" की कमी से आँखों की सामान्य चमक कम हो जाती है। आँखों की सफेदी के भाग में भूरापन आ जाता है। आँख की कार्निया वाला भाग खुरदरा हो जाता है। धीरे-धीरे अंधापन आ जाता है। विटामिन "ए" की कमी को दूध, पालक, सोयाबीन, मेथी, गाजर आदि से दूर किया जा सकता है। रोग से बचने के लिए एक से पाँच वर्ष की आयु वाले सभी बच्चों को हर छः महीने में एक बार विटामिन "ए" की दो लाख यूनिट पिलाने से अंधेपन को रोका जा सकता है।

बेरी-बेरी

विटामिन "बी" काम्प्लेक्स की कमी के कारण बेरी-बेरी रोग हो जाता है। जब भोजन में थायमीन की कमी हो जाती है, तब हृदय की कार्यक्षमता में कमी आने लगती है। हृदय की गति तेज हो जाती है। भूख में कमी हो जाती है। हाथों-पावों में जल के अभाव के कारण सूजन आकर चिकत्ते पड़ने लगते हैं। हाथों-पावों की तंत्रिकाओं में स्थायी दर्द रहने लगता है। विटामिन "बी' की पूर्ति के लिए थायमीन इन्जेक्शन दे सकते हैं। हरे पत्ते वाली सब्जियों, केला, आम, सेव, मूँगफली, दलिया, अंकुर निकले अनाज से भी रोग से छुटकारा मिल जाता है।

पेल्ग्रा (Pelegra)

नियासिन की कमी से भूख की कमी, शारीरिक कमजोरी, निरन्तर वजन के कमी, सिरदर्द आदि कष्ट हो जाते हैं। धीरे-धीरे मानसिक कमजोरी, स्मरण शक्ति की कमी तथा अवसाद के लक्षण परिलक्षित होने लगते हैं।

स्कर्वी

विटामिन "सी" की कमी से कमजोरी, थकावट, भूख की कमी, हाथों पैरों में दर्द, नजला, जुकाम, आदि की शिकायत बनी रहती है। अधिक अभाव में स्कर्वी रोग हो जाता है। जिससे मसूढ़े सूजकर स्पंजन के समान फूल जाते हैं तथा दबाने पर रक्त बहने लगता है। दाँत ढीले पड़ जाते हैं। तथा भोजन चबाने में असुविधा होती है।

XI. शिशुओं के लिए भोजन

समय	खाद्य सामग्री	मात्रा
6 बजे प्रातः	दूध	1 गिलास
9 बजे प्रातः	चावल खिचड़ी	6 चम्मच
11 बजे प्रातः	संतरे का रस	आधा कप
1 बजे मध्यान्ह	आलू भुना	एक
4 बजे सायंकाल	गेहूँ की दलिया	6 चम्मच
6 बजे सायंकाल	मसला हुआ केला	
	दूध के साथ	4 चम्मच
8 बजे रात्रि	उबला हुआ पालक	2 चम्मच
11 बजे रात्रि	दूध	एक गिलास

XII. स्कूल न जाने की अवस्था के बच्चों का भोजन

समय	खाद्य सामग्री	मात्रा
प्रातः	दलिया	आधी बड़ी कटोरी
	बिस्कुट	दो
	दूध	एक गिलास
दोपहर का	चपाती	1/2 से एक
भोजन	मूँगदाल	1/2 कप
	चावल	2 चम्मच
सायंकाल	मसला केला	एक
रात्रि भोजन से पहले	दूध	एक गिलास
रात्रि भोजन	आलू-टमाटर	1/4
	रोटी	1/2

XIII. स्कूल जाने वाले बालकों के लिए भोजन

समय	खाद्य पदार्थ	मात्रा
प्रातः	दूध	एक गिलास
	टोस्ट	2 स्लाइस
	अकुंरित चना	2 चम्मच

दोपहर के भोजन से पहले		
	पराठा (भरा)	दो
	अचार जैसे-1	
	सब्जी	5-20 ग्राम
	एक फल	1-2
दोपहर भोजन	रोटी	एक या दो
	चावल	1/2 प्लेट
	पालक-आलू	1/2प्लेट
	सब्जी	1/2 प्लेट
	सलाद	20 ग्राम
सायंकाल		
	दूध	एक गिलास
	आलू के कटलेट	एक
	केला/सेव	एक
रात्रि भोजन		
	रोटी	एक -दो
	अरहर दाल	1/2प्लेट
	रायता	1/2 प्लेट
	मटर की सब्जी	1/2 प्लेट
	सलाद	20 ग्राम

XIV. वृद्धावस्था का भोजन

समय	खाद्य पदार्थ	मात्रा
प्रातः		
	दूध	1/2 गिलास
	अंकुरित अनाज	2 चम्मच
	केला	एक
मध्यकाल (10.11 बजे)	संतरे का रस	एक गिलास
दोपहर भोजन	मूँग की दाल	एक प्लेट
	रोटी	दो
	हरी सब्जी	1 प्लेट

	दही	1/2 प्लेट
	सलाद	20 ग्राम
	अंगूर या अन्य फल	20 ग्राम़
सायंकाल	दूध	एक गिलास
	सेब	दो
रात्रिभोजन		
	रोटी	2
	दाल	1/2
	पत्तेदार सब्जी	1/2प्लेट
	सलाद	20 ग्राम

XV. रक्त की कमी (Anemia)के रोगी का भोजन

समय	खाद्य सामग्री	मात्रा
प्रातः		
	शहद	एक चम्मच
	पानी	एक गिलास
अल्पाहार		
	दूध	एक कप
	दलिया	एक प्लेट
दोपहर भोजन		
	रोटी	3-4
	चावल	1/4 प्लेट
	मूँग की दाल	1/2 प्लेट
	सब्जी	1/2 प्लेट
सायंकाल		
	गेंहूँ का पुलाव	1/2 प्लेट
	दही	1/2 प्लेट
	मसूर दाल	1/2 प्लेट
	मक्का रोटी	1
रात्रि भोजन		
	दूध	एक कप
	रोटी (गेहूँ)	2

XVI. कब्ज की दशा में भोजन

समय	खाद्य सामग्री	मात्रा
प्रातः	नींबू का रस	4 बूँद
	गुनगुना जल मिलाकर	
	शहद	एक गिलास
स्वलपाहार	मक्खन निकला दूध	एक गिलास
	मटर	एक मुट्ठी
	सब्जी का सूप	एक कप
दोपहर का भोजन	रोटी	2
	ज्वार रोटी	एक
	पत्तेदार सब्जी	एक प्लेट
	हरी सब्जी (उबली)	एक प्लेट
	सलाद (मूली, गाजर, खीरा आदि)	1/2
सायंकाल	भुना चना, लैय्या	50 ग्राम
	अमरूद	एक
	रोटी	दो-तीन
	मक्का रोटी	एक
रात्रि भोजन		
	हरी सब्जी उबली	1/2 प्लेट
	रोटी	एक
	मूँगदाल	1/2प्लेट
	पत्तेदार सब्जी	1/2 प्लेट

XVII. अतिसार (Diarrhoea) की दशा में भोजन

समय	खाद्य सामग्री	मात्रा
प्रातः	मट्ठा	एक गिलास
	केला	एक
स्वल्पाहार	रोटी	एक
	सेव का रस	1/2 कप
	शहद	2 चम्मच

दोपहर का भोजन	सोयाबीन दूध के साथ	एक कप
	जौ का पानी	एक कप
दोपहर के बाद	नारियल का जल	एक कप
चाय के समय	नींबू पानी तथा नमक के साथ	एक कप
	केला	एक
सांयकाल	संतरा का रस	1/2 कप
रात्रि भोजन	रोटी	एक
	दाल	एक प्लेट

XVIII. पीलिया (Jaundiee) की दशा में भोजन

समय	खाद्य पदार्थ	मात्रा
प्रातः	सेव का रस	एक कप
स्वल्पाहार	ब्रेड स्लाइस	तीन
	मट्ठा	एक गिलास
	अंकुरित अनाज	1/2 कप
	अधपका केला	एक
भोजन	रोटी	दो-तीन
	आलू की सब्जी	1/4 प्लेट
	दही	एक कप
	पपीता	100 ग्राम
	मूली	एक
रात्रि भोजन	दूध के साथ सोयाबीन	दो कप
	गाजर	एक
	केला	दो
सोने के समय	अंगूर का रस	एक कप

प्रत्येक रोग में भिन्न-भिन्न आहार दिया जाता है, यदि आहार चिकित्सा तन्मयता के साथ की जाय, तो रोगी को काफी आराम मिलता है, रोग की गम्भीरता कम होती है, रोग के लक्षण दूर होने लगते हैं तथा शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।

●●●

अध्याय-20

जड़ी बूटी चिकित्सा

वनस्पति कई प्रकार की होती है। एक वह जो जलाने, खाद्य तथा उपकरण बनाने के काम आती है, दूसरी वह जिन्हें खाकर प्राणी अपना जीवनयापन करता है, तीसरा वर्ग औषधियों का है। वे देखने में तो घास, पात सी लगती हैं, लेकिन अपने विशेष गुणों के कारण रोग निवारण, आरोग्यवर्धक तथा परिशोधन के काम आती है। चिकित्सा जगत में इन्हीं की प्रमुखता है। आयुर्वेद से लेकर एलोपैथी तक की अनेक चिकित्सा पद्धति के उपचार कार्य में वनौषधियों के ही विभिन्न रूपान्तर काम में लायें जाते हैं, प्रकृति के दिये गये अनेक वरदानों में वनौषधि को भी एक ऐसा वरदान कहा जाता है। जिनसे शारीरिक और मानसिक व्याधियों के निवारण में अभूतपूर्व सफलता मिली है। इसी मान्यता के कारण धार्मिक ग्रन्थों में पौधों को देवताओं के समान मानकर पूजा अर्चना का स्वरूप निश्चित किया गया था।

मानव शरीर वनस्पतियों से ही निर्मित है। वनस्पति ही मनुष्य को संतुलित आहार के माध्यम से वह प्राण शक्ति देती है, जो जीवनी शक्ति के रूप में संव्याप्त है। शरीर में जिस खनिज जलांश, विटामिन,आदि की कमी है, इसे ही पूरा करने का दायित्व वनस्पति वर्ग पर आता है। आश्चर्य की बात है कि इनकी इतनी महत्ता होने पर भी इनका न्यूनतम उपयोग किया जाता है। हर जड़ी बूटी स्वयं में एक पूर्ण योग है जिसमें उसके उपयोगी तत्त्वों के साथ-साथ दुष्प्रभावों को निरस्त करने वाला ''एण्टीडोट'' भी साथ में मिला हुआ है। इस प्रकार एक ही औषधि रोग विशेष में प्रयुक्त होने पर पूर्ण प्रभावी सिद्ध होती है। शोथ (इडिमा) से पीड़ित किसी रोगी को यदि मूत्र विरेचक द्रव्य दी जाय तो उसकी शोथ तो तुरन्त जाती है परन्तु साथ ही अधिक मूत्र आने के कारण रक्त में विद्यमान हृदय की माँसपेशियों व सारे शरीर के कोषों में रसायनिक क्रिया के लिए उत्तरदायी पोटेशियम भी मूत्र मार्ग से चला जाता है। इसकी रक्त में कमी की पूर्ति के लिए एलोपैथी में हमेशा पोटेशियम लवण भी साथ-साथ देते हैं। इससे अनेक अवांछनीय लक्षण भी प्रकट हो जाते हैं। यदि इसी शोथ को उतारने के लिए पुनर्नवा दिया जाय तो यह समस्या खड़ी नहीं होगी। इसमें पोटेशियम अपने स्वाभाविक स्वरूप में प्रचुर मात्रा में विद्यमान.है। एक ही औषधि सर्वपूर्ण होने के कारण रोग के अनेकानेक पक्षों से स्वय ही मोर्चा ले लेती है।

महत्त्वपूर्ण जड़ी बूटियाँ

सामान्य रूप से यदि जड़ी बूटियों की गणना की जाय, तो करोणों में इनकी संख्या है। लेकिन यहाँ पर कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जड़ी बूटियों का उल्लेख किया जा रहा है, जिनका उपयोग करने से अनेकानेक रोगों से मुक्ति मिल सकती है। शरीर को स्वस्थ रखा जा सकता है तथा प्रसन्नता से जीवन यापन किया जा सकता है।

I. तुलसी

तुलसी सर्व रोग निवारक तथा जीवनी शक्ति संवर्धक है। इसके समान गुणकारी कोई दूसरी जड़ी बूटी नहीं है, इसीलिए इसे देवतुल्य माना जाता है। तुलसी की सामान्यतय निम्न प्रजातियाँ पायी जाती हैं।

(1) ऑसीमन अमेरीकेनम काली (काली तुलसी)
(2) ऑसमिम बेसिलिकन (मरुआ तुलसी)
(3) ऑसीमम ग्रेटिसिकम (राम तुलसी)(वन तुलसी)
(4) ऑसमिम वेसिलिकम मिनियम
(5) ऑसीमम किलिकपडचेरिकम (कर्पूर तुलसी)
(6) ऑसीमम सैक्टम (श्री तुलसी तथा कृष्णा तुलसी)
(7) ऑसीमम विरोदी

इनमें ऑसीमम सैक्टम की प्रधानता तथा पवित्र तुलसी माना जाता है। इसकी दो प्रधान प्रजातियाँ हैं। श्री तुलसी जिसकी पत्तियाँ हरी होती हैं। गुण धर्म की दृष्टि से काली तुलसी को ही श्रेष्ठ माना गया है।

तुलसी का पौधा 1 से 3 फुट ऊंचा शाखायुक्त, वैगनी आभा लिए होता है। पत्र 1-2 इंच लम्बे अण्डाकार आयताकार होते हैं। पुष्प मंजरी अतिकोमल एवं 8 इंच लम्बी होती है।

रासायनिक संगठन

तुलसी में अनेक जैव सक्रिय रसायन पाये जाते हैं। जिनमें ट्रेनिन, सैवोनिन ग्लाइकोसाइड तथा एल्कलाइड्स प्रमुख हैं। इसमें एक प्रकार पीला उड़नशील तैल होता है। इस तेल में यूजीनाल, मिथाइल ईथर कार्वाकोल आदि पाया जाता है। इसमें पत्तों में 83 मिलीग्राम प्रतिशत विटामिन ''सी'' एवं 2.5 मिलीग्राम प्रतिशत कैरोटीन होता है। इसके अतिरिक्त बीजों में श्लेष्मक प्रचुर मात्रा में होता है। तुलसी में विद्यमान रसायन कीटनाशक, कीट प्रतिकारक तथा अत्यधिक जीवाणु नाशक होता है। तुलसी की टी0बी0 नाशक क्षमता विलक्षण है। तुलसी कफ, बात, श्वास, खाँसी तथा दुर्गन्धनाशक है।

व्यावहारिक प्रयोग

प्रत्येक भाग औषधीय के रूप में तुलसी का प्रयोग किया जाता है। जड़, पत्र

बीज, व पंचांग का प्रयोग होता है।

मात्रा- रस की 10 से 20 ग्राम

बीज चूर्ण 1 से 2 ग्राम

क्वाथ 1 से 2 औंस

खाँसी

खाँसी तथा गला बैठने पर तुलसी की जड़ सुपारी की तरह चूसी जाती है। काली तुलसी का रस डेढ़ चम्मच काली मिर्च के साथ देने से खाँसी का वेग शांत हो जाता है।

फेफड़े में खरखराहट की आवाज आने व खाँसी आने पर तुलसी की सूखी पत्तियाँ ४ ग्राम मिश्री के साथ सुबह शाम देते हैं।

श्वांस रोग

श्वांस रोगों में तुलसी के पत्ते काले नमक के साथ सुपारी की तरह मुँह में रखने पर लाभ होता है। इसके अतिरिक्त तुलसी का रस 10 ग्राम शहद 5 ग्राम के साथ सुबह शाम देने पर लाभ होता है।

जुकाम

जुकाम में तुलसी का पंचांग व अदरख समान मात्रा में लेकर क्वाथ बनाते हैं। इसे दिन में तीन बार देते हैं।

ज्वर

तुलसी का क्वाथ तीन-तीन घंटे में देने से लाभ होता है। अथवा तीन ग्राम रस मधु के साथ तीन-तीन घंटे से देते हैं। सामान्य नियम सभी प्रकार के ज्वरों के लिए यह है कि बीस तुलसी दल एवं दस काली मिर्च मिलाकार क्वाथ पिलाने से तुरंत ज्वर उतर जाता है।

वमन

तुलसी पत्र रस तथा मधु व छोटी इलायची, अदरख का रस मिलाकर देने से लाभ होता है।

दस्त

दस्त लगने पर तुलसी पत्र भुने जीरे के साथ मिलाकर (दस तुलसी दल 1 माशा जीरा) शहद के साथ दिन में तीन बार चटाने से लाभ मिलता है।

अपच

अपच में तुलसी की मंजरी को काले नमक के साथ दिन में तीन बार लेने पर लाभ होता है।

अतिसार

बालकों के संक्रामक अतिसार रोग में तुलसी के बीज पीसकर (एक चुटकी गोदूध) मिलाकर पिलाने से लाभ होता है।

उदर स्थल

उदर शूल में तुलसी दलों को मिश्री के साथ दिया जाता है।

दाद, खाज, खजुली

दाद, खाज तथा खजुली में तुलसी पंचाग को नीबू के रस में मिलाकर लेप करने से लाभ होता है।

फोड़ा

उठते हुये फोड़े में तुलसी के बीज एक माशा तथा दो गुलाब के फूल पीसकर ठण्डाई बनाकर चार-पाँच बार पीने से लाभ होता है।

पित्ती

पित्ती निकलने पर मंजरी व पुनर्नवा की पत्ती समान भाग लेकर क्वाथ बनाकर पिलाते हैं।

चेहरे के मुहाँसे

चेहरे के मुहाँसों में तुलसी पत्र एवं संतरे का रस मिलाकर रात्रि को चेहरा धोकर अच्छी तरह लेप करते हैं।

आधा सीसी दर्द

आधा सीसी दर्द में तुलसी की छाया में 2 ग्राम सुखायी मंजरी शहद के साथ दी जाती है। असाध्य सिर दर्द में तुलसी पत्र रस कपूर के साथ मिलाकर सिर पर लेप करते हैं।

पेशाब में जलन

तुलसी बीज 6 ग्राम रात्रि में 150 ग्राम जल में भिगोकर प्रातः पीते हैं। तुलसी रस को मिश्री के साथ सुबह शाम लेने से भी जलन में आराम मिलता है।

धातु दौर्बल्य

तुलसी के बीज 1 माशा, गाय के दूध में प्रातः एवं रात्रि में लेने से लाभ होता है।

सर्प एवं बिच्छू दंश

तुलसी का प्रत्येक हिस्सा सर्प विष में उपयोगी है। जिस स्थान पर सर्प काटा हो, वहाँ पर तुलसी की जड़ को मक्खन या घी में घिसकर उस पर लेप करना चाहिये। जैसे-जैसे विष खींचता जाता है। वैसे-वैसे लेप का रंग सफेद से काला होता

जाता है। काली परत को हटाकर फिर ताजा लेप करते हैं। विच्छू दंश मे भी इस लेप का उपयोग करते हैं तथा तुलसी पत्र को चौगुने जल में घोटकर पाँच-पाँच मिनट में पिलाने से पीड़ा शान्त होती है।

तुलसी एक प्रकार से सारे शरीर का शोधन करती है, जीवनी शक्ति का संवर्धन करती है। वातावरण का शोधन करती है तथा सभी प्रकार के रोगों का हनन करती है।

II. नीम

नीम में सभी प्रकार के स्वास्थ्यवर्धन के गुण पाये जाते हैं। यह वृक्ष 40 से 50 फीट की ऊचाई तक ऊँचा होता है। जिसमें चारों ओर शाखायें-उपशाखायें निकली रहती हैं। इसके लगभग सभी अंग अत्यंत कटु होते हैं। पत्ते 1 से 3 इंच लम्बे, 1 इंच चौड़े, मालाकार 5 से 8 जोड़ों में होते हैं। फूल सफेद रंग के होते हैं। फल गोल कच्ची अवस्था में हरे तथा पकने पर पीले हो जाते हैं। इन फलों का जो बीज होता है उसका तेल निकाला जाता है।

रसायनिक संगठन

नीम के कड़वे पदार्थ का विश्लेषण सर्वप्रथम कार्निस ने 1856 ई0 में किया। उन्होंने मार्गोसिन रसायन इसका नाम दिया। इसके अतिरिक्त निम्बडिन डेसएसिटाइल, निम्बन, निम्बनिन, निम्बोस्टीकाल, टैनिन आदि रसायन पाये जाते है। नीम की पत्तियों में क्वसेटिन होता है जो जीवाणु, नाशक पदार्थ है। नीम का तेल क्षय रोग को जन्म देने वाला कीटाणु माइक्रो वैक्टीरियम का नाश करता है। इसके अतिरिक्त टाइफाइड, कालरा, न्यूमोनिया आदि के उत्तरदायी जीवाणु विषाणु समूहों को नष्ट करता है।

औषधि के रूप मे नीम की छाल, पुष्प, कोपल, बीज, सिरायें, सभी उपयोग में लाये जाते हैं। नीम का तेल भी निकाला जाता है, जो अनेक रोगों में काम आता है।

रोगोपचार

यह रक्त शोधक है। 21 पत्तियों तथा सिरकों को प्रातःकाल 21 दिन पीने से रक्त साफ हो जाता है। नीम की पत्तियों को काढ़ा विषाण विरोधी क्षमंतायें उत्पन्न करता है।

नीम की पत्तियों का रस रक्त शर्करा को कम करता है। यह एड्रनलीन के प्रभाव से उत्पन्न हाइपर ग्लाईसीमिया को भी रोक देता है।

त्वचा के सभी प्रकार के रोगों में नीम की छाल का लेप लाभकारी होता है।

नीम की डाली से दातून मुख की दुर्गन्ध दूर करती है।

नीम के पत्ते घावों को भरने, कुष्ठ रोगों को मिटाने, जू तथा कीड़े मारने के लिए प्रयुक्त होते हैं।



नीम के फूलों की पुल्टिस त्वचा विस्फोटों में लाभ करती है।

नीम का तेल दर्द नाशक, सूजन नाशक होती है।

III. आँवला

संस्कृत में आँवले को आमलकी, आदिफल, धात्रीफल आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। कहा जाता है कि आँवले का प्रयोग करके च्यवन ऋषि पुनः यौवन को प्राप्त हुये थे। आँवले का वृक्ष मध्यम ऊँचाई का लगभग 20 से 25 फीट ऊंचा होता है। पत्ते लम्बे आयताकार तथा इमली के पत्तों की तरह होते हैं। फूल पीले रंग के होते हैं तथा गुच्छों में खिलते हैं। फूल गोलाकार हरा तथा पकने पर कम हरा तथा भूरे रंग का हो जाता है। फल स्वाद में थोड़ा खट्टा तथा कसैला होता है। इनका संग्रह माघ व फागुन में करके छाया में सुखाकर धूल रहित शीतल स्थान में सुख जाता है। छाया मे सुखाने से विटामिन "सी" नष्ट नहीं होता है।

रसायनिक संगठन

आँवले के ताजे फल मे जल 81. 2 प्रतिशत, प्रोटीन .5 प्रतिशत,वसा 0. 1 प्रतिशत, खनिज 0.7 प्रतिशत, रेशे 3.4 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट 14.1 प्रतिशत तथा अनेक प्रकार के विटामिन होते हैं। जिनमें निकोटेनिकएसिट तथा विटामिन, "सी" प्रंमुख है। फल के कल्च व रस में क्रमशः 720 तथा 821 मिलीग्राम प्रति 100 ग्राम में

विटामिन सी पाया जाता है। इसके अतिरिक्त लोहा 12 मि0ग्रा0 प्रति 100 ग्रा0, कैल्शियम, 50 मि0 ग्रा0 प्रति 100 ग्राम तथा फासफोरस 20 मिलीग्राम प्रति 100 ग्राम होता है।

आँवले के फल को सम्पूर्ण रूप में लिया जाना ही श्रेष्ठ माना जाता है। बीजों में वसा अम्लों के अतिरिक्त आवश्यक पाचक इनजाइम्स भी पाये जाते हैं। इससे पाचनतंत्र मजबूत होता है।

आँवला शूल निवारक है, क्योंकि इसमे फिलम्बिन होता है जो स्पाज्मोंलिटिक होता है।

वैज्ञानिक अध्ययन करने पर पाया गया है कि अम्लपित्त के रोगियों में आँवला चूर्ण अधिक लाभकारी होता है। तीन ग्राम चूर्ण रूप आँवला दिन में तीन बार दिये जाने पर पेट में जलन, अम्लाधिक के कारण होने वाली अन्य तकलीफों को 15 दिन में समाप्त कर देता है।

आँवला स्कर्वी निरोधक होता है। स्कर्वी विटामिन ''सी'' की कमी के कारण होने वाला रोग है। जिसके कारण सारे शरीर से कहीं से रक्त स्राव होने लगता है। मसूड़े सूज जाते हैं। हड्डियाँ– अपने आप टूटने लगती है। उल्टी में आँवले की रस की चासनी के साथ 2.3 बार लेने से लाभ होता है। चूर्ण 10.15 ग्राम पानी के साथ दिया जाता है। रक्त के वमन का कारण यदि आमाशयिक ब्रण है तो आँवला दही के साथ-साथ अथवा चूर्ण क्वाथ बनाकर गुड़ के साथ दिया जाता है। ताजा आँवला मिश्री के साथ अथवा 25 ग्राम सम भाग शहद के साथ -साथ देने पर खट्टी डकारें अम्लाधिक की शिकायत दूर हो जाती है। पाचन सम्बन्धी सभी विकारों में यह लाभकारी आँवले के शहद के साथ चटनी बनाकर सुबह शाम खाने से यकृत की दुर्बलता व पीलिया दूर हो जाती है।

पैत्तिक शिरीशूल तथा मूत्रावरोध में इसका लेप करते हैं। इन्द्रिय दुर्बलता, मस्तिष्क दौर्बल्य, बवासीर, हृदयरोग, रक्तवमन, खाँसी श्वास तथा महिलाओं के प्रमेह रोगों में यह उपयोगी है।

आँवला एक समग्र औषधि है। पाचन संस्थान भाग तक इसका कार्य सीमित नहीं है। त्रिफला के रूप में इसका प्रयोग सभी जानते हैं।

IV. बेल

रोगों को नष्ट करने की क्षमता के कारण बेल को बिल्व कहा जाता है । यह सारे भारत में विशेषतः हिमालय की तराई में, सूखे पहाड़ी क्षेत्रों में 4 हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। बाजार में दो प्रकार के बेल मिलते हैं- छोटे जंगली और बड़े उगाये हुये। दोनों के समान गुण हैं।

आचार्य चरक और सुश्रुत दोनों ने ही बेल को उत्तम संग्रह बताया है। फल बात शामक होता है इसीलिए इसे पाचन संस्थान के लिए समर्थ औषधि माना गया है। यह शरबत, चूर्ण, पंच रस सभी प्रकार से लाभकारी है। बेल का चूर्ण 20-20 ग्राम



सुबह दोपहर तथा सांय को देने से पेचिश तथा दस्तों में लाभ होता है। इससे आँतों के रोग दूर हो जाते हैं। बेल का फल बवासीर रोकता है तथा कब्ज को तोड़ता है। आँतों की कार्यक्षमता बढ़ती है, भूख लगने लगती है तथा शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है। हैजे की महामारी में अत्यंत अचूक औषधि माना गया है। क्योंकि विषाणु के प्रभाव को निरस्त करने की इसमें क्षमता है।

पेक्टिन जो बेल मज्जा का एक महत्त्वपूर्ण घटक है, वह अपने से बीस गुने अधिक जल में एक कोबाइडल घोल के रूप में मिल जाता है। जो चिपचिपा व अम्ल, प्रधान होता है। यह घोल आँतों पर अधिशोषक एवं रक्षक के समान कार्य करता है। बड़ी आँत में पाये जाने वाले मारक जीवाणुओं को नष्ट करने की क्षमता भी इस पदार्थ में होती है।

V. पुनर्नवा

जो रसायन व रक्तवर्धक होने से शरीर को पुनः नया बना दे, उसे पुनर्नवा कहते हैं। पुनर्नवा का पौधा जब सूख जाता है वर्षाऋतु आने पर इनसे शाखायें पुनः निकल आती हैं, और मृत जीर्णावस्था से दुबारा जीवन प्राप्त कर लेता है। इसी कारण ऋषियों के पुनर्नवा कहते हैं। शुष्क चूर्ण रूप में पौधे के सूखे होने की स्थिति में तथा ताजा हरा उपलब्ध होने की स्थिति में नये पत्ते आने पर प्रयुक्त होता है।



यथासम्भव पुनर्नवा की ताजी जड़ीं, पत्तों या पंचाँग का ही प्रयोग करते हैं।

पुनर्नवा हृदय रोग, उदर शूल, तथा वृक्क के रोगों में लाभकारी है। यह हृदय संकुचन बढ़ाता है, धमनियों तथा कोशिकाओं में रक्त प्रवाह बढ़ाता है, हृदय की माँसपेशियों की कार्यक्षमता में वृद्धि करता है। इसके पंचांग चूर्ण में पाया जाने वाला पोटेशियम नाइट्रोजन इतना प्रभावी है, कि इससे हृदय रोग में लाभ प्रमाणित हो चुका है। इससे माँसपेशियों की संकुचन क्षमता बढ़ती है, विटामिन की मात्रा भी अधिक होती है। अतः विटामिन की कमी के कारण बेरीबेरी रोग में यह लाभकारी होता है।

हृदय रोगों में पुनर्नवा के पत्रों का शाक प्रयुक्त किये जाने का विधान है। यह शोध हटाता है, श्वांस व शूल में तुरंत आराम पहुँचाता है। मूत्र के रूप में इस औषधि का क्वाथ 1 से 3 चम्मच की मात्रा में प्रयुक्त होता है। इसकी कार्यप्रणाली कुछ इस प्रकार की है, कि यह त्रिदोषों को मिटाकर दुर्बलता का निवारण करता है। यह एक सर्वश्रेष्ठ टानिक भी है।

VI. ब्राह्मी

यह बुद्धिवर्धक होती है। इसी कारण ब्राह्मी कहा गया है। यह विशेष रूप से हिमालय की तराई, बिहार, उत्तर प्रदेश में नदी नालों व नहरों के किनारे पायी जाती



है। यह फैलने वाला पौधा हैं इसीलिए दो-तीन फुट ऊँचा होने पर भी छोटा व झुका हुआ दिखायी देता है। इसकी पत्तियों को छाया में सुखाकर पंचांग का चूर्ण का बोतल में बंद करके रखते हैं।

ब्राह्मी मानस रोगों की एक अचूक गुणकारी औषधि है। यह अपस्मार (मिर्गी) के रोग में विशेष लाभ करती हैं। सुश्रुत संहिता के अनुसार ब्राह्मी का उपयोग मस्तिष्क विकृति, नाड़ी दौर्बल्य, अपस्मार , उन्माद, व स्मृतिहास मे किया जाना चाहिये। यह मेधावर्धक होती है। ब्राह्मी पंचांग का सूखा चूर्ण रोगियों को देने पर मानसिक कमजोरी तनाव तथा घबराहट एवं अवसाद में लाभकारी होता है। हिस्टीरिया रोग में तुरन्त लाभ करती है। सिर दर्द, चक्कर, भारीपन तथा चिन्ता में ब्राह्मी तेल लाभकारी होता है।

ब्राह्मी की मुख्य क्रिया मस्तिष्क और मज्जा तन्तुओं पर होती है। मस्तिष्क को शांन्ति देने के अतिरिक्त यह एक पौष्टिक टॉनिक का भी काम करती है। मानसिक थकान से जब कार्यक्षमता घट जाती है तो ब्राह्मी के घटक स्नायुकोषों को पोषण कर उत्तेजित करते हैं। विद्युतीय गुणों के कारण मिर्गी के रोगों में उत्तरदायी केन्द्र का शमन करते हैं। स्नायुकोषों की उत्तेजना कम हो जाती है। उन्माद में भी यह इसी प्रकार काम करती है। दो परस्पर विरोधी मनोविकारों पर विरोधी प्रकार के प्रभाव इस औषधि की विलक्षणता है। चिन्ता, तनाव व मानसिक थकान, स्मृति की कमी में ब्राह्मी का चूर्ण लाभकारी होता है।



VII. शंखपुष्पी

शंख के समान आकृति वाले श्वेत पुष्प होने से इसे शंखपुष्पी कहते हैं। इसकी तीन जातियाँ होती हैं। श्वेत, रक्त तथा नील पुष्पी। इसमें से श्वेत पुष्पों वाली शंखपुष्पी ही औषधि मानी गयी हैं शंखपुष्पी प्रसरणशील पौधा होता है। इसका मूल स्तम्भ बहुवर्षायु होता है। जिससे 10 से 30 सेण्टीमीटर लम्बी, रोमयुक्त शाखायें चारों ओर फैली रहती हैं। जड़ उँगली जैसी मोटी-1-डेढ़ इंच लम्बी होती है। सिरे पर चौड़ी व नीचे सकरी होती है। अन्दर की छाल और लकड़ी के बीच से दूध जैसा रस निकलता है। तना और शाखायें तुलसी के समान पतली सफेद रोमों से भरी होती है। फल हल्के गुलाबी रंग के होते हैं। यह मानसिक रोगों में अत्यंत उपयोगी है। काढ़े के रूप में सुबह शाम 10-12 ग्राम प्रतिदिन लेते हैं। चूर्ण की मात्रा 3 से 6 ग्राम प्रतिदिन होती है। रस की मात्रा 10 से 20 ग्राम होती है।

स्मरण शक्ति बढ़ाने के लिए चूर्ण को मिश्री या चाशनी या दूध के साथ प्रतिदिन प्रातः लेते हैं। ज्वर , होश खो जाने तथा प्रलाप करने पर मस्तिष्क को शक्ति देने तथा नींद लाने के लिए चूर्ण को मिश्री के साथ देते हैं, इसकी ठंडाई भी तैयार कर सकते हैं।

उन्माद व मिर्गी में इसका रस 20 ग्राम दिन में दो बार देना चाहिये।

शैय्या मूत्र का रोग जो बच्चों को बढ़ती उम्र तक बना रहता है रात्रि के समय

दूध के साथ शंखपुष्पी 3 ग्राम चूर्ण देने से लाभ पहुँचता है। उच्च रक्तचाप में चूर्ण को दिन में 3 बार खाते हैं। शरीर की शुद्धिकरण का कार्य भी करती है।

VIII. अश्वगन्धा

इस पौधे की जड़ से अश्व जैसी गंध आती है इसीलिए इसे अश्वगंधा कहते हैं। इसका सेवन करने से अश्व जैसा उत्साह उत्पन्न होता है तथा ऊर्जा का संचार होता है। यह पौधा मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, गुजरात, पंजाब, तथा हिमालय में 500 फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह झाड़ीदार 1 से 4 फुट तक ऊँचा बहुशाखा युक्त होता है। शाखायें गोलाकार चारों ओर फैली रहती हैं। पत्र जोड़े में अखण्डित अण्डाकार, पाँच से दस सेंटीमीटर लम्बे तथा दो से पाँच से0 चौड़े होते हैं। पुष्प छोटे-छोटे कुछ लम्बे, कुछ पीला तथा हरापन लिये हुये होते हैं।

अश्वगंधा की जड़ से कई एल्कालाइन पाये जाते हैं। पत्तियों में भी एल्कलाइन, ग्लूकोष, अमीनों अम्ल आदि पाया जाता है। तने में प्रोटीन अधिकाधिक होती है। कैल्शियम तथा फास्फोरस भी होता है। अश्वगंधा के प्रयोग से आयु बढ़ती है, रक्त लालकणों की वृद्धि होती है, हीमोग्लोबिन की मात्रा बढ़ती है। इसमें हिमेटेनिक पदार्थ होता है, जो रक्त में लोहा बढ़ाता है।

अश्वगंधा की जड़ मुख्यरूप से प्रयोग में लायी जाती है। पत्तियों का भी कहीं -कहीं प्रयोग होता है। इसके बीज जहरीले होते हैं। अश्वगंधा को एक-दो ग्राम दिन मे एक बार चूर्ण के रूप में लेते हैं। क्वाथ का भी उपयोग होता है।

मूलतः अश्वगंधा कृशकाय रोगियों, सूखारोग, से ग्रस्त बच्चों, व्याधि उपरान्त कमजोरियों में शारीरिक मानसिक थकान में यह शक्ति प्रदान करता है। कुपोषण, बुढ़ापे की कमजोरी माँसपेशियों की कमजोरी, क्षय रोग, कफ, बात, पित्त सभी में लाभकारी है।

IX. शतावर

शतावर ग्रीष्म ऋतु के मध्य में एक कांटेदार बेल के रूप में प्रकट होती है। यह किसी वृक्ष के सहारे ऊँचे जड़ जाती है। शाखायें चारों ओर फैल जाती हैं। शतावर की जड़ तथा फलों का उपयोग किया जाता है। गीली दशा में तथा चूर्ण के रूप में दोनों तरह से उपयोग होता है।

शतावर धातु बलवर्धक है, दूषित ऋतु का शोधन करती है। हमारे शरीर में स्थित बात नाड़ी संस्थान का केन्द्र मस्तिष्क है। इस संस्थान से अनेको बात नाड़ियों सारे शरीर में फैली होती हैं। इनमें विद्युत्व रूप प्राण ही प्रत्यक्ष धातु के रूप विचरण करता है। शतावर से संस्थान, बात को धातु व बल प्रदान करती है। शतावर टी0वी0 से लेकर किसी भी जीर्ण रोगी को पुनः बल तथा रोग से लड़ने की सार्मथ्य प्रदान

करती है। शतावर की जड़ सीधे हृदय को प्रभावित करती है।

वीर्यवृद्धि, शुक्र दौर्बल्य के लिए शतावर चूर्ण दूध में उबालकर उपयोग में लाया जाता है। गर्भस्राव, रक्त प्रदर तथा स्तन्यक्षय में यह उपयोगी है। स्त्रियों के लिए /यह उत्तम रसायन है। स्तन वृद्धि तथा दूध की मात्रा बढ़ाने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

यह दृष्टि मंदता को मिटाता है। स्वप्न दोष के लिए दूध में उबाली हुई जड़ देते हैं, तथा मिश्री के साथ-साथ एक चम्मच रोगी को पिलाते हैं। मिर्गी के रोग, मूर्च्छा, अपस्कार, रक्त चाप आदि में भी यह उपयोगी है।

X. मुहलठी या मुलैठी

मुलहठी का पौधा एक-डेढ़ मीटर ऊँचा होता है। जड़ तथा तने से कई शाखायें निकलती हैं। इस पौधें का भूमिगत तना तथा जड़ सुखाकर छिलका हटाकर या छिलके सहित उपयोग किया जाता है। मुहलठी सामान्यरूप से ऊँचाई वाले स्थलों में होती हैं।

मुलहटी तीन से छः ग्राम चूर्णक के रूप में 2- बार लेते हैं। हिचकी में चूर्ण शहद में मिलाकर लेते हैं। आमाशय के रोगों में जल के साथ लेती है। इस का सेवन सिर दर्द, एकत्रित इसका एनिमा, कफ, दमा, दुर्बलता आदि में होता है। पेट की जलन तथा दर्द में अत्यंत लाभकारी है। अल्सर में विशेष रूप से लाभ देती है। मुलहठी के जड़ का चूर्ण पेट के वृणों व क्षतों पर लाभकारी प्रभाव डालते हैं। इससे वे जल्दी भरने लगते हैं। मलहठी चूर्ण गैस्ट्रिक व डिओडनम दोनों प्रकार के अल्सरों को भारने तथा गति को बढ़ा देते हैं। आमाशय व ऑत में किसी भी कारण होने वाली मरोड़ इससे दूर हो जाती है।

हरण (हरीतकी)

यह एक ऊँचा वृक्ष होता है तथा मूलरूप से हिमालय की तलहटी में पाया जाता है। कच्चे फल हो, तथा पकने पर पीले होते हैं। बीज प्रत्येक फल में एक होता है। फल ही औषधि के रूप में प्रयुक्त होते हैं। यह त्रिदोष हरण करने वाली है। यह पेचिस, एवं दस्त में बहुत लाभकारी है। वृहद आँत को संकुचित करके मल को निकालती है। हरण का चूर्ण तीन-या चार ग्राम आवश्यकतानुसार तीन-चार बार लेते हैं। यह सेंधा नमक के साथ कफज़, शकर के साथ पित्तज तथा घी के साथ वातुज रोगों में लाभ पहुँचाती है।

●●●

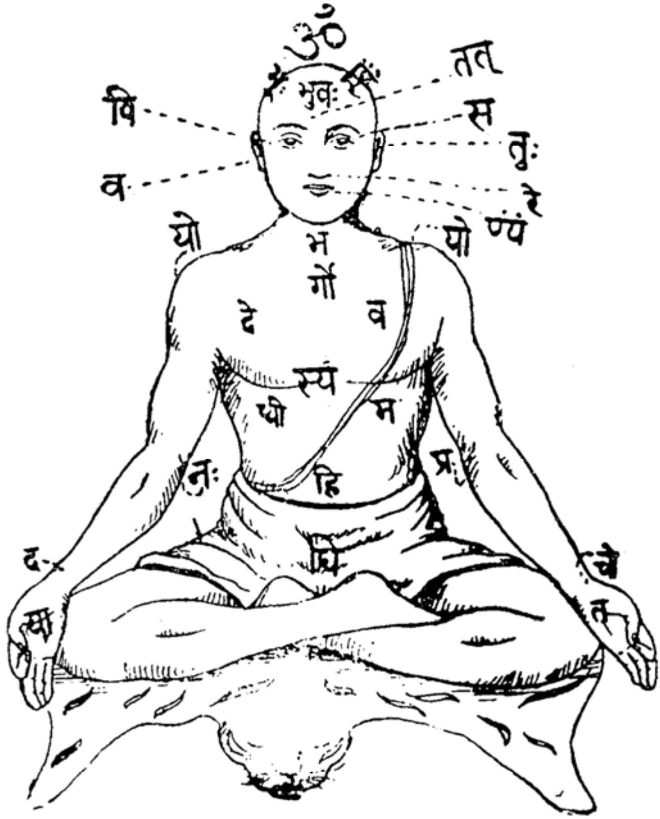
अध्याय-21

मंत्र चिकित्सा

I मंत्र का महत्व

मंत्र विद्या को वैज्ञानिक जानते हैं, कि जीभ से जो शब्द निकलते हैं उनका उच्चारण कंठ, तालू, मूर्धा, ओष्ठ, दन्त, जिह्वा, मूल आदि मुख के विभिन्न अंगों द्वारा होता है। इस उच्चारण काल में मुख के जिन भागों से ध्वनि निकलती है, उन अंगों के नाड़ी तंत्र शरीर के विभिन्न भागों तक फैले हैं इस फैलाव क्षेत्र में कई ग्रन्थियाँ होती हैं जिन पर उन उच्चारणों का दबाव पड़ता है। जिन लोगों की कुछ सूक्ष्म ग्रन्थियाँ रोग ग्रस्त या नष्ट हो जाती हैं उनके मुख से कुछ श्वास शब्द अशुद्ध या रुक-रुक कर निकलते हैं इसी को हकलाना या तुतलाना कहते हैं। शरीर में अनेक छोटी-बड़ी दृश्य-अदृश्य ग्रन्थियाँ होती है। योगी लोग जानते हैं कि उन कोषों में कोई विशेष शक्ति-भण्डार छिपा रहता है। सुष्मना से सम्बद्ध अष्टचक्र प्रसिद्ध है। ऐसी अगणित ग्रन्थियाँ शरीर मे हैं। विविध शब्दों का उच्चारण इन विविध ग्रन्थियों पर प्रभाव डालता है और प्रभाव से उन ग्रन्थियों का शक्ति भण्डार जाग्रत होता है। मंत्रें का गठन इसी आधार पर हुआ है। गायत्री मन्त्र में 24 अक्षर हैं। इनका सम्बन्ध शरीर में स्थित ऐसी 24 ग्रन्थियों से है, जो जागृत होने पर सद्‌बुद्धि प्रकाशन शक्तियों को स्तेज करती हैं। गायत्री मंत्र के उच्चारण से सूक्ष्म शरीर का सितार 24 स्थानों सें झंकार देता है और उससे एक ऐसी स्वर-लहरी उत्पन्न होती है, जिसका प्रभाव अदृश्य जगत के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों पर पड़ता है।

शब्द विद्या के आचार्य जानते हैं कि शब्द में कितनी शक्ति है और उसकी अज्ञात गतिविधि के द्वारा क्या-क्या परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं। शब्द को ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म का स्फुरण कम्पन उत्पंन करती है, वह कम्पन ब्रह्म से टकराकर ऊँ ध्वनि के रूप में सात बार ध्वनित होता है। जैसे घड़ी का पन्डुलम घड़ी के पुर्जो में चाल पैदा करता है, इसी प्रकार ''ऊँ'' कार ध्वनि-प्रवाह सृष्टि को चलाने वाली गति पैदा करता है, आगे चलकर उस प्रवाह में ह्रीं श्रीं, क्लीं तीन प्रधान सत् ,रज, तम मयी धारायें बहती हैं। तदुपरान्त उसकी और भी शाखा- प्रशाखायें में हो जाती हैं, जो बीज मंत्र के नाम से पुकारी जाती हैं। यह ध्वनियाँ अपने-अपने क्षेत्र में सृष्टि कार्यों का संचालन करती है। इस प्रकार सृष्टि का संचालन कार्य शब्द तत्त्व द्वारा होता है। ऐसे तत्त्व को तुच्छ नहीं कहा जा सकता गायत्री की शब्दावली



ऐसे चुने हुए श्रृंखलाबद्ध शब्दों से बनायी गयी है जो क्रम और कुम्फन की विशेषता के कारण अपने ढंग का एक अद्भुत ही शक्ति प्रवाह उत्पन्न करती है।

दीप राग गाने से बुझे दीप्रक जल जाते हैं, मेघ मल्हार गाने से वर्षा होने लगती है, वेणुनाद सुनकर सर्प लहराने लगते हैं, मृग-सुध बुद्धि खो जाते हैं, गायें अधिक दूध देने लगती हैं। कोयल की बोली सुनकर काम भाव जागृत हो जाते हैं। अमेरिका के डाक्टर हंचिंसन ने विविध संगीत ध्वनियों से अनेक असाध्य और कष्ट साध्य रोगियों को अच्छा करने में सफलता और ख्याति प्राप्त की है। भारत में तांत्रिक लोग थाली को घड़े पर रखकर एक विशेष गति से बजाते हैं, और उस बाजे से सर्प, बिच्छू आदि जहरीले जानवरों के काटे हुए, कण्ठमाला विषवेल भूतोन्माद आदि के रोगी अच्छे हुये हैं। कारण यह है कि शब्दों का कम्पन सूक्ष्म प्रकृति से

अपनी जाति के अन्य परमाणुओं को लेकर ईश्वर का परिभ्रमण करते हुए जब अपने उद्गम केन्द्र पर कुछ ही क्षणों में लौट आते हैं तो उसमें अनेक प्रकार की विशेष विद्युत शक्ति भरी होती है और परिस्थिति के अनुसार उपयुक्त क्षेत्र पर उस शक्ति का एक विशिष्ट प्रभाव पड़ता है। मंत्रें द्वारा विलक्षण कार्य होने का भी यही कारण है। गायत्री मंत्र द्वारा भी इसी प्रकार शक्ति आविर्भाव होती है। मन्त्रेच्चारण में मुख के जो अंग क्रियाशील होते हैं उन भागों में नाड़ी तन्त्र कुछ विशेष ग्रथियों को गुदगुदाते हैं, उनमें स्फुरण होने से एक वैदिक छन्द का क्रमबद्ध योगिक संगीत प्रवाह ईश्वर तत्त्व में फैलता है और अपनी कुछ क्षणों में होने वाली विश्वपरिक्रमा से वापस आते-आते एक स्वजातीय तत्त्वों की सेना वापस ले आता है, जो अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति में बड़ी सहायक होती है, शब्द संगीत के शक्तिमान कम्पनो का पन्च भौतिक प्रवाह और आत्मशक्ति की सूक्ष्म प्रकृति की भावना, साधना, आराध ाना के आधार पर उत्पन्न किया गया सम्बन्ध यह दोनों कारण गायत्री शक्ति को ऐसा बलवान बनाते हैं जो साधकों के लिये दैवी वरदान सिद्ध होता है।

गायत्री मन्त्र को और भी अधिक सूक्ष्म बनाने वाला कारण है, साधक का "श्रद्धामय विश्वास"। विश्वास से हम सभी परिचित हैं। विश्वास के आधार पर लोग भय के कारण अकारण काल के मुख में चले जाते हैं और विश्वास के कारण मृतप्राय लोगों ने नवजीवन प्राप्त किया। लोग अपने विश्वासों की रक्षा के लिए धन, आराम तथा प्राणों तक को हँसते-हँसते गवाँ देते हैं। एकलव्य, कबीर आदि अनेक ऐसे उदाहरण हैं, जिससे प्रकट है कि गुरु द्वारा नहीं, केवल अपनी श्रद्धा के आधार पर गुरु द्वारा प्राप्त होने वाली शिक्षा से भी अधिक विज्ञ बनाया जा सकता है। हिप्नोटिज्म का आधार रोगी को अपने वचन पर विश्वास कराके उससे मन माने कर लेना ही तो है। तांत्रिक लोग मंत्र सिद्धि की कठोर साधना द्वारा अपने मन में कितनी अगाध श्रद्धा जगाते हैं। आमतौर से जिस व्यक्ति के मन में मंत्र के लिए जितनी अधिक श्रद्धा होती है उस तांत्रिक का मंत्र भी उतना काम करता है, जिस मंत्र को अश्रद्धालु साधक चाहे सौ बार कहे कुछ लाभ नहीं होता है। गायत्री मंत्र के सम्बन्ध में भी यह तथ्य बहुत हद तक काम आता है। जब साधक श्रद्धा और विश्वास से आराधना करता है, तो शब्द विज्ञान और आत्म सम्बन्ध दोनों की महत्ता से संयुक्त गायत्री का प्रभाव और भी आधिक बढ़ जाता है। वह एक अद्धितीय शक्ति सिद्ध होती है।

गायत्री मंत्र में 24 अक्षर होते हैं हर अक्षर का स्थान विशेष से सम्बन्ध है तथा उन स्थानों पर एकं ग्रन्थि प्रभावित होती है।

क्र0	अक्षर	ग्रन्थि का नाम	उनसे उभरी शक्ति
1.	तत्	तापिनी	सफलता
2.	स	सफलता	पराक्रम
3.	वि	विश्वा	पालन
4.	तुर	तुष्टि	कल्याण
5.	व	वरदा	योग
6.	रे	रेवती	प्रेम
7.	णि	सूक्ष्म	घन
8.	य	ज्ञावा	तेज
9.	भर	भर्गा	रक्षा
10.	गो	गोमती	बुद्धि
11.	दे	देविका	दमन
12.	व	वराही	निष्ठा
13.	स्य	सिहंनी	धारणा
14.	धी	ध्यान	प्राण
15.	म	मर्यादा	सयंम
16.	हि	स्फुटा	तप
17.	धि	मेघा	दूरदर्शिता
18.	यो	योगमाया	जागृति
19.	यो	योगिनी	उत्पादन
20.	नः	धारिणी	सरसता
21.	प्र	प्रभवा	आदर्श
22.	चो	उष्मा	साहस
23.	द	दृश्य	विवेक
24.	यात	निरंजन	सेवा

गायत्री उपरोक्त 24 शक्तियों की साधना जागृत करती है। ये गुण इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि इनके जागरण से साथ-साथ अनेक प्रकार की सफलतायें, सिद्धियाँ और सम्पन्नता प्राप्त होना आरम्भ हो जाता है। गायत्री साधना कोई अन्ध विश्वास नहीं है, एक ठोस वैज्ञानिक कृत्य है, और उसके द्वारा लाभ भी सुनिश्चित ही होते हैं।

त्रिताप निवारण

समस्त दुःखों के तीन कारण हैं।

(1) अज्ञानता।

(2) अशान्ति।

(3) अभाव।

जो इन तीन कारणों की सीमा से अपने को अलग करने में समर्थ होगा वह उतना ही सुखी बन सकेगा।

अज्ञानता के कारण मनुष्य का दृष्टिकोण दूषित हो जाता है। वह तत्त्वज्ञान से अपरिचित होने के कारण उल्टा सीधा सोचता है, और उल्टे काम करता है उसी के अनुसार उलझनों में फँसता जाता है, और दुखी होता जाता है। स्वार्थ, लोभ, भोग, अहंकार, अनुदारता तथा क्रोध की भावनायें मनुष्य को कर्त्तव्यच्युत करती हैं। वह दूरदर्शिता को छोड़ कर क्षणिक हीन एवं छुद्र बातें सोचता है तथा वैसे ही कार्य करता है, फलस्वरूप विचार और कार्य पापमय होने लगते हैं। पापों का निश्चित परिणाम दुःख है। दूसरी ओर अज्ञानता के कारण वह अपने दूसरों सांसारिक गति विधि के भूत हेतु को नहीं समझता है। फलस्वरूप असम्भव आशायें, तृष्णायें, कल्पनायें किया करता है। उन्हें इस दृष्टिकोण के कारण साधारण सी बातें बड़ी दुःखमय लगता है। आशा के विपरीत घटनायें घटित होने पर दुःखी होता है तथा अज्ञानता के कारण भूलें भी अनेक प्रकार की होती हैं। समीपस्थ सुविधाओं से वंचित रहता है। इस प्रकार अज्ञानता के कारण अनेक मनुष्य दुःख भोगतें हैं।

अशक्ति का अर्थ है - दुर्बलता एवं निर्बलता। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, बौद्धिक आध्यात्मिक निर्बलता तथा दुर्बलता से मनुष्य अपने स्वाभाविक जन्म सिद्ध अधिकारों का भार पूर्ण करने में समर्थ नहीं होता है। फलस्वरूप इससे वंचित रहता है। स्वास्थ्य खराब हो, बीमारी से ग्रसित हों, तो स्वादिष्ट भोजन, मधुर एक सुंदर दृश्य निरर्थक हैं। धन का सुख भी उसे सही अर्थों में प्राप्त नहीं होता है। बौद्धिक निर्बलता के कारण साहित्य काव्य दर्शन मनन चिंतन का रसोस्नन्दन, सत्संग, प्रेम भक्ति आदि से वंचित रहता है।

अभावजन्य दुःख है पदार्थों का अभाव। अन्न जल, वस्त्र, मकान, पशु, भूमि, सहायक, मित्र, औषधि, पुस्तक, शिक्षक आदि के अभाव में विविध प्रकार की पीड़ायें व कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। आवश्यक-आवश्यकताओं को दबा कर संतोष करना पड़ता है, योग्य एवं समर्थ व्यक्ति भी साधनों के अभाव में अपने को अपंग अनुभव करते हैं।

॥ मंत्र के आधार

कई व्यक्ति मन्त्र जप पूजा के विधि विधानों को ही उपासना की समग्रता मानते हैं और जब उससे कोई सात्विक परिणाम नहीं निकलता है तो उसकी निरर्थकता को मानते हैं। एक ओर विज्ञान और बुद्धिवाद ईश्वरीय सत्ता को प्रत्यक्ष न देख पाने से उसकी सत्ता को अस्वीकार करता है। अधिक से अधिक यह मानता है कि प्रकृति किसी प्रकार पदार्थ और प्राणी समुदाय का व्यवसायपरक संतुलन रखता है, इसमें भक्ति करुणा अनुकम्पा जैसा कोई तत्त्व नहीं है और नहीं कर्म फल का सिद्धांत कसौटी पर खरा उतरता है। आत्मा को वह चलते-फिरते पौधों की तरह मानता है।

दूसरी ओर प्रच्छन्न नास्तिकतावादी है, जो पूजा की रिश्वत देकर सीधे - -साधे सभी कामों की मनोकामना पूरी करना चाहते हैं। साथ ही स्वर्ग लोक पाने के योग्य स्वयं को समझते हैं। इस प्रकार सपने का समय तो कट जाता है पर जब प्रत्यक्ष वैभव नहीं प्राप्त कर पाते हैं,तो परोक्ष स्वर्ग पर भी आस्था नहीं रखते हैं। साहस के अभाव में मन की बात नहीं कह पाते हैं और ईश्वर में आस्था ही समाप्त कर देते हैं। इस प्रकार ये मंत्र या पूजा में कोई सार नहीं समझते हैं।

वस्तुतः यहाँ यह भुला दिया जाता है, कि मंत्र जप का लाभ मात्र जीभ से उच्चारण मात्र से नहीं मिलता है। न ही छोटी-मोटी भेंट चढ़ा देने से उपासना पूरी हो जाती है। मंत्र उपचार में जहाँ शब्द शक्ति का महत्त्व है वहाँ उसके प्रयोग का स्तर भी आवश्यक है। मंत्र का उपर्युक्त चुनाव करना तो आवश्यक है ही, पर इससे भी अधिक आवश्यकता इस बात की है कि प्रयोक्ता ने अपना स्तर प्रस्तर बना लिया है अथवा नहीं। इसके लिये आवश्यक तपोभ्यास की आवश्यकता होती है तभी मंत्र जाप का सत्परिणाम मिलता है।

मंत्र का आधार भूत सिद्धांत श्रद्धा है। मंत्र के प्रति अटूटश्रद्धा एवं अडिग विश्वास हो, तो उसका प्रतिफल भी चमत्कारी होगा।

श्रद्धा होने पर ही किसी संत की दी हुई भभूत बहुमूल्य औषधि सिद्ध होती है। पर उसे अविश्वास तथा कौतूहल से प्रयोग करने पर उससे लाभ प्राप्त नहीं होता है।

कहावत शंका '' डायन और मनसा भूत''। झाड़ी से भूत इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं। गायत्री के रक्षा कवच रूप मंत्र के साथ मनुष्य भयानक विपत्तियों से गुजर जाता है। अनेको लोगों ने गायत्री मंत्र की उपासना के फलस्वरूप अनेक प्रकार के कष्टों से छुटकारा पाया तथा अनेक सुविधाओं को प्राप्त करते हुये यह अनुमान लगाया कि उस मंत्र जप में ऐसा वैज्ञानिक समावेश है, कि जिस कारण उपासक के अन्तः भूमि में आवश्यक परिवर्तन होते हैं। वह असफलताओं भग्नाशाओं पर विजय प्राप्त कर प्रगतिशील जीवन की ओर अग्रसर होता है।

"मन्त्र परम लधुं जासु वस" कहकर रामायण में मंत्र की सर्वोपरि शक्ति महत्ता का वर्णन किया है। मंत्र शक्ति की इतनी महत्ता होने पर भी लोग वह सामर्थ्य नहीं उठा पाते हैं, कारण श्रद्धा और विश्वास की कमी है। मंत्र में निहित भावनाओं को प्रखर बनाने के लिए एक परिष्कृत और समर्थ व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है। उसके अभाव में अपना सामान्य प्रभाव ही अभिव्यक्त करके रह जाता है। उससे कुछ विशेष लाभ मिलता नहीं। व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करने का कार्य सत्यनिष्ठा और मधुरता से प्रारम्भ होता है, और जीवन की प्रत्येक क्रिया कलाप पर दृष्टिगोचर होता है। मलिन अन्तःकरण पर पड़ने वाले मंत्र का प्रकाश केवल मात्र उसी सफाई में दिखाई पड़ेगा, जिस तरह मैले शीसे पर पड़ने वाली प्रकाश की किरणें अपना कोई प्रभाव नहीं दिखा पाती है। यदि व्यक्ति की जीवन दिशा अपने दोष-दुर्गुणों को खोजने और उसके स्थान पर सद्गुणों पर प्रतिष्ठित की ओर हो, तब तो उस परिमार्जन का भी महत्त्व है और इस स्थिति में मंत्र जप का प्रभाव देर से पर सही देखने को मिलता है। यदि आहार बिहार रहन-सहन वाणी व्यवहार द्वारा अन्तर्मन मलिनता को दबाये रखती है, तो कितना भी प्रभावक मंत्र क्यों न हो सक्रिय परिणाम न प्राप्त कर सकेगा।

जिस प्रकार सितार के तारों पर क्रम विशेष तरीके से अंगुली रखने पर भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनि तरंगें निकलती हैं उसी प्रकार के मंत्र के अक्षरों का क्रम जिस क्रम से वह अक्षर ऋषियों ने रखे हैं उनका अपना वैज्ञानिक महत्त्व है। गायत्री मंत्र का अर्थ सरल सा यह है कि भगवान हमारी बुद्धि निर्मल कर दें पर उसके अक्षरों का क्रम इस प्रकार का है, कि उसके जप से एक विशेष प्रकार के प्रभाव उत्पन्न करने वाली क्षमता उत्पन्न होती है। गायत्री मंत्र तप से उत्पन्न ध्वनि सारे वातावरण के परमाणुओं को कँपा देने की शक्तिसे ओत-प्रोत है, साथ ही जप करने वाले की भावनाओं के अनुरूप अदृश्य लोक से प्रेरणा, शक्ति और सहायता भी आकृष्ट करने में समर्थ है। वैसे मंत्र जप के अनेको छन्द वेदों में विद्यमान है जिनसे सद्बुद्धि का निर्माण होता है, पर जो विशेषता आदि शक्ति गायत्री में है, वह किसी में नहीं।

मुख द्वारा प्रस्फुटित होने वाली शब्द प्रक्रिया द्वारा दिनभर बातचीत का क्रम चलता रहता है, पर इससे मात्र विचारों एवं जानकारी का आदान-प्रदान होता है, कुछ बातें मात्र ऐसी होती हैं जो निरर्थक समय नष्ट करती है। उनमें काम का सार बहुत कम होता है।

मन्त्रेच्चार में प्रयुक्त होने वाली वाणी का प्रभाव शक्तिशाली होता है। वह शब्द भेद का काम करती है, परिमार्जित व्यक्तियों की परिमार्जित वाणी का वाक या परावाक् कहते हैं। उसका प्रभाव सुनिश्चित रूप से होता है। मन्त्रेच्चारण मे साधना प्राप्त व्यक्ति मात्र जीभ से ही शब्दों का उच्चारण नहीं करते हैं उनकी शेष

''तीनों वाणियाँ मध्यमा, परा और पश्यंती'' जो मुँह से उच्चारित नहीं होती हैं, इनमें मध्यमा चेहरे की भाव-भंगिमा तथा नेत्रें से प्रकट होती है। परा वाणी के साथ शक्ति और प्राणशक्ति होती है। वह कानों से सुनी नहीं जाती पर प्रभाव इतना अधिक करती है, जितना घन्टों बोलते रहने पर भी नहीं हो सकता है। प्रश्यंती वाणी अन्तःकरण और अन्तर्मन से निकलती है। उसी में शाप वरदान देने की ताकत है। इन तीनों वाणियों को प्रखर बनाने हेतु सात्विक आहार, सत्यवचन, मौन आदि को आचरण में लाकर अनेक साधनायें करनी पड़ती हैं।

मंत्र का प्रमुख आधार यही होता है कि उच्चारित होने के उपरांत स्थूल शब्द अन्तःकरण के मर्मस्थल तक गहराई में चला जाता है, और उस शक्ति स्रोत की उर्जा से सम्पन्न होकर ऊपर आता है। जब वह ऊपर आता है तो बेखरी में पश्यंती का वैसा ही प्रभाव होता है, जैसा कि सम्पर्क से धातु के तार में। यह मंत्र साधना जगत को स्पंदित करता है, व्यक्ति को दैवी शक्ति से सम्पन्न बना देता है।

आध्यात्म क्षेत्र मे मंत्र विद्या का चमत्कार सुना, देखा जाता है। उसे परिष्कृत और संयतित वाणी का ही प्रतिफल कह सकते है। मंत्र साधक को अपने व्यक्तित्व को प्रकार का निर्मित करना होता है जिससे जिह्वा से उच्चारित वाणी ध्वनि न रह कर वाक् शक्ति के रूप में प्रकट हो सके और उसके प्रभाव से सूक्ष्म जगत में ऐसे परिवर्तन हो सके जो मंत्र उद्देश्य के अनुरूप परिस्थिति एवं वातावरण उत्पन्न कर सकने में समर्थ हो सके।

मंत्र साधना में वाक् शक्ति अपना विशेष स्थान रखती है। इस वाक् शक्ति में मन, वचन और कर्म से ऐसी उत्कृष्टता उत्पन्न करनी पड़ती है, कि जपा मंत्र शीघ्र ही सहजता से सिद्ध हो जाता है। यदि वाणी दूषित, कलुषित एवं दग्ध स्थिति में हो तो उसके द्वारा उच्चारित मंत्र भी नष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में काफी समय तक उसका पालन करने पर भी सत्परिणाम प्राप्त न होंगे। परिष्कृत वाणी द्वारा उच्चारित मंत्र प्रचण्ड और प्रभावशाली होता है और मनुष्यों के अन्तःस्थल तथा अनन्त अन्तरिक्ष को प्रभावित किये बिना नहीं रहता है। इस वाणी को वाक की मंत्र साधना का प्राण कह सकते हैं। वही मंत्र की आत्मा है। सिद्धियों का उद्‌गम स्थल भी उसी को मानना चाहिये। इस प्रकार मंत्र के द्वारा हम अपना अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं।

III मंत्र का तत्त्व ज्ञान

मंत्र का तत्त्व ज्ञान उसके अक्षरों में निहित होता है। गायत्री वैदिक संस्कृत का एक छन्द है, जिसमें आठ-आठ अक्षरों में तीन चरण यानी कुल 24 अक्षर होते हैं। गायत्री शब्द का अर्थ है प्राण रक्षक। इसकी सन्धि करने से गायत्री मायत्री बनता है। गय का अर्थ होता है प्राण। प्राण की रक्षा करने को त्री कहते हैं। अर्थात

जिस शक्ति का आश्रय लेने पर प्राण का संरक्षण होता है उसे गायत्री कहते हैं। इन 24 अक्षरों में ऐसे 24 सूत्र प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें चरित्र -निष्ठा के व्यक्तित्व और समाज की प्रगति सुव्यवस्था के आधारभूत सिद्धांत कहा जाता है। इस महामंत्र के 9 शब्दों को नवधा भक्ति के सिद्धांत ब्रह्मतत्त्व रूपी नवग्रह कहा गया है। रामायण में परशुराम संवाद में ब्राह्मण के नौ गुणों की चर्चा की गयी है। यह धर्म के दस लक्षणों से मिलते हैं। इन सब अर्थों पर विचार करके कहा जा सकता है कि यह छोटा सा मंत्र भारतीय संस्कृति धर्म एवं तत्त्व ज्ञान का बीज है। ओउम भूर्भवः स्वः यह गायत्री मंत्र का शीर्ष है। शेष आठ-आठ अक्षरों के तीन चरण उसके चार भाग हो जाते हैं। इन चारों का रहस्य चारों वेदों में है।

गायत्री में निहित तत्त्व ज्ञान की दो प्रकार से व्याख्या होती है। एक ज्ञान परक दूसरी विज्ञान परक। ज्ञान परक में ब्रह्मविद्या तथा विज्ञान परक में ब्रह्म शक्ति होती है। इन दोनों को अलंकारिक रूप में ब्रह्म शक्ति होती है। इन दोनों को अलंकारिक रूप में ब्रह्मा की दो पत्नियों के रूप में चित्रित किया है। एक गायत्री और दूसरी सावित्री। गायत्री में योगाभ्यास की ध्यान धारणा है, जबकि सावित्री में तपश्चर्या की प्रेरणा। एक को दर्शन तथा दूसरे को प्रयोग कह सकते हैं।

शब्दों की दृष्टि से इस महामंत्र का अर्थ सरल हो जाता है। ऊँ परमात्मा का स्वेच्चारित नाम है। प्रकृति के गहन अन्तराल से एक दिव्य ध्वनि झंकार के रूप में गूँजती है, ब्रह्म और प्रकृति का बार-बार संयोग आघात होने पर ही तीन गुन पाँच प्राण और पाँच तत्त्व उत्पन्न होते हैं। उन्हीं से पदार्थों और प्राणियों की संरचना होती है। ब्रह्म को आदिशक्ति का कारण माना जाता है। इसी को प्रकृति और पुरुष के मिलन की प्रक्रिया को अनवरत क्रम कहा गया है। प्रत्येक वेद मंत्र में प्रथम ऊँकार लगाने की परम्परा भी है। यही परम्परा इसमे भी प्रेषित है।

प्रथम भूः भुवः स्वः ये तीन लोक हैं– पृथ्वी पाताल और स्वर्ग। अध्यात्म प्रयोजनों में भूः स्थूल शरीर के लिए भुवः सूक्ष्म शरीर के लिए और स्वः कारण शरीर के लिए प्रयुक्त होता है। वाह्य जगत और अन्तर्जगत के तीनों लोकों में ऊँकार अर्थात् परमेश्वर सर्वव्याप्त है।

तत अर्थात् वह ; सवितु अर्थात प्रकाश और ऊर्जा से परिपूरित परमेश्वर; वरेण्य अर्थात् श्रेष्ठ। भर्ग तेजस्वी देव-दिव्य; इन चार शब्दों में परब्रह्म परमात्मा के उन गुणों का वर्णन है– जिन्हें अपनाने का प्रयत्न हर अध्यात्मवादी को करना चाहिये।

सविता-प्रातः कालीन स्वर्णिम सूर्य को कहते हैं। यह ईश्वर की स्वनिर्मित प्रतिमा है। सूर्य से गर्मी-ऊर्जा वाह्य जगत को मिलती है। साधक को प्रतिष्ठा और शक्ति को पाने हेतु अथक पुरुषार्थ करना चाहिये।

वरेण्य-श्रेष्ठ को चुनने योग्य स्वीकार करने योग्य वरिष्ठ। इस संसार में ऊँचा-नीचा भला बुरा सभी पाया जाता है। उसमें श्रेष्ठ को स्वीकार करना चाहिये तथा निकृष्टता का त्याग करना चाहिये। आकर्षक और हितकर में किसका चयन करें यहीं हम धोखा खा जाते हैं। तात्कालिक लाभ के लिए दूरगामी हित साधना की उपेक्षा कर देते हैं। गायत्री मंत्र इसके प्रति सजग करता है कि नीति निर्धारण के समय हजार बार सोचते हैं कि यह वरेण्य है या नहीं; औचित्य न्याय हित का सम्मिश्रण कहाँ तक है या नहीं।

भर्ग शब्द तेजस्विता का संकेतक है। इसमें प्रतिभा, साहसिकता, तत्परता, तन्मयता जैसे तत्त्वों का समावेश है। इसको प्राप्त करके ही प्रगति के पथ पर चलना सम्भव हो सकता है।

''धीमहिं'' शब्द का अर्थ है धारण करना। आदर्शों को व्यवहार में उतारना ही धारणा है। अन्तिम तृतीय चरण में धियों यो नः प्रचोदयात् के अन्तर्गत परम पिता परमेश्वर से प्रार्थना की है कि वह अकेला ही नहीं वरन समस्त जब समुदाय में प्राणी मात्र में ''धी'' तत्त्व की, सद्‌बुद्धि की प्रेरणा करें। यानी सभी प्राणियों को सद्‌बुद्धि प्रदान करें। अपना अनुग्रह एक व्यक्ति पर न हो करके सभी प्राणी मात्र पर करे। प्रचोदयात शब्द से प्रेरणा का अनुरोध है प्रेरणा का अभिप्राय ईश्वरी अनुग्रह। प्रेरणा का अर्थ है कि अन्तःकरण से प्रबल आकांक्षा का प्रदुर्भाव। यह सम्पूर्ण व्यक्तित्व का सार तत्त्व है। मन के निर्देश पर शरीर काम करता है। मन में क्रिया का परिणाम सम्पत्ति का और परिस्थिति के रूप में सामने आता है। उसी अनुरूप सुख और दुःख के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। जिन्हें पाने या हटाने के लिए मनुष्य इच्छा करता है।

IV मंत्र विज्ञान

मंत्र विज्ञान मनन की विद्या और ज्ञान है। अनेक उपलब्धियों में मंत्र विद्या का महत्त्व अनोखा है। इसी सामर्थ्य के कारण ऋषियों को देवपुरुष कहा गया। जिसने मंत्र की साधना की गहराई को अनुभव और हस्तगत किया वही ऋषि है।

मत्रें का शब्द चयन योग विद्या में निष्णांत तत्त्वेत्ताओं ने दिव्य चेतना के साथ सघन अनुभूतियों के आधार पर किया है। यों ये शब्द विन्यास संस्कृति सूत्र और जीवन के उत्कर्ष का भाव संदेश भी है पर इससे अधिक महत्ता शब्द गुन्थन की है। मंत्र का अर्थ है मनन विज्ञान विद्या और ज्ञान। मंत्र शक्ति से मनन का स्वभाव मिलता है। मनन करते हैं बार-बार विचारने को। यानी जिस विचार को बार-बार मन में बिठाने की कोशिश की जाये वह मन का स्वभाव बन जाता है। अतः मंत्र शक्ति से मन तदनुरूप ढलता है।

मंत्र प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्ता उसके स्फोट में है जिसका अभिप्राय ध्वनि विशेष का ईश्वर तत्त्व में होने वाला असाधारण प्रभाव है। शब्द की सामर्थ्य सभी भौतिक शक्तियों से बढ़कर सूक्ष्म और विभेदन क्षमता वाली है। इस बात की निश्चित जानकारी के बाद ही मंत्र विद्या का विकास भारतीय तत्त्व दर्शियों ने किया। हम जो कुछ भी बोलते हैं उसका प्रभाव हमारे व्यक्तिगत और समष्टिगत रूप से सारे ब्रह्माण्ड पर पड़ता है, तालाब में फेंके गये एक छोटे कंकड़ से लहरें दूर तक जाती हैं। उसी प्रकार हमारे मुख से निकला हुआ प्रत्येक शब्द आकाश के सूक्ष्म परमाणुओं में कम्पन्न उत्पन्न करता है। उन कम्पनों से लोगों में अदृश्य प्रेरणा जागृति होती है। प्रत्यक्ष प्रभाव बिखरी बाणी के रूप में सामने आता है। बिखरी वाणी जब विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा सामने आती है, तो वाक् बनती है, उसका विस्तार तीनों लोकों की परिधि तक व्याप्त होता है।

मंत्रें का चयन ध्वनि विज्ञान को आधार मानकर किया गया है। अर्थ का समावेश गौण है। मंत्र सृष्टाओं की दृष्टि में शब्दों का गुंजन ही महत्त्वपूर्ण रहा है।

मानसिक वाचिक एवं उपांशु जप में ध्वनियों के हल्के भारी किये जाने की प्रक्रिया काम में लायी जाती है, इसीलिए उनके सस्वर उच्चारण की परम्परा है। इसका विधान इसी को ध्यान में रखकर बनाया गया। मंत्र जप की दोहरी प्रतिक्रिया होती है। एक आन्तरिक दूसरी वाह्य। आग जहाँ जलती है, वहाँ तो गरम करती ही है साथ ही साथ वायु मण्डल को भी गरम कर देती है। जप ध्वनि का प्रवाह समुद्र की गहराइयों में चलने वाली जल धाराओं तथा ऊपर आकाश में फैली हुई उड़ने वाली हवा की परतों की तरह हलचलें उत्पन्न करता है। उनके कारण शरीर में निहित चक्रों तथा ग्रन्थियों नें विशिष्ट प्रकार का शक्ति संचार होता है।

वेदों में प्रयुक्त हर मंत्र का कोई न कोई देवता होता है। गायत्री उपासना से जो भी लाभ आरोग्य प्राण, धन, सम्पत्ति और अपनी महत्त्वाकांक्षायें आदि पूर्ण होती है, उसकी शक्ति अथवा प्रेरणा सूर्य लोक से आती है। किसी भी मंत्र का जब उच्चारण किया जाता है, तो एक विशेष गति से आकाश के परमाणुओं के बीच बढ़ता हुआ केन्द्र बिन्दु तक पहुँच जाता है। मंत्र जप के समय आवश्यक ऊर्जा मन की शक्ति के द्वारा प्राप्त होती है, इस शक्ति के द्वारा जप के समय की ध्वनि तरंगों को विद्युत तरंगों के रूप में प्रेषित किया जाता है। वह तेजी से बढ़ती हुई कुछ ही क्षणों में दैवी-शक्ति से टकराती है इससे अदृश्य परमाणु मन्दगति से परिवर्तित होने लगता है। इनकी दिशा उल्टी होती है। सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के परमाणु साधक को शारीरिक लाभ और मानसिक प्रेरणा देते हैं।

शब्द की एक शक्ति सत्ता होती है। इन शब्द कम्पन घटकों का विस्फोटक भी अणु विखण्डन की तरह ही हो सकता है। मंत्र द्वारा उपचार के पीछे भी लगभग वैसी ही विधि व्यवस्था निहित होती है। मंत्र का जपात्मक, होमात्मक, तथा दूसरे तप

साधनों तथा कर्मकाण्डों के सहारे अभीष्ट स्फोट किया जा सके। मंत्र आराधना वस्तुतः शब्द शक्ति का विस्फोट ही है।

शब्द स्फोट से ऐसी ध्वनि तरंगे उत्पन्न होती है जिन्हें कानों की श्रवण शक्ति से बाहर की कहा जा सकता है। शब्द आकाश का विषय है। मांत्रिक का कार्य क्षेत्र आकाश तत्त्व रहता है। प्राण शक्ति का संचय योगी वायु के माध्यम से करते हैं। मंत्र के दो वृत्त बनते हैं-एक भावकृत, दूसरा ध्वनिकृत। गति प्रवाह के दो आधार हैं एक भाव दूसरा शब्द। मंत्र के अन्तराल में निहित भावना का नियत निर्धारित प्रवाह एक भावतृप्त बना लेता है। मंत्र शब्दों के कम्पनों द्वारा विष निवारक रोग अदृश्य शक्ति का आकर्षण मनोगति द्वारा मारण मोहन तथा उच्चारण आदि प्रयोग सफलतापूर्वक होते हैं।

V भौतिकवाद में मंत्र

प्राचीनकाल में आत्मिकी सर्व समर्थ थी। आधुनिक युग में भौतिकवाद का बोलबाला है। उसकी सामर्थ्य प्रत्यक्ष है, यदि आत्मिक और भौतिकी के सही रूप को समझा और दोनों को सुनियोजित रूप से संचालित किया जा सके तो सुखद परिस्थितियाँ विनिर्मित हो सकती हैं। ऋषियों का सारा चिंतन प्रतिपादन और समर्थन इसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु था इसलिए इस समस्त विचार परिवार को मंत्र कहा गया और आत्मिकी को मांत्रकी के नाम से जाना गया। मांत्रिकी का क्षेत्र कार्य कलेवर तथा यांत्रिकी का पदार्थ जगत है।

यद्यपि दोनों के कार्य स्थल अलग-अलग हैं फिर भी उद्देश्य एक ही हैं। प्रकृति के अन्तराल में निहित भौतिक शक्तियों को प्रत्यक्ष करने तथा प्रयोग में लाने हेतु विभिन्न उपकरणों की आवश्यकता होती है, इन्हें यंत्र कहते हैं और प्रयुक्त करने की विद्या यांत्रिकी कहलाती है। चेतन के अन्तराल में छिपी दिव्य शक्तियों के प्रकटीकरण एवं प्रयोग के लिए अपनाये गये माध्यमो को मंत्र कहते हैं। मंत्र हर प्रयोजन हेतु अलग-अलग प्रकार के बनते हैं। पर मंत्र में अपना शरीर और मन ही पर्याप्त माना जाता है। इन दोनों की रचना बड़ी रहस्यमय है। साधारणतया शरीर अपने जीवन धारण और निर्वाह साधनों के परिश्रम में लगा रहता है पर यदि उसकी सूक्ष्म संरचना पर ध्यान दें, तो एक नया आन्तरिक रूप दिखाई पड़ता है। षटचक्र, ग्रन्थि संस्थान, उत्पत्तिकायें, प्राण प्रवाहिनी, दिव्य नाड़ियों जैसी अनेक विलक्षणताओं से परिपूर्ण शरीर समाने आता है।

शरीर की संरचना पाँच तत्त्वों एवं विभिन्न रसायनों के सम्मिश्रण से हुई है। इसीलिए इसमें पदार्थ जगत में पायी जाने वाली शक्तियों का समस्त तारतम्य बीजरूप में विद्यमान रहता है। इसी प्रकार शरीर में समाहित प्रकृति शक्तियों के प्रकटीकरण में शरीर साधना के रूप में बने अनेक उपचार काम दे सकते हैं। आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा, नेति, धौति, वास्ति, उपवास, तप आदि साधनों का

उपयोग निरोग समर्थ तथा विशिष्ट बनाने के लिये किया जाता है। मंत्रिकी का यह एक विशिष्ट पक्ष है।

आध्यात्म क्षेत्र में दूसरा क्षेत्र मन है। मस्तिष्क को शरीर के अन्तर्गत ग्याहरवीं इन्द्रिय माना गया है। फिर भी इसकी स्थिति ऊँची है। सामान्यतया मनुष्य मस्तिष्क की क्षमता का 6 प्रतिशत ही उपयोग करता है। शेष सब प्रसुप्त एंव अविज्ञात स्थिति में पड़ा है। यदि उसे जाना जाय और सक्रिय करा जाय, तो आज की तुलना में मानवी सामर्थ्य में अनेक गुनी वृद्धि हो सकती है। मनः क्षेत्र की समग्र क्षमता एवं विलक्षणता उससे कहीं अधिक है, जितनी जानी जा सकती है। इस को जानने हेतु सूक्ष्म जगत की खोज, व्यक्ति की विलक्षणताओं का प्रकटीकरण तथा सामर्थ्य के विशिष्ट स्रोतों की उपलब्धि कहा जा सकता है। आध्यात्म जगत में इसे साधना कहते हैं, इसमें प्रसुप्ति को जागृत एवं निष्क्रिय को सक्रिय किया जाता है।

भौतिकी उत्पादन मात्र कर सकती है, पर उसका उपयोग करने के लिए बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। यह कठिनाई आत्मिकी में नहीं है। प्रयोक्ता अपने शरीर और मन के साथ सदा रहने वाले बिना खर्च के यंत्रों का विशिष्ट उपयोग करके उच्चस्तरीय सामर्थ्य प्राप्त करता है, उस सामर्थ्य से दूसरों की चेतना को भी परिष्कृत कर सकता है जब कि भौतिकी की समर्थता इन दोनों से वंचित है।

आत्मिकी का सर्वोपरि उपचार मंत्र है, इसके बिना अन्य साधनायें शारीरिक मानसिक व्यायाम मात्र रह जाते हैं। चेतना के गहन अन्तराल तक पहुँचने में मंत्रेपचार का आश्रय लेना पड़ता है। इसके साथ-साथ आहार-बिहार में विशेषतायें सम्पन्न करके शरीर को उपचार में प्रयुक्त बनाना पड़ता है। मंत्रेपचार से साधक के चरित्र चिंतन और स्वभाव की उत्कण्ठता उभारना एक अनिवार्य अंग है।

पदार्थ के बिना निर्वाह नहीं हो सकता और प्राणी के बिना पदार्थ की उपयोगिता नहीं। दोनो के समन्वय से ही जीवन का महत्त्व है। आज भी आध्यात्म व विज्ञान, आत्मिकी और भौतिकी, मांत्रिकी एवं यांत्रिकी में उपयुक्त समन्व्यात्मक तालमेल की सफलता पर ही उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना टिकी है।

●●●

अध्याय -22

यज्ञोपचार

यज्ञ का सूक्ष्म विज्ञान किसी भी अणु, परमाणु, तथा ब्रह्माण्ड के रहस्यों से कम आश्चर्यजनक नहीं है। आधुनिक चिकित्सा पद्धति में यद्यपि रक्त में सीधे औषधि पहुँचाने की इन्जेक्शन प्रणाली को ज्यादा प्रभावशाली माना जाता है लेकिन शरीर में रस-रक्त स्राव विहीन नाड़ियां होती हैं जिनमें इनसे भी सूक्ष्मतर प्राण चेतना प्रवाहित होती है। भारतीय आयुर्वेदाचार्यों ने प्राण चेतना को प्रभावित करने के उद्देश्य से यज्ञचिकित्सा को अमोघ साधन के रूप में माना है। पर यदि उतनी गहरायी में न जायें, मात्र भौतिक स्तर तक ही कल्पना करें तो भी यज्ञ का महत्त्व बहुत अधिक है। यह आरोग्य की दृष्टि से सर्वोपरि सफल चिकित्सा प्रणाली कही जा सकती है। बंध्यात्व के निवारण से लेकर टी0बी0 जैसे रोगों को निवारण में यज्ञ का असाधारण और समस्या रहित उपचार होता रहा है। यज्ञ के माध्यम से औषधि के गुणों को अत्यधिक सूक्ष्म बना दिया जाता है। पदार्थों को वायुभूत बनाने से उनका लाभ कई गुना अधिक बढ़ जाता है। वायुभूत बनी हुई औषधियाँ जितना काम करती हैं उतना वे खाने पीने से नहीं कर सकती हैं। यज्ञ का वैज्ञानिक आधार भी यही है कि अग्नि अपने में जलाई गयी वस्तुओ को करोड़ों गुना अधिक सूक्ष्म बनाकर वायु में फैला देती हैं जिससे वायु मण्डल में प्रदूषण कम हो जाता है। लाभकारी तत्त्वों की संख्या बढ़ जाती है।

वैज्ञानिक परीक्षणों से यह सिद्ध हो गया है कि हवन सामग्री वायु मण्डल को शुद्ध करती है। आग में घी जलाने से कोसों दूर के कीटाणु मर जाते हैं। घी, चावल, केसर आदि से धुँए का विष नष्ट हो जाता है। तथा वायु में व्याप्त विष वर्षा के साथ जमीन में चले जाते हैं और खाद बनकर पृथ्वी को उर्वरा शक्ति को बढ़ाते हैं।

हवन की गैस सड़न को रोकती है। शरीर के बाहर तथा भीतर जिन छोटे बड़े जख्मों के कारण पायेरिया, कोलाइटिस, तपेदिक, दमा नासूर, कैंसर, आदि रोग हो जाते हैं उन्हें सुखाने के लिए हवन की गैस अत्यंत उपयोगी होती है।

हवन की गैस जहाँ एक ओर रोग निवारक है, वहीं दूसरी ओर रोग

निरोधक भी है। एलोपैथिक रोग निवारक टीकों की अपेक्षा हवन की वायु अधिक विश्वसनीय और हानि रहित है। यज्ञ की उष्मा शरीर प्रवेश कर केवल रोग बीजाणुओं को ही मारती है, स्वस्थ कोषों पर उनका तनिक भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है वरन् पुष्टि ही होती है। यह एक विज्ञान सम्मत प्रक्रिया है।

शारीरिक रोगों के निवारण के अतिरिक्त हवन की वायु में मानसिक रोगों के निवारण की अपूर्व क्षमता है। आज मनोस्नायु विकारी रोगियों की संख्या शारीरिक रोगों से ग्रसित व्यक्तियों से अधिक हैं। शरीरिक रोगों के उपचार के लिए अनेक दवायें हैं लेकिन मनोविकारों की कोई सफल चिकित्सा अभी तक नहीं निकल पायी है। फलस्वरूप, सनक, उद्वेग, आवेश, संदेह, कामुकता, अहंकार, अविश्वास, निराशा, आलस्य, विस्मृति, आदि अनेक मनोविकारों से ग्रसित लोग स्वयं उद्विग्न रहते हैं, कलह करते हैं, कलह सम्बन्धित सभी लोगों को परेशान किये रहते हैं। इन सभी मनोविकारों पर हवन का प्रभाव अत्यंत चमत्कारी होता है। हवन सामग्री की सुगन्ध के साथ-साथ दिव्य वेदमंत्रों के प्रभावशाली कम्पन मस्तिष्क के मर्मस्थलों को छूते और प्रभावित करते हैं। भारतीय संस्कृति में जन्म से लेकर मरण तक 16 संस्कारों में हवन को अनिवार्य रूप से जोड़ा गया है ताकि उसके प्रभाव से मनोविकारों की जड़ ही कटती रहे।

रोग निरोधक और निवारक गुणों के अतिरिक्त यज्ञ वायु में स्वास्थ्यवर्धन का भी गुण है। जो पौष्टिक पदार्थ एवं औषधि तत्त्व शरीर में प्रवेश करके रक्त में मिलते हैं वे जीवनी शक्ति बढ़ाने में सहायता करते हैं, और जो कमी किसी विशेष अंग की क्षति में आ गयी थी, उसे पूरा करते हैं। नपुंसकता, मधुमेह, रक्तचाप, अनिद्रा, नाड़ी संस्थान की दुर्बलता आदि रोगों में हवन की निकटता का आश्चर्यजनक लाभ होता है। प्राचीन काल में पुत्रेष्ठि यज्ञ संतान उत्पन्न करने की क्षमता की वृद्धि के लिए किये जाते थे।

यह विज्ञान आजकल धार्मिक कर्मकाण्ड प्रक्रिया तक सीमित रह गया है परन्तु उसमें उपयोग पदार्थो को अग्नि के माध्यम से सूक्ष्मीकरण कर रहस्यमय विज्ञान भी जुड़ा हुआ है, इसे बहुत कम लोग जानकारी में रखते हैं। थोड़ी सी हवन सामग्री यों तो अपने स्थूल रूप में जरा सी जगह घेरती हैं और थोड़ा प्रभाव उत्पन्न करती है। परन्तु जब यह वायुभूत होकर सुदूर क्षेत्र में फैलती है तो उस परिधि में आने वाले सभी प्राणी और पदार्थ प्रभावित होते हैं। स्वल्प साधनों को अधिक शक्तिशाली और अधिक विस्तृत बना देने का कार्य यज्ञ प्रक्रिया में किया जाता है। फलतः इसके प्रभाव क्षेत्र में फैलती है तो उस परिधि में आने वाले सभी प्राणी और पदार्थ प्रभावित होते हैं। स्वल्प साधनों को अधिक शक्तिशाली और अधिक विस्तृत बना देने का कार्य यज्ञ प्रक्रिया में किया जाता है। फलतः इसके प्रभाव क्षेत्र

में आने वालों को शारीरिक व्याधियों से ही नहीं मानसिक कष्टों से भी छुटकारा पाने का अवसर मिलता है। औषधियों को नासिका द्वारा रोमकूपों एवं अन्यान्य छिद्रों द्वारा शरीर में प्रवेश करने का अवसर मिलता है। जिससे उसका प्रभाव शीघ्र ही प्रत्येक कोष तक पहुँच जाता है।

औषधियों को वाष्पीभूत बनाकर उन्हें अधिक सूक्ष्म एवं प्रभावशाली बनाने की प्रक्रिया आयुर्वेदाचार्य चिरकाल से अपनाते आ रहे हैं। यज्ञोपचार इसी स्तर की स्वास्थ्य संरक्षक प्रक्रिया है। जिससे आत्मिक प्रगति के उच्चस्तरीय सत्यपरिणामों के अतिरिक्त प्रत्यक्ष एवं तात्कालिक लाभ रोगानिवारण का भी मिलता है। इसमें कुछ विशेष नहीं करना पड़ता। रोग के अनुरूप औषधियों का हवन करके और उस उत्पादित ऊर्जा के निकट रोगियों को बिठाने से काम चल जाता है। यज्ञ में न्यूनतम वस्त्र धारण करके बैठने का विधान है। भारी मोटे कसे हुये वस्त्र पहिन कर यज्ञ कर्म में बैठने का निषेध है। इसका कारण यह है कि यज्ञीष ऊर्जा द्वारा शरीर के अवयवों को अधिक लाभान्वित होने का अवसर तभी मिल सकता है जब वे खुले रहें। वस्त्र धारण करना ही पड़े, तो वह उतना हल्का हो कि उपयोगी, उपचार का लाभ लेने में त्वचा छिद्रों को किसी व्यवधान का समाना न करना पड़े।

यज्ञ चिकित्सा में भी क्षेत्र निदान की वैसी ही आवश्यकता पड़ती है। जैसी कि अन्य पद्धतियों में। रोगों के कारण जानने के लिए निदान करना पड़ता है। शरीर में कुछ उपयोगी पदार्थ कम पड़ जाने एवं कुछ अनोपयोगी वस्तुएं बढ़ जाने से रोग उत्पन्न होते हैं। इस कमी को पूरा करने एवं विष संचय को वहिष्कृत करने के अनेक उपाय हैं। यज्ञ चिकित्सा उनमें से एक है।

हवन सामग्री किस रोगी के लिए किस स्तर की प्रयुक्त की जाय, इसमें भिन्नता रखनी पड़ती है। सामान्य यज्ञ सभी के लिए सामान्य रूप से उपयोगी हैं। उससे किसी को भी हानि नहीं हो सकती है। इसके आगे का कदम सामयिक और विशिष्ट है जो रोगी की स्थिति को देखते हुए उठाना पड़ता है। हर रोगी का उसकी स्थिति के अनुरूप दवा दी जाती है। उसी प्रकार रोग विशेष को ध्यान में रखते हुये रोगी की स्थिति का गहन अध्ययन करते हुये यह निर्णय करना होता है कि किस स्तर की ऊर्जा उत्पन्न की जाय, और उसके उत्पादन के लिए किन पदार्थो का यज्ञ न किया जाय। इस दृष्टि से हर विशिष्ट रोगी के लिए विशिष्ट हविष्य का निर्धारण करना होता है। इसमें दोनों ही स्तर की हवन सामग्रियों का संतुलन बिठाया जा सकता है– बलवर्धक और रोग निवारक। इसके लिए पदार्थों की रासायनिक संरचना का ज्ञान आवश्यक है। उसको दूसरे तत्त्वों के साथ समिश्रण के प्रभाव का भी ज्ञान होना चाहिये। औषधियो के समिश्रण आदि का पूरा ध्यान रखना पड़ता है।

हविष्य चार वर्गों में विभक्त हैं

1. औषधियों का सम्मिश्रण, 2. घृत 3. समिधायें, 4. पूर्णाहुति में कुछ विशिष्ट पदार्थ। इन चारों के पृथक-पृथक गुण एवं प्रभाव हैं। हविष्य में रोग विशेष के प्रयुक्त होने वाली औषधियों का आधार प्रायःवही रहता है जो रासायनिक विश्लेषणों के आधार पर चिकित्सा वैज्ञानिक पहले से करते चले आ रहे हैं। निर्धारण में नये संशोधनों का भी ध्यान रखना पड़ता है। समिधायें प्रकारान्तर में हविष्य ही हैं। लकड़ी का जलना भी औषधियजन की तरह ही प्रभावोत्पादक होता है। हविष्य में मात्र वनस्पतियों की पत्तियाँ फूल, फल, ही नहीं होते हैं, वरन् वृक्षों की लकड़ियाँ भी कूट पीसकर मिलायी जाती हैं। चंदन, देवदार, अगर-तगर आदि की लकड़ियों का चूरा भी हवन सामग्री में मिलता है। इनका प्रभाव भी अन्य औषधियों के समतुल्य ही होता है। अस्तु समिधाओं में कुछ निश्चित वृक्षों का काष्ट उपयोग करने का विधान है। क्योंकि ऐसी वैसी काष्ठ से प्रज्ज्वलित अग्नि हानिकारक हो सकती है।

पूर्णाहुति में सामान्य हवन सामग्री का नहीं वरन, किन्हीं विशिष्ट वस्तुओं का प्रयोग करना पड़ता है। पूर्णाहूति तीन भागों में विभक्त है :

1. स्विष्ट्कृत होम जिसमें मिष्ठान होमा जाता है।
2. पूर्णाहुति जिसमें फल होमा जाता है।
3. वसोधारा जिसमें घृत की धारा छोड़ी जाती है।

इन तीनों कृत्यों को मिलाकर पूर्णाहुति कही जाती है। इस विधान को प्रधानतया पोषक प्रयोग के रूप में लिया जाता है। निरोधक सामग्री तो हविष्य के रूप में इससे पूर्व ही यजन हो चुकी होती है। मिष्ठान क्या लिया जाय ? इसे बनाने में क्या पदार्थ लिये जायँ, यह भी यज्ञीय विधान का एक अंग है। शकर, मिश्री, बतासा, आदि का उपयोग सामान्य बात है। विशेषरूप से खीर, हलुआ, लड्डू आदि का स्विष्ट्कृत होम की आहूति में होता है। इन्हें किन पदार्थों के सम्मिश्रण से बनाया जाय, इस निर्धारण में यह ध्यान रखना होता है कि रोगी के शरीर में जिन पोषण खाद्य पदार्थों की आवश्यकता है। पूर्णाहुति में आमतौर से नारियल सुपाड़ी, आदि सुगमतापूर्वक मिल सकने वाले पदार्थ ही बहुप्रचलित हैं। सूखे मेवे या फल भी उपयोग में लाये जाते हैं। वसोधरा में घृत की धारा छोड़ी जाती है। इसका कारण यह है कि हवन कुण्ड में जहाँ-तहाँ शेष रहा कच्चा हविष्य तुरन्त ज्वलनशील हो सके। दूसरा कारण चिकनायी की वह मात्र शरीर को मिल सके। जो सामायिक परिस्थिति के अनुरूप आवश्यक हो रही है। वसोधरा घृत में कपूर, केशर, आदि भी मिलाये जाते हैं। इससे घृत मात्र चिकनायी न रहकर एक विशिष्ट औषधि बन जाता है।

यज्ञोपचार कभी-कभी खुले वातावरण या मैदान में नहीं होता है। धार्मिक यज्ञों में भी यज्ञशाला बनाने तथा आच्छादन करने का विधान है। इस थोड़े से

सीमाबंधन से यज्ञीय ऊर्जा पर उस घेरे में कुछ समय ठहरने का प्रतिबन्ध लगता है। इससे उस क्षेत्र में बैठे हुये लोग दूरवर्ती लोगों की तुलना में अधिक लाभ उठा सकें। खुले आकाश के नीचे हवन न करने की जो प्रथा चली आ रही है उसके मूल में यही तथ्य है, कि याचक थोड़े से अवरोध के कारण ऊर्जा से अधिक देर तक अधिक मात्र में लाभ उठाते रह सके। उष्मा का स्वभाव ऊपर उठने का है। आच्छादन रहने से उसके ऊर्ध्वगमन पर प्रतिबन्ध लगता है और उसका प्रभाव समय तक बना रहता है।

●●●

अध्याय–23

व्यायाम चिकित्सा

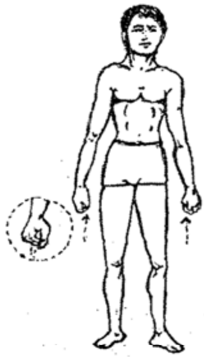
मानव जीवन में शारीरिक, मानसिक और भावात्मक ये जो तीन प्रकार के कर्म होते हैं उनमें शारीरिक कर्म शेष दोनों प्रकार के कर्मों की बुनियाद और स्वास्थ्य का जो जीवन की सबसे बड़ी पूँजी है तथा सभी क्षेत्रें में समान रूप से उपयोगी होती है, मुख्य साधन है। अध्ययन, चिंतन, नौकरी, व्यवसाग्र या कोई और कार्य हो, सभी के लिए स्वास्थ्य अनिवार्य रूप से आवश्यक है। किन्तु यह स्वास्थ्य प्राकृतिक विधान की उपेक्षा करके नहीं प्राप्त किया जा सकता है। व्यायाम शारीरिक अक्षमता और रोगों के निवारण करने का एक प्राकृतिक उपाय माना गया है। नियमित रूप से व्यायाम करते रहने से जोड़ों पर पेशियों में लोच बनी रहती है जिससे अंगों के मुड़ने पर माँसपेशियों पर कभी तनाव नहीं आता है। साथ ही साथ जोड़ों में इकट्ठा हुआ मल वहाँ से हट्कर मल मार्ग में पहुँच जाता है। पेशियों के सक्रिय होने पर रक्त का प्रवाह तेज होता है, जिससे रक्त वाहिनियाँ फैल जाती हैं। रक्त पर्याप्त मात्र में शरीर के सभी अंगों विशेषकर से हृदय,यकृत, वृक्क में पहुँचता है। रात्रि में शरीर की विश्राम अवस्था के कारण रक्त संचार की गति धीमी हो जाती है। अतः उसके ऊतकों (Tissues) की कोशिकाओं (Cells) को अतिरिक्त आक्सीजन देकर उन्हें सक्रिय, सजग, कार्योन्मुख बनाना होता है। व्यायाम के द्वारा इस कार्य को सम्पन्न किया जाता है।

I. व्यायाम करने के नियम

1. व्यायाम एक लय के साथ हो।
2. व्यायाम में थकान नहीं आनी चाहिये।
3. व्यायाम के समय मन एकांत हो।
4. व्यायाम खुले स्थान पर करना चाहिये।
5. व्यायाम की अवधि धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिये।
6. व्यायाम में निरन्तरता बनी रहनी चाहिये।
7. कठिन व्यायाम न करके एक-एक करके सीखना चाहिये।
8. व्यायाम के बाद उचित आहार लेना चाहिये।

II.व्यायाम के प्रकार

(1) खड़े रहने की दशा के व्यायाम



अभ्यास –1

सावधान की मुद्रा में खड़े हो, पाँवों को एक फुट के अन्तर से रखें, मेरुदण्ड सीधा रहे, सिर संतुलित रहे, भुजायें सामान्य दशा में शरीर के दोनों ओर रहें। अब दोनों हाथों की अँगुलियों के सहित मुट्ठी को कसकर बाँधियें तथा उस पर अधिकाधिक दबाव दें। फिर दस-पन्द्रह सेकेण्ड के बाद सामान्य दशा में आ जाये। इस व्यायाम का अभ्यास 5-10 बार करें।

अभ्यास –2

सावधान की मुद्रा में खड़े होकर दोनों बाँहों को दोनों ओर कंधे की ऊँचाई के बराबर फैलायें, मुट्ठी कसकर बाँधे, 10-15 सेकेण्ड के बाद सामान्य स्थिति में आ जाँय। इस क्रिया को पाँच से दस बार करें।





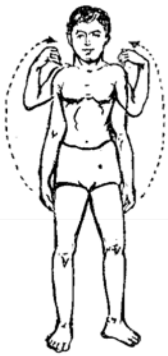
अभ्यास –3

सावधान की मुद्रा में खड़े होकर दोनों भुजाओं को सामने कंधे की ऊँचाई लेकर फैलायें। दोनों हाथों की मुट्ठियों को कसकर बांधे। दस-पन्द्रह सेकेण्ड के बाद सामान्य अवस्था में आ जाय। इस क्रिया को पांच से दस बार करें।

अभ्यास –4

सावधान की मुद्रा में खड़े होकर आकाश की ओर बाँहें सीधी करें। दोनों हाथों की मुट्ठियाँ कसकर बाँधें। दस से पन्द्रह सेकेण्ड के बाद सामान्य अवस्था में आ जाय। इस क्रिया को दस से पन्द्रह बार करें।





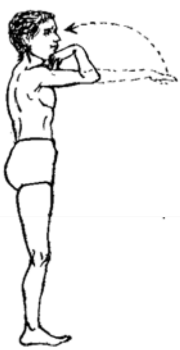
अभ्यास –5

सावधान खड़े होकर कुहनी पर से बाँहों को मोड़ें तथा कंधे का स्पर्श करें। दबाव डालें। दस से पन्द्रह सेकेण्ड बाद सामान्य अवस्था में आ जाये। पाँच से दस बार क्रिया करें।

अभ्यास –6

सावधान खड़े होकर दोनों भुजाओं को कंधे की ऊँचाई लाकर कोहनी से मोड़ें तथा कंधे का स्पर्श करें। इस क्रिया को पाँच से दस बार करें।





अभ्यास –7

सावधान खड़े होकर दोनों बाँहों को सामने की ओर कंधे की ऊचाई तक लें, कोहनी से मोड़ें तथा कंधों का स्पर्श करें। इस क्रिया को पाँच से दस बार करें।

अभ्यास –8

सावधान मुद्रा में खड़े होकर हाथों को आकाश की ओर सीधा ले जायें, फिर कोहनी पर से जोड़ें कंधों का स्पर्श करें। इस क्रिया को पाँच से दस बार करें।





अभ्यास -9

पहले थोड़ा आगे की ओर कमर से झुकें, हाथों को पूर्ण स्वतंत्र करके झूलने दें, हाथों को समान दूरी पर रखते हुये बड़े गोलाकार रूप में घुमायें। पहले घड़ी की दशा में फिर इसके विपरीत पाँच से दस बार इस क्रिया का अभ्यास करें।

अभ्यास –10

सावधान की मुद्रा में खड़े होकर धीरे -धीरे पाँव के पंजों पर सारा दबाव डालते हुये शरीर को ऊपर की ओर ले जायें, अर्थात् पंजों पर खड़े हों, बीस-बीस सेकेण्ड के पश्चात सामान्य अवस्था में आ जाय। इस क्रिया को पाँच से दस बार करें।





अभ्यास –11

सावधान की मुद्रा में खड़े हों। शरीर का पूरा भार ऐड़ियों पर डालें तथा शरीर को संतुलित करें। बीस-तीस सेकेण्ड के बाद सामान्य अवस्था में आ जायें। पाँच से दस बार इस क्रिया को करें।

अभ्यास –12

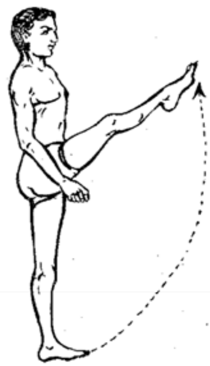
सीधे खड़े होकर दाहिने पाँव को जांघ तक ले जाऐं फिर सामान्य अवस्था में आयें। पाँच-सात बार इस क्रिया को करें । उसके पश्चात बायें पैर से यही क्रिया करें।





अभ्यास –13

दाहिने पैर के घुटने को दाहिने कंधे की ऊँचाई तक ले जाएं। फिर वापस सामान्य अवस्था में आयें। पाँच सात बार इसका अभ्यास करें। यही क्रिया बायें पैर से करें।



अभ्यास –14

पैरों पर सीधे खड़े होकर दाहिने पैर को झटके के साथ आगे की ओर अधिक से अधिक ले जायं। 4-5 बार यह क्रिया करें। फिर यही अभ्यास बायें पैर से करें।



अभ्यास –15

सीधे खड़े होकर दायें पाँव को बाहर की ओर फैलायें, जमीन से कुछ ऊपर रखें, लेकिन घुटना न झुकायें। फिर सामान्य अवस्था मैं आयें। पाँच से दस बार क्रिया करें। फिर यही अभ्यास बायें पैर से करें।



अभ्यास –16

सीधे खड़े होकर दायें पैर को पीछे की ओर ले जाएँ। घुटने झुके नहीं तथा पैर जमीन से ऊपर रहे। यह क्रिया पाँच से दस बार करें। फिर यही अभ्यास बायें पैर से करें।



अभ्यास –17

दायें पाँव का घुटना मोड़कर शरीर को ढीला छोड़िये। कुछ समय तक इसी तरह खड़े रहें, फिर इसी प्रकार बायें पैर से करें।

अभ्यास –18

सिर को आगे की ओर मोड़िये तथा हड्डी को सीने से लगायें। सामान्य अवस्था में आयें। यह अभ्यास पाँच से दस बार करें। अब सिर को पीछे की ओर जितना सम्भव हो ले जायें फिर सामान्य अवस्था में आ जाएं। इसका अभ्यास पाँच से दस बार करें। अब सिर को दायें ओर जितना झुक सके झुकायें। इसमें गर्दन को बायें ओर को माँसपेशियों में तनाव आयेगा। पाँच से दस बार यह भी क्रिया करें। अब सिर को चक्राकार दाहिने से बायें फिर बायें से दांये घुमायें। पाँच से दस बार इसका अभ्यास करें।



अभ्यास –19

दोनों पैरों में पन्द्रह इंच का अंतर रखते हुये कमर पर दोनों हाथ रखें, फिर कमर से आगे की ओर झुकें, जमीन से समानान्तर शरीर का उपरी भाग रखे। सिर को ऊपर की ओर रखने का प्रयास करें। बीस सेकेण्ड के बाद सामान्य अवस्था में आ जायें। पाँच से दस बार अभ्यास करें।



अभ्यास –20



पाँवों में पन्द्रह इंच का अंतर रखते हुये कमर से ऊपरी धड़ को जहाँ तक सम्भव हो दायीं ओर मोड़िये। अधिकाधिक दबाव डालिये। यही क्रिया बायीं ओर भी कीजिए। पाँच से दस बार अभ्यास कीजिए।



अभ्यास –21

सीधे खड़े होकर 15 इंच का अंतर दोनों पैरों में रखते हुए ऊपरी धड़ को पीछे की ओर जितना झुका सकें, झुकायें, कुछ देर इसी स्थिति में रहने के बाद सामान्य अवस्था में आ जायें। यह क्रिया 5 से 10 बार करें।



अभ्यास –22

उपर्लिखित स्थिति में खड़े होकर ाथों को कमर पर रखकर कमर को दायें से बायें तथा ायें से दायें घुमायें। यह क्रिया 5 से 10 बार करें।



अभ्यास –23

दोनों पाँवों के बीच 15 इंच की दूरी रखते हुये दोनों हाथों को कमर पर रखकर आगे की ओर जितना हो सके, झुकें, फिर ऊपरी धड़ को चक्र के रूप में दायें से बांयें फिर बायें से दायें की ओर घुमायें। 5 बार बायें से दायें तथा 5 बार दायें से बाये की ओर चक्र बनायें।



अभ्यास –24

सीधे खड़े होकर, घुटनों को बिल्कुल सीधा रखते हुये कमर से आगे की ओर झुकें तथा हाथों से पाँवों के अंगूठे पकड़ने का प्रयास कीजिए।

अभ्यास –25



सीधे खड़े होकर पाँवों के बीच 15 इंच की दूरी रखते हुए घुटनों को सीधा-रखकर आगे की ओर झुकें तथा बायें हाथ से दायें पैर का अंगूठा तथा दायें हाथ से बायें पैर का अंगूठा पकड़ने का प्रयास करें।

(2) बैठकर व्यायाम अभ्यास

अभ्यास –1



कम्बल या चटाई बिछाकर बैठें। मेरुदण्ड सीधा रखें, दोनों पाँवों को आगे की ओर फैलायें तथा दोनों के बीच की दूरी 15 इंच रखें। हाथों को आगे की ओर लायें तथा बिना पाँवों का घुटना झुके हाथों से पैर के अंगूठे पकड़ने का प्रयास करें। पाँच से दस बार इस क्रिया का अभ्यास करें।



अभ्यास –2

कम्बल या चटाई पर बैठकर, पाँवों को आगे की ओर फैलाकर दोनों में 15 इंच का अंतर रखते हुए आगे की ओर झुकें तथा बायें हाथ से दायें पाँव का अंगूठा तथा दायें हाथ से बायें पाँव का अंगूठा पकड़े। ध्यान रहे घुटने किसी भी दशा में न मुड़ें।



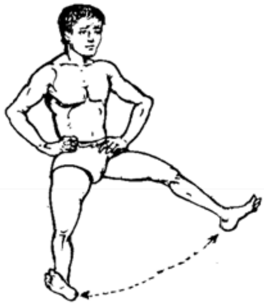
अभ्यास-3

पाँवों को आगे की ओर फैलायें, कमर पर दोनों हाथों को रखें, दायें घुटने को अपनी ओर लायें तथा सीने से लगाने का प्रयास करें, पाँव नितम्ब से मिला रहे तथा जमीन को स्पर्श करें। कुछ समय तक इसी मुद्रा में रहें। 5 से 10 बार इसका अभ्यास करें। उसके पश्चात यही क्रिया बायें घुटने से करें। पाँच से दस बार अभ्यास करें। इसके पश्चात दोनों घुटनों से साथ-साथ अभ्यास 5 से 10 बार करें।

अभ्यास –4

चटाई पर बैठकर कमर पर हाथ रखकर दोनों पैरों को आगे की ओर फैलाकर कुछ क्षण बैठें, फिर बायें पाँच को बायीं ओर जितना हो सके ले जायें। यह क्रिया 5 से 10 बार करें। इसी का अभ्यास दायें पाँव से दाहिनी ओर फैलाकर करें।



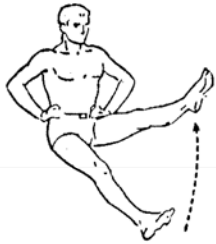


अभ्यास –5

चटाई पर बैठकर, दोनों पाँवों को सामने की ओर सीधे फैलाकर, कमर पर हाथ रखकर दोनों पाँवों को अपनी-अपनी तरफ अर्थात् बायाँ पाँव बायीं ओर, दाया पाँव दायीं ओर जितना हो सके, खींचे। पाँच से दस बार इस क्रिया का अभ्यास करें।

अभ्यास –6

आसन पर बैठकर, पाँवों को सीधे फैलाकर, घुटने बिल्कुल सीधे रहें तथा दोनों पैरों में 15 इंच का अंतर रखते हुये बैठें। फिर दायें पैर को ऊपर की ओर झटके के साथ ले जायें। यह क्रिया 5 से 10 बार करें। इसी तरह बायें पैर से अभ्यास करें।





अभ्यास –7

आसान पर बैठकर दोनों पैरों की ऐड़ियों में 12 इंच का अंतर रखते हुये, अपने हाथों को पीछे की ओर ले जायें तथा अपने शरीर का भार हाथों पर डालते हुये कमर को जमीन से ऊपर उठायें।

अब शरीर का भार एड़ियों तथा हाथों के पंजों पर बराबर डालते हुये, सामान्य श्वास लेते हुए 20 सेकेण्ड तक रुकें। फिर सामान्य स्थिति में आ जायें। यह क्रिया पाँच से दस बार तक करें।



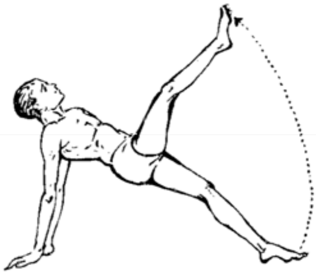
अभ्यास –8

उपर्लिखित स्थिति में बैठकर दोनों हाथों को पीठ की ओर ले जाकर शरीर का पूरा भार हाथ के पंजों तथा ऐड़ियों पर डालते हुये कुछ समय तक रुकें, फिर दाहिने पैर के घुटने को सीने से लगाने का प्रयास करें। इस क्रिया को 5 से 10 बार अभ्यास करें। फिर यही अभ्यास बायें पैर से करें।

अभ्यास –9

पूरे शरीर का भार ऊपर की स्थिति में हाथों तथा ऐड़ियों पर डालते हुये, दांयें पैर को ऊपर उठायें तथा दायीं ओर जितना हो सके ले जायें। कुछ समय तक रुककर सामान्य अवस्था में आ जायें। 5 से 10 बार इस क्रिया का अभ्यास करें। यही क्रिया बायें पैर से करें।





अभ्यास –10

उपर्लिखित स्थिति में रहते हुए दाहिने पैर को ऊपर की ओर जितना हो सके, ले जाएँ, फिर कुछ क्षण के लिए पैर को ऊपर की ओर रोकने का प्रयास करें। इस क्रिया को पाँच से दस बार तक करें। इसी प्रकार बायें पैर से अभ्यास करें।

(3) लेटकर व्यायाम क्रियायें



अभ्यास –1

दरी या कम्बल पर सीधे लेट जाएं, पाँवों को 6 इंच के अंतर पर रखें, हाथों

को कमर के नीचे रखें, दाहिनें घुटने को छाती से लगायें, कुछ समय के लिए रुकें। यह क्रिया पाँच से दस बार करें। फिर इसी प्रकार बायें घुटने से अभ्यास करें। फिर दोनों घुटनों को एक साथ छाती से लगायें।

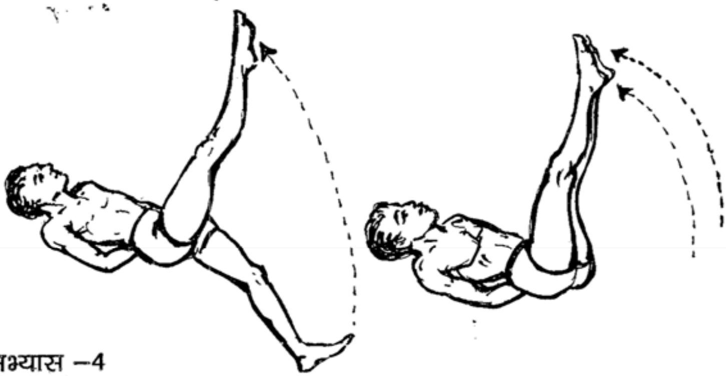
अभ्यास –2

उपर्लिखित अवस्था में लेटकर हाथों को कमर के नीचे रखते हुये, दाहिने पैर को दहिनी ओर बाहर की ओर जितना हो सके, ले जायें। पाँच दस बार यह क्रिया करें। फिर बायें पैर को बायीं ओर बाहर की ओर ले जायें। पाँच से दस बार अभ्यास करें। फिर दोनों पैरों को बाहर की ओर एक साथ ले जायें तथा एक ही लय में अंदर की ओर लायें। इसका भी पाँच से दस बार अभ्यास करें।



अभ्यास –3

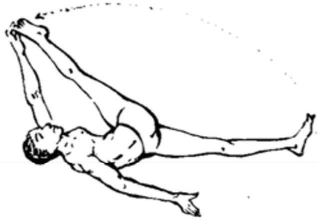
ऊपर की दशा में लेटे हुए, हाथों को कमर के नीचे रखे हुये, दाहिने पैर को आकाश की ओर ले जायें ध्यान रहे कि घुटना झुके नहीं। पाँच से दस बार यह क्रिया करें। फिर यही अभ्यास बायें पैर से करें। इसके पश्चात दोनों पैरों को एक साथ ऊपर की ओर ले जाएं। इसका भी अभ्यास पाँच से दस बार करें।



अभ्यास –4

आसन पर लेटकर दायें पैर को हवा में लहराते हुए ऊपरी धड़ के बायें ओर ले जायें तथा कमर को जितना मोड़ें। हाथों को कंधों के समानान्तर बाहर की ओर

फैलायें। पैर दाहिने पैर के अंगूठे को बायें हाथ से स्पर्श होने दें। घुटना सीधा रहना चाहिये। इसे पाँच से-दस बार करें, फिर बायें पैर को दाहिनें हाथ के स्पर्श होने दें। इसका भी अभ्यास करें।



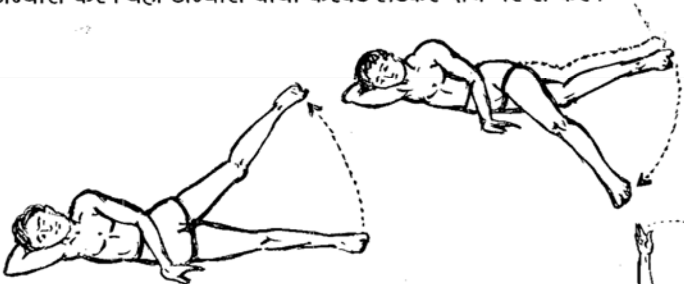


अभ्यास –5

दाहिनी करवट लेटिये। दाहिनी भुजा को सिर के नीचे तकिये के समान रखें। अब बायाँ पैर उठायें तथा उस घुटने को छाती से लगने दें। यह क्रिया पाँच से दस बार करें। फिर इसी प्रकार का अभ्यास बायीं करवट लेटकर बायें घुटने से करें।

अभ्यास –6

दाहिने करवट लेट कर बायें पैर को ऊपर की ओर ले जायें। पाँच से दस बार अभ्यास करें। यही अभ्यास बायीं करवट लेटकर दायें पैर से करें।



अभ्यास –7

पेट के बल लेटकर हाथों को सीधा सर के ऊपर की ओर फैलायें अब दाहिनी भुजा को कुहनी सीधी रखते हुये आकाश की ओर उठायें। फिर सामान्य हो जायें। यह क्रिया-पाँच से दस बार तक कीजिए। फिर बायें हाथ से यही अभ्यास करें।



अभ्यास –8

ऊपर की स्थिति में लेटे हुए सिर को जमीन से स्पर्श करते हुए दोनों हाथों को ऊपर की ओर जितना हो सके, खीचें। इसका अभ्यास पाँच से दस बार करें।





अभ्यास –9

ऊपर की दशा में लेटकर ऊपरी धड़ के सभी अंगों को ऊपर उठाइये। हाथ, भुजायें, सीना, चेहरा, सभी को ऊपर की ओर करें। फिर कुछ समय पश्चात इसी अवस्था में रहकर सामान्य हो जायें। पाँच से दस बार क्रिया की पुनरावृश्चि करें।

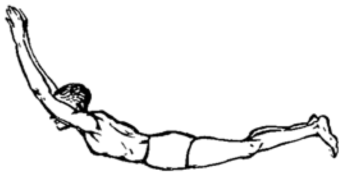
अभ्यास –10

चेहरा पृथ्वी की ओर रखते हुए हाथों पर सिर टिकाते हुए दाहिनें पैर को जितना हो सके, ऊपर की ओर खींचें, पाँच से दस बार इसका अभ्यास करें।



अभ्यास –11

सिर को पृथ्वी पर टिकाते हुए हाथों, भुजाओं तथा सीने को ऊँचा ले जायें, उसी समय दोनों पैरों को ऊपर की ओर ले जायें। इसका पाँच/से दस बार अभ्यास करें।





अभ्यास –12

पीठ के बल लेटकर दोनों घुटनों को अपनी ओर खीचें, हाथों को बगल में रखें। सिर तथा ऊपर धड़ को आगे की ओर धुमायें तथा बैठने की मुद्रा में ऊपर उठें। इसका पाँच दस बार अभ्यास करें।

अभ्यास –13

चेहरे को पृथ्वी की ओर रखते हुयें हाथों को कंधे की सीध में दोनों ओर जमीन पर बिना झुके लगाते हुए, हाथों को जमीन पर टिकाते हुए सीधे ऊपर उठिये। पैर के पंजों तथा हाथों पर शरीर का पूरा भार डालिये। पाँच दस बार अभ्यास कीजिए।





अभ्यास –14

सिर तथा चेहरों को पृथ्वी की ओर रखते हुए, घुटनों तथा भुजाओं पर बल डालते हुये शरीर के ऊपरी हिस्से को ऊपर उठायें। हाथों को सीधा पृथ्वी से लगाकर सीधे पोजिशन में रखते हुए, शरीर के ऊपरी हिस्से को ऊपर उठायें। फिर पाँच से दस बार अभ्यास करें।

●●●

अध्याय–24

विश्राम चिकित्सा

आज मानव तनाव से त्रसित तथा पीड़ित है। तनावों की बढ़ती हुई गति तथा गम्भीरता के कारण नाना प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक रोगों की उत्पत्ति हो रही है। व्यक्ति मानव न रहकर मशीन बनता चला जा रहा है। दूसरी ओर यह भी निश्चित है कि हम अपनी बढ़ती हुई गति को कम भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि आज तीव्रगति से आगे बढ़ने पर ही जीवन की समस्याओं से निपटा जा सकता है। अतः वर्तमान सभ्यता की दौड़ में हमें समायोजन की कला सीखनी होगी, और इन्हीं परिस्थितियों में रहकर तनाव रहित रहने की विधि एवं विश्राम करना भी सीखना होगा। यह कला तभी आ सकती है, जब हम उचित प्रशिक्षण के द्वारा तनाव दूर करने की वैज्ञानिक प्रविधि विश्राम करना सीख लें। प्रोग्रेसिव रिलैक्सेसन के द्वारा मानसिक तनाव को कम किया जा सकता है तथा उससे छुटकारा भी पाया जा सकता है। लेकिन यह कार्य इतना आसान नहीं है। इसके लिए व्यवहार के ढंगों एवं मनोवृत्तियों को बदलना होगा। मानव शरीर के लिए विश्राम एक प्राकृतिक आवश्यकता है। हृदय तथा धमनियों के रोग तभी उत्पन्न होते हैं, जब व्यक्ति प्राकृतिक रूप से अपने अंगों को विश्राम नहीं देता है, या विश्राम करने की योग्यता खो देता है।

रोगों के उपचार में विश्राम चिकित्सा का विशेष महत्त्व है। यदि शरीर विज्ञान के तरीकों द्वारा विश्राम का उपयोग किया जाय, तो शरीर को शीघ्र ही सामान्य स्थिति में लाया जा सकता है। ''प्रोग्रेसिव रिलैक्सेशन'' आज उपचार की एक महत्त्वपूर्ण शाखा बन गयी है।

विश्राम का तात्पर्य शारीरिक शिथिलता या आराम अथवा स्नायुविक तंत्र की शांतमय स्थिति है तथा यह चिंतामुक्त स्थिति का द्योतक है।[1] बिस्तर पर लेट जाने से शरीर तथा मन को विश्राम नहीं मिलता है। वह घंटों तथा कई दिनों तक लेटा

1- Relaxation means physiological rest or calmness for the nervous system and denotes the absence of tension.

gurwirth, capsamuel, W: How to Free Your Self from Nervous Tension, Arthur Barker Ltd. London, 1957, P-24

रहकर भी वास्तविक विश्राम की स्थिति नहीं प्राप्त कर सकता है। कभी-कभी तो इस प्रकार के विश्राम से चिंता, अनिद्रा तथा तनाव और अधिक बढ़ता है। क्योंकि शरीर के वाह्य अंग तो काम नहीं करते हैं लेकिन मन तो सदैव कार्य करता रहता है। कोई शारीरिक काम न करने से मन को अधिक कार्य करने का अवसर मिलता है। नकारात्मक सोच के कारण चिंता, भग्नाषा, तथा अन्य सांवेगिक विघटन के लक्षण उत्पन्न होते हैं। अतः वैज्ञानिक विधि से विश्राम करने की आवश्यकता होती है। वास्तविक विश्राम वही है, जब शरीर का शारीरिक तथा मानसिक तनाव कम होकर धीरे-धीरे समाप्त हो जाय।

विश्राम से ऐच्छिक माँसपेशियों का तनाव कम होता है। पेट की आंतरिक स्थिति सामान्य हो जाती है, हृदय, रक्त नालिकायें तथा कोलन (Colon) को भी लाभ होता है,क्योंकि आन्तरिक माँसपेशियों में भी आराम मिलता है। यद्यपि आंतरिक अंग ऐच्छिक नियंत्रण में नहीं होते हैं, लेकिन जब ऐच्छिक माँसपेशियों को आराम मिलता है, तो वे भी आराम अनुभव करते है। इससे स्पष्ट होता है, कि ऐच्छिक तंत्र का अनैच्छिक तंत्र पर प्रभाव पड़ता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि आन्तरिक माँसपेशियों में तनाव अधिक होता है, तो अस्थितंत्र (Skeleton system) पर कम या अधिक तनाव अवश्य होता है। इसी कारण से अस्थितंत्र को जब विश्राम दिया जाता है, तो उसका प्रभाव आंतरिक अंगों पर पड़ता है तथा आंतरिक रोग दूर हो जाता है। क्योंकि इससे रोग का मुख्य कारण या कारण का आवश्यक अंश दूर हो जाता है। विश्राम की प्रविधि सीखने की अवस्था में व्यक्ति को अपने कष्टों को सहना चाहिये। यदि ऐसा नहीं करता है तो उसकी चिन्ता शारीरिक क्रियाओं को बाधित कर सकती है।

विश्राम की प्रविधि

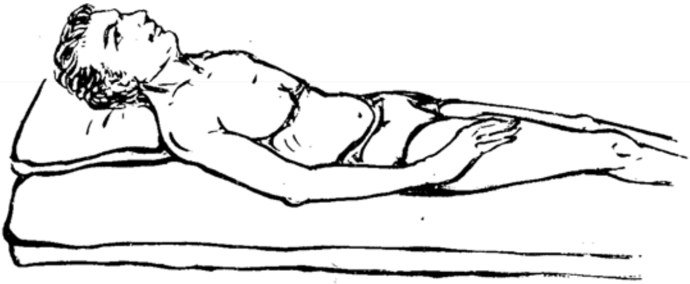
विश्राम के लिए कोई आरामदायक विस्तार, पलंग, और तख्त होना चाहिए तथा सिर के नीचे रखने के लिए एक पतली तकिया हो। बिस्तर पर पीठ के बल लेट जाइये तथा हाथ अपने शरीर की लम्बाई के साथ मिलाइये। जितने भी तंग वस्त्र है, उन्हें ढीला कीजिये। न तो हाथ मुड़े हों, और न ही पाँव या टाँगे झुकी हों। आँखों को बंद रखिये। इसी स्थिति में 10 मिनट लेटे रहिये। जहाँ तक हो सुखदायी विचार आने का मार्ग ढूँढ़िये।

1- दायें हाथ का विश्राम

अभ्यास – 1

ऊपर बतायी गयी स्थिति में विश्राम करने के पश्चात् धीरे-धीरे दाहिने हाथ की हथेली तथा पंजे का भाग पीछे की ओर एक दो मिनट के लिए मोड़िये। इससे हाथ में तनाव की अनुभूति होगी। अब हाथ बिल्कुल ढीला छोड़ दीजिये तथा अपने भार से आगे की ओर गिरने दीजिए। एक मिनट के लिए विश्राम करें, पुनः यही

क्रिया करें। कम से कम 10 बार यह अभ्यास करें। यही क्रिया बांयें हाथ से भी करें।



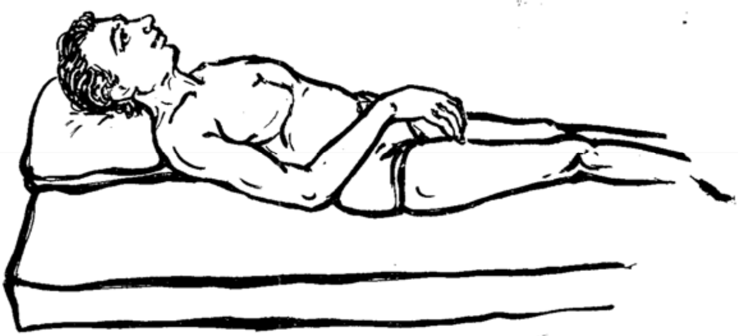
अभ्यास–2

पीठ के बल लेटकर विश्राम करने के पश्चात् दाहिना हाथ आगे की ओर कुछ समय के लिए मोड़िये। कुहनी के नीचे की भुजा पर तनाव अनुभव होगा। अब पूर्ण विश्राम कीजिए। यही अभ्यास 10 बार करें। फिर बांयें हाथ से यही क्रिया करें।



अभ्यास –3

पीट के बल लेट कर हाथ बगल में रखते हुये विश्राम करें, कुछ समय के लिए आँखें खोलें फिर आँखें बंद कर लें। कुछ समय के पश्चात कुहनी पर से भुजा को 35



डिग्री पर झुकायें तथा कलाई से आगे हाथ के हिस्से को बिल्कुल ढीला छोड़ दें। कुहनी को ऊँचा नहीं करना है। यह स्थिति कुछ समय के लिए रखिये। फिर यथावत स्थिति में हाथ को रखिये। पाँच-दस बार अभ्यास कीजिये। फिर यही अभ्यास दायें हाथ से कीजिए।

अभ्यास –4

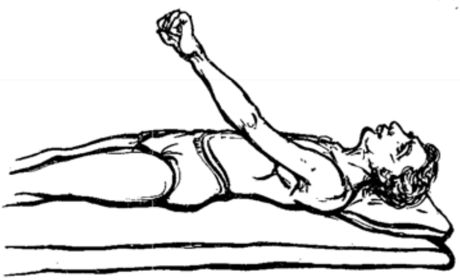
ऊपर की स्थिति में लेट कर दाहिने हाथ की कलाई को गद्दी या किताबों पर दबाइये। लेकिन ध्यान रहे केवल कलाई ही दबाना है, हाथ को नहीं। फिर कलाई से हाथ को ढीला छोड़िये। यही अभ्यास पाँच-दस बार कीजिए फिर बायें हाथ से अभ्यास कीजिए।



2- बायीं भुजा का विश्राम

अभ्यास –5

ऊपर की स्थिति में विश्राम करते हुये बांयी भुजा को बिस्तर से 18 इंच

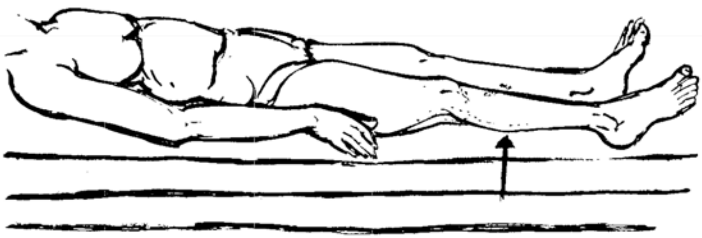


लगभग ऊपर उठायें, मुट्ठी कुछ समय के लिए कसकर बाँधिये, भुजा पर दबाव डालिये। फिर 30 सेकेण्ड के बाद भुजा ढीली छोड़ दीजिए। तथा अभ्यास दाहिनी भुजा से कीजिए। पाँच से दस बार अभ्यास दोहराइये।

3- दाहिने पाँव का विश्राम

अभ्यास –6

पीठ के बल लेट कर, हाथों को बगल में रखते हुए 10 मिनट का पूर्ण विश्राम कीजिये। उसके पश्चात् कुछ मिनट के लिए दायें पाँव को नीचे की ओर मोड़िये। फिर पाँव को विश्राम दीजिए। यह क्रिया दस-पन्द्रह बार कीजिए।



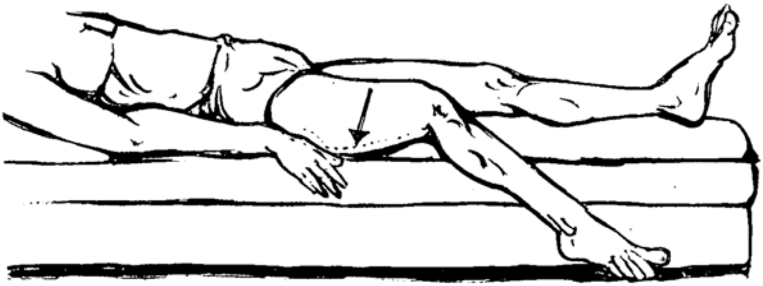
अभ्यास –7

ऊपर वर्णित स्थिति में लेटते हुए अपने चेहरे की ओर दाहिना पाँव मोड़िये। एक मिनट इसी स्थिति में रहिये, फिर पाँव को ढीला छोड़ दीजिये। पाँच-दस बार अभ्यास कीजिये। फिर वही अभ्यास बायें पैर से कीजिये।



अभ्यास--8

पीठ के बल लेटकर, आँखें बंद कर विश्राम कीजिए। उसके पश्चात् दाहिने पाँव को ढीला करके मेज या तख्त के नीचे जमीन की ओर लटकायें। एक मिनट के पश्चात् पूर्वस्थिति में आकर विश्राम कीजिये। कम से कम पाँच-दस बार अभ्यास कीजिये। यही क्रिया बायें पैर से करें।



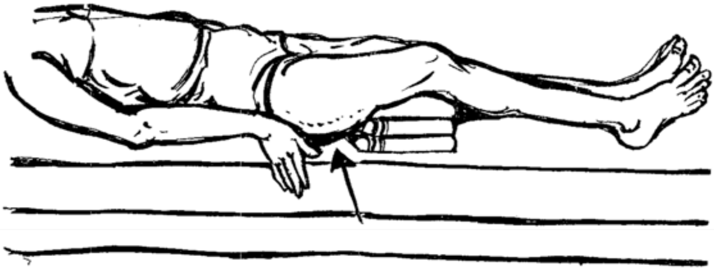
अभ्यास –9

दाहिनी जाँघ के नीचे के हिस्से को उसके नीचे पुस्तकें रखकर एक मिनट दबाइये। फिर विश्राम कीजिए। पूरे दस बार इस क्रिया का अभ्यास कीजिए। यही क्रिया बायीं जाँघ से कीजिए।



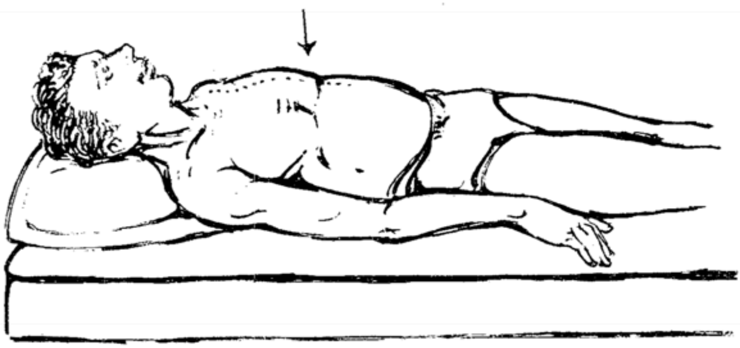
अभ्यास –10

पूर्ण विश्राम की स्थिति में लेट कर दाहिने पैरे के घुटने के ऊपर की ओर कीजिए तथा दबाव एक मिनट डालने के पश्चात् विश्राम कीजिए। पाँच-दस बार अभ्यास कीजिए यही क्रिया बाँयें घुटने से कीजिए।



अभ्यास–11

पूर्ण विश्राम करने के पश्चात् एक गहरी साँस लीजिए तथा कुछ समय के लिए साँस रोकिये। अब साँस बाहर निकालिये। सामान्य श्वास क्रिया के द्वारा विश्राम कीजिए। दस से बीस बार इसका अभ्यास कीजिए।

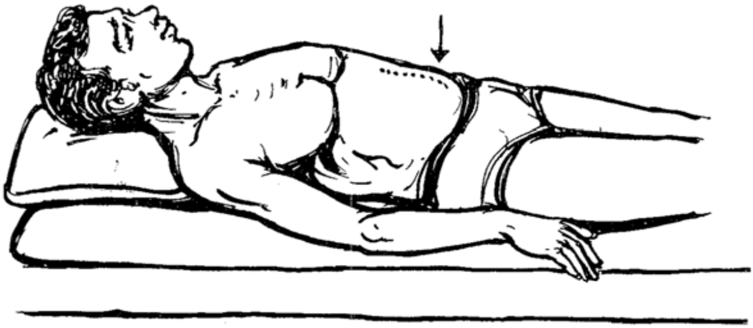


5- उदर का विश्राम

अभ्यास –12

विश्राम करने के पश्चात्। 15 सेकेण्ड के लिए पेट को अंदर की ओर खींचिए।

फिर सामान्य अवस्था में लाइये। पाँच से दस बार इस क्रिया का अभ्यास कीजिए।



अभ्यास --13

पूर्ण विश्राम के पश्चात् पीठ के हिस्से का वृत्ताकार कीजिए। इसी स्थिति में 30 से 60 सेकेण्ड तक रहिये। फिर सामान्य अवस्था में आकर 2 मिनट विश्राम करें। यही क्रिया पाँच से दस बार कीजिए।



7- कंधों का विश्राम

अभ्यास –14

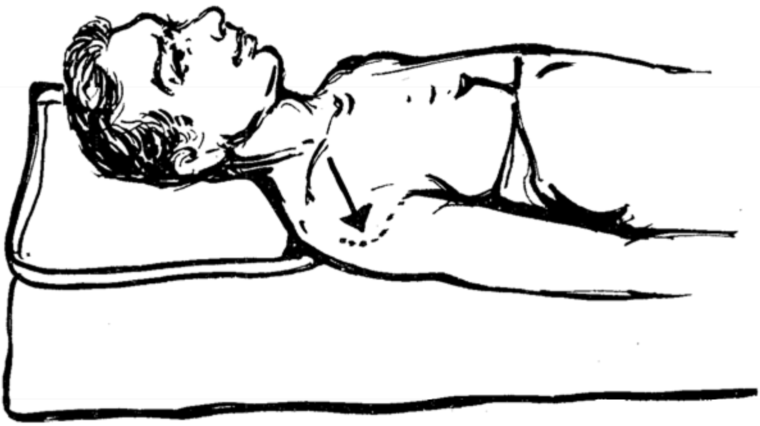
दोनों बाहों की भुजाओं को 30 सेकेण्ड के लिए आगे पीछे कीजिए, फिर

विश्राम कीजिए। दस-पन्द्रह बार इस क्रिया का अभ्यास कीजिए।



अभ्यास –15

दोनों कंधों को पीछे की ओर मोड़िये फिर विश्राम कीजिए। पाँच से दस बार अभ्यास कीजिए।



8- ग्रीवा का विश्राम

अभ्यास –16

विश्राम के पश्चात् सिर को दायीं ओर ढीला करके मोड़ दीजिये जैसे अपने

आप लुढ़क गया हो। कुछ समय के पश्चात् सामान्य स्थिति में आकर विश्राम करें। 5 से 10 बार अभ्यास कीजिए।





अभ्यास –17

अब सिर को ढीला करके बायीं ओर मोड़िये। कुछ समय के बाद सामान्य स्थिति में आइये। इस क्रिया का भी 5-10 बार अभ्यास कीजिए।

अभ्यास –18

विश्राम के पश्चात् ठुड्डी को वक्ष की ओर कीजिए। कुछ देर इसी स्थिति में रहकर सामान्य स्थिति में आइये। पाँच से दस बार अभ्यास कीजिए।



अभ्यास –19

सिर को पीछे की ओर मोड़ कर तकिये पर एक मिनट तक दबाव डालिये। फिर सामान्य अवस्था में आ जाइये।



9- मस्तक का विश्राम

अभ्यास –20

मस्तक पर दबाव डालिये। एक मिनध्ट तक इसी प्रकार मस्तक को रखिये। फिर सामान्य हो जाइये। पाँच से दस बार अभ्यास कीजिये।



10- भौंहों का विश्राम

अभ्यास – 21

एक मिनट के लिए भौंहों पर दबाव डालिये, फिर सामान्य होइये। इस क्रिया को पाँच से दस बार करें।

11- पलकों का विश्राम

अभ्यास –22

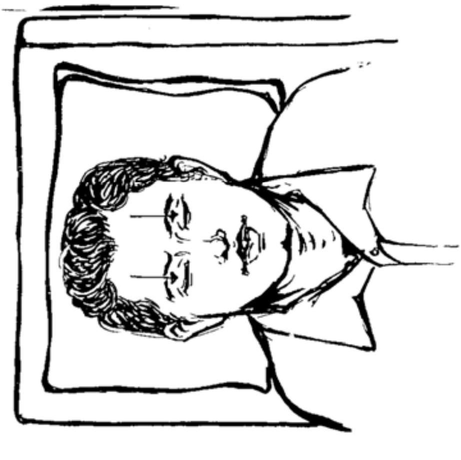
पलकों को एक मिनट के लिए कसकर बंद कीजिए। फिर एक निमट विश्राम कीजिए। यही क्रिया पाँच से दस बार कीजिए।



12- नेत्रों का विश्राम

अभ्यास –23

एक मिनट पलकों को कस कर बंद करने के पश्चात् आँखों को खोलिये, फिर कुछ सेकेण्ड तक सीधे बिना पलकें झपकाये हुये ऊपर की ओर देखिये। पाँच से दस बार अभ्यास कीजिए।



अभ्यास –24

पलकों के विश्राम के बाद कुछ सेकेण्ड के लिए नीचे की ओर बिना पलकें झपकाये देखिये फिर विश्राम कीजिए। पाँच से दस बार अभ्यास कीजिए।



अभ्यास –25

पलकों के विश्राम के पश्चात् बिना सिर घुमाये, बायीं ओर बिना पलक झपकाये कुछ सेकेण्ड के लिए, देखिये। फिर विश्राम कीजिए। पाँच से दस बार अभ्यास कीजिए।



अभ्यास –26

उपर्लिखित क्रिया दायीं ओर से कीजिए।



13- गालों तथा होंठों का विश्राम

अभ्यास –27

दाँतों को दिखाते हुए कुछ समय के लिए मुस्कराइये। यह क्रिया पाँच से दस बार कीजिए।



अभ्यास –28

गाल फुलाइये तथा ओठों को घुमाइये। पाँच से दस बार ऐसा कीजिए।



14– मस्तिष्क का विश्राम

अभ्यास –29

बिस्तर पर लेटकर शांत मुद्रा में होकर आँखें बंद कीजिए तथा अनुभव कीजिए कि आप बहुत ही सुन्दर दृष्टि से देख रहे हैं। ईश्वर का मोहक स्वरूप तथा उसकी छवि का रसास्वादन कर रहे हैं। ईश्वर की आभा से प्रकाश की किरणें आप तक पहुँच रही हैं, तथा वे किरणें कुविचारों तथा शारीरिक मल व दोषी को भस्म कर रही हैं।

कुर्सी पर बैठकर विश्राम

आज व्यक्ति को इतना समय नहीं रहता है कि वह विश्राम करने के लिए अलग से समय निकाल सके। इसके अतिरिक्त यदि कभी बीच-बीच में विश्राम कर लिया जाता है तो शरीर में शारीरिक तथा मानसिक थकान नहीं आती है।

बैठकर विश्राम करने में शरीर की मुद्रा निम्न प्रकार होनी चाहिए।

कुर्सी पर दोनों भुजायें कुर्सी की हत्थों पर विश्राम करने दें। टाँगें पूरी फैला दें तथा तनाव रहित कर दें। सिर को आगे की ओर झुका लें तथा खिंचाव रहित रखें, श्वास की गति सामान्य रहनी चाहिये। आँखें बंद कर लें तथा शरीर को क्रियाहीन करें। 10 मिनट तक इस स्थिति में रहने से शरीर को काफी शक्ति मिलती है।

दाहिने हाथ का विश्राम

दस मिनट बैठे-बैठे विश्राम करने के पश्चात् दाहिने हाथ को पीछे की ओर एक

मिनट के लिए मोड़ें, फिर सामान्य अवस्था में आ-जायँ। पाँच से दस बार यहअभ्यास करें।

अभ्यास – 1

दस मिनट बैठे-बैठे विश्राम करने के पश्चात दाहिने हाथ को पीछे की ओर एक मिनट के लिए मोड़ें, फिर सामान्य अवस्था में आ जाय। पाँच से दस बार यह अभ्यास करें।





अभ्यास –2

ऊपर की स्थिति में बैठकर दाहिने हाथ को आगे की ओर एक मिनट के लिए मोड़ें फिर सामान्य अवस्था में आ जायँ। पाँच से दस बार अभ्यास करें।

अभ्यास –3

कुहनी से दाहिने हाथ को थोड़ा मोड़ें, तनाव दें, फिर सामान्य रूप से छोड़ें। दस से पन्द्रह बार अभ्यास करें।

बायें हाथ का विश्राम

उपरोक्त क्रियायें बायें हाथ से करें।



●●●

अध्याय-25

योग चिकित्सा

I. योग का अर्थ :

योग शब्द की उत्पत्ति "युज" धातु से हुई है जिसका तात्पर्य होता है जोड़ना। जोड़ने के कई अर्थ हैं : आत्मा को परमात्मा से जोड़ना, मन, इन्द्रियों तथा शरीर को जोड़ना, शरीर की भौतिक तथा मानसिक शक्तियों में समन्वय करना, मानव को मानव से जोड़ना, व्यक्ति को जीवन के वास्तविक उद्देश्य से जोड़ना, आदि। प्रकृति के क्रम-विकास की अभिव्यक्ति मनुष्य के रूप में होती है। वायु तत्त्व से प्राण और फिर प्राण से मन और मन से परे विज्ञान, तत्पश्चात् पूर्ण ब्रह्म की अभिव्यक्ति होती है। योग उस दिशा में मानवता को ले जाने वाला एक प्रशस्त मार्ग है। योग साधना यद्यपि वैयक्तिक है, परन्तु उसका परिणाम सार्वजनिक है। क्योंकि इसका उद्देश्य मनोमय मनुष्य को अति मानसिक या आध्यात्मिक-सामाजिक, मनुष्य तक उठाने का मार्ग है। महर्षि अरविंद के अनुसार योग का उद्देश्य है, पृथ्वी पर अतिमानसिक चेतना को उतार लाना, उसे यहाँ स्थापित करना, अतिमानसिक चेतना से व्यक्ति और समष्टि के आन्तरिक और वाह्य जीवन को व्यवस्थित, शासित करके एक नवीन जाति की सृष्टि करना।

II. विभिन्न धर्मों के अनुसार :

ईसाई धर्म के अनुसार "परमात्मा तुम्हारे हृदय में वास करता है।" कुरान के अनुसार "तुम परमात्मा की एक ज्योतिर्मयी किरण हो।" हिन्दू धर्म के अनुसार "तत्त्वमसि" अर्थात् तुम ही परमात्मा हो। सभी धर्मों में आत्मा को परमात्मा का अंश माना है।

III. योग के विभिन्न अर्थ

(1) आत्मा का परमात्मा से मिलन योग है।

(2) इड़ा का पिंगला से मिलन योग है।

(3) प्राण वायु का अपान वायु से मिलन योग है।

(4) शिव शक्ति का मिलन ही योग है।

(5) मनुष्य में असाधारण शक्तियाँ हैं जब उसका अपने आपसे साक्षात्कार हो जाता है, तो वह असीमित शक्तियों का स्वामी बन जाता है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार :

योगश्चि चित्तवृत्ति निरोधः।

It is the total cessation of the modelities of mind.

श्रीमद् भगवत गीता के अनुसार :

योगः कर्मशु कौशलम्।

Yoga is the technique of increasing efficiency to fulfil his responsibilities

कथा उपनिषद के अनुसार :

इन्द्रियों पर सम्पूर्ण नियंत्रण योग है।

Yoga is the firm holding back of the senses.

ऋग्वेद के अनुसार :

योग एक अभिवृत्ति, एक प्रयत्न है जो व्यक्ति (माइक्रोकज्म) को समिष्ट (मैक्रोकज्म) से जोड़ता है।

Yoga implies an attitude, any effort, which brings the individual (microcosm) in identity or affirmity with the whole (macrocosm)

सांख्य दर्शन के अनुसार :

प्रकृति और पुरूष का वियोग ही योग है।

स्कन्दपुराण के अनुसार :

यजु समा धौः

अर्थात् मन का समाधिस्थ हो जाना योग है।

अवित योगी सूरेन के अनुसार :

योग का तात्पर्य एकरूता से है- एकरूपता हृदय तथा मस्तिष्क के बीच मनोध्यान तथा क्रिया के बीच मनुष्य तथा पर्यावरण के बीच।

Yoga means a method of harmony; harmony between heart and mind, between intention and action, between man and environment.

स्वामी सत्यानंद सरस्वती के अनुसार :

योग का तात्पर्य एक भाव का अनुभव अथवा अन्तर्निहित आत्म से तादात्म्य

1- Suren, Avityogi : Cyclopaedia of yoga, Vol. I, 1992, P. 8-11 Saru Publishing House, Meerut, India.

स्थापित करना है, यही एकता सर्वोच्च वास्तविकता से मन तथा पदार्थ के द्वैवादिता को समाहित करके प्राप्त होती है।

Yoga means the experience of oneness or unity in our inner being. This unity comes after dissolving the duality of mind and matter in the surface reality.[2]

योग अत्यन्त प्राचीन विज्ञान है। महर्षि हिरण्यगर्भ इसके जनक हैं। योग प्राचीनकाल से ही उपयोग में होता आ रहा हैं। मुख्यतः योग हमें जीवन जीने की शैली सिखाता है। सभी प्रकार की परिस्थितियों में सदैव एक समान रहने की कला योग ही है। हम जो भी कार्य करते हैं, हम सदैव उसके फल की इच्छा रखते हैं, पर इसके कारण सदैव दुखी होती हैं। योग ही वह विद्या है, जो हमें सिखाता है कि हम कार्य करते जायें फल की आशा न रखें। यह अवस्था अत्यंत सुखकर होती है।

IV. योग का लक्ष्य

योग के निम्न लक्ष्य बताये गये हैं :-

(1) शारीरिक शुद्धि

योग से हम अपने शरीर की शुद्धि करते हैं। इसमें हठयोग प्रमुख हैं। हठयोग का प्रमुख ह तथा ठ अर्थात् इडा व पिंगला के संयमन से शरीर को स्वस्थ रखना है।

(2) मानसिक शान्ति

मन की चंचलता ही सभी दुखों का कारण है। अतः मन को किसी एक ध्येय में लगाना यह राजयोग सिखाता है।

(3) आध्यात्मिक सुख

आत्मा का परमात्मा से मिलन करना ही योग का उद्देश्य है। ज्ञान एवं भक्ति योग द्वारा आध्यात्मिक सुख को प्राप्त किया जाता है।

(4) स्वयं के साक्षात्कार

अपने आपसे साक्षात्कार करना योग सिखाता है। चित्त स्थूल है और आत्मा सूक्ष्म हैं। चित्त को स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर लाना है। विषयवासना युक्त चित्त

2- Swami, Satyanand Saraswati : Asang, Pranayam, Mudra, Bandh,
Bihar School of Yoga, 1983, P. 1

को विषयों से मुक्त कराना है। योग द्वारा हम अपने आत्म से साक्षात्कार करते हैं और चित्त को शांत रखते हैं।

(5) जीवन में सफलता प्राप्त करना

व्यक्तित्व के चार अंग हैं :

इच्छा, बुद्धि, संवेग तथा कर्म। इच्छा का नियमन राजयोग से होता है। बुद्धि का नियमन ज्ञानयोग से, संवेग का नियमन भक्तियोग से तथा कर्म का नियमन कर्मयोग से होता है। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए इन चारों दिशाओं में व्यापक व संतुलित दृष्टिकोण रखने से ही सफलता मिलेगी। अतः जीवन में सफलता प्राप्त करना भी योग का उद्देश्य है।

(6) ध्यान शक्ति बढ़ाना

बगैर ध्यान के हम आन्तरिक शक्तियाँ तो क्या वाह्य पदार्थ भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। योग से ध्यान शक्ति का विकास होता है।

(7) कर्त्तव्यों का पालन

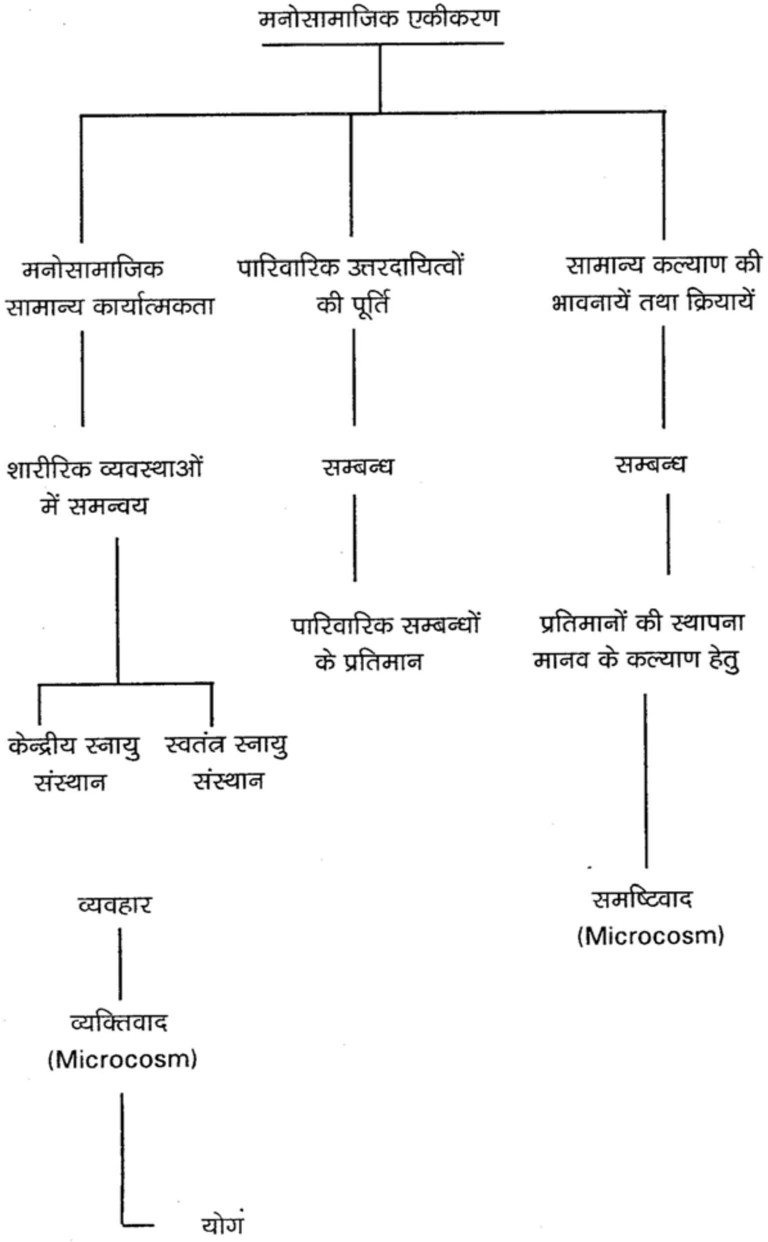
योग द्वारा सात्विक प्रवृत्ति का विकास होता है, जिससे हम अपने तथा अपने परिवार एवं समाज के उत्तरदायित्वों को पूरा करते हैं।

(8) मोक्ष प्राप्ति

हम योग द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं कि आत्मा अमर है, शरीर नश्वर है। बार-बार आत्मा को शरीर में प्रवेश न करना पड़े, इसके लिए तप की आवश्यकता है। आत्मा को इस जन्म-मरण के बंधन से मुक्त कराकर मोक्ष प्राप्त कराना योग का उद्देश्य है।

V. योग मनो-सामाजिक समन्वय करता है

योग का उद्देश्य जहाँ एक ओर व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक स्तर को ऊँचा उठाना है वहीं दूसरी ओर एक आदर्श नागरिक, सामाजिक उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्त्वि का विकास करना है।


मनोसामाजिक एकीकरण
मनोसामाजिक सामान्य कार्यात्मकता
पारिवारिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति
सामान्य कल्याण की भावनायें तथा क्रियायें
शारीरिक व्यवस्थाओं में समन्वय
सम्बन्ध
सम्बन्ध
पारिवारिक सम्बन्धों के प्रतिमान
प्रतिमानों की स्थापना मानव के कल्याण हेतु
केन्द्रीय स्नायु संस्थान
स्वतंत्र स्नायु संस्थान
व्यवहार
समष्टिवाद (Microcosm)
व्यक्तिवाद (Microcosm)
योग

योग व्यक्ति की समस्याओं - शारीरिक, मानसिक, सांवेगिक का समाधान करता है। योग के द्वारा शरीर के सभी तंत्र-पाचन तंत्र, रक्त परिभ्रमण तंत्र, मल निष्कासन तंत्र, स्राव तंत्र, श्वसन तंत्र, माँसपेशीय तंत्र, आदि सभी सामान्य रूप से कार्य करते हैं तथा केन्द्रीय व स्वतन्त्र स्नायु-संस्थान प्रभावित होते हैं। योग पारिवारिक उत्तरदायित्वों को भी पूरा करना सिखाता है। यम–नियम जो कि योग के प्रारम्भिक स्तम्भ हैं वे व्यक्ति में सामाजिक गुणों का विकास करते हैं। अतः योग वर्तमान समाज के लिए जो कि अनेक रोगों व सामाजिक व्याधियों से पीड़ित है, वरदान है।

यदि हम योग के (YOGA) अक्षरों का विश्लेषण करें, तो योग का अर्थ और भी स्पष्ट हो जाता है।

Y = Yacca- a kind of ever green tree	(सदैव प्रसन्नचित्त)
O = Omniscience	(अनन्त ज्ञान)
G = Governability	(मन पर नियंत्रण)
A = Action	(कर्म पर महत्त्व)

योग एक ऐसी वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति है, जो व्यक्ति को सदैव प्रसन्न-चित्त रखती है, उसमें अनन्त ज्ञान का भण्डार भरती है, तथा मन पर नियंत्रण करने की क्षमता विकसित होती है। योग कर्म करने पर बल देता है।

VI. योग के उद्देश्य

योग का मुख्य उद्देश्य उच्चतर शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक व्यक्तित्व का विकास करना है। योग एक ओर स्नायुसंस्थान की कार्य प्रणाली को अतिकार्यात्मक बनाता है तथा दूसरी ओर भौतिक शरीर को रोगमुक्त रखता है। योग के निम्न उद्देश्य हैं :

(1) मानसिक शक्ति का विकास करना

योग के द्वारा मानसिक क्षमता में वृद्धि होती है। मन सबल होता है तथा कष्ट व दुखों को सहने की क्षमता बढ़ती है। योग साधक में सही निर्णय लेने की क्षमता आती है। कार्य करने में पूर्ण ध्यान लगता है। उसकी जीवनी शक्ति में वृद्धि होती है। योग उन तरीकों को सिखाता है जिनसे चिंता तथा अवसाद की स्थिति से सामान्य रूप से निपटा जा सकता है।

(2) रचनात्मकता का विकास

योग सदैव सकारात्मक विचारों के विकास में व्यक्ति की सहायता करता है, क्योंकि योगाभ्यास से व्यक्ति वास्तविकता के निकट पहुँच जाता है। उसका जीवन एक सामान्य धारा के रूप में अबाध गति से चलता रहता है। वह कार्य पर विश्वास

करता है। अतः अपना लक्ष्य कर्म तक ही सीमित रखता है। वह कठिनाइयों को उच्चतम आत्मिक लाभ की एक सीढ़ी मानता है। योगाभ्यास से व्यक्ति की अन्तर्भूत क्षमताओं का उद्‌भव होता है और वह पहले से अधिक विश्वास के साथ अपना कार्य करता है।

(3) मानसिक विश्राम

योगाभ्यास से न केवल लाभ होता है तथा रोगों से छुट्कारा मिलता है बल्कि मानसिक संतोष, मानसिक शान्ति, मानसिक विश्राम आदि प्राप्त होता है। अनेक ऐसे आसन हैं जिनका अभ्यास केवल मानसिक विश्राम के लिए ही किया जाता है। प्राणायाम तथा ध्यान से तो असीम शान्ति मिलती है।

(4) तनावों से मुक्ति

आज के जीवन में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा जिसे चिन्ता, तनाव, दबाव, भग्नाषा न हो, इस कारण वह अनेकानेक शारीरिक तथा मानसिक रोगों से ग्रसित रहता है। योग यह शिक्षा देता है कि किस प्रकार विभिन्न आसनों तथा योग विधियों द्वारा तनाव को कम किया जा सकता है।

(5) प्रकृति विरोधी जीवन के तरीकों में सुधार

प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करने पर ही आधुनिकता का प्रारम्भ होता है। ऐसा आज सामान्य लोगों की धारणा बन गयी है। सोने जागने, श्वास-प्रश्वास क्रिया करने, खाने-पीने, सम्मान करने तथा विश्राम करने, सोचने आदि सम्बन्धी प्राकृतिक नियमों का खुला उल्लंघन हो रहा है। इस कारण से आज लोगों के पास धन तो है, लेकिन वे रहते गरीबी में हैं। इनमें जीवन का आनंद अनुभव करने की क्षमता नहीं है। केवल योग ही इस जीवन पद्धति को बदलकर प्राकृतिक जीवन पद्धति की ओर अग्रसित कर सकता है।

(6) वृहद् दृष्टिकोण का विकास

योग मानसिक संकाय का विस्तार करता हैं इससे व्यक्ति को अपनी तथा दूसरों की समस्याओं का ज्ञान आसानी से हो जाता है। योग इस प्रक्रिया से सार्वभौमिक भ्रातृत्व की भावना का विकास होता है।

(7) मानसिक शान्ति

आजकल मन की शान्ति तथा चैन की नींद के लिए जाना प्रकार की औषधियों का उपयोग किया जा रहा हैं लेकिन कोई भी औषधि ऐसी नहीं बनी है, जो शान्ति प्रदान कर सके। योग ही एक ऐसा साधन है जो यह सिखाता है कि किस प्रकार वास्तविक मन की शान्ति प्राप्त की जा सकती है।

(8) उत्तम शारीरिक क्षमता का विकास

योगासन न केवल मानसिक शक्ति विकसित करते हैं, बल्कि ये शारीरिक

शक्ति को भी बढ़ाते हैं।

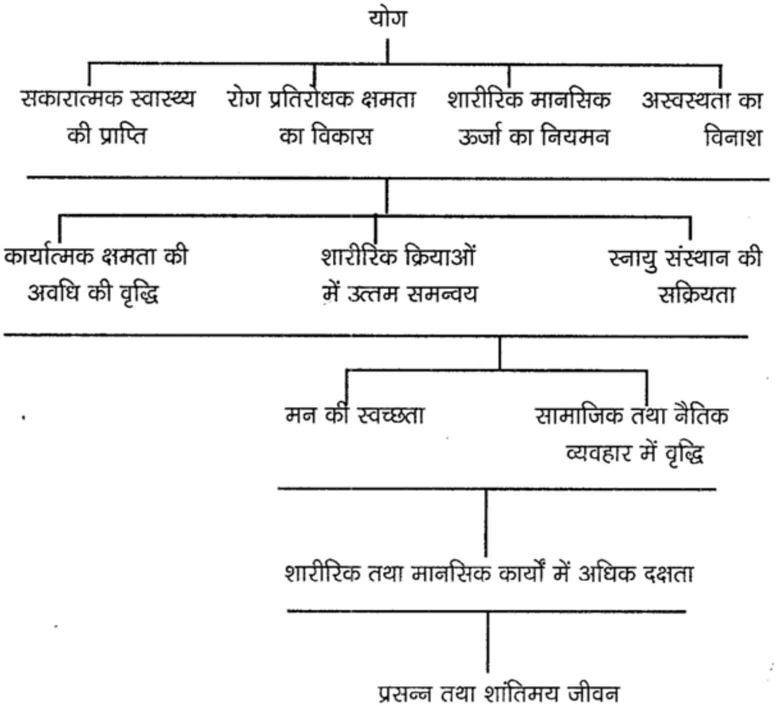
(9) शारीरिक रोगों से मुक्ति

योगाभ्यास से सामान्य रोग आसानी से दूर हो जाते हैं। कब्ज, कफ, सिंर दर्द, शरीर दर्द आदि लक्षण तो आसानी से दूर होते हैं। इसके अतिरिक्त योग मधुमेह, उच्चरक्त-चाप, गठिया, संधिवात, दमा में रामबाण की तरह कार्य करता है।

(10) मदिरापान तथा दृव्य व्यसन से मुक्ति

आज का अधिकांश युवक इन बुराइयों का शिकार होता चला जा रहा हैं। वह अपने-जीवन का सच्चा लक्ष्य न प्राप्त करके आकाशीय दुनिया में घुसना चाहता है।और अनेक प्रकार के दृव्यों का सेवन करने लगता है। योग के माध्यम से इन्हें आसानी से सद्पथ पर लगाया जा सकता है।

सारांश में योग के उद्देश्यों को निम्न प्रकार से प्रदर्शित कर सकते हैं :



VII. पतंजलि का योगदर्शन

योगाश्चि चित्तवृत्ति निरोधः। अर्थात् चित्त की वृत्तियों पर अंकुश लगाना ही योग है। चित्त की वृत्तियों की चंचलता के कारण ही मनुष्य मायाजाल में फँस जाता है। अतः यदि चित्त की वृत्तियों का निरोध सम्भव हो जाय तो मन शान्त हो जायेगा तथा आत्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जायेगा,

चित्त की पाँच प्रकार की वृत्तियाँ हैं :

(1) प्रमाण। (2) विपर्यय। (3) विकल्प। (4) निद्रा। (5) स्मृति।

इन पाँचों वृत्तियों के दो भेद होते हैं :

(1) क्लिष्ट (2) अक्लिष्ट

1- प्रमाणवृत्ति

यह वृत्ति तीन प्रकार की होती है :

(1) प्रत्यक्ष (2) अनुमान (3) आगम

(1) प्रत्यक्ष वृत्ति

इस वृत्ति में स्वयं प्रत्यक्ष अपने शरीर, मन व इन्द्रियों द्वारा हम किसी वस्तु का अनुभव करते हैं। जैसे अपनी आँखों के सामने किसी की मृत्यु देखना।

क्लिष्ट :

उसको देखकर मृत्यु से भयभीत हो जाना। यह वृत्ति भोगों की ओर ले जाने वाली होती है।

अक्लिष्ट :

किसी की मृत्यु देखकर यह सोंचना कि यही शास्वत है सत्य है व योग की तरफ मुड़ जाना तथा सांसारिक विषयों से वैराग्य हो जाना अक्लिष्ट प्रकार की प्रत्यक्ष वृत्ति है।

(2) अनुमान

इस प्रकार की वृत्ति में हम प्रत्यक्ष देखकर अपने मन व शरीर तथा बुद्धि द्वारा अनुमान करके अप्रत्यक्ष बात सोचना। जैसे धुँआ देखकर आग का अनुमान लगाना। धुँआ देखकर भयभीत होकर उल्टी तरफ भागना क्लिष्ट वृत्ति है। परन्तु धुँआ देखकर अनुकूल दिशा में जाकर उसे सही पता करने का प्रयत्न करना अक्लिष्ट वृत्ति है।

(3) आगम

वेद शास्त्री व मुनियों तथा ऋषियों की बातों से ईश्वर पर केन्द्रित हो जाना आगम है। यह वृत्ति भी दो प्रकार की होती है। क्लिष्ट-ईश्वर का उपहास करना,

अक्लिष्ट-ईश्वर के ध्यान में लीन हो जाना।

2- विपर्यय

विपयर्य का तात्पर्य है विपरीत ज्ञान अर्थात् जो है उससे सर्वथा भिन्न सोचना।

3- विकल्प

विकल्प चित्त की वह वृत्ति है जिससे किसी के द्वारा सुनी सुनायी बात पर विश्वास कर लेते हैं। इसमें न तो किसी प्रमाण की आवश्यकता होती है, नहीं विपर्यय की।

4- निद्रा

जब हम निद्रा में होते हैं तो ज्ञान के अभाव का ज्ञान होता है। वह निद्रावृत्ति है। यह भी चित्त की एक वृत्ति है। यह भी दो प्रकार की होती है। जब हम निद्रा से जाग जाते हैं, पर आलस्य के कारण निद्रा से प्राप्त शारीरिक सुख के कारण लेटे रहते हैं यह क्लिष्ट वृत्ति है। इसके विपरीत जागकर स्फूर्ति अनुभव करना तथा शुभ कार्य में चित्त लगा देना अक्लिष्ट वृत्ति है।

5- स्मृति

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प व निद्रा के कारण जो हमारे मस्तिष्क में विचार आते हैं। उनका पुनः प्रकट होना स्मृति है। स्मृति वृत्ति इन चारों वृत्तियों के अलावा भी किसी भी वृत्ति के कारण दिमाक में बने विचार के पुनरुत्थान में भी हो सकता है। यह भी दो प्रकार की होती है। पुरानी कष्टप्रद स्मृतियों की स्मृति जो दुख पहुँचाती है, ये क्लिष्ट वृत्ति है। बीते हुए दिनों की सुखद स्मृतियाँ जो योग की तरफ ले जाती हैं अक्लिष्ट वृत्ति हैं।

VIII. चित्त की वृत्तियों का नियंत्रित करने के साधन

महर्षि पतंजलि क्रियायोग अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा इन वृत्तियों को शान्त करने की साधना बताते हैं :

1- तप

मन की वृत्तियों को शान्त करने में तप का विशेष महत्त्व है। सर्दी, गर्मी, अनुकूल, प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में साधना को न छोड़ना व मार्ग में आने वाली सभी शारीरिक व मानसिक कठिनाइयों को सहर्ष सहन करने से चित्त की वृत्तियाँ विरुद्ध होती हैं।

2- स्वाध्याय

वेदों का पठन-पाठन, ईश्वर में आस्था तथा धार्मिक साहित्य का गहन अध ययन करने से चित्त की वृत्तियाँ शान्त होती हैं।

3- ईश्वर प्राणिधान

ईश्वर शरणागति में जाने से भी चित्त की वृत्तियाँ विरुद्ध हो जाती हैं ये तीनों तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्राणिधान क्रियायोग के अंग हैं।

अभ्यास

निरंतर प्रयास करने से भी जीत होती है। बार-बार चित्त को बाहर से खींचकर भीतर की ओर लाना व चित्त के प्रवाह को रोकने का अभ्यास करने से चित्त शान्त होता है।

वैराग्य

चित्त प्रवाह को रोककर उसको कल्याणकारी कार्य में लगाना ही वैराग्य है। वैराग्य का अर्थ है : विशेष राग अर्थात् परमात्मा से विशेष अनुरक्ति व सांसारिक वस्तुओं से अनासक्ति।

चित्त को एक सरोवर माना गया है जिसमें सदैव तरंगे उठती रहती हैं अतः उसमें आत्मदर्शन होना सम्भव नहीं है। अतः चित्त की स्थूल प्रवृत्ति उसे सूक्ष्म की तरफ लाना होगा। क्योंकि योग एक अत्यंत गूढ़ विषय है। यह सूक्ष्म बुद्धि के प्रयोग करने से ही सधता है। इसी से चित्त का सारा स्पंदन समाप्त हो जाता है।

IX. मन तथा मन का स्वरूप :

सभी दुखों का कारण हमारा मन है, क्योंकि यह विषयान्मुख होकर तीव्र गति से उसी दिशा में भागता है। यदि हम मन की शान्ति तथा आनन्दमय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो मन पर नियंत्रण लगाना होगा। परन्तु मन स्वभाव से बड़ा चंचल और बलवान है, इसे वश में करना दुष्कर कार्य है। सारे योगिक साधन इसी को वश में करने के लिए किये जाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि मन क्या पदार्थ है ? यह आत्म तथा अनात्म पदार्थ के बीच में रहने वाली एक विलक्षण वस्तु है। बन्ध्य और मोच्छ इसी के अधीन हैं। मन विकारी है, इसका कार्य संकल्प विकल्प करना हैं। यह जिस पदार्थ को भली भाँति ग्रहण करता है, स्वयं भी तदाकार बन जाता है। यह राग के साथ ही चलता है। सारे अर्थों की उत्पत्ति राग से होती है। राग न हो तो मन प्रपंचों की ओर न जाय। किसी भी विषय में गुण और सौन्दर्य देखकर उसमें राग होता है। इसी से मन उस विषय में प्रवृत्त हो जाता है। परन्तु जिस विषय में मन को दुख तथा दोष दिखता है उससे इसका द्वेष हो जाता है। इसका कारण उस ओर प्रवृत्त ही नहीं होता। यदि कभी उस ओर प्रवृत्त भी हो जाता है, तो उसमें अवगुण एवं कष्ट देखकर तुरन्त वापस आ जाता है। वास्तव में द्वेषवाले विषय में भी इसकी प्रवृत्ति राग से होती है साधारणतया यही मन का स्वरूप और स्वभाव है।

X. मन को वश में करने के साधन

निम्न साधनों एवं प्रविधियों के माध्यम से मन पर कुछ सीमा तक अंकुश

लगाया जा सकता है :

(1) भोग्य साधनों के प्रति अन्तर्दृष्टि

मन सांसारिक वस्तुओं की ओर तभी आवृत्त होता है, जब उसमें आकर्षण देखता है। यदि व्यक्ति में आत्मत्व एवं आत्मविश्लेषण की क्षमता विकसित हो जाय तो मन उस ओर नहीं आवृत्त होगा। इसलिए संसार के सारे पदार्थों में चाहे ये ऐहलौकिक हों या पारलौकिक, दुख और दोष की प्रत्यक्ष भावना करनी चाहिए। यदि यह रमणीयता या सुख विषयों से हटकर प्रकृति, आदिशक्ति, ईश्वर में दिखायी देने लगे तो मन तुरन्त विषयों से हटकर ईश्वर की ओर लग जायेगा।

(2) नियम से रहना

नियमों से रहने में मन को नियंत्रित करने में काफी सहायता मिलती है। प्रातःकाल बिस्तर से उठकर रात को सोने तक दिनभर कार्यों की एक ऐसी नियमित दिनचर्या बना लेना चाहिये, जिससे जिस समय जो कार्य करना हो, मन अपने आप स्वभावतः ही उस समय उसी कार्य में लग जाय। पाँच मिनट का भी नियमित ध्यान अनियमित अधिक समय के ध्यान से उत्तम है। नियमों का पालन, खाने-पीने, पहनने, सोने और व्यवहार करने, सभी में होने चाहिये।

(3) मन की क्रियाओं पर विचार

मन के प्रत्येक कार्य पर विचार करने से उसकी गति तथा चंचलता का पता चलता है। प्रतिदिन रात को सोने से पूर्व दिन भर के मन के कार्यों पर विचार करना उचित होता है। यद्यपि मन की सारी बातों का स्मरण करना कठिन है परन्तु जितना याद रहे, उतनी ही बातों पर विचार कर जो-जो संकल्प सात्विक मालूम दें, उनके लिए मन की सराहना करना और जो-जो संकल्प राजसिक और तामसिक मालूम दें, उनकी भर्त्सना करनी चाहिये। इससे मन धीरे-धीरे अच्छे कार्यों की ओर आकर्षित होने लगता है।

(4) मन के कहने में समझ-बूझ कर आना

मन के कहने में पूर्ण रूप से नहीं चलना चाहिये। यद्यपि मन में असीम शक्ति होती हैं, उससे हारना भी पड़ता है, परन्तु साहस नहीं छोड़ना चाहिये। दृढ़ प्रतिज्ञ होकर मन की स्थिति का पूर्ण विश्लेषण करना चाहिये। म की हाँ में हाँ न मिलाकर प्रत्येक कार्य खूब सावधानी से बरतना चाहिये। मन बड़ा चतुर होता है। वह डराता भी है, फुसलाता भी है। लालच भी देता है। लेकिन इसके लालच में नहीं आना चाहिये। इस क्रिया को बार-बार दोहराने से मन की शक्ति कमजोर होती है। वह मालिक के स्थान पर सेवक की भूमिका निभाने लगता है, लेकिन बड़े धैर्य एवं साहस की आवश्यकता होती है।

5- मन को सत्कार्य में संलग्न रखना

कहावत है कि "खाली समय शैतान का घर" अर्थात् जब मनुष्य को कोई कार्य नहीं होता है, तो वह बुरी बातों की ओर बढ़ता है। अतः जब तक नींद न आये तब तक मन को शुभ कार्यों में लगाये रहना चाहिये।

6- मन को ईश्वर भक्ति में लगाना

गीता में कहा गया है कि यह चंचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ दौड़कर जाय, वहाँ-वहाँ से हटाकर बार-बार इसे ईश्वर में ही लगाना चाहिये। इसका अभ्यास धीरे-धीरे ही हो सकता हैं इस प्रकार की दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि किसी प्रकार का भी वृथा चिंतन या मिथ्या संकल्पों को मन में नहीं आने दिया जायेगा।

7- एकतत्त्व का अभ्यास करना

चित्त का विक्षेप दूर करने के लिए एकतत्व का अभ्यास करना चाहिये। किसी एकवस्तु पर तब तक दृष्टि इंगित करना जब तक आँखों में जल न आ जाय। इसका प्रतिदिन आधा घन्टा अभ्यास करने से मन की चंचलता कम होती है।

8- नाभि या नासिका में दृष्टि स्थापन करना

नित्य नियमपूर्वक पद्मासन या सुखासन में सीधा बैठक नाभि में दृष्टि जमाकर एकटक देखना चाहिए। ऐसा करने से शीघ्र ही मन स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर बैठने से भी चित्त निश्चल होता है।

9- शब्द श्रवण करना

कानों में अंगुली लगाकर शब्द सुनने का अभ्यास किया जाता है। इसमें पहले भँवरों के गुंजार अथवा प्रातःकालीन पक्षियों के चहचहाने जैसे शब्द सुनायी पड़ते हैं। फिर क्रमशः घुँघरू, शंख, घन्टा, ताल, मुरली, भेरी, मृदंग, सदृश्य शब्द सुनायी देते हैं। इस प्रकार दस प्रकार के शब्द सुनायी देने लगने के बाद दिव्य ॐ शब्द की श्रवण होती है। यह मन के निश्चल करने का उत्तम साधन हैं।

10- ध्यान या मानसपूजा

भगवान की किसी मूर्ति अथवा किसी अंग पर ध्यान पहले लगाना चाहिये। मूर्ति के ध्यान में इतना तन्मय हो जाना चाहिये कि दुनिया का ध्यान न रहे। इसके बाद कल्पना प्रसून सामग्रियों से मानसक पूजा करनी चाहिये।

11- दया एवं मैत्री का व्यवहार

महर्षि पतंजलि के मनोनिग्रह का उपाय यह भी बताया है कि सुखी मनुष्यों से प्रेम और दुखियों के प्रति दया, पुण्यात्माओं के प्रति प्रसन्नता, और पापियों के प्रति उदासीनता की भावना से चित्त प्रसन्न होता है।

12- सद्गुणों का अध्ययन

वेदों, उपनिषदों, गीता-रामायण, आदि का अध्ययन करने से मन की वृत्तियों पर नियंत्रण लगता है।

13- प्राणायाम

प्राणायाम भी मन नियंत्रण का एक साधन है। योग दर्शन में कहा गया है कि नासिका के छिद्रों से अन्दर की वायु को बाहर निकालना प्रच्छर्दन कहलाता है और प्राणवायु की गति रोक देने को विधारण कहते हैं। इन दोनों उपायों से चित्त स्थिर रहता है।

14- श्वाँस के द्वारा नाम जप

मन को स्थिर करने का यह अत्यंत सरल साधन है इसमें आने-जाने वाले श्वांस-प्रश्वांस गति पर ध्यान रखकर श्वास के द्वारा ईश्वर के नाम का जप किया जाता हैं। यह अभ्यास बैठ्ते-बैठ्ते चलते-फिरते, सोते-जागते प्रत्येक अवस्था में किया जा सकता है।

15- ईश्वर शरणागति

ईश्वर प्राणिधान से भी मन वश में होता है। अपने सभी कृत्यों को परमात्मा का कार्य समझ कर अपना तथा उसी के अधीन मानकर रहना ईश्वर प्राणिधान कहलाता हैं ऐसा आचरण करने से संसार का बंधन अपने आप टूट्ने लगता है।

16- मन के कार्यों का अवलोकन

मन से अलग होकर निरन्तर मन के कार्यों को देखते रहना मन वश में करने का उत्तम साधन है। जब तक हम मन के साथ मिले हुये हैं तभी तक मन में इतनी चंचलता है। जिस समय हम मन के दृश्टा बन जाते हैं, उसी समय मन की चंचलता मिट जाती है।

17- भगवान का कीर्तन

मग्न होकर उच्चस्तर से परमात्मा का नाम और गुण कीर्तन से भी मन ईश्वर में स्थिर हो जाता है।

इस प्रकार से मन को रोक कर परमात्मा में लगाने के अनेक साधन और युक्तियाँ हैं। इनमें से या अन्य किसी भी युक्ति से मन को विषयों से हटाकर परमात्मा में लगाने की चेष्टा करनी चाहिए।

XI. योग के अंग

पतंजलि योग दर्शन के अनुसार योग के आठ अंग हैं :

1. यम 2. नियम 3. आसन

4. प्राणायाम 5. प्रत्याहार 6. धारणा
7. ध्यान 8.समाधि।

1- यम

यम वे वृत्त हैं जो व्यक्ति को सामाजिक बनाते हैं, तथा उसके व्यवहार को अनुशासित करते हैं । यम के पाँच वृत्त हैं जिनके अनुसार आचरण करने से योग का फल प्राप्त होना प्रारम्भ होता है।

1- अहिंसा 2- सत्य 3- अस्तेय 4- ब्रह्मचर्य 5- अपरिग्रह

(1) अहिंसा

अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है किसी को शारीरिक आघात न पहुँचाना परन्तु यह अर्थ अपूर्ण है क्योंकि आघात शारीरिक ही नहीं होता है मन पर भी आघात पहुँचता है। हिंसक वाणी या कार्यों के पूर्व व्यक्ति के मन में हिंसक विचार आते हैं और ये हिंसक विचार शरीर तथा मन पर बुरा प्रभाव डालते हैं। अतः योग सिखाता है कि किसी व्यक्ति को केवल शारीरिक, मानिसक क्षति पहुँचाने से ही नहीं बचना है अपितु हिंसक विचारों को भी नहीं लाना है। इससे सार्वभौम प्रेम का विकास होता हैं इसके फलस्वरूप व्यक्ति सम्पूर्ण सृष्टि में एकता का भाव अनुभव करने लगता है।

(2) सत्य

सत्य ही ईश्वर है। सत्य नैतिकता का प्रमुख स्तम्भ है। योग सिखाता है कि व्यक्ति को मन, वचन, कर्म, तीनों से सत्यभाषी-होना चाहिए। झूठ बोलना इसीलिए हानिकारक है, कि एक झूठ को सत्य करने के लिए अनेक प्रकार के झूठ बोलने पड़ते हैं। इससे छल-प्रपंच, झूठ बोलने का स्वभाव बन जाता है ऐसा व्यक्ति सदा भयभीत रहता है, तथा उसका मन तिकड़म करता रहता है। सत्य का पालन करने से व्यक्ति अपने आप सद्गुणों को प्राप्त कर लेता है।

(3) अस्तेय

अस्तेय का तात्पर्य है चोरी न करना। चोरी का यहाँ किसी वस्तु को चुराने की प्रवृत्ति से न होकर कर्त्तव्यों से चोरी करना प्रमुख है दूसरों की वस्तुओं की कामना करना भी नहीं चाहिए। इससे चित्त की वृत्तियों पर अंकुश लगता है तथा मन पर नियंत्रण लगता है।

(4) ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का तात्पर्य इन्द्रियों पर विशेष कर काम वृत्ति पर नियंत्रण लाना होता हैं। इसका व्यापक अर्थ ब्रह्म में रमण करना। यह स्थिति तभी आती है जब व्यक्ति सभी वासनाओं तथा इच्छाओं से मुक्त हो। काम सबसे प्रमुख एवं अति शक्तिशाली वासना है। काम क्रिया की अधिकता से मनुष्य के अंदर निहित शक्तिशाली

ऊर्जा नष्ट हो जाती है। लेकिन ब्रह्मचर्य से मन शान्त रहता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है सभी इच्छाओं का नियंत्रण तथा उनसे मुक्ति।

(5) अपरिग्रह

अपरिग्रह का तात्पर्य है अपने जीवनयापन के लिए कम से कम सुख-सुविधाओं को जुटाना तथा भौतिक वस्तुओं से कम से कम लगाव होना। व्यक्ति में किसी वस्तु की ऐसी आदत नहीं होनी चाहिये, जिसके अभाव में वह विशेष कष्ट अनुभव करें। ऊपरी मन से भौतिक वस्तुओं का त्याग तथा अन्दर से मोह व्यक्ति को बहुत कष्ट देता है। भौतिक वस्तुओं के रखने में कोई संकट नहीं उत्पन्न होता है, संकट तो वस्तुओं के प्रति आसक्ति व मोह तथा उनको अधि ाकाधिक पाने की लालसा में है। इसीलिए योग यह आवश्यक समझता है कि ऐसी बुद्धि तथा मन का विकास किया जाय तो भौतिक वस्तुओं से लगाव अधिक न रखे।

नियम

नियम वे वृत्त हैं जो व्यक्ति को वाह्य तथा आंतरिक दोनों रूप से स्वच्छ बनाते हैं। ये भी पाँच हैं :

1-शौंच 2-संतोष 3- तप 4- स्वाध्याय 5- ईश्वर प्राणिधान।

(1) शौच

शौच का तात्पर्य शरीर तथा मन दोनों की स्वच्छता से है। शारीरिक स्वच्छता प्राप्त करना सहज कार्य है, लेकिन मन की स्वच्छता कठिन कार्य हैं। इसके लिए विशेष प्रयास करने की आवश्यकता है, जिससे बुद्धि तथा मन परिष्कृत हो सके। परिष्कृत अवस्था में स्कृति विचारों के प्रति सजग रहती है, तथा बुद्धि सद् तथा असद् विचारों में विभेद करने की क्षमता अर्जित करती है।

(2) सन्तोष

सन्तोष मन की वह अवस्था है जो आनन्द का अनुभव करती है। यह भौतिक उपलब्धियों पर आधारित नहीं होती है। व्यक्ति की इच्छायें कभी-कभी पूर्ण नहीं होती हैं। जब एक इच्छा पूर्ण हो जाती है, तो दूसरी नयी इच्छा उत्पन्न हो जाती हैं। इससे मन सदा चंचल व अशान्त बना रहता है। मन की शान्ति, संतोष की वृत्ति के विकास से ही सम्भव है, लेकिन सन्तोष का तात्पर्य कर्म से मुक्ति दिलाता नहीं है।

(3) तप

तप का तात्पर्य उन कृत्यों से है जिससे शरीर में अधिकाधिक ऊर्जा का विकास हो। इन्द्रिय सुखों से मुक्त जीवन, नियमित वृत्ति, ईश्वर श्रद्धा, मानव सेवा, धैर्य तथा सहनशीलता इसके अभिन्न अंग हैं। तप को तीन भागों में बाँटा जा सकता है- ज्ञानेन्द्रियों का तप, कर्मेन्द्रियों का तप, मानसिक विचारों का तप। ज्ञानेन्द्रियों

का तात्पर्य ज्ञान के श्रोतों से कार्य तो लेना लेकिन अकार्य न कराना। उदाहरण के लिए आँखों से देखने का कार्य तो करना लेकिन किसी की बुराई देखने का अभ्यास न करना। कर्मेन्द्रियों में तप का भी यही अर्थ है। अर्थात् कर्म तो करना लेकिन वेद असम्मत कार्य न करना। मानसिक विचारों के तप का तात्पर्य सदैव सकारात्मक विचार ही मन में लाना।

(4) स्वाध्याय

स्वाध्याय का तात्पर्य है धर्म ग्रन्थों का अध्ययन करना तथा अपने आपको जानने का प्रयत्न करना। धार्मिक ग्रन्थ हमें जीवन के वास्तविक लक्ष्यों को दर्शाते हैं तथा चिंतन की नयी दिशा निर्धारित करते हैं।

बौद्धिक स्तर पर आध्यात्मिक सत्यों को स्वीकार कर लेने पर व्यक्ति चिंतन तथा ध्यान की ओर अग्रसर होता है। अर्न्तदृष्टि का विकास होता है।

(5) ईश्वर प्राणिधान

इसका तात्पर्य परम सत्ता के प्रति समर्पण हैं। जो भी हम कार्य करें, ईश्वर का कार्य मान कर करें इससे कर्म के प्रति पूर्ण निष्ठा आती है। लेकिन यह कठिन कार्य है और उसी व्यक्ति के लिए सम्भव है, जिसमें अनन्त श्रद्धा हो। अहं बहुत दुराग्रही होता है। वह समर्पण का विरोध करता है, लेकिन समर्पण से ही वास्तविक आनन्द प्राप्त होता है।

3. आसन

शरीर तथा मन को स्वस्थ रखने के लिए महर्षि पतंजलि ने आसनों का उल्लेख किया। यम तथा नियम के पश्चात् तीसरी सीढ़ी आसनों की है। योग में आसनों का विशेष महत्व है। इसके अभ्यास से शरीर व मन में स्थिरता, आरोग्य एवं लघुता उत्पन्न होती है।

(1) परिभाषा

आसमन्तात् सद्तिष्ठति अंगानि स्थिरीकरोति यास्मिन् क्रियाणाम तदासन्।

अर्थात् शरीर के विभिन्न अंगों की स्वतंत्र चेष्ठाओं पर नियंत्रण रखते हुए उन्हें विशिष्ट स्थिति में बनाये रखने को ही आसन कहा गया है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार

स्थिर सुखासनः अर्थात् स्थिरता से सुखपूर्वक बैठना ही आसन है।

आसन शरीर की विभिन्न स्थितियाँ हैं, जिनमें शरीर को आवश्यकतानुसार रखा जाता हैं। दबाव डाला जाता है, तथा मोड़ा जाता है।

शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आसनों का विशेष महत्त्व है। योग में आसन

दो प्रकार के हैं :

(1) ध्यान सम्बन्धी आसन (2) स्वास्थ्य निर्माण सम्बन्धी आसन।

प्राणायाम, धारणा तथा ध्यान कें लिए पद्मासन, सिद्धासन, सुखासन, उपयुक्त माने गये हैं। इन आसनों में सुखपूर्वक बैठा जा सकता है। वैज्ञानिक अनुसंधानों से पता चलता है कि इन साधनों में कार्बन डाई-आक्साइड कम बनती है। इसीलिए हृदय व फेफड़े की क्रिया धीमी पड़ती है और चित्त व मन की चंचता कम होती है। अतः मन को एकाग्र करने का वातावरण तैयार होता है। दूसरे प्रकार के वे आसन हैं, जो शरीर की मांसपेशियों और स्नायुओं को नियंत्रित करते हैं। इन आसनों से रोगों को दूर करने में सहायता मिलती है। अपने शरीर की शक्ति की उपयोगिता व रोग की दृष्टि से चुने गये आसन करने से शीघ्र ही लाभ प्राप्त होता है। विशिष्ट अवयव तथा विशिष्ट रोग के लिए विशेष शरीर की मांसपेशियों में शक्ति उत्पन्न होती है एवं नवजीवन का संचार होता हैं। आसनों का प्रमुख अन्तः स्रावी ग्रन्थियों पर पड़ता है। आसनों के नियमित अभ्यास से मानव को सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक शक्तियों का विकास होता है।

(2)आसन के प्रकार :

संहिताओं में 84 आसनों का उल्लेख किया गया हैं। आसनों को मुख्यतः तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं :

(1) ध्यान के आसन : सुखासन, स्वास्तिकासन, पद्मासन आदि

(2) व्यायाम के आसन - ताड़ासन, उत्तानपाद आसन, पवनमुक्त आसन आदि।

(3) चिकित्सा के आसान : चक्रासन, सर्वांगासन, हलासन आदि।

84 आसनों का उल्लेख मिलता है। ये सभी आसन किसी न किसी रूप में चिकित्सा के लिए उपयोग में लाये जाते हैं।

प्रमुख आसन निम्न प्रकार हैं :

1-पद्मासन	2-सिद्धासन
3-मुद्रासन	4-स्वस्तिकासन
5-बज्रासन	6-शीर्षासन
7-सर्वांगासन	8-मत्स्यासन
9-उत्तानपादासन	10-चक्रासन
11-हलासन	12-पवनमुक्तासन
13-शवासन	14-धनुरासन
15-भुजंगासन	16-शलभासन
17-मयूरासन	18-गरुड़ासन

19-वृक्षासन	20-गोमुखासन
21-पश्चिमोत्तासन	22-अर्धमत्स्येन्द्रासन
23-गर्भासन	24-सिंहासन
25-योगमुद्रासन	26-पर्वतासन
27-नौकासन	28-मकरासन

(3)आसन से पूर्व विशेष सावधानियाँ

निम्नलिखित सावधानियाँ होनी चाहिए :

1- मलमूत्र त्याग कर, स्नान कर आसन करना चाहिए।
2- योगासन करने से पूर्व पेट बिल्कुल खाली होना चाहिए।
3- यदि योगासन सायंकाल करें, तो भोजन कम से कम 4 घन्टे पूर्व किया गया हो।
4- योगासन का अभ्यास खुले स्थान में करें।
5- श्वास-प्रश्वास की क्रिया योगासन करते समय नासिका द्वारा ही होना चाहिए।
6- स्त्रियों को मासिक धर्म के समय योगासन नहीं करना चाहिये।
7- योगासन बलपूर्वक नहीं करना चाहिए।
8- किसी भी आसन करने के बाद उसका उपासन करना चाहिए।
9- चित्त शान्त रखना चाहिए।
10- किसी प्रकार की बातचीत योगासन के बीच नहीं करनी चाहिए।

सिद्धासन

1- सिद्धासन

प्रायः सिद्धपुरूष इसी मुद्रा में बैठते हैं। किसी समतल स्थान पर बैठकर आसनी बिछाकर बैठते हैं। पहले दायें पैर को मोड़कर एड़ी को लिंग और गुदा के बीच के कोमल स्थान पर टिका देते हैं। अब बायें पैर को मोड़कर दायें पैर की पिण्डली पर रखते हैं। पैरों को इस प्रकार रखते हैं कि दोनों पैरों के घुटनों के जोड़ एवं सीधी रेखा में रहते हैं। हाथों को ज्ञानमुद्रा में रखते हैं। यह आसन काम उत्तेजना को रोकने का सबसे उत्तम साधन है। वीर्य निम्न गति को छोड़कर शरीर को पुष्ट करनें लगता है। एकाग्रता बढ़ती है। मन शान्त होता है तथा मुख पर कान्ति तथा ओज की वृद्धि होती है।



2- पद्मासन

पद्म का तात्पर्य कमल से होता है। इस आसन का अभ्यास करने से कमल जैसी सुन्दरता, सौम्यता तथा तेज आता है। जिस प्रकार जब कमल खिलता है तो उसकी सभी पंखुड़ियाँ बड़ी लुभावनी लगती हैं उसी प्रकार इस आसन से शरीर के सभी अंग सुदृढ़ व आकर्षक बनते हैं। मूलाधार चक्र पर दबाव पड़ने से कुंडलिनी उत्तेजित होती है, जिससे वास्तविक ज्ञान का संचार होता है।

वनस्पति शास्त्रियों का विचार है कि कमल के बीच दो हजार वर्ष तक सुप्तावस्था में पड़े रहने के बाद भी उगने की क्षमता रखते हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक बीज जो सभी में विद्यमान रहते हैं तथा जिनकी रचना प्रेम, सद्भावना, दया, सहिष्णुता आदि से होती है, उचित अवसर मिलने पर पनप सकते हैं। इस आसन से यही अवसर प्राप्त होता है, व्यक्ति में मानवीय गुणों का संचार होता है तथा मानसिक शाँति मिलती है।

इस आसन को करने के लिए कम्बल या दरी पर सर्वप्रथम दण्डासन में बैठ जाते हैं। फिर दाहिने पैर को घुटनों से मोड़कर हाथों की सहायता से एड़ियों को नाभि के समीप स्थिर करते हैं, अब बायें पैंर को इसी प्रकार घुटने से मोड़ कर नाभि के समीप स्थिर करते हैं, दोनों एक-दूसरे से क्रास बनाती हैं तथा पादतल ऊपर की ओर रहती है। दोनों हाथ सीधे तथा घुटनों पर स्थित होते हैं, हथेलियाँ सामने की ओर रहती हैं जिनमें तर्जनी व अंगूठा एक-दूसरे से स्पर्श करते रहते हैं एवं शेष तीन



ऊँगलियाँ सीधी रहती हैं। मेरुदण्ड सीधा रहता है तथा दृष्टि सामने स्थिर रखते हुए बन्द कर लेते हैं, मन को एकाग्र करते हैं, मस्तिष्क से सभी विचारों को निकाल देते हैं एवं अपना सारा ध्यान श्वांस पर केन्द्रित करते हैं। कुछ समय पश्चात जब इस आसन को खोलना होता है तब पहले आँखों को खोलते हैं। फिर क्रमशः बायें एवं दाहिने पैर को सीधा करके दण्डासन में बैठ जाते हैं फिर बैठने की स्थिति में आराम करते हैं।

3- सुखासन

यह सरलतम आसन है। इसमें बायें पैर का पंजा दाहिने के नीचे रखते हैं तथा दाहिने पैर का पंजा बायें पैर के घुटने के बीच रखते हैं। प्रत्येक घुटना विपरीत पैर के पंजे पर टिका होता है। इस आसन से मानसिक शांति मिलती है।

4- स्वस्तिकासन

स्वस्तिक एक माँगलिक चिन्ह है। इसमें दो रेखायें एक-दूसरे को समकोण बनाती हुई काटती हैं। इस आसन में पैरों को कुछ-कुछ यही रूप प्राप्त हो जाता है।



इस आसन में पैरों को आगे फैलाकर बैठ जाते हैं और दाहिने पैर घुटने से मोड़कर इस प्रकार रखते हैं कि एड़ी नितंब संधि पर टिकती है और पूरा तलवा बायीं जाँघ से सटा रहता है। पैर की स्थिति सिद्धासन जैसी होती है। अन्तर इतना होता है कि सिद्धासन में एड़ी मूलाधार को दबाती है और इसमें वह नितंब संधि पर रखी जाती हैं अब दाहिने घुटने को इसी अवस्था में रखते हुए बायें हाथ से दाहिने पैर का अंगूठा कुछ ऊपर उठाते हैं और ठीक उसी समय बायें पैर घुटने से मोड़कर दाहिनी जाँघ पर इस प्रकार रखते हैं कि दायें पैर का अँगूठा बायें पैर की पिंडली और जाँघ से, जिनके अन्दर वह पैर दबा होता है, कुछ ऊपर निकाले रहते हैं। मेरुदण्ड बिल्कुल सीधा रहता है। इस आसन चित्त की एकाग्रता तथा मांगलिक कार्यों में मन उन्मुख होता है।

5- शशांकासन

वज्रासन की स्थिति में बैठकर दोनों हाथ ऊपर उठाते समय श्वांस बाहर निकालते रहते हैं, श्वास बाहर निकालते हुये सामने की ओर झुकते हैं तथा इतना

झुकते हैं कि हथेलियाँ जमीन पर टिक जाती हैं। थोड़ी देर के लिए श्वांस बाहर रोक लेते हैं तथा श्वांस भरते हुये सीधे बैठ जाते हैं।

यह आसन उच्च रक्तचाप को शान्त करता है तथा पीठ के दर्द दूर होते हैं। पेट का मोटापन कम हो जाता है।

6-सिंहासन

इस आसन में अभ्यासी की मुद्रा सिंह जैसी होती है। जाँघों तथा एड़ियों पर समान भार देते हुये बैठ्ते हैं। धड़ आगे की ओर झुका रहता है तथा नितम्ब पीछे की ओर से कुछ ऊपर उठे रहते हैं। अब पूरे हाथों की मांसपेशियाँ कड़ी कर हथेलियाँ घुट्नों पर जमा देते हैं। मेरुदण्ड तथा धड़ सीधा रखते हैं। सीना बाहर की ओर निकालते हैं। जबड़ों को पूरा फैलाते हैं, जीभ अधिकाधिक बाहर निकालते हैं तथा दृष्टि भ्रूमध्य जमा देते हैं। इस आसन से गर्दन की पेशियों में लोच आता है, गले के रोग दूर होते हैं, सीना पुष्ट होता है तथा उदर के विकार दूर होते हैं।

7-गोमुखासन

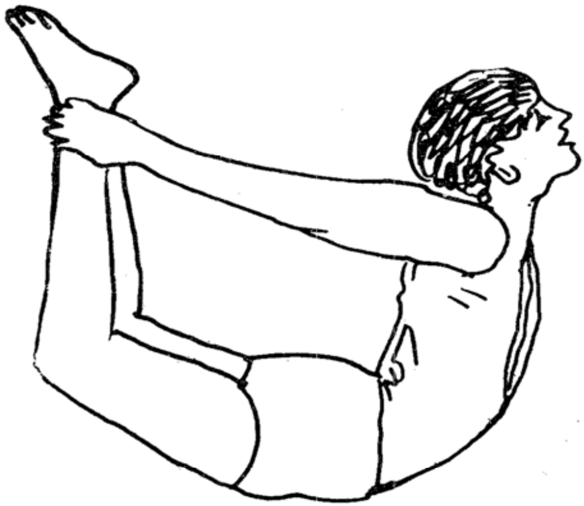
इस मुद्रा में बायाँ पैर उठाकर दायीं जाँघ पर लाते हुये जाँघ से सटाकर टिका देते हैं। इससे दोनों घुट्ने एक दूसरे के ऊपर आ जाते हैं। फिर दोनों हाथों को एक ऊपरी से कोहनी से मोड़कर तथा दूसरा बगल में कुहनी से मोड़कर कंधे के पीछे एक दूसरे से पकड़ लेते हैं फिर यही क्रिया दूसरी तरफ से करते हैं।

इस आसन से फेफड़ों व छाती को बल मिलता है। वीर्य विकार दूर होते हैं। स्वप्नदोष नहीं रहता है। मधुमेह तथा गुर्दे के रोगों में भी लाभ होता है।

8-धनुरासन

धनुरासन के अभ्यास से भुजंगासन व शलभासन दोनों के लाभ प्राप्त होते हैं। इस आसन से अन्तरउदरीय दबाव बढ़ता है जिससे आँतों को बल मिलता है, गहरी श्वास लेने से शरीर के सभी अंगों की सफाई हो जाती है व पर्याप्त आक्सीजन मिलती है। मेरुदण्ड पर दबाव पड़ने से नाड़ी चक्रों की जाग्रति होती है, जिससे नाड़ी संस्थान सक्रिय होता है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों पर आवश्यकतानुसार दबाव पड़ने वाला तथा शुद्ध रक्त संचार से उनकी गति सामान्य बनी रहती है। उदर के भाग में रक्त की अधिकता हो जाने से उदरीय रोग दूर होते हैं। सरवाइकल क्षेत्र पर दबाव पड़ने से स्पांडिलाइटिस के रोगी को लाभ मिलता है। पौरूष ग्रन्थि पर प्रभाव पड़ता है जिससे पौरुषग्रन्थि शोथ नहीं होता है एवं मूत्रशय सम्बन्धी रोग भी समाप्त हो जाते हैं।

इस आसन का अभ्यास करने के लिए सर्वप्रथम मकरासन में लेट जाते हैं, श्वास एवं मन को नियंत्रित करते हैं तथा अपने-आपको मानसिक एवं शारीरिक रूप से इस आसन को करने के लिए तैयार करते हैं। अब दोनों पैरों को मिलाते हैं,

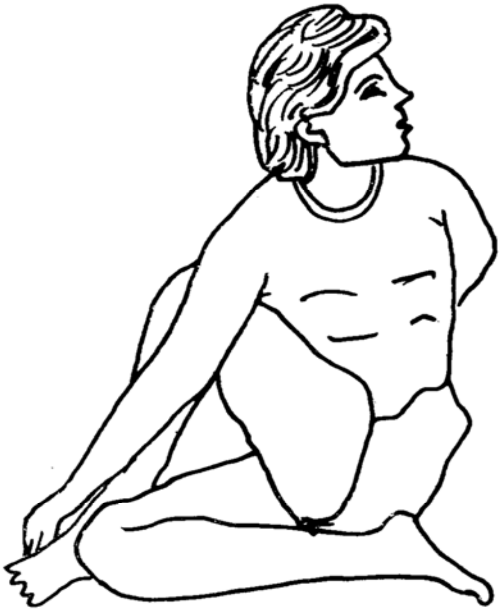


एड़ी-पंजे मिले रहते हैं तथा पादतल आसमान की ओर रहते हैं। हाथ बगल से लगे रहते हैं हथेलियाँ ऊपर की ओर रहती हैं, एवं ठुड्डी जमीन पर स्थिर रहती है। अब दोनों पैरों को घुटनों से मोड़ते हैं तथा दोनों हाथों के पंजों से एड़ी के पास टखनों को पकड़ते हैं, घुटनों में थोड़ा अन्तर कर लेते हैं। अब श्वास भरते हुए शरीर के आगे व पीछे की दोनों हिस्सों को बराबर मात्रा में उठाते हैं। तथा शरीर को धनुष का आकार देते हैं इस स्थिति में यथासम्भव रुकते हैं फिर दोनों हिस्सों को नीचे लाते हैं, ठुड्डी एवं जंघाओं को जमीन पर लगाते हैं, हाथों को खोल लेते हैं। पैरों को सीधा करके मकरासन में लेट जाते हैं। इस आसन को भी एक बार ही करना चाहिए। इससे आँतों की कमजोरी यकृत व गुर्दों के रोग तथा हाथ पैर की दुर्बलता दूर होती है, एवं स्त्रियों के स्तन पुष्ट होते हैं, मासिक धर्म सम्बन्धी विकार समाप्त होते हैं।

9-अर्द्धमत्स्येन्द्रासन

प्रसिद्ध भारतीय ऋषि महर्षि मत्स्येन्द्र के इस आसन में बैठकर सिद्ध प्राप्त करने के कारण इसका नाम मत्स्येन्द्र आसन पड़ा। अर्द्ध शब्द इसलिए लगाया जाता है, क्योंकि पूर्ण मत्स्येन्द्रासन कठिन होने से प्रतिदिन के अभ्यास में सम्मिलित करना दुष्कर है। इस आसन से मेरुदण्ड के सभी क्षेत्रों पर दबाव पड़ने से रक्त संचार बढ़ता है, ओर स्नायु तंतुओं में उत्तेजना व दृढ़ता आती है। सुषुम्नाशीर्ष पर दबाव पड़ने से एड्रीनलग्रन्थि से एड्रीनेलीन हार्मोन उचित मात्रा में निकलता है जिससे मधुमेह रोगी विशेष लाभ प्राप्त करते हैं। गुर्दे व मूत्राशय सशक्त बनते हैं।

इस आसन को करने के लिए चटाई या कम्बल बिछाकर सर्वप्रथम दण्डासन में बैठ जाते हैं, फिर बायें पैर को घुटनों से इस प्रकार मोड़ते हैं कि एड़ी मलद्वार के



पास सट जाती है, दायाँ पैर, बायें पैर के दायीं ओर घुटनों से मोड़कर सीधा खड़ा करते हैं, दोनों हाथों की कैंची बनाते हैं तथा टखनों के पास पैर को पकड़कर दृष्टि सामने स्थिर रखते हुए बैठते हैं। अब बायें हाथ को दाहिने पैर के दूसरी तरफ से लाते हुए पैर का पंजा पकड़ते हैं दाहिने हाथ को पीठ से पीछे की ओर ले जाकर जंघाओं पर रखते हैं, अधिकतम पीछे की ओर देखते हैं, यथासंभव इस स्थिति में रुकते हैं, श्वास सामान्य रहती है। अब सर्वप्रथम सिर को सीधा करते हैं, दाहिने हाथ को वापस लाते हैं मेरुदण्ड को सीधा करते हैं, बायें हाथ को खोल देते हैं, दाहिने पैर को सीधा करते हैं, फिर बायें पैर को सीधा करके दण्डासन में बैठ जाते हैं इसके पश्चात बैठने की स्थिति में आराम करते हैं।

10. वज्रासन

वज्रासन ही एक ऐसा आसन है जिसे भोजनोपरान्त करके लाभ उठा सकते हैं। इस आसन का सबसे अधिक प्रभाव मूलाधार चक्र में स्थित नाड़ियों पर पड़ने के कारण नाभिचक्र (मणिपूरकचक्र) उत्तेजित होता है, फलस्वरूप अग्निमांद्य, माण्डुरोग (पीलिया) आदि रोगों में प्रभावकारी होता है, पैरों व जंघाओं की माँसपेशियों में खिचाव आने से उनमें शक्ति बढ़ती है। वस्तिप्रदेश व गुप्तागों पर दबाव पड़ने के कारण मूत्ररोगों एवं वीर्य दोषों में यह आसन लाभकारी है। क्रोध, चिन्ता, सिर-दर्द, व मानसिक तनाव में कमी आती है।

वज्रासन करने के लिए चटाई या दरी पर सर्वप्रथम दण्डासन में बैठ जाते हैं फिर बायें पैर को घुटनों से मोड़कर पीछे ले जाते हैं, फिर दाहिने पैर को घुटनों से

मोड़कर पीछे ले जाकर पंजों को मिलाकर एवं एड़ियों को खोलकर आसानी से उस पर बैठ जाते हैं। दोनों घुटने आपस में सटे रहते हैं, दोनों हाथों को उठाकर घुटनों पर रखते हैं, मेरुदण्ड सीधा करते है, दृष्टि सामने स्थिर रखते हुए बन्द कर लेते हैं, मस्तिष्क से सारे विचारों को निकाल देते हैं, मन को शान्त करते हैं तथा अपना सारा ध्यान श्वांस पर केन्द्रत करते हैं।

आसन को खोलने के लिए सर्वप्रथम आँखों को धीरे-धीरे खोलते हैं, फिर बायें पैर को सीधा करते हैं। तत्पश्चात् दाहिने पैर को सीधा करके दण्डासन में बैठ जाते हैं, फिर बैठने की स्थिति में आराम करते हैं।

11- पश्चिमोत्तासन

संस्कृत भाषा में पश्चिम का तात्पर्य है पिछला हिस्सा तथा तान का तात्पर्य है खिंचाव। इस आसन में कमर की झुकान के कारण मेरुदण्ड पर पूरा खिंचाव आता है। सैक्रम क्षेत्र में अधिक खिंचाव से नाभि के नीचे के सभी अंग क्रियाशील होते हैं। गुर्दे, जिगर व पैंक्रियास को जाने वाले स्नायु तंत्र सक्रिय होते हैं। जिससे इन अंगों के कार्य सामान्य रहते हैं। नाभि पर खिंचाव पड़ने के कारण नाभिचक्र जागृत होता है, फलतः पाचन सम्बन्धी रोग समाप्त होते हैं। रक्त का संचारण मस्तिष्क की ओर अधिक होने से मानसिक थकान नहीं आती है।

इस आसन को करने के लिए चटाई या कम्बल बिछाकर सर्वप्रथम उस पर बैठ जाते हैं अब दोनों पेरों को सीधा करके मोड़ लेते हैं, हाथों को बगल से लगाते हैं, हथेलियाँ जमीन में स्थिर होती हैं, मेरुंदण्ड सीधा रहता है, एवं दृष्टि सामने स्थिर होती है इस स्थिति को दण्डासन के नाम से जाना जाता है। अब दोनों हाथों को ऊपर सीधा करते हैं, फिर श्वांस निकालते हुए दोनों हाँथों को आगे की ओर नीचे लाते हैं, हाथों से पैरों के अंगुठों को पकड़ते हैं फिर श्वांस निकालते हुए मस्तक को दोनों घुटनों के अंगूठो को पकड़ते हैं। फिर श्वास निकालते हुए मस्तक को दोनों घुटनों पर स्पर्श कराते हैं, तथा कुहनियों को जमीन में लगाते हैं, श्वांस सामान्य रहती है, तथा यथासम्भव इसी स्थिति में रुके रहते हैं। फिर सर्वप्रथम सिर व कुहनी को उठाते हैं, हाथों से पैरों के अंगुठों को छोड़कर धीरे-धीरे पीछे लाते हैं एवं दण्डासन में बैठ जाते हैं फिर बैठने की स्थिति में आराम करते हैं। इसें करने के लिए दोनों हाथों कोपीछे ले जाकर हथेलियों को जमीन में टिकाते हैं, पैरों को थोड़ा सा खोल लेते हैं, गर्दन को पीछे लटका देते हैं, तथा सम्पूर्ण शरीर को ढ़ीला छोड़ देते हैं।

12- मयूरासन

इस आसन को करते समय आसनकर्त्त की स्थिति मयूर के सदृश्य हो जाती है। इस आसन को करने के लिए घुटनों के बल जमीन पर बैठते हैं, कुछ आगे की ओर झुकाकर हथेलियों को जमीन पर टिका देते हैं। कुहनियाँ तो नाभि के भाग पर रहती हैं तथा अँगुलियाँ पैरों की दिशा में। हाथों को इस प्रकार रखते हैं कि आगे

शरीर की लेटी हुई अवस्था ग्रहण करते समय वह हाथों पर टँगा रहे। सारा शरीर-जमीन के समानान्तर रहता है।

इस आसन से मेरुदण्ड, ग्रीबा तथा हाथ की मांसपेशियाँ पुष्ट होती हैं। पेनक्रियाज पर विशेष प्रभाव पड़ने से मधुमेह के रोगी को इस आसन से विशेष लाभ होता है। पाचन शक्ति बढ़ती है, रक्तसंचार बढ़ता है,व फेफड़े सशक्त बनते हैं।

13- कुक्कुटासन

इस आसन में मुर्गे के समान आकृति बन जाती है। पहले पद्मासन में बैठते हैं। फिर दोनों हाँथों को दोनों हाँथों के बीच से निकालकर जमीन पर टिका देते हैं। इसके पश्चात् शरीर का भार उन पर डालते हुये ऊपर उठते हैं। इस आसन के अभ्यास से भुजायें तथा छाती बलवान होती हैं। पेट पर दबाव पड़ने से ऊपर के रोग दूर होते हैं। चर्बी भी कम हो जाती है।

14- कुर्मासन

इस आसन में कछुये के समान आकृति हो जाती है। जमीप पर पैरों को मोड़कर इस प्रकार बैठते हैं कि ऐड़ियाँ नितम्बों से लगी रहें तथा दोनों पंजें व घुटने आपस में मिले रहे। फिर दोनों हाँथों की मुट्ठी बाँधकर दोनों कोहनियों को आपस में मिलाकर नाभि से लगाते हैं। एवं हाँथों के जाँघों पर रखकर कमर से ृपर के शरीर को आगे की ओर झुकाते हैं। इस आसन से शरीर में प्रचण्ड ऊर्जा का संचार होता है। एकाग्रता आती है। मन पर नियंत्रण लगता है। वायु प्रकोप की शिकायत दूर होती है। पेनक्रियाज पर दबाव पड़ने से मधुमेह के रोगियों को लाभ होता है।

15- मण्डुकासन

इस आसन में मेढ़क के समान आकृति हो जाती है। वज्रासन की भाँति बैठकर दोनों घुटनों को आपस में मिलाते हुये दोनों हाँथ्थों की हथेलियों को एक दूँसरे के ऊपर रखकर नाभि के पास रखते हैं। फिर कमर के ऊपरी भाग को आगे को झुकाकर सीने को जंघे से लगाकर सामने की ओर देखते हुए स्थिर रहते हैं। इस आसन के अभ्यास से वायु प्रकोप दूर होता है। पेट के विकार दूर होते हैं। मूलाधार चक्र उत्तेजित होता है।

16- गरुणासन

इस आसन में शरीर गरूण पक्षी के समान लगता है। इस आसन में सीधे खड़े होकर पैरों की जंघाओं, पिण्डलियों को साथ ही साथ दोनो हाँथों को बटी हुई रस्सी की भाँति लपेटते हैं। फिर बाँहों को सीने के सामने तथा हथेलियों को मुँह के सामने करके खड़े रहते हैं। इस आसन से शरीर की थकान दूर होती है। रक्त संचार बढ़ता है। स्थूल से स्थूल शरीर सामान्य हो जाता है कमर एवं जोड़ों के दर्द में लाभ होता है। शरीर की कम्पनता, मांसपेशियों की ज़कड़न तथा ऐंठन की समस्यायें ठीक हो जाती हैं। शरीर में कसाव आ जाता है।



17- चक्रासन

चक्रासन से मेरुदण्ड पीठ व कमर की नसों तथा नाड़ियों एवं मांसपेशियों पर दबाव पड़ता है जिससे वे लचीली एवं सुदृढ़ बनती हैं तथा स्नायु संस्थान में उत्तेजना एवं तत्परता व सक्रियता आती है। आँखों के लगातार खुला होने के कारण तथा लगातार भ्रूमध्य पर स्थित होने के कारण त्राटक क्रिया स्वतः हो जाती है। फलस्वरूप आँखों की ज्योति बढ़ती है। लसिका ग्रन्थियों पर इस आसन से दबाव पड़ता है जिससे उनकी क्रियाशीलता बढ़ती है। परिणामस्वरूप शरीर का प्रतिरक्षा तंत्र सशक्त होता है। उदर के अंगों पर प्रभाव पड़ने से पाचन संस्थान के रोग दूर होते हैं। मस्तिष्क की ओर रक्त संचरण अधिक होने से मेधा शक्ति बढ़ती है रेट्रोग्रेड फाइबर्स उत्तेजित होने से चिन्ता व क्रोध का प्रभाव शरीर पर कम पड़ता है तथा चित्त शान्त रहता है।

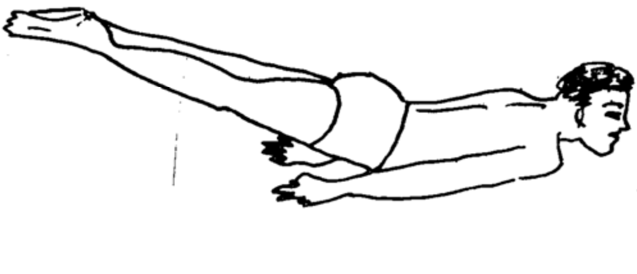
चक्रासन करने के लिए सर्वप्रथम शवासन में लेट जाते हैं, मन को संयत एवं आसन करने के लिए तैयार करते हैं। अब दोनों पैरों को घुटनों से मोड़कर अधिकतम अन्दर की ओर लाकर नितंबों के पास थोड़ा अन्तर रखकर स्थिति करते हैं, दोनों हाथों को सामने से उठाते हुए घुमाकर कन्धों के पीछे हथेलियों को भूमि पर स्थिति करते हैं। कुहनियाँ आकाश की ओर रहती हैं अब। श्वांस निकालते हुए पहले कमर के हिस्से को धीरे-धीरे ऊपर उठाते हैं फिर ऊपरी हिस्से को भी इतना ऊपर उठाते हैं, कि शरीर की आकृति कमान की तरह हो जाती हैं। गर्दन लटका देते हैं, तथा आँखें पूर्णतया खोले हुए भ्रूमध्य को देखते हैं। यथासम्भव रुकते हैं । फिर

श्वांस निकालते हुए सबसे पहले ऊपरी हिस्से को फिर कमर के हिस्से को नीचे लाते हैं, हाँथों को सीधा करते हैं, पैरों को खोल देते हैं, तथा शवासन में लेट जाते हैं। यह आसन केवल एक बार ही करना चाहिए।

18- शलभासन

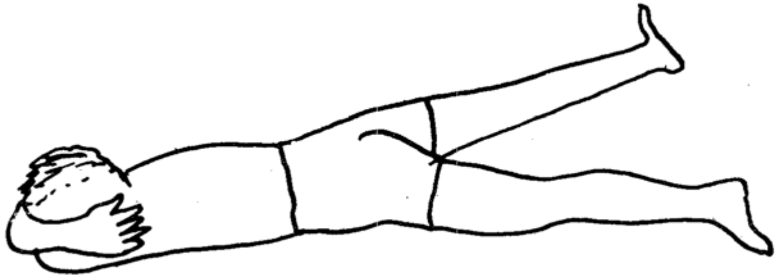
भुजंगासन और शलभासन एक दूसरे के पूरक हैं। इस आसन में पेट के बल पर लेट जाते हैं। तलवे ऊपर की ओर रहते हैं। मुट्ठी बंधी अथवा खुली रहती है। हाथ बगल में फैलकर रखते हैं तथा कंधों और हथेलियों का पृष्ठ भाग जमीन पर लगी रहता है। ठुड्डी फर्श पर टिकी रहती है। इसके बाद पूरी श्वास लेकर बदन कड़ा कर देते हैं, और सीने तथा हाथों पर पूरा भार डालते हुये पैरों को ऊपर उठाते हैं। पैरों के साथ-साथ कमर भी कुछ ऊपर उठ जाती है। श्वांस रोक कर कुछ सेकेण्ड इसी स्थिति में रहते हैं। फिर श्वांस निकालते हुये पैरों को धीरे-धीरे नीचे लाते हैं।

इस आसन से उदर की मांसपेशियों पर खिंचाव एवं दबाव पड़ने से यकृत, पेन्क्रियाज गुर्दे आदि की मालिश हो जाती है, और उनकी क्रियाशीलता बढ़ती है। रीड की हड्डी मजबूत होती है। पीठ दर्द, कमर दर्द, तथा पेट के रोगों में लाभ पहुँचता है।



19- मकरासन

संस्कृत **में** मगरमच्छ को मकर कहते हैं। पेट के बल लेट कर पूरे शरीर को पाँव के पंजों **तथा** हाथ की हथेलियों पर टिका देते हैं। शरीर जमीन के समानान्त रहता है। पूरा शरीर एक सीध में रहता है, लेकिन पाँव के पंजों तथा हथेली जमीन से लगी रहती है। इस आकृति में आगे पीछे चलते हैं। फिर दोनों हाथों की हथेलियों



को मसतक के नीचे रखकर आराम से लेट जाते हैं। विश्राम करते हैं। इस आसन में पूरे शरीर पर जोर पड़ता है अतः सारे शरीर का व्यायाम हो जाता है। रक्त संचार की गति बढ़ती है जिससे रक्त शुद्ध होता है। उसके प्राणवायु का अधिक संचार होता है। इस आसन से गहरी नींद आती है।

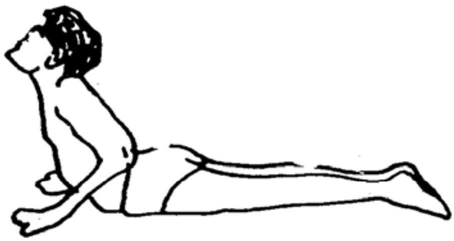
20 - भुजंगासन

भुजंगासन को कोबरा आसन भी कहते हैं क्योंकि इसमें सिर तथा धड़ एक साथ उठाया जाता है, जिस प्रकार कोबरा उत्तेजित होने पर उठाता है। इस आसन का सबसे अधिक प्रभाव मेरुदण्ड की कशेरुकाओं, मांसपेशियों व स्नायुतंत्रुओं पर पड़ता है जिससे उनकी क्रियाशीलता बढ़ती है। कशेरुकाओं में स्थान समानान्तर बना रहता है जिससे स्पांडिलाइटिस नहीं होती है और यदि हो जाती है तो इससे लाभ मिलता है। लम्बर तथा सैक्रल क्षेत्र में दबाव पड़ने से स्वतः संचालिंत स्नायु संस्थान को आवश्यक शुद्ध रक्त मिलता है जिससे मानसिक व शारीरिक क्रियाओं में अधिक तत्परता आती है। सुषुम्ना, शीर्ष पर प्रभाव पड़ने से एड्रिनल ग्रन्थि को उत्तेजना मिलती है जहाँ से एड्रीनेलीन हार्मोन निकलता है जो शरीर की रक्त शर्करा को नियंत्रित करता है। पेट की मांसपेशियों में खिंचाव व उदर पर प्रभाव पड़ने से पाचन क्रिया सुधरती है। यकृत प्लीहा तथा पैंक्रियास पर दबाव पड़ने से उनमें चैतन्यता आती है। महिलाओं में गर्भाशय व डिम्बग्रन्थियों पर प्रभाव पड़ने से

मासिक धर्म सम्बन्धी दोष दूर हो जाते हैं। गुर्दों पर दबाव पड़ने से अशुद्ध रक्त के छनने की प्रक्रिया तेज हो जाती है। फलस्वरूप सम्पूर्ण शरीर को तथा स्वयं गुर्दे को भी शुद्ध रक्त की प्राप्ति होती है जिससे गुर्दे के विकार भी दूर हो जाते हैं।

भुजंगासन करने के लिये सर्वप्रथम पेट के बल लेट जाते हैं, पैरों में थोड़ा अन्तर करते हैं तथा एड़ियाँ अन्दर की ओर रखते हैं, हाथों को पंजों से जोड़ते हुए आगे रखते हैं तथा उस पर मस्तक स्थित करते हुए मकरासन में लेट जाते हैं, मन को संयत व नियंत्रित करते हैं। अब दोनों हाथों को बगल से लगाते हैं। पैरों को जोड़ लेते हैं, मस्तक जमीन से लगा रहता है तथा दोनों हाथों को उठाकर कुहनियों से मोड़ करके पंजों को कंधों के बगल स्थित करते हैं। अब श्वांस भरते हुए सर्वप्रथम गर्दन से ऊपरी हिस्से को ऊपर उठाते हैं, ध्यान रखते हैं कि मस्तक उठने के बाद नासाग्र एवं ठुड्डी क्रमशः भूमि को स्पर्श कराते हुए ऊपर उठते हैं।

इसके पश्चात् कमर तक का शरीर का हिस्सा ऊपर उठाते हैं, आसमान देखने



का प्रयास करते हैं, यथासम्भव रुकते हैं। फिर श्वांस निकालते हुए पहले पेट के हिस्से को फिर गर्दन से ऊपरी हिस्से को उसी तरह नीचे लाकर मकरासन में लेट जाते हैं। इस आसन को केवल एक बार करना चाहिए।

21- उत्तानपादासन

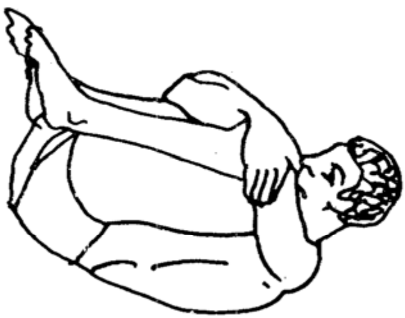
पृथ्वी पर पीठ के बल लेटकर दोनों हाथों को जंघों से लगाकर दोनों पैरों के आपस में मिलाते हुए कमर से ऊपरी तथा नीचे के भाग को पृथ्वी से ऊपर उठाकर यथासाध्य स्थिर रखते हैं। इस आसन को करते समय कमर से ऊपर तथा नीचे का भाग समान रूप से ऊपर उठना चाहिए।

इस आसन के करने से नाभि प्रदेश पर विशेष प्रभाव पड़ता है। अतः यदि

नाभि हटी होती है, तो स्वतः अपनी जगह आ जाती है । इस आसन से पेट की गड़बड़ियाँ दूर हो जाती हैं। पेट मुलायम हो जाता है। कमर दर्द में लाभ होता है।

22- पवनमुक्तासन

पेट में अपान वायु की अधोगति होना इस आसन का फल है। पेट पर दबाव पड़ने से पेट में भरी गैस रुकी वायु तुरन्त बाहर निकल जाती है जिससे पेट विकार-रहित हो जाता है। उदर क्षेत्र के सभी अंगों जैसे - यकृत, प्लीहा, गुर्दे, मूत्राशय पैंक्रियाज, गर्भाशय आदि पर दबाव पड़ने से उनकी क्रियाशीलता बढ़ती है, वे सशक्त बनते हैं। कमर पर तनाव आने से सैक्रम से प्रारम्भ होने वाली सुषुम्ना नाड़ी उत्तेजित होती है, जिससे मूत्राशय, गर्भाशय तथा बड़ी आँत सक्रिय होती है, और उनके रोग दूर होते हैं। उदर विकार दूर करने के लिए यह आसन विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस आसन से कमर व पेट की चर्बी भी कम हो जाती है।



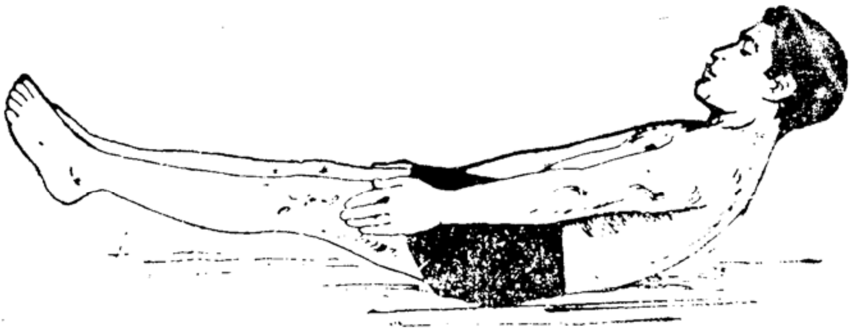
इस आसन का अभ्यास करने के लिए समतल जमीन पर कम्बल बिछाकर शवासन में लेट जाते हैं, फिर दोनों पैरों को मिलाकर हाथों को बगल से लगाते हैं, श्वांस नियंत्रित करते हैं तथा अपने आपको आसन करने के लिए तैयार करते हैं। सबसे पहले बायें पैर को घुटने से मोड़कर खड़ा करते हैं अब जंघाओं से पेट पर दबाव डालते हैं, दोनों हाथों की कैंची बनाते हैं जिसे घुटने के पास स्थिर करके पेट पर दबाव डालते जाते हैं तथा अपनी ठुड्डी को धीरे-धीरे श्वांस निकालते हुए उठाकर घुटने में स्पर्श कराते हैं । यथासम्भव रुकते हैं, फिर श्वांस लेते हुए सबसे पहले सिर को वापस ले जाते हैं, हाथों की कैंची खोलते हैं, पैर को मुड़ा हुआ खड़ा करते हैं तथा जंघा से सीधा करते हैं। यही क्रिया दाहिने पैर से भी करते हैं। फिर दोनों पैरों को

घुटनों से मोड़ते हैं तथा दोनों पैरों से भी यही क्रिया करते हैं। इस तरह पवनमुक्तासन का एक चक्र पूरा होता हैं। एक चक्र पूरा होने पर शवासन करते हैं। यह क्रिया कम से कम तीन बार अवश्य करनी चाहिए।

23- नौकासन

इस आसन में शरीर नौका के समान प्रतीत होता है। इस आसन के लिए पहले पेट के बल लेट जाते हैं। तत्पश्चात् दोनों हाथों को आगे की ओर फैलाकर हथेलियों को आपस में मिला लेते हैं। फिर पेट से ऊपर भाग को आगे की ओर तथा पेट से नीचे के भाग को पीछे की ओर ऊपर इस प्रकार उठाते हैं कि शरीर का सारा संतुलन पेट पर आ जाता है तथा शरीर नौका के समान बन जाता है।

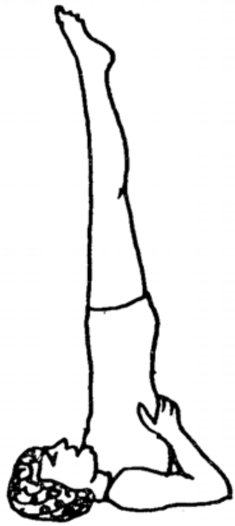
इस आसन से उदर के रोग दूर होते हैं। भोजन पचने लगता है। तथा पेट की अच्छी मालिश हो जाती है। शरीर के सभी अंगों पर खिंचाव आने से उनमें मजबूती आती है। शरीर में कसाव आता है तथा मन प्रसन्न रहता है।



24- सर्वांगासन

सर्वांगासन करने के लिये सर्वप्रथम पीठ के बल लेट जाते हैं, इसके पश्चात् दोनों पैरों में लगभग 2 फीट का अन्तर करके हाथों को शरीर से थोड़ा दूर हटा करके तथा समस्त शरीर को शिथिल एवं शान्त छोड़कर शवासन में लेट जाते हैं । अब दोनों पैरों को जोड़ते हैं हाथों को बगल से लगाते हैं, हथेलियों (करतल) जमीन में लगी रहती हैं । अब दोनों पैरों को साथ-साथ धीरे-धीरे उठाना शुरू करते हैं। 90 अंश के कोण पर थोड़ा सा रूकते हैं फिर दोनों हाथों से नितम्बों को सहारा देकर श्वांस निकालते हुये शरीर को सीधा कर देते हैं और शरीर का पूरा भार कंधों पर नियंत्रित रहता है। केवल कन्धे सिर व गर्दन तथा कुहनियाँ जमीन को छूती रहती हैं दोनों आँखें पूरी तरह खुली होती हैं। दृष्टि पैरों के अँगूठे पर केन्द्रित होती है, श्वास

मन्द-मन्द चलती रहती है। इस अवस्था में तब तक रुके रहते हैं जब तक अँगूठें से प्रकाश सा न निकलता हुआ महसूस होने लगे। तब धीरे-ध ीरे वापस आकर शवासन में लेट जाते हैं।



संस्कृत भाषा में सर्वांग का तात्पर्य होता है सभी अंग। अर्थात् सर्वांगासन करने से शरीर के सभी अंगों का व्यायाम हो जाता है और वे क्रियाशील बनते हैं। क्योंकि जब ठुड्डी का दबाव उरोस्थि पर पड़ता है तथा ग्रीवा के पिछले हिस्से में खिंचाव आता हे तो थायराइड ग्रन्थि उत्तेजित होती है और शरीर के अंगों की क्रियाशीलता उसी ग्रन्थि पर निर्भर होती है। हम यह भी जानते हैं कि सौर ऊर्जा आकाश से पृथ्वी की ओर आती है। खड़े होने की स्थिति में इसकी तरंगे सिर से पैर की ओर बहती हैं, परन्तु आसन की स्थिति में तरंगे विपरीत चलती हैं तथा स्थाई प्रभाव डालती हैं क्योंकि शरीर के प्रत्येक कोषाणु में इलैक्ट्रोलाइट्स होते हैं जो जीवन के आधार हैं उन्हे यह ऊर्जा प्राप्त होती है।

इस आसन को करने से मस्तिष्क में रक्त संचार बढ़ जाता है तथा विजातीय द्व्य जो रक्त की कमी के कारण मस्तिष्क में एकत्रित हो जाते हैं, वहाँ से हट जाते हैं जिससे मानसिक क्रियाशीलता बढ़ जाती हैं। चेहरे पर रक्त संचार की अधिकता के हो जाने से रक्त की कमी होने वाले रोग जैसे मुहाँसे, झाँई, इत्यादि दूर हो जाते हैं तथा चेहरे पर लालिमा एवं चमक आ जाती हैं इस आसन में पाँव व जंघाओं की सिराओं से रक्त वापस तेजी से आता है अतः यह बवासीर, कमरदर्द जोड़ों में दर्द, अनिद्रा, स्थानदोष, नपुसंकता एवं फाइलेरिया आदि में लाभकारी होता है।

25-गर्भासन

इस आसन का स्वरूप गर्भ में स्थित बच्चे के समान होता हैं । इस आसन में

कुक्कुटासन की तरह पद्मासन लगाकर बैठते हैं दोनों हाथों को कोहनियों तक जाँघों और पिण्डलियों के बीच में से निकालकर पीठ के बल धीरे-से लेट जाते हैं, और दोनों हाथों से दोनों कान पकड़ लेले हैं। इस आसन से मोटापा कम होता है। तथा पेट के विकार दूर होते हैं । पूरे शरीर का व्यायाम हो जाता है।

26- हलासन

इस आसन को करने के लिये शवासन में लेट जाते हैं मन को संयत करते हैं। अपने आप को शारीरिक व मानसिक रूप से हलासन करने के लिये तैयार करते हैं। अब दोनों पैरों को जोड़ लेते हैं। दोनों हाथों को बगल से लगाये रहते हैं, हथेलियाँ जमीन से लगी रहती हैं। अब श्वांस निकालते हुये दोनों पैरों को धीरे-धीरे उठाते हैं और समकोण में सीधा खड़ा करते हैं श्वांस नियंत्रित करते हैं अब पुनः श्वांस निकालते हुये दोनों पैरों को पीछे ले जाते हैं। पैरों के अंगूठे हो जमीन में लगाते हैं। पादतल बाहर की ओर रहते हैं तथा दोनों हाथों को उठाकर कैंची बनाकर सिर के पीछे लगाते हैं।यथासम्भव रूकते हैं तथा पहले हाँथों को उसी स्थिति में लाते हैं, एवं पैरों को धीरे-धीरे सामान्य स्थिति में लाते हैं, ध्यान रखते हैं कि पैरों को वापस लाते समय सिर अपनी जगह से बिल्कुल न हटे। फिर शवासन में लेट जाते हैं।

27- ताड़ासन :

सबसे पहले सावधान की मुद्रा में खड़े होते हैं, फिर एड़ियाँ जमीन से ऊपर उठाते हैं और हाथों को ऊपर उठाते हुए सीधा कर देते हैं। हाथों और पंजों को आपस में गूँथ कर उन्हें देखने का प्रयत्न करते हैं। इस आसन से रीढ़ की हड्डी सीधी रहती है। शरीर की लम्बाई बढ़ती है, आँतों की मालिश भी होती है, जिससे कब्ज दूर होता है।

28- शवासन

आधुनिक परीक्षणों से ज्ञात हुआ कि शवासन में हृदयगति, श्वांस गति व मस्तिष्क की विद्युत सक्रियता न्यूनतम हो जाती है, और रक्त प्रवाह अत्युत्तम होता है। यह पूर्णतः एक शिथिल अवस्था है जिसमें श्वांस की गति 18 से घटकर 6-7 प्रति मिनट हो जाती है। आक्सीजन व्यय दर घट जाती है और रक्तचाप भी घट जाता है। उच्च रक्तचाप से पीड़ित व्यक्तियों के लिए यह आसन सर्वाधिक उपयुक्त है। मानसिक विकारों को दूर करने में इस आसन का आश्रय लिया जाता है।

शवासन करने के लिए चटाई या कम्बल बिछाकर पीठ के बल लेट जाते हैं, पैरों में डेढ़ फिट का अन्तर देकर शिथिल छोड़ देते हैं। हाथों को शरीर से थोड़ा दूर स्थित रखते हैं, गर्दन और सिर को ढीला छोड़ देते हैं, इसके पश्चात् सम्पूर्ण शरीर को शान्त करते हैं। तत्पश्चात् पैरों के अंगूठों को शिथिल करते हैं, इसके बाद पैरों की उँगलियों को शिथिल करते हैं, तलवों को शिथिल करते हैं, एड़ी की सन्धि को शिथिल करते हैं, काफमसेल को शिथिल करते हैं, घुटनों को शिथिल एवं शान्त

करते हैं, जंघाओं की नसें, नाड़ियों व पेशियों को शिथिल करते हैं फिर अपने जननांगों को शिथिल करते हैं, अपना ध्यान नाभि पर केन्द्रित करके इसकी नसें नाड़ियों को शिथिल एवं शान्त करते हैं, उदरीय अंगों को शिथिल करते हैं। वक्षस्थल को तथा इसके विभिन्न अंगों जैसे फेफड़े, हृदय, यकृत आदि को शिथिल करते हुए अपना ध्यान कन्धों पर केन्द्रित करते हैं, कन्धों को धीरे-धीरे शिथिल करते हैं, ऊपरी बाहु की नसें, नाड़ियों व पेशियों को शिथिल करते हैं, कुहनियों को शिथिल व शान्त करते हैं, निचली बाहु को शिथिल व शान्त करते हैं तत्पश्चात् हाथों की हथेलियों, पंजों इत्यादि को शिथिल छोड़ देते हैं, अब अपना सारा ध्यान गर्दन पर केन्द्रित करते हैं, गर्दन की सभी नसों, नाड़ियों, ग्रास नाल, श्वांसनाल इत्यादि को शिथिल करके अपना ध्यान चेहरे पर केन्द्रित करते हैं। चेहरे के सभी अंगों जैसे होठ, नासिका, कर्ण, पलकें इत्यादि शिथिल करते हैं, पुतलियों को स्थिर करते हैं अब अपना सारा ध्यान मस्तिष्क पर केन्द्रित करते हैं, मस्तिष्क से सभी विचारों को निकाल देते हैं तथा सारा ध्यान श्वांस पर केन्द्रित करते हैं। अब महसूस करते हैं कि नीले आसमान की ओर से एक दिव्य प्रकाश, अद्‌भुत प्रकाश, अलौकिक प्रकाश नजदीक आता जा रहा है, नजदीक आ चुका हैं तथा श्वांस से शरीर में प्रवेश कर रहा है, श्वांस अन्दर जा रहा है, प्रकाश अन्दर जा रहा है, श्वांस बाहर निकल रही है, अन्धकार बाहर निकल रहा है, शरीर का रोम-रोम प्रकाशित होता जा रही है, तथा शरीर अत्यंत सूक्ष्म होता जा रहा है। उसी प्रकाश को देखते हुए सारा ध्यान श्वांस पर केन्द्रित रखते हुए इसी अवस्था में लेटे रहते हैं। शवासन समाप्त करने के लिए सम्पूर्ण शरीर को पहले धीरे हिलाते हैं, हाँथों को उठाकर हथेलियों को रगड़ते हैं।हथेलियों को रगड़कर गरम करने के बाद आँखों पर रखते हैं, फिर पूरे चेहरे की मालिश करते हैं, आँखें खोलते हैं, इसके पश्चात् बायीं करवट से दोनों हाथों का सहारा लेते हुए ध ीरे से उठकर बैठ जाते हैं।

4- प्राणायाम

प्राणायाम अष्टांग योग का चौथा अंग है। प्राणायाम का विस्तृत विवरण पहले दिया जा चुका है।

5- प्रत्याहार

अष्टांग योग के आठ अंगों में से प्रत्याहार का स्थान पाँचवा है। इन्द्रियों को अपने विषयों से विमुख करके स्थिर करना ही प्रत्याहार है। इन्द्रियों को रोकने वाला चित्त ही है। चित्र के रुकने से सभी इन्द्रियाँ भी अवरुद्ध हो जाती हैं। तन,मन,धन में आसक्ति होने के कारण ही मनुष्य देह, अभिमानी और सम्पत्ति अभिमानी है। अतः जब मनुष्य अपना तन, मन तथा धन परमात्मा में समर्पित कर देता है तभी आशक्ति मिटती है। आसक्ति मिटने पर आनन्द की अनुभूति होती है। पतंजलि योग सूत्र में प्रत्याहार में ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों के परस्पर विषय ज्ञान के आदान-प्रदान

के सम्बन्ध में कहा गया है। स्थूल विषयों के ज्ञान को लेकर इन्द्रियाँ मस्तिष्क में स्थित सूक्ष्मेन्द्रियों को दे देती हैं। सूक्ष्मेन्द्रियाँ इसे आगे मन को प्रेषित कर देती है, तथा मन इसे बुद्धि को समर्पित कर देता है। बुद्धि इन विषयों का भली प्रकार निर्णय कर संस्कारों के रूप में इन्हें आगे चित्त को प्रेषित कर देती है। वहाँ चित्त में इनका संग्रह होता है।

प्रत्याहार में साधक अंतर्मुखी हो जाता है, चित्त शुद्ध हो जाने से सभी प्रकार की इच्छायें व भय नाश हो जाते हैं। अच्छे बुरे का निर्णय करने में सक्षम होता हुआ साधक जीवन का आनन्द उठाता है। प्रत्याहार के फलस्वरूप उत्पन्न आत्मबोध को जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि माना जा सकता है। इससे साधक आत्मा के अस्तित्व को समझ लेता है, लक्ष्यपूर्ति का साधन जान लेता है, और साधारण जीवन से ऊपर उठकर परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त कर लेता है। ऐसा व्यक्ति स्वयं अपना ही नहीं अपितु समग्र समाज का कल्याण करता है।

6- धारणा

अष्टांग योग का छठा अंग धारणा है। अपने मस्तिष्क को स्थूल या सूक्ष्म किसी भी एक विशेष वस्तु पर केन्द्रित करना ही धारणा कहलाता है। मानव मन एक ऐसी झील के समान होता है, जिसमें विचारों की तरंगों के सदैव उठने के कारण हलचल होती रहती है। धारणा के अभ्यास से तरंगों को शान्त करने में सहायता मिलती है। जब तरंगे शान्त हो जाती हैं, तो योग साधक झील के पानी में अपने स्वरूप को देख सकता है। तथा दूसरे अपने सच्चे स्वरूप को समझ सकता है। योग विज्ञान का मानना है कि जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त चौथी अवस्था तुरीया होती है। इन्हीं चारों अवस्थाओं में मनुष्य रहता है। तुरीया अवस्था मन की अति चेतन (Super Conscious) अवस्था होती है। इसे आसानी से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। धारणा के अभ्यास द्वारा एक विचार पर मन को केन्द्रित करते-करते उस पर नियंत्रण स्थापित हो जाता है तब मानव तुरीया की अवस्था में प्रवेश करता है। इसके बाद वह अपने मन की अति चेतन अवस्था में प्रसार कर सकता है। सारांश में यह कहा जा सकता है कि धारणा का उद्देश्य अभ्यासकर्ता के मन की सभी अशुद्धियों को दूर करना है, मन की बिखरी हुई शक्तियों को एकत्रित करना है, तथा एकाग्र मन को संबल देते हुये अतिचेतन अवस्था में प्रवेश करना है।

पतंजलि का कथन है कि धारणा आन्तरिक तथा मानसिक प्रक्रिया है। इसमें मांसपेशियों का कार्य कम होता है। यह पूर्णरूप से चेतन अवस्था में घटित होती हैं तथा व्यक्ति की इच्छा द्वारा निर्देशित होती है। अभ्यासकर्ता एकाग्रता के द्वारा किसी एक विचार अथवा वस्तु पर मन केन्द्रित करता है तथा अपनी इच्छा शक्ति द्वारा अपने मन को उस पर टिकाये रखता है। जब अभ्यासकर्ता मन को किसी वस्तु पर

सतत् एकाग्र करने का अभ्यास करता है, तो वह धारणा की अवस्था में पहुँच जाता है।

धारणा की विधियाँ

मन को केन्द्रित करने की दो विधियाँ हैं -

(1) ऐच्छिक।

(2) अनैच्छिक।

ऐच्छिक रूप से मन को केन्द्रित करने की वह अवस्था होती है जब स्वयं इच्छा के द्वारा किसी एक वस्तु अथवा विचार पर मन को केन्द्रित किया जाता है। इस कार्य के लिए दृढ़ निश्चय तथा मानसिक संकल्प एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है।

अनैच्छिक विधि में मन को केन्द्रित करने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता है, मन स्वतः उस ओर खिंचा चला जाता है लेकिन ऐसा कम होता है तथा कुछ समय के लिए होता है।

धारणा में सहायता करने वाली स्थितियाँ

1- धारणा का अभ्यास करने के लिए एक निश्चित समय होना चाहिये।

2- धारणा का अभ्यास, प्रातः और सायंकाल उत्तम माना गया है।

3- धारणा का अभ्यास स्वच्छ एवं शान्त वातावरण में हानो चाहिये।

4- अभ्यास का स्थान एकांत होना चाहिये।

5- धारणा के अभ्यास के बीच कोई बाधा उत्पन्न नहीं होनी चाहिये।

6- अभ्यासकर्त्त को अपनी इच्छा शक्ति दृढ़ रखनी चाहिये।

7- धारणा का अभ्यास भरपेट भोजन करने के बाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसी दशा में नींद आने लगती है।

8- शारीरिक तथा मानसिक रूप से थके होने की अवस्था में धारणा का अभ्यास नहीं होना चाहिये।

9- प्रारम्भ में 10 मिनट, धारणा का अभ्यास करना चाहिये।

10- आसन में स्थिर होना चाहिये।

11- धारणा से पूर्व नहीं शोधन प्राणायाम करना आवश्यक है।

12- धारणा का अभ्यास बैठ करके ही करना चाहिये।

13- पहले अनाश्सक्त भाव का ताना आवश्यक होता है।

14- विचारों को रचनात्मक तथा सकारात्मक बनाने का पहले प्रयास करना चाहिये।

धारणा के रूप

धारणा के अनेक रूप हैं, जैसे-

1- स्थूल, 2- सूक्ष्म 3- वाह्य 4- आन्तरिक 5- वस्तुनिष्ठ 6- व्यक्तिनिष्ठ 7- निस्सीम आदि।

प्रारम्भ में योग साधक को किसी वाह्य वस्तु पर धारणा करनी चाहिये जैसे एक बिन्दु, मोमबत्ती की लौ, फूल, ईश्वर चित्र, आदि। सामने शीशा रखकर भौंहों के बीच के स्थान को देखते हुए धारणा का प्रारम्भिक अभ्यास करना अच्छा होता है। इसमें दृष्टि अवश्य स्थिर होनी चाहिये। साथ-ही-साथ आँखों पर तनाव भी नहीं होना चाहिये। एक बार में दो-तीन मिनट से अधिक दृष्टि स्थिर नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अधिक देर तक दृष्टि केन्द्रित करने से सिर दर्द, आँखों में दर्द तथा मूर्च्छा भी आ सकती है। धीरे-धीरे इस अवधि को बढ़ाते जाना चाहिये। यदि दर्पण उपलब्ध न हो तो अपनी नाक के अग्रभाग या भौंहों के बीच के भाग पर दृष्टि केन्द्रित करने से भी धारणा की ओर हम आगे बढ़ते हैं। इस विधि का अभ्यास एक मिनट से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे अधिक बढ़ाना चाहिये। धारणा की जिस विधि में जिसको सुविधा हो, उसे उपयोग में लाना चाहिये। परन्तु धारणा का कम से कम निष्ठापूर्वक एक महीना अभ्यास करने पर ही लाभ मिलना प्रारम्भ होता है।

धारणा आँखें खोलकर तथा आँखें बंद करके दोनों प्रकार से की जाती हैं। आँखें खुली रह कर धारणा का अभ्यास त्राटक से प्रारम्भ होता है। आँखें बंद करके धारणा के अभ्यास करने की तीन विधियाँ हैं -

1- किसी शब्द या ध्वनि पर मन केन्द्रित करना।

2- श्वसन-क्रिया पर मन केन्द्रित करना, तथा

3- किसी मानसिक बिम्ब पर मन केन्द्रित करना।

''ॐ'' शब्द धारणा का अभ्यास करना बहुत लाभकारी होता है। इससे मानसिक बिम्ब बड़ी आसानी से बनता है। इससे मन स्थिर होने में अधिक समय नहीं लगता है।

कोई मंत्र विशेष रूप से गायत्री मंत्र–

''ॐ भू भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि

धियो यो नः प्रचोदयात्।''

मन में जपते हुए श्वास व प्रश्वास पर धारणा करने से चित्त की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण लगता है।

आज्ञाचक्र जो भ्रूमध्य में स्थिर है, अत्यन्त संवेदनशील है। इस पर धारणा करने से प्रकाश अनुभव होता है। मन अन्तर्मुखी एकांत व स्थिर होता है। अनहत चक्र पर धारणा करने से अभूतपूर्व आनन्द मिलता है।

धारणा ध्यान खोलने की महत्त्वपूर्ण कुंजी है। जब मन स्वतंत्र, इच्छारहित, इन्द्रिय-गम्य वस्तुओं के आश्रय तथा उनके आनंद से मुक्त हो जाता है, तब ध्यान

की स्थिति प्रारम्भ होती है। धारणा ही ध्यान में परिवर्तित हो जाती है। अतः धारणा तथा ध्यान में बीच विभाजन रेखा खींचना कठिन है। धारणा से निम्न लाभ होते हैं :-

(1) मन की चंचलता पर नियंत्रण होता है।

(2) इच्छाओं का परिसीमन होता है।

(3) एकाग्रता में वृद्धि होती है।

(4) चिंतन प्रक्रिया में दृढ़ता आती है।

(5) मनः ऊर्जा की धारा सकारात्मक होती है।

(6) धारणा बह्माण्डीय चेतनता का विकास करती है।

(7) व्यक्ति धारणा से कई कार्य एक साथ कर सकता है तथा विचलित नहीं होता है।

(8) इससे मन की गहराइयों में छिपे सत्यों को उद्घाटन करने में सहायता मिलती है।

(9) धारणा द्वारा व्यक्ति अपनी शक्तियों को एकचित करता है।

(10)इसके अभयास से स्नायु प्रणाली को विश्राम मिलता है।

(11)इसके द्वारा व्यक्ति अतिचेतना अवस्था में पहुँच कर दिव्य आनंद की अनुभूति करता है।

ध्यान

अष्टांग योग में ध्यान का सातवाँ स्थान है। ईश्वर की उपासना करते-करते जब धारणा की स्थिति हृदय कमल में होती है तब जीवात्मा परमात्मा में मग्न हो जाता है, ईश्वर से साक्षात्कार होता है तथा जीवात्मा संसार के विषयों को भूलकर परमात्मा के सन्निकट पहुँच जाती है। साधक ब्रह्म में लीन हो जाता है। धारणा तथा ध्यान में अंतर है। आधुनिक शब्दकोषों में यह अंतर नहीं माना है। वे दोनों की समान परिभाषा करते हैं। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। भारतीय दर्शन शास्त्र की सांख्य शाखा के अनुसार ध्यानम् निविर्षयम् मनः अर्थात् मन में विध्न उत्पन्न करने वाले संवेगों, विचारों और इच्छाओं से मन को मुक्त करना ध्यान है। ध्यान ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा प्रारम्भ से ही शान्ति और स्थिरता प्राप्त करने में सहायता मिलती है । ध्यान से व्यक्ति चंचल इच्छाओं, मन में उठने वाले नाना-प्रकार के विचारों तथा संवेगों की प्रतिक्रियाओं से वह मुक्त हो जाता है। उसका मानसिक और संवेगात्मक वातावरण शुद्ध होता है तथा आन्तरिक स्फूर्ति व आनंद का भाव अनुभव करता है।

ध्यान के द्वारा बुद्धि, संवेग तथा संकल्प एकीकृत हो.जाते हैं तथा कुंडलिनी शक्ति जाग्रत होती है। धारणा से मन स्थिर होता है, और ध्यान से अतिचेतन मन

उच्च धरातलों में प्रसारित होता हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ध्यान वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मन पहले एकाग्र किया जाता है फिर आत्म प्रकाश की अवस्था में प्रसार किया जाता है। इसमें सूक्ष्म किन्तु निश्चित चेतन का प्रभाव निहित होता है।

ध्यान की विधियाँ

ध्यान से पूर्व निम्न क्रियाओं को करने से ध्यान में सहायता मिलती है-

(1) समुचित मानसिक वातावरण

1- अहिंसा का मन, वचन तथा कार्य से पालन करना।

2- सत्य पर अडिक रहना।

3- मन, वचन तथा कर्म से किसी भी प्रकार की चोरी न करना।

4- ब्रह्मचर्य का पालन करना।

5- अनावश्यक रूप से वस्तुओं का अर्जन न करना।

6- आन्तरिक तथा वाह्य स्वच्छता पर बल देना।

7- संतोष का आवरण पहनना।

8- सुख-दुख, योग-वियोग, लाभ-हानि को सहने की क्षमता रखते हुये समभाव लाना।

9- वेदों तथा अन्य आध्यात्मिक ग्रंथों का अध्ययन करना।

10- ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित होना।

(2) विश्राम

ध्यान के लिए बैठने से पूर्व पूर्ण विश्राम की आवश्यकता होती है। इस विश्राम के तीन स्तर हैं :-

1- आन्तरिक अंगों का विश्राम।

2- स्नायुप्रणाली का विश्राम।

3- . मन का विश्राम।

विश्राम के लिए शवासन अत्यंत उपयुक्त है।

(3) उपयुक्त योगासन

सुखासन या पद्मासन इसके लिए उपयुक्त है। अभ्यासकर्ता को इनका ठीक प्रकार से अभ्यास करना चाहिये।

(4) प्राणायाम

ध्यान से पूर्व प्राणायाम करना आवश्यक समझा जाता है। इससे श्वसन

क्रिया तथा प्राणीय ऊर्जा का नियंत्रण होता है। प्राणायाम से इन्द्रियों का नियंत्रण सरलता से होता है तथा मन एकाग्र होने लगता है।

(5) प्रत्याहार

ध्यान से पूर्व ज्ञानेन्द्रियों पर नियंत्रण आवश्यक होता है। इससे मन पर पूर्ण नियंत्रण लगता है।

(6) एकाग्रता

धारणा मन को एकाग्र बनाती है तथा अतिचेतन स्तर का पहुँचने में व्यक्ति समर्थ होता है।

ध्यान की विधियाँ

जो विधियाँ धारणा की हैं, वहीं ध्यान की भी विधियाँ हैं। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण विधि मंत्र योग है। मंत्रें का सतत् उच्चारण करते रहने तथा धारणा का अभ्यास करने से ध्यान की अवस्था तक पहुँचते हैं। ध्यान का अन्तिम लक्ष्य आत्मा की अनुभूति करना है। आत्मा विशुद्ध चेतन है तथा आत्मा की अनुभूति अलौकिक ज्ञान और आनंद की अवस्था है। यह देश, काल तथा कारण से परे अवस्था है जब पर्याप्त समय तक मन को पूर्ण एकाग्र रखा जाता है तथा जब मन बाहरी विषयों पर विचारों से विचलित नहीं होता है, तब आत्मा का वास्तविक बोध होता है।

उपनिषदों में कहा गया है कि आत्मा मनुष्य के हृदय कमल में निवास करती है, लेकिन हृदय कमल भौतिक मांसपेशियों, रक्त आदि से बना हुआ नहीं है। यह अनहद चक्र में निवास करता है। ध्यान की उन्नत अवस्था में अभ्यासी अपने हृदय कमल में इसकी अनुभूति करते हैं। फलस्वरूप एक आन्तरिक प्रकाश तथा दिव्य आनंद का अनुभव करते हैं।

समाधि

महर्षि पतंजलि के अनुसार जब ध्यान के द्वारा मन अतिचेतन अवस्था में पहुँच जाता है, जो वह समाधि की स्थिति होती है। ध्यान, ध्याता तथा ध्येय ये तीनों एक हो जाते हैं। उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान नहीं रहता है। समाधि की अवस्था में समय व काल का प्रभाव नहीं पड़ता है। उसे किसी तीक्ष्ण शस्त्र से भी चोट नहीं पहुँचाती है, क्योंकि वह ब्रह्म में लीन ही रहता है। समाधि से प्राप्त होने वाले सुख के सामने मन तथा संसार की सभी चीजें तुच्छ लगने लगती हैं। मन तथा प्राण मिलकर एक रूप हो जाते हैं तथा आत्मा में लीन हो जाते हैं।

समाधि के प्रकार

घेरण्ड संहिता में छः प्रकार की समाधि बतायी गयी है :-

2. नादयोग समाधि।
3. रसानन्द योग समाधि।
4. लययोग समाधि।
5. भक्तियोग समाधि।
6. राजयोग समाधि।

समाधि सम्बन्धी सुझाव

1- साधना पद्धति कोई भी हो लेकिन अभ्यास प्रतिदिन तथा नियमित रूप से करने से समाधि की ओर बढ़ते हैं।
2- किसी भी दशा में आलस्य के चंगुल में न आकर अभ्यास की अवधि कम न करके बढ़ाते जाना चाहिए।
3- सत्य का निरन्तर ध्यान रखना चाहिए।
4- जीवन कम समय का है। अतः प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करना चाहिए।
5- ध्यान का सही अभ्यास एवं ध्यान स्थिति की प्राप्ति समाधि की पहली की अवस्थायें हैं।

समाधि की उपलब्धियाँ

समाधि कोई एक ऐसी स्थिति नहीं है जिसे सरलता से प्राप्त किया जा सके। जब व्यक्ति अन्तरात्मा पर सतत् ध्यान करता है, तो समाधि की अवस्था में पहुँचता है। इस अवस्था में कुछ देखा या सुना नहीं जा सकता है। इसमें देह भाव या शरीर के प्रति चेतना नहीं रह जाती है। इस स्थिति में केवल एक चेतनता रहती है। और वह है केवल सर्वव्यापी आत्मा की चेतनता। यही तुरीया की अवस्था कहलाती है। इस अवस्था में पहुँच कर वह मन, वचन तथा कर्म में दिव्यत्व की अनुभूति करने लगता है तथा प्रत्येक क्षण सत्, चित् और आनंद का अनुभव करता है।

XIIबंध (Bandha)

ज्ञानेन्द्रियों (कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका तथा कर्मेन्द्रियों) हाथ, पैर, मुख, गुदा, एवं उपस्थ के कार्यरत रहने के कारण शक्ति खर्च होती है। चाहे शक्ति कम खर्च हो या अधिक, लेकिन यदि उनके अनुपात में नित्य शक्ति का संचय नहीं किया जाता है, तो शरीर निर्बल, व जर्जर हो जाता है। प्राकृतिक आहार तथा शारीरिक शोधन क्रियाओं से शक्ति में वृद्धि होती है। भारतीय ऋषियों ने गहन अध यन करके बताया कि यदि मनुष्य यौगिक व्यायाम, प्राणायाम, ध्यान के अभ्यास के साथ-साथ बन्ध का भी अभ्यास करें, तो योगाभ्याम द्वारा उत्पन्न शक्ति कई गुना बढ़ जाती है।

बंध का अर्थ

बंध शरीर की अनैच्छिक मांसपेशियों के नियंत्रण व व्यायाम की आन्तरिक

1. ध्यान योग समाधि।

क्रियायें हैं, जिससे शरीर के द्वारों को संकुचित कर आन्तरिक दबाव को घटाना या बढ़ाना व प्राणवायु को आंशिक रूप से या पूर्णरूप से अवरुद्ध करना या उसका प्रवाह विपरीत दिशा में करना सम्भव हो सकता है।

बंध का अर्थ है बांधना, रोकना, बंद करना, कसना, आदि। इस अर्थ में बंध शारीरिक क्रियायें हैं, तो अन्य यौगिक क्रियाओं के लिए आवश्यक हैं। बंध के द्वारा अभ्यासी अपने शरीर के कुछ हिस्सों पर संकुचन करता है तथा उसे कसता है, लेकिन इससे उस अंग को किसी प्रकार की हॉनि नहीं होती है। बंध के द्वारा शरीर के आन्तरिक अंगों की मालिश सम्भव होती है जिससे विजातीय पदार्थ रक्त तथा अन्य तंत्रें से बाहर निकल जाते हैं।

बंध से निम्नलिखित लाभ मिलते हैं :

1- बंध का अभ्यास करने से शारीरिक अंगों तथा स्नायु तंत्र पर नियंत्रण प्राप्त होता है।
2- शरीर के आन्तरिक अंगों की पूर्ण मालिश हो जाती है।
3- स्नायुओं को उत्तेजना प्राप्त होती है तथा उनका नियमन होता है।
4- मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियाँ (Psychic Knots) खुलती हैं। जैसे- ब्रहम्ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि, शिव ग्रन्थि।
5- बंध के द्वारा प्राण वायु का संचार उत्तम हो जाता है। सुषमना नाड़ी सक्रिय रूप से कार्य करने लगती है।

बंध के प्रकार

बंध के चार प्रकार बताये गये हैं :

1- जलंधर बंध।
2- मूल बंध।
3- उड्डियान बंध।
4- महाबंध।

(1) जालंधर बंध

1- विधि



ध्यान के किसी आसन चाहे पद्मासन या सुखासन, में घुटनों को फर्स के स्पर्श करते हुये, मेरुदण्ड सीधा करके बैठे तथा दोनों हाथों की हथेलियों को घुटनों के ऊपर रखें। पूरे शरीर को विश्राम दें। फिर आंखें बंद करें श्वांस

श्वांस को अंदर रोकें (कुंभक) सिर को आगे की ओर झुकावें तथा ट्ठड्डी को सीने से कसकर लगायें। भुजाओं पर बल दें। इस स्थिति में जब तक रह सकें, रहें। फिर कंधों को विश्राम दें, धीरे-धीरे बंध खोलें तथा सिर को ऊँचा उठायें। साथ ही साथ प्रश्वांस क्रिया करें (रेचक)। जब श्वसन क्रिया सामान्य हो जाय, तो पुनः अभ्यास करें।

वाह्य कुम्भक की दशा में भी यह बंध लगाया जा सकता है।

जिन व्यक्तियों को उच्च रक्तचाप हो, या हृदय का कोई रोग हो उन्हें पर बंध नहीं लगाना चाहिये।

जलंधर बंध से श्वास नली बंद हो जाती है तथा कंठ, क्षेत्र के अनेक अंगों का साइनस रेसेप्टर सहित पर दबाव पड़ता है। ये रेसप्टर जुगुलर धमनी जो मस्तिष्क को रक्त ले जाती है, के रक्तचाप के प्रति संवेदन-शील होती हैं। यदि रेसेप्टर्स पर दबाव अधिक होता है, तो ये हृदय तथा मस्तिष्क को संकेत भेजते हैं, जिससे उनकी गति धीमी हो जाती है। जिससे मन को शन्ति मिलती है।

विशेष लाभ

1- जालंधर बंध लगाने से थाइरायड़ तथा पैरा थाइरायड़ ग्रन्थियाँ प्रभावित होती हैं। उनकी मालिश होती है, जिससे उनकी कार्यात्मकता बढ़ती है।

2- मस्तिष्क को रक्त ले जाने वाली धमनी पर दबाव पड़ने से मस्तिष्क की मालिश हो जाती है, और रक्त आपूर्ति सामान्य बनी रहती है।

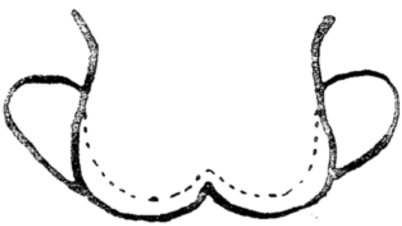
3- थाइरायड़ ग्रन्थि के उत्तेजित होने से शारीरिक शक्ति बढ़ती है।

4- थाइरायड़ ग्रन्थि के उत्तेजित हो जाने से लैंगिक शक्ति बढ़ती है।

5- जालंधर बंध से तनाव कम होता है।

6- इससे स्वतंत्र स्नायु प्रणाली प्रभावित होती है। अतः हृदय गति एवं श्वास-प्रश्वास पर नियंत्रण होता है।

7- जालंधर बंध से ध्यान करने की क्षमता आती है।



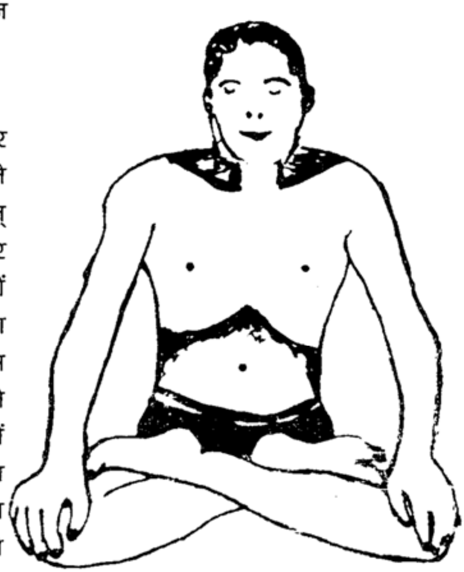
(2) मूलबंध

ध्यान करने के किसी आसन में बैठकर हथेलियों को घुटनों पर रखकर, आँखें बंद करें। सम्पूर्ण शरीर को विश्राम दें, श्वांस अंदर खींचें, श्वांस अंदर रोके

अधिक से अधिक खींचे। (पूरक करें) तथा जालंधर बंध लगायें। तब गुदा को ऊपर की ओर खींच कर संकुचित करें। जितने समय तक इस स्थिति में रह सकें, रहें। यही स्थिति मूलबंध की है। अब संकुचन को कम करें। तथा मूल बंध खोलें,. फिर सिर को ऊँचा करते हुये श्वास बाहर निकालें। इस बंध का अभ्यास वाह्य कुंभक की दशा में भी कर सकते हैं।

लाभ

1. इस बंध में मूत्र तथा निष्कासन तंत्र के अंगों को संकुचित करके ऊपर की ओर खींचा जाता है। इस क्रिया से अपानवायु जो कि नाभि प्रदेश से नीचे होती है ऊपर की ओर उठती है और प्राण वायु का मिलाऩ होता है। प्राणवायु कंठ प्रदेश तथा हृदय के आधार में होते हैं इससे जीवनीशक्ति बढ़ती है।
2. लैंगिक ऊर्जा बढ़ती है।
3. गुदा प्रदेश के अंग शक्तिशाली होते हैं तथा स्फिन्टर दृढ़ होते हैं।
4. आँतों की पेरेसटालसिस बढ़ती है।
5. कब्ज तथा बवासीर में लाभ होता है।
6. भूख बढ़ती है।
7. मूलबंध से ज्ञान की तथा ऐच्छिक दोनों प्रकार की नाड़ियाँ प्रभावित होती है।
8. सुषम्ना नाड़ी उत्तेजित होती है।
9. श्वांस क्रिया में संतुलन आता है।
10. मल निष्कासन की क्रिया तेज होती है।



(3) उड्डियान बंध

ध्यान के किसी आसन में बैठकर श्वांस को अधिकाधिक बाहर निकालते हैं तथा वाह्य कुम्भक लगाते हैं अर्थात् श्वास बाहर ही रखते हैं, फिर जालंधर बंध लगाते हैं। अब उदर की मांसपेशियों को जहाँ तक सम्भव होता है, अंदर तथा बाहर की ओर संकुचित करते हैं। इस स्थिति में जहाँ तक सम्भव होता है- रहते हैं। फिर धीरे-धीरे अंदर की मांसपेशियों पर दबाव कम करते हैं। जलंधर बंध खोलते हैं और श्वांस लेते हैं। सामान्य अवस्था के उपरान्त पुनः अभ्यास करते

अल्सर या डियोडेनेभ अल्सर से पीड़ित हों उन्हें ये बंध नहीं लगाना चाहिये। गर्भिणी महिलाओं को भी यह बंध नहीं लगाना चाहिये।

लाभ :

1- आँतों तथा पेट के रोगों में लाभ होता है।
2- उदरीय अंग उत्तेजित होते हैं।
3- लिवर, पेनक्रियांग तथा किडनी आदि की मालिश हो जाती है। उनका कार्य सामान्य बना रहता है।
4- एडीनल ग्रन्थि पर प्रभाव पड़ता है और क्रिया भी सामान्य बनी रहती है।
5- पाचक अग्नि उत्तेजित होती है।
6- शक्ति बढ़ती है।
7- मन को शान्ति प्राप्त होती है।
8- नाड़ी संस्थान को नियंत्रित करने की ताकत आती है।

महाबन्ध

जब तीनों बंधों जालंधर उड्डियन व मूलबंध को एक साथ लगाया जाता है तो वह महाबन्ध होता है। पहले जालंधर बंध लगाया जाता है, उसके बाद उड्डियन बंध और अंत में मूलबंध लगाते हैं।



लाभ

यह मनोऊर्जा को उत्तेजित करने का सबसे शक्तिशाली तरीका है। इससे तीनों बंधों के लाभ तो होते हैं - साथ ही साथ व्यक्ति अन्तर्मुखी हो जाता है।

हैं। इस बंध का अभ्यास खाली पेट ही करना चाहिये।

XIII मुद्रा

मुद्रा विज्ञान भारतीय ऋषियों की एक महत्त्वपूर्ण खोज है। यह विज्ञान मानव शरीर के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रहस्य को स्पष्ट करने और प्रत्यक्ष करने का अनुपम परन्तु सरल साधन हैं। मुद्रा क्रियाओं द्वारा शरीर में अनेकानेक परिवर्तन किये जा सकते हैं। मुद्रा विज्ञान द्वारा शरीर के पंच तत्त्वों जिनसे शरीर की रचना हुई है, उनका घटना तथा बढ़ना सम्भव है। अतः रोगों के उपचार का यह एक सरल साधन है।

मुद्रा एक प्रकार से एक स्थानीय प्रक्रिया है, एक सूचक, स्थिति है, जिसके द्वारा शरीर के अंग विशेष की क्रिया को घटाया, बढ़ाया या बंद किया जा सकता है।

मुद्रा विज्ञान द्वारा शरीर की मनः ऊर्जा शक्ति का ज्ञान होता है तथा उसकी वृद्धि में सहायता मिलती है। मनः शक्ति पर नियंत्रण संभव होता है। तथा उसके प्रवाह को इच्छानुसार घटाया बढ़ाया जा सकता है। मुद्रायें मन मस्तिष्क को ध्यान के लिए तैयार करती हैं क्योंकि इसके द्वारा मन को इन्द्रियों से बाहर निकालने का यत्न किया जाता है। मुद्राओं का प्रभाव शरीर की अंतस्रावी ग्रन्थियों पर पड़ता है, जिससे शरीर के आन्तरिक अवयव व उनकी क्रियायें प्रभावित होती हैं। मुद्रा विज्ञान योग विज्ञान का अति सूक्ष्म अंग है।

घेरण्ड संहिता जो कि प्राचीनतम आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं में घेरण्ड ऋषि ने मुद्राओं का उल्लेख किया है। उन्होंने 25 मुद्राओं का वर्णन किया है। यहाँ पर महत्त्वपूर्ण मुद्राओं का वर्णन किया जा रहा है।

मुद्राओं के प्रकार

(1) ज्ञानमुद्रा

पद्मासन या सुखासन में बैठकर दोनों हाथ की तर्जनी (index) अंगुली को मोड़कर अंगूठे के जड़ में लगायें तथा शेष दोनों हाथों की तीनों अगुलियों को सीधी रखें फिर हाथ को घुटने के ऊपर इस प्रकार रखें, कि हथेली नीचे की ओर रहे। दोनों हाथ की तीनों-तीनों अंगुलियाँ तथा अगूँठे पृथ्वी की ओर रहे। इस मुद्रा में 15-20 मिनट बैठने से मनोऊर्जा का संचार होता है।

(2) चिनमुद्रा

यह ज्ञान मुद्रा के समान ही होती है। अन्तर केवल इतना होता है कि इसमें दोनों हाथों की हथेलियों को घुटनों पर नीचे की ओर न रहकर ऊपर की ओर होती है। ज्ञानमुद्रा तथा चिनमुद्रा दोनों ही शरीर तथा मन को विश्राम देती है।

(3) शाम्भावी मुद्रा

ज्ञान मुद्रा या चिनमुद्रा में बैठकर मेरुदण्ड सीधा रखकर भूमध्य पर आँखों को केन्द्रित करते हैं। इससे नेत्रों की मांसपेशियों को शक्ति मिलती है तथा मन को

शान्ति मिलती है।

(4) नासिकाग्रा दृष्टि

ध्यान के किसी आसन बैठकर दोनों आँखों की पुतलियों को नाक के अग्रभाग पर (tip of the nose) केन्द्रित करते हैं कुछ समय के लिए श्वांस अंदर रोकते हैं लेकिन आँखें बिल्कुल केन्द्रित रहती हैं। इस मुद्रा से ध्यान की शक्ति बढ़ती है।

(5) माण्डुकी मुद्रा

भद्रासन में बैठकर नासिकाग्रा दृष्टि मुद्रा का अभ्यास करते हैं। धीरे-धीरे श्वास-प्रश्वास क्रिया चलती है। ध्यान गंध (smell) पर केन्द्रित करते हैं। इस मुद्रा से मनोगंध शक्ति विकसित होती है।

(6) भूचरी मुद्रा

ध्यान के किसी मुद्रा में बैठकर बायाँ हाथ बायें घुटने पर रखकर, दाये हाथ को कुहनी से मोड़कर चेहरे को सामने लाते हैं, हथेली नीचे को अंदर की ओर रखते हुये हाथ को पृथ्वी के समानान्तर रखकर अँगूठे को ऊपरी ओंठ तथा नासिका के बीच रखते हैं। अंगुलियाँ बायें अंग की ओर सीधी रहती हैं। फिर अपनी दृष्टि छोटी अंगुली (small finger) पर केन्द्रित करते हैं। कुछ समय उपरांत हाथ हटा लेते हैं। लेकिन उसी स्थान पर दृष्टि केन्द्रित रखते हैं जहाँ पर पहले अंगुली थी। शून्य में दृष्टि केन्द्रित रखते हैं। इस मुद्रा से स्मृति शक्ति विकसित होती है।

(7) आकाशी मुद्रा

ध्यान के किसी आसन में बैठकर जीभ को अंदर की ओर ऊपर के ताल की ओर मोड़ते हैं। अर्थात् खीचरी मुद्रा में बैठते हैं। उज्जायी प्राणायाम का अभ्यास करते हैं। सिर को आधा पीछे की ओर मोड़ते हैं। श्वांस धीरे-धीरे तथा गहरी श्वांस लेते हैं। इस मुद्रा से उज्जायी प्राणायाम के सभी लाभ मिलते हैं।

(8) तड़ागी मुद्रा

दोनों पैरों को सामने सीधा रखकर उसमें कुछ अंतर रखते हुये आगे की ओर कमर से झुकते हैं तथा पाँवों के अँगूठे को कसकर पकड़ते हैं। गहरी-गहरी श्वांस लेते हैं। फिर श्वांस रोकते हैं। कुछ देर तक के बाद शरीर को ढीला छोड़कर प्रश्वास करते हैं। फिर गहरी श्वास लेकर पुनः वही क्रिया करते हैं। इस मुद्रा से उदरीय क्षेत्र के अंगों को उत्तेजना मिलती है। पाचन क्रिया सुधरती है तथा पेट के विकार दूर होते हैं।

(9) भुजंगिनी मुद्रा

ध्यान के किसी भी आसन में बैठकर पूरे शरीर को विश्राम देते हैं। अब मुँह से वायु अंदर की ओर खींचते हैं, जैसे पानी पी रहे हों। वायु सीधे पेट में जाती है,

फेफड़ों में नहीं। चार-पाँच बार ऐसा करने के बाद पेट को जितना फुला सकते हैं, फुलाते हैं कुछ समय के लिए हवा अंदर रोकते हैं तथा डकार के रूप में वायु बाहर निकालते हैं। इस मुद्रा से श्वास नली को शक्ति मिलती है। तथा पाचक रसों को स्रावित करने वाली ग्रन्थियाँ प्रभावित होती हैं।

(10) काकी मुद्रा

किसी भी ध्यान के आसन में बैठकर अपने ओंठों को मोड़कर चोंच के समान आकृति बनाते हैं। आँखों को नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित करते हैं। मुँह से ध ीरे-धीरे लेकिन गहरी श्वांस लेते हैं। फिर मुँह बंद करके नाक से श्वांस बाहर निकालते हैं। इस मुद्रा में पाचन तंत्र दृढ़ होता है। तथा रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।

(11) अश्विनी मुद्रा

ध्यान के किसी आसन में बैठकर गुदा की मांसपेशियों का कुछ समय लिए संकुचन करते हैं फिर कुछ समय के उन्हें विश्राम अवस्था में रखते हैं। दूसरी अवस्था में गुदा की मांसपेशियों को संकुचित करते हुये श्वांस खींचते हैं तथा संकुचन अवस्था को रोकते हुए श्वांस रोकते हैं। संकुचन कम करते हुये श्वांस बाहर निकालते हैं। यह मुद्रा बवासीर के रोग में अत्यंत लाभकारी है। इससे आँतों के फैलने-सिकुड़ने (पैरीस्टालिसस) की क्षमता बढ़ती है इससे कब्ज रोग दूर होता है।

(12) खीचरी मुद्रा

पद्मासन या बज्रासन में बैठकर पूरे शरीर को विश्राम देते हुये आँखें बंद करते हैं। धीर-धीरे श्वांस बाहर निकालते हैं। श्वांस रोक कर मूलाधार चक्र पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। धीरे-धीरे श्वांस अंदर की ओर लेते हैं। तथा अपना ध यान मूलाधार चक्र से आज्ञा चक्र की ओर लाते हैं। कुछ समय के लिए श्वांस रोकते हैं तथा आज्ञाचक्र पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। उसके पश्चात् श्वांस निकालते हुये आगे की ओर झुकते हैं। यह झुकना तथा श्वांस निकालने की क्रिया साथ-साथ शुरू होती है। आगे इतना झुकते हैं कि मस्तक सामने पृथ्वी पर लग जाता है तथा दोनों फेफड़ों से पूरी वायु बाहर निकल जाती है। साथ-साथ ध्यान आज्ञाचक्र चक्र के मूलाधार चक्र की ओर बढ़ता है। मूलाधार चक्र पर ध्यान केन्द्रित करते समय कुछ देर तक के लिए श्वांस रोक लेते हैं। अब श्वांस लेते हुये धीरे-धीरे धड़ को ऊपर उठते है। तथा अनुभव करते हैं कि प्राणवायु तथा चेतनता मूलाधार चक्र से आज्ञाचक्र की ओर बढ़ रही है। फिर श्वांस बाहर निकालते हुये आगे की ओर झुकते हैं। इस मुद्रा से चेतनता आती है तथा मनः ऊर्जा पर नियंत्रण बढ़ता है। इससे क्रोध शान्त होता है तथा तनाव कम होता है।

14- प्राण या शान्ति मुद्रा

किसी भी ध्यान की मुद्रा में बैठकर गहरी श्वांस प्रश्वांस लेते हैं। उदर



मांसपेशियों को अधिकतम संकुचन करते हैं जिससे फेफड़ों से अधिक से अधिक वायु बाहर निकल जाय। बाहर की ओर श्वांस निकालकर मूलबंध लगाते हैं। फिर मूलबंध खोलते हैं, धीरे-धीरे गहरी श्वांस लेते हैं उदर को अधिकाधिक फैलाते हैं जिससे फेफड़ों से अधिक से अधिक वायु बाहर निकल जाय। बाहर की ओर श्वांस निकाल कर मूलबंध लगाते हैं। फिर मूलबंध खोलते हैं, धीरे-धीरे गहरी श्वांस लेते हैं। उदर को अधिकाधिक फैलाते हैं। जिससे फेफड़ों में अधिक से अधिक हवा भर जाय। इस मुद्रा से प्राणवायु उत्तेजित होती है। तथा मन को शान्ति मिलती है।

15- विपरीतकरनी मुद्रा

ऊज्जायी प्राणायाम का अभ्यास करते हैं तथा खेचरी मुद्रा में बैठते हैं। श्वांस धीरे-धीरे लेते हैं तथा अनुभव करते हैं कि प्राण तथा चेतनता मणि पूरक चक्र से विशुद्धि चक्र की ओर बढ़ रही है। इसका अभ्यास करते हैं इस मुद्रा से लैंगिक ऊर्जा मनोऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है।

16- महाभेदी मुद्रा

गुदा के नीचे बायें पाँव रखकर दायें पाँव को सीधा फैलाते हैं। आगे की ओर झुकते हैं तथा दाहिने पाँव का अँगूठा दोनों हाथों से कसकर पकड़ते हैं। पूरी श्वांस लेते हैं। इसके पश्चात् गहरी श्वांस निकाल कर बिना श्वांस लिये कुछ देर स्थिर होते हैं। जालंधर बंध, मूलबंध तथा उड्डियान बंध लगाते हैं। दृष्टि को नाक के अग्रभाग पर केन्द्रित करते हैं। प्रत्येक चक्र पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। फिर उड्डियान बंध खोलते हैं, उसके बाद मूलबंध खोलते हैं। सबसे बाद जालंधर बंध खोलते हैं। यह मुद्रा आन्तरिक तथा वाह्य शक्तियों का पूर्ण समन्वय करने में सहायता करता है।

17- बज्रोली मुद्रा

किसी भी आरामदेय आसन में बैठकर घुटनों पर हाथ रखते हैं तथा लैंगिक अंगों को तथा उदरीय क्षेत्र के नीचे हिस्से को ऊपर संकुचित करते हुये खींचते हैं। मूत्र अंग संकुचित होते हैं। यह वही स्थिति होती है, जब पेशाब लगती है, लेकिन उसे रोकने का प्रयास करते हैं। इस मुद्रा से मनोऊर्जा का जो कि लैंगिक अंगों को जाती है नियंत्रित होती है।

१८- योनि या शानमुखी मुद्रा

पद्मासन या सिंहासन में बैठकर धीरे-धीरे गहरी श्वांस खींचते हैं। फिर श्वांस रोकतें हैं। दोनों अंगूठों से कान बंद कर लेते हैं, आँखों को अंगुलियों से बंद करते हैं। नथुनों को बीच की अंगुलियों से बंद करते हैं। छोटी अँगुली तथा उसके पास की अँगुली ओंठों के ऊपर नीचे रखते हुये मुँह बंद कर लेते हैं। आज्ञाचक्र पर ध्यान केन्द्रित करते हैं अब नथुनों पर दबाव कम करते हैं तथा श्वांस बाहर निकालते हैं। फिर श्वांस लेते हैं। श्वांस लेने के बाद दोनों बीच की अँगुलियों से नथुनों को बंद मुद्रा से मन इन्द्रियों से हटकर अन्तर्मुखी होता है।

19 - नौमुखी मुद्रा

धीरे-धीरे गहरी श्वांस लेते हैं। अनुभव करते हैं कि प्राण मूलबंध से सहस्र चक्र की ओर बढ़ रहा है। प्रत्येक चक्र पर कुछ समय के लिए ध्यान केन्द्रित करते हैं। श्वांस को अंदर रोकते हैं फिर योनि मुद्रा का अभ्यास करते हैं। धीरे-धीरे नथुनों को ढीला करके श्वांस निकालते हैं। इस मुद्रा से योनि मुद्रा के समान ही लाभ होता है।

20 - पाशिनी मुद्रा

हलासन करते हैं दोनों पैरों को आधा मीटर फासले पर रखते हुये पाँवों को घुटनों से मोड़ते हैं, तथा जाँघों को सीने की ओर लाते हैं, वे कानों, कंधों तथा फर्श को स्पर्श करते हैं। फिर हाथों से दोनों पैरों को पीछे से घेरते हुये कसकर दबाव डालते हैं फिर गहरी श्वांस लेते हैं। इस मुद्रा से मेरुदण्ड की सभी स्नायुतंत्राओं में उत्तेजना आती है। उदर के सभी अंगों की मालिश हो जाती है तथा लैंगिक अंगों की शक्ति बढ़ती है।

XIV सूर्य नमस्कार

इस ब्रह्माण्ड में सबसे शक्तिदायक, प्रकाशवान तथा जीवनदायक ग्रह सूर्य ही है, जिसके प्रकाश से ही सम्पूर्ण पृथ्वी आलोकित एवं प्राणमयी होती है। इसी कारण सूर्य को परम पिता परमात्मा के समान मानते हैं। पूजा, ध्यान, तथा मनः स्मरण का सूर्य से बढ़कर कोई माध्यम नहीं है। अतः सूर्य्र नमस्कार से प्रचलित ये क्रियायें शारीरिक मानसिक व आध्यात्मिक उन्नति का सर्वोत्तम साधन मानी जाती है। सूर्य नमस्कार इतने वैज्ञानिक ढंग से आयोजित आसन है, कि इससे सम्पूर्ण शरीर का व्यायाम हो जाता है और रक्त परिभ्रमण से शरीर में स्फूर्ति आती है। सूर्य को महापुराणों में आयु, स्वास्थ्य व तेज का देवता माना गया है। इसी कारण सूर्य भगवान को नमन करते हुये ये विधियाँ प्रातःकाल या सांयकाल सूर्य की ओर अभिमुख होकर की जाती है। सूर्यं की बारह राशियाँ हैं, अर्थात् यह उसकी विभिन्न स्थितियाँ हैं। ये स्थितियाँ एक वर्ष यानी बारह महीने में समाप्त होती हैं। इसीलिए सूर्य नमस्कार की बारह स्थितियाँ हैं।

सूर्य नमस्कार की विधि

सूर्य नमस्कार की विधि 12 स्तरों में विभक्त है। प्रत्येक स्तर का अभ्यास करते समय एक विशेष मंत्र के साथ सूर्य की उपासना करते हैं।

ये बारह मंत्र निम्न हैं :-

1- ओउ्म मित्रय नमः
(जो सबका मित्र है), उस सूर्य को नमस्कार है।

(2) ओउ्म रवाये नमः
जो सब परिवर्तन का कर्त्ता है, उस सूर्य को नमस्कार है।

3- ओउ्म सूर्याय नमः
जो गति का संचालक है, उस सूर्य को नमस्कार है।

4- ओउ्म मानवे नमः
जो प्रकाश का दाता है, उस सूर्य को नमस्कार है।

5- ओउ्म खगाय नमः
जो प्रकाश में विचरण करता है, उस सूर्य को नमस्कार है।

6- ओउ्म पुष्णे नमः
जो पोषण देने वाला है, उस सूर्य को नमस्कार है।

7 - ओउ्म हिरण्यगर्भाय नमः
जिसमें सब कुछ समाविष्ट है, उस सूर्य को नमस्कार है।

8- ओउ्म मरिचाय नमः
जिसमें किरणें विद्यमान हैं, उस सूर्य को नमस्कार है।

9- ओउ्म आदित्याय नमः
जो देवों का भी देव है, उस सूर्य को नमस्कार है।

10- ओउ्म सावित्रे नमः
जो सबका उत्पादक है, उस सूर्य को नमस्कार है।

11- ओउ्म आकार्य, नमः

जो पूजा के योग्य है, उस सूर्य को नमस्कार है।

12- ओउ्म भास्कराय नमः

जो क्रान्ति का जनक है, उस सूर्य को नमस्कार है।

एक मंत्र के साथ सूर्य नमस्कार की बारह क्रियाओं का एक चक्र होता है। ये तीन- चार चक्र से सूर्य नमस्कार का अभ्यास प्रारम्भ करना उचित होता है, लेकिन इन बारह क्रियाओं को क्रमानुसार ही किया जाना चाहिये।

क्रिया नं 1

सूर्य की ओर मुँह करके खड़े होते हैं। दोनों पाँव मिले रहते हैं। हाथों की हथेलियों को जोड़कर सीने में अंगूठे की ओर स्पर्श करते हुए नमस्कार की मुद्रा में खड़े होते हैं। तथा प्रथम मंत्र ''ओउ्म मित्रय नमः'' का उच्चारण करते हैं।



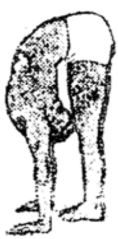
क्रिया नं. 2

अब धीरे-धीरे श्वास लेते हैं अपने दोनों हाथों को सिर की ओर ऊपर ले जाते हैं तथा बराबर दूरी पर रखते हुये कमर से ऊपरी भाग को पीछे झुकाते हैं। टाँगें सीधी रखते हैं, पाँव एक-दूसरे से सटे रखते हैं। दूसरे मंत्र ''ओउ्म रवाये नमः'' का उच्चारण करते हैं।



क्रिया नं. 3

धीरे-धीरे श्वांस बाहर छोड़ते हुये आगे की ओर झुकते जाते हैं जब तक कि हथेली जमीन पर पाँवों के बराबर नहीं आ जाती है सिर का घुटनों से स्पर्श कराते हैं। पाँव बिल्कुल सीधे रहते हैं। इस क्रिया में तीसरे मंत्र ''ओउ्म सूर्याय नमः'' का उच्चारण करते हैं।

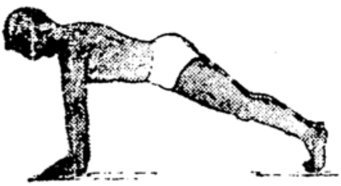


क्रिया नं. 4



दाया पाँव उठाकर पीछे की ओर पूरा ले जाते हैं। हाथों की हथेलियाँ तथा बायाँ पाँव जमीन पर यथावत टिका रहता है। सिर को ऊपर उठाते हैं, श्वांस छोड़ते हैं। तथा सामने की ओर दृष्टि टिकाये रखते हैं। बायाँ घुटना दोनों हाथों के बीच रहता है। चौथे मंत्र "ओउ्म मानवे नमः" का उच्चारण करते हैं।

क्रिया नं. 5



अब पुनः श्वांस लेते हैं और बायाँ पाँव भी उठाकर पीछे की ओर दायें पाँव के बराबर ले जाते हैं। कमर को आकाश की ओर उठाते हैं।

शरीर का सारा भार पाँव के तलुओं तथा हथेलियों पर टिका रहता है। इस क्रिया के पाँचवें मंत्र "ओउ्म खगाय नमः" का उच्चारण करते हैं।

क्रिया नं. 6



धीरे-धीरे श्वांस लेते हुये शरीर को नीचे लाते हैं, तथा दोनों पावों के अँगूठे दोनों हथेलियों व ललाट को जमीन से स्पर्श कराते हैं। पेट नितम्ब का भाग जमीन से ऊपर उठा रहता है। इसके क्रिया के साथ छठा मंत्र "ओउ्म पुष्णे नमः" को उच्चरित करते हैं।

क्रिया नं. 7



अब श्वांस अंदर लेते हुए सिर को ऊपर उठाते हैं। कमर को अधिक पीछे की ओर झुकाते हैं। हाथ कोहनियों के पास से बिल्कुल सीधे रहते हैं। सातवें मंत्र "ओउ्म हिरण्यगर्भाय नमः" का उच्चारण करते हैं।

क्रिया नं. 8

श्वास बाहर निकालते हुए सिर नीचे झुकाते हैं तथा क्रिया नं 5 की स्थिति में आ जाते हैं। शरीर का सारा भार पाँव के तलुओं व हथेलियों पर रहता है। शरीर त्रिकोण की तरह रहता है। आठवें मंत्र "ओउ्म मरिचाय नमः" का उच्चारण करते हैं।



क्रिया नं. 9

श्वांस अंदर लेते हुये पाँव को आगे हाथों के समानान्तर लाते हैं। बायाँ पाँव और बायाँ घुटना जमीन को स्पर्श करता रहता है। फिर सामने की ओर क्रिया नं. 4 की भाँति देखते हुये नवें मंत्र का "ओउ्म आदित्याय नमः" का उच्चारण करते हैं।



क्रिया नं. 10:

श्वांस छोड़ते हुये बायें पाँव को भी सामने लाते हैं और क्रिया नं. 3 की स्थिति की मुद्रा बनाते हैं। हथेलियों व तलवे समानान्तर जमीन पर टिके रहते हैं। सिर घुटनों को स्पर्श करता है। दसवें मंत्र "ओउ्म सावित्रे नमः" का उच्चारण करते हैं।



क्रिया नं. 11

श्वांस अंदर ले जाते हैं। हाथों को सिर से ऊपर उठाते हैं और पीछे की ओर कमर को झुकाते हैं। जैसे क्रिया नं. 2 में करते हैं। ग्यारहवें मंत्र "ओउ्म अकार्य नमः" का उच्चारण करते हैं।



क्रिया नं. 12



धीरे-धीरे श्वांस छोड़ते हुये हाथों को नीचे ले आते हैं, तथा विश्राम की स्थिति में खड़े हो जाते हैं। बारहवें मंत्र "ओउ्म भास्कराय नमः" का उच्चारण करते हैं।

यह 12 स्थितियों का नमस्कार का चक्र होता है।

सूर्य नमस्कार से लाभ

1- मासपेशियों व मेरुदण्ड में लचीलापन आता है।

2- शरीर की चर्बी कम होती है।

3- भुजायें, जंघायें तथा बाहें, सशक्त होती हैं।

4- फेफड़ों में मजबूती आती है।

5- श्वांस-प्रश्वास की सीमा बढ़ जाती है।

6- सूर्य किरणों से रक्त संचार तीव्र होता है।

7- शरीर से विजातीय पदार्थ बाहर निकलता है।

8- शरीर में स्फूर्ति आती है।

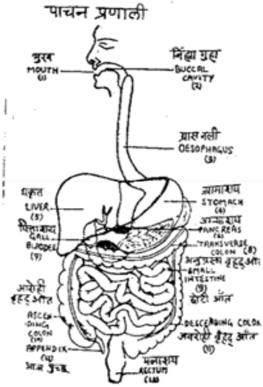
9- कब्ज दूर होती है तथा पाचन तंत्र अधिक सशक्त होता है।

10- कमर तथा कूल्हे सामान्य रहते हैं।

11- शरीर के प्रत्येक अंग का व्यायाम सूर्य नमस्कार से हो जाता है।

XV यौगिक षटकर्म

पाचन प्रणाली



धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्राप्त करने का एकमात्र साधन यह मानव शरीर है और जब तक शरीर स्वस्थ नहीं होगा, तब तक इस जीवन के लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं हो सकती है। वही मनुष्य पूर्ण स्वस्थ है, जिसके शरीर में बात, पित्त तथा कफ सम हों, जिसमें मन्दाग्नि, तीष्णाग्नि, विषमाग्नि सम हों, मल निकलने वाली प्रणालियाँ सही कार्य करती हों, और मन प्रसन्न रहे। इन

स्थितियों को प्राप्त करने के लिए योगी महर्षि घेरण्य ने छः शरीर शोधन साधनों का सूत्रपात्र किया, जिन्हें षट्कर्म के नाम से जाना जाता है। ये हैं : वस्ति, नेति, धौति, नौली, कपाल भाति तथा त्राट्क। इन क्रियाओं के अभ्यास से आहार नली, स्वरयन्त्र, श्वासनली और मस्तिष्क की भलीभाँति सफाई हो जाती है। शरीर दोष रहित हो जाता है।

नेति

नेति के कई प्रकार हैं जैसे घृत नेति, तेल नेति, जल नेति। इनमें सबसे सरल जल नेति है, जिसके करने से सिर के सभी रोग दूर हो जाते हैं। नेति की सहायता से ४0 प्रतिशत मानसिक कष्टों को दूर किया जा सकता है। सिर शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है जिसमें मस्तिष्क, कान, आँख, नाक, दाँत, जीभ आदि छोटे-छोटे अंग आते हैं। इन अंगों में जब किसी कारण से मल व विकार उत्पन्न हो जाता है तो रोगों का सूत्रपात होता है। इन अंगों की गंदगी हटाने के लिये नेति शोधन क्रिया की जाती है।





हम यह भी जानते हैं कि जीवन का आधार वायु (आक्सीजन) है जिसे नासिका के द्वारा फेफड़ों तक ले जाते हैं। वहाँ से यह रक्त के साथ मिलकर शरीर के साथ सभी कोषाणुओं में प्रवेश करती है तथा ऊर्जा उत्पन्न करती है। यदि पर्याप्त मात्र में कोषाणुओं को आक्सीजन नहीं मिल पाती है, तो वे अस्वस्थ हो जाते हैं जिससे शरीर में रोग का आरम्भ हो जाता है। अतः इन नासिका छिद्रों का साफ रहना आवश्यक होता है। साथ ही साथ इन नासिका छिद्रों में रोगाणु को रोकने की क्षमता होती है, यदि वे साफ रहते हैं। अतः नेति क्रिया एक परमावश्यक क्रिया है जिसके द्वारा सिर के विकारों जैसे सिर दर्द, जुकाम, बालों का झड़ना, गिरती जब

स्मरण शक्ति को रोका जा सकता है। नेत्रें की ज्योति बढ़ती है, नासिका मार्ग का श्लेष्मा साफ हो जाता है तथा मन को शान्ति मिलती है।

नेति के तीन प्रमुख प्रकार हैं और लाभ भी भिन्न-भिन्न हैं। जल नेति सरल विधि है जिसे करने से स्नायुविक थकान कम होती है, जुकाम नहीं होता है, अनिद्रा का नाश होता है व सिरदर्द का लोप होता है। घृत व तेल नेति से उपरोक्त सभी लाभों के अतिरिक्त मस्तिष्क विकारों एवं मानसिक शान्ति के लिये किया जाना आवश्यक है। इससे स्मरण शक्ति बढ़ती है तथा मन प्रसन्न रहता है। रबर नेति जुकाम एवं दमा जैसे रोगों को नष्ट करने में अद्बितीय है।

जलनेति के लिए टोटीदार लोटे का प्रयोग किया जाता है। इसमें गुनगुना पानी भरकर उसमें एक चुटकी नमक मिलाते हैं फिर यह देखते हैं, कि नासिका के कौन से छिद्र से श्वांस सरलतापूर्वक आ रही है। अब सीधे खड़े हो जाते हैं तथा कमर से थोड़ा झुकते हैं। लोटे की टोंटी को नासिका में लगाते हैं, पेंदी से लोटे को थोड़ा ऊपर उठाते हैं जल दूसरे छिद्र से बाहर निकलने लगता है। इसी प्रकार दूसरे छिद्र से टोटी लगाकर नेति करते हैं।

रबरनेति करने के लिए प्रायः कैथेडर नं. 4 का प्रयोग करते हैं। पतले वाले सिरे को नासिका के दायें छिद्र में डालकर धीरे-धीरे आगे बढ़ाते जाते हैं, बढ़ाते-बढ़ाते जब यह सिरा गले तक पहुँच जाता है तो दायें हाथ की तर्जनी व मध्यमा उँगली से रबरनेति को पकड़ लेते हैं तथा बायें हाथ से धीरे-धीरे अन्दर सरकाते हैं फिर कम से कम छः बार आगे-पीछे रबर चलाते हैं ।अब नुकीले सिरे को मुँह से धीरे-६ ाीरे निकाल लेते हैं। यह क्रिया दाहिनी तरह से भी करते हैं।

2- धौति

आमाशय को स्वच्छ एवं स्वस्थ बनाये रखने के लिए हमारे भारतीय योग मनीषियों ने षट्कर्म में धौति क्रिया का विकास किया। इस क्रिया से आमाशय से चिपका हुआ मल, विकार बाहर निकल जाता है। जिससे आमाशय की ग्रन्थियाँ सामान्य द्रव स्रावित करती हैं, जो भोजन के पचने के लिए परमावश्यक होते हैं। यदि यह मल अधिक दिनों तक आमाशय में चिपका रहता है तो अजीर्ण, पाण्डुरोग (पीलिया) अपच आदि रोग हो जाते हैं। इनको दूर करने तथा पाचन क्रिया को सबल बनाने के लिए धौति क्रिया की जाती है। धौति क्रिया दो प्रकार से की जाती है- जल धौति तथा वस्त्र धौति।

जल धौति को कुंजल क्रिया एवं गजकारिणी क्रिया भी कहते हैं। जल धौति सरल तथा सहज क्रिया है, जिसे आसानी से सीखा जा सकता है। इस क्रिया को सामान्य अवस्था में सप्ताह में एक बार अवश्य करना चाहिए। कुंजल करने के लिए बड़े जग में गुनगुना पानी भर लेते हैं, एक चम्मच नमक मिलाते हैं, फिर जमीन पर कागासन (उकड़) में बैठकर जल्दी-जल्दी पानी पीते हैं, पानी तब तक पीते रहते हैं,

तक कि उल्टी अनुभव न होने लगे। फिर खड़े होकर कमर से 90 अंश का कोण बनाकर आगे की ओर झुकते हैं, बायें हाथ की उँगलियों को जोड़कर चोंच का आकर बनाकर नाभि पर. दबाव डालते हैं, दायें हाथ की तीन उँगलियों को मुँह में डालकर कौवे को धीरे-धीरे सहलाते हैं जिससे वमन शुरू हो जाता है तथा पेट का सारा कप एवं मल बाहर निकल जाता है। यह क्रिया तब तक करते हैं जब तक पूरा पानी निकल नहीं जाता है। कुंजल के बाद शवासन करना आवश्यक होता है जिससे पेट के अंगों में हलचल कम हो जाय तथा शरीर में रक्त संचार सामान्य हो जाय।

वस्त्र धौति :

वस्त्र धौति थोड़ी कठिन क्रिया है जिसे करने के लिए कागासन (उकड़) में बैठ जाते हैं, वस्त्र धौति का कपड़ा जो कि एक पात्र में पानी में भीगा हुआ सामने रखा होता है उसका एक सिरा उठाकर किनारों को चौड़ा करके कौवे के पास रखते हैं तथा आसानी से कपड़े को निगलना शुरू करते हैं। धीरे-धीरे सारे कपड़े को निगल जाते हैं, बीच में दिक्कत होने पर पानी घूँट-घूँट कर पिया करते हैं। अब धीरे- से खड़े हो जाते हैं तथा छः बार दाहिने छः बार बायें नौलि चलाते हैं, पुनः कागासन में बैठकर कपड़े के सिरे को दोनों हाथों से पकड़कर धीरे-धीरे खींच लेते हैं। इससे कफ, दमा, सिर-दर्द, बुखार, जिगर के रोग आदि दूर हो जाते हैं।

धौति वस्त्र 7 सेन्टीमीटर कपड़ा चौड़ा तथा 7 मीटर लम्बा मलमल का बना होता है। जिसे गरम पानी से साफ करके प्रयोग करते हैं।

3- नौलि

अपने तरह की एक असाधारण और निराली प्रक्रिया है जिससे आँत में चिपका हुआ मल उखड़ता है, कब्ज दूर होती है, मंदाग्नि दूर होती है तथा बढ़ा हुआ पेट सामान्य हो जाता है। पेट में गोला, आँतों की कमजोरी तथा गुर्दे की समस्या ठीक हो जाती है। इस क्रिया से समस्त नाड़ी संस्थान व पाचन संस्थान प्रभावित होते हैं। उदरीय अंगों की मालिश हो जाती है जिससे आहारनली की ग्रन्थियों पर प्रभाव पड़ता है और वे सामान्य स्राव करती हैं । वात, पित्त तथा कफ के विकार दूर होते हैं, पेट हल्का रहता है, तथा भूख बढ़ती है। यह व्यक्ति को शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार से स्वस्थ तथा सबल बनाती हैं।

नौलि क्रिया करने के लिए सीधे खड़े हो जाते हैं, घुटनों को आगे झुकाते हैं तथा घुटनों पर हाथ रखकर सम्पूर्ण श्वांस को बाहर निकाल देते हैं, उड्डीयान बंध लगाते हैं फिर सबसे पहले मध्य नौलि फिर वाम नौलि इसके बाद सम्पूर्ण नौलि निकालते हैं। अब श्वांस भरकर सीधे खड़े हो जाते हैं। अब पुनः पहले की अवस्था में आते हैं तथा वाम व दक्षिण नौलि को पहले बायें से दायें फिर दायें से बायें घुमाते हैं।

4- वस्ति

प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धांत के अनुसार शरीर के समस्त उदर रोगों का मूल कारण कब्ज है। कब्ज का अर्थ है आँतों में मल का जमाव। इसीलिए शरीर शुद्धि प्रक्रिया में वस्ति क्रिया का विशेष महत्त्व है। जिसके द्वारा बड़ी आँत व आमाशय की सफाई की जाती है। चरक संहिता में लिखा है कि वस्ति क्रिया द्वारा वायुगोला, तिल्ली, उदर और वात, पित्त, कफ से पैदा होने वाले सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं। यह क्रिया आयु, बल, बुद्धि तथा स्वास्थ्य को बढ़ाती है, तथा पूर्ण स्वास्थ्य का आधार है।

आधुनिक परिवेश में वस्ति क्रिया दो प्रकार से की जाती है। स्वतः वस्ति क्रिया तथा एनिमापात्र से वस्ति क्रिया।

एनिमापात्र से वस्ति क्रिया

इसके लिए अलग एकांत स्थान की आवश्यकता होती है। वस्ति क्रिया करने के लिए यह ध्यान रहे कि पानी में साबुन का झाग भूलकर भी न मिलायें बल्कि यदि एक बड़े नींबू का रस छानकर मिला लें, तो आँतों की सफाई जल्दी तथा अच्छी होगी। इस क्रिया को करने के लिये एनिमापात्र को जमीन से पाँच फिट की ऊँचाई पर लगा देते हैं उसमें तैयार पानी भर देते हैं कैथेटर, की टोंटी खोल देते हैं जिससे कैथेटर में भरी वायु निकल जाय तथा जल वहाँ तक पहुँच जाय। अब एनिमा देने वाले व्यक्ति को पेट के बल तिपाई पर लिटा देते हैं, व्यक्ति का मस्तक तिपाई पर लगा रहता है। अब व्यक्ति के दोनों पैरों को घुटने से मुड़वाते हैं तथा कमर के हिस्से को अधिकतम ऊपर उठवाते हैं, अब उसके कमर के वस्त्र को हटा देते हैं, कैथेटर में तेल लगाते हैं, दाहिने हाथ से कैथेटर पकड़कर बायें हाथ से गुदा के पास थोड़ा खींचते हैं, तथा कैथेटर को गुदा के अन्दर लगभग 3 इंच प्रविष्ट कराते हैं, अब टोंटी खोल देते हैं जिससे पानी भरने लगता है तथा व्यक्ति को लम्बी और गहरी श्वांस लेने एवं पेट को ढीला करने को कहते हैं। जब लगभग एक लीटर पानी चला जाता है तब कैथेटर निकाल देते हैं तथा व्यक्ति को नाभि के चारों तरफ मालिश करते हुए थोड़ा टहलने को कहते हैं एवं महसूस होने पर शौचालय जाने को कहते हैं। जिससे पूरा पेट साफ हो जाता है।

स्वतः वस्ति क्रिया

स्वतः वस्ति क्रिया शौचालय में बैठकर अकेले की जा सकती है। इसे करने के लिए स्वतः वस्ति क्रिया यंत्र के चौड़े सिरे को गुनगुने या सामान्य पानी भरे जग में डाल देते हैं तथा बीच में गुब्बारे वाले भाग को दबाते हैं, जिससे दूसरे सिरे पर लगे कैथेटर से पानी निकलने लगता है।

अब कैथेटर के अगले सिरे पर तेल लगाकर धीरे से गुदा के अन्दर दो-तीन इंच तक प्रवेश करा देते हैं। बीच के भाग को पुनः दबाते हैं इससे जग का पानी आँत में जाने लगता है तथा शौच का अनुभव होने लगता है। ऐसा होने पर यंत्र का सिरा

गुदा से बाहर निकाल देते हैं, जिसके फलस्वरूप मलाशय का मल पानी के साथ बाहर निकल जाता है।

वस्ति क्रिया से ज्वर, विकार, दस्त, गैस आदि में तुरन्त लाभ होता है। वस्ति क्रिया के एक घन्टे बाद तक कुछ नहीं खाना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो गुनगुने पानी में आधा नींबू का रस तथा दो चम्मच शहद मिलाकर पीना चाहिए या फलाहारी नमक मिलाकर एक गिलास पानी पीना चाहिए क्योंकि वस्ति क्रिया के फलस्वरूप शरीर में पोटैशियम नामक तत्त्व की कमी हो जाती है, जिसे इससे पूरा कर सकते हैं।

स्वस्थ व्यक्ति सप्ताह में वस्ति क्रिया से यदि एक बार आँत व मलाशय साफ करें तो वह अस्वस्थ नहीं होगा।

5- कपालभाति

शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग मस्तिष्क है क्योंकि इसी के द्वारा मनुष्य अपनी शारीरिक व मानसिक क्रियाओं को सम्पादित करता है अतः इसका स्वस्थ व सामान्य होना परमावश्यक है। कपालभाति क्रिया से मस्तिष्क में विद्यमान दोष बाहर निकल जाते हैं, पूर्ण आक्सीजन मिलती है तथा शुद्ध रक्त का संचार होता है। इस क्रिया के करने से विचारधारायें मलिनता को त्यागकर स्वच्छता की ओर बढ़ने लगती हैं। जिसके फलस्वरुप मनुष्य के मस्तिष्क का विकास होता है और अरोग्यता बढ़ती है। इस क्रिया से मस्तिष्क के सभी तंत्रु उत्तेजित होते हैं। जिससे उनमें तन्मयता बढ़ती है और स्मरण शक्ति पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

कपालभाति क्रिया करने के लिए पद्मासन में बैठ जाते हें, नमो मुद्रा लगाते हैं, मेरुदण्ड को सीधा करते हैं तथा दृष्टि सामने स्थित रखते हुये बन्द कर लेते हैं अब तेजी के साथ श्वांस बाहर की ओर झटके से निकालते हैं। ध्यान रहे कि इस क्रिया में अन्तःश्वसन स्वतः होता है तथा श्वसन करने में उदर आगे-पीछे होता है अर्थात् शक्ति उदर से लगाते हैं, वक्ष स्थल शान्त रहता है, कन्धे नहीं हिलते हैं। यह क्रिया प्रातःकाल, मध्यान्ह, सायंकाल, किसी समय कर सकते हैं तथा कम से कम 20 बार अवश्य करनी चाहिए।

6- त्राटक

किसी भी स्वाभाविक गति या बिन्दु पर अविचन सूक्ष्म अथवा स्थूल दृष्टि गड़ा देने या नेत्र को उसमें स्थिर करके एकटक देखने को त्राटक कहते हैं। त्राटक क्रिया से नेत्रें के सभी रोग दूर हो जाते हैं, चंचल मन को एकाग्रता मिलती है, फलस्वरूप स्मरण शक्ति और विकसित होती है।

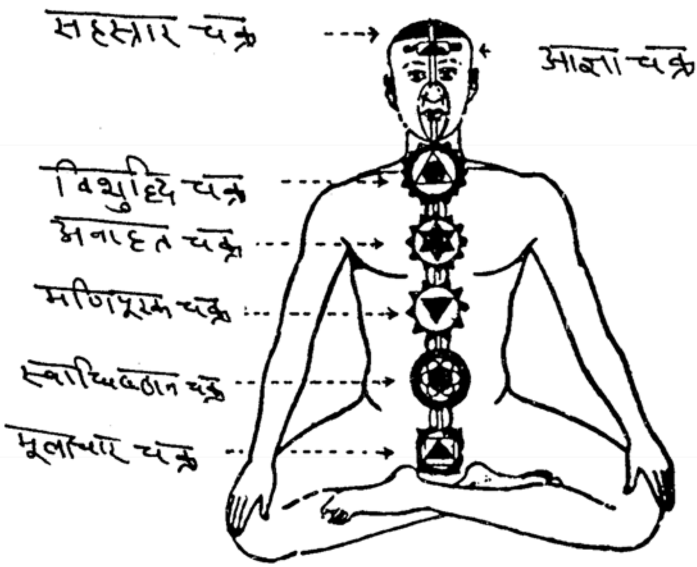
त्राटक क्रिया करने के लिए पद्मासन लगाते हैं, योगमुद्रा स्थापित करते हैं तथा दृष्टि के समानान्तर पाँच फ़िट की दूरी पर एक घी का जलता हुआ दीपक रखते हैं।

अब अपने शरीर को स्थिर रखते हुए मन को एकाग्र करते हैं तथा दृष्टि को दीपक की लौ पर केन्द्रित करते हैं तथा तब तक स्थिर रखते हैं कि जब तक आँखों में अश्रु न आ जाये। अश्रु आने पर पलकों को धीरे-से बन्द कर लेते हैं, दोनों हथेलियों को रगड़कर गरम करते हैं, आँखे की सिंकाई करते हैं, अब साफ कपड़ों से आये अश्रु को साफ कर देते हैं। ध्यान रहे क्रिया करते समय मन एकाग्र होना चाहिए तथा पलकें बिल्कुल नहीं झपकनी चाहिए एवं वातावरण शान्त होना चाहिए।

इन शोधन क्रियाओं को करने से मन तथा शरीर दोनों स्वस्थ रहते हैं। अनुकूल विचार उत्पन्न होते हैं तथा मनोशारीरिक सक्रियता बढ़ती है। रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ने से शरीर निरोगी बना रहता है।

XVI षटचक्र

शरीर में अनेक साधारण तथा असाधारण अंग हैं। असाधारण अंग जिन्हें मर्म स्थान कहते हैं केवल इसीलिए मर्म स्थान नहीं कहे जाते हैं कि वे बहुत कोमल एवं



उपयोगी होते हैं वरन् इसलिए भी कहे जाते हैं कि उनके भीतर गुप्त आध यात्मिक शक्तियों के महत्त्वपूर्ण केन्द्र होते हैं, इन केन्द्रों में वे बीज सुरक्षित रखे रहते हैं, जिनका उत्कर्ष हो जाय तो मनुष्य ज्ञान के शिखर पर पहुँच सकता है। ऐसे मर्मस्थलों में मेरुदण्ड का प्रमुख स्थान है। इस मेरुदण्ड में नाड़ियाँ हैं, और वे अनेक कार्यों में नियोजित रहती हैं। आध्यात्मिक विज्ञान के अनुसार उनमें प्रमुख नाड़ियाँ हैं :

(1) इड़ा।

(2) पिंगला।

(3) सुषम्ना।

इन नाड़ियों को आँखों से देखा नहीं जा सकता है। इसका संबंध सूक्ष्म जगत से है। यह एक प्रकार का विद्युत प्रवाह है। जैसे बिजली से चलने वाले यंत्रें में निगेटिव तथा पोजिटिव धारायें दौड़ती हैं, और उन दोनों का जहाँ मिलन होता है वहीं शक्ति पैदा हो जाती है। ये तीनों नाड़ियाँ मस्तिष्क के मध्य केन्द्र से प्रारम्भ होकर गुदा तक रहती हैं।

सुषम्ना नाड़ी के भीतर एक और त्रिवर्ग है। उसके अन्तर्गत भी तीन अत्यंत सूक्ष्म धारायें प्रभाहित होती हैं, जिनहें बज्रा चित्रणी और ब्रह्म नाड़ी कहते हैं। यह ब्रह्मनाड़ी मस्तिष्क के केन्द्र में पहुँच कर हजारों भागों में चारों ओर फैल जाती है। इसी से उस स्थान को सहत्रदल कमल कहते हैं। ब्रह्म नाड़ी मेरुदण्ड के अन्तिम भाग के समीप एक काले वर्ण से षट्कोण वाले परमाणु से लिपट कर बंध जाती हैं। इस बंधन स्थल को कुण्डलिनी कहते हैं।

कुण्डलिनी एक सूक्ष्म विद्युत शक्ति है। जो स्थूल बिजली की अपेक्षा अत्यंत शक्तिशाली होती है। इसमें अनेक अद्भुत शक्तियाँ हैं। इन गुप्त शक्तियों को तिजोरी कहा जा सकता है। इसमें छः ताले लगे हैं। जो इन छः तालों की चाभी खोज लेता है वही इस तिजोरी में रखे धन को प्राप्त करने की पात्रता रखता है। ये छः ताले जो कुण्डलिनी पर लगे हुये हैं, छः चक्र कहलाते हैं। इन चक्रों को भेधन करके जीव कुण्डलिनी के समीप पहुँच सकता है।

1- मूलाधार चक्र

यह गुदा और मूत्र स्थान (लिंग) के बीचो बीच में स्थित है। इसकी आकृति चार पंखुड़ियों वाले कमल के समान बतायी गयी है। यह सत्त्वगुण का क्रमिक विकास स्थल है। परन्तु यह कामवासना का भी स्थान है। योगी सारी आयु काम वासना से मुक्त होने का यत्न करता है। और भोगी सारी आयु काम वासना में लिप्त रहता है। कामवासना की निरर्थकता को जान लेने का या ज्ञान प्राप्त होने पर ही जीवन के आवागमन से छुटकारा मिल सकता है।

2- स्वाधिष्ठान चक्र

इसका स्थान पेडू अर्थात् मेरुदण्ड का अन्तिम छोर है। इसकी आकृति छः पंखुड़ियों वाले कमल के समान मानी गयी है। यह चक्र भय, घृणा, क्रोध, हिंसा आदि क्रियाओं का स्थान है। साधारण मनुष्य इन्हीं के जाल में फंसकर नाटकीय जीवन व्यतीत करता है। परन्तु ज्ञानी पुरूष इनसे संघर्ष में समय नष्ट नहीं करता है। वह इन्हें प्रेम, अभय, क्षमा, तथा अहिंसा में बदल देता है और वास्तविकता के जीवन जीने का आनंद प्राप्त करता है।

3- मणिपूरक चक्र

इसका स्थान नाभि के ठीक पीछे मेरुदण्ड में हैं। इसकी आकृति दस पंखुड़ियों वाले पीले कमल के समान बतायी गयी है। यह प्रमुखतः पाचन संस्थान का नियंत्रण केन्द्र है। गर्भ के सबसे पहले बीज रूप में यही केन्द्र प्रकट होता है। यौगिक क्रियाओं का मूल केन्द्र नाभि है। निद्रा, भूख, व्यास, लज्जा, क्रान्ति, महत्त्वाकांक्षी आदि इसकी वृत्तियाँ हैं। यह चक्र आचार व्यवहार को नियमित करता है। यहीं से श्रद्धा तथा विवेक का जन्म होता है।

4- अनाहत चक्र

इसका स्थान हृदय प्रदेश है। इसकी आकृति बारह पंखुड़ियों वाले कमल के समान है। यह शरीर की क्रान्ति तथा तेज का प्रतिनिधित्व करता है। इसे वायु तत्त्व का केन्द्र मानते हैं। इसी के द्वारा शरीर के रक्त प्रवाह प्रकोष्ठ शुद्धि और स्नायु संचालन आदि क्रियायें होती हैं। अनध्तनाद इसी स्थान से मुंखरित होकर रोम-रोम में व्याप्त हो जाता है। इस चक्र के जाग्रत हो जाने से अन्तर्दृष्टि का विकास होता है। दूसरों की भावनाओं को जानने की असीम शक्ति आती है तथा अलौकिक शक्ति प्राप्त होती है।

5- विशुद्धि चक्र

इसका ध्यान कण्ड प्रदेश है। यह चक्र प्राण तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है। इससे ही शब्द की उत्पत्ति होती है। इस चक्र की जाग्रति स्थिति में सभी भेदभाव मिट जाते हैं। सभी समस्यायें, दुख, द्वन्द्व तथा विरोधाभास नष्ट हो जाते हैं। यह आनंद की चरमसीमा है। इस चक्र के जाग्रत होने पर अपूर्व आनंद का अनुभव होता है।

6- आज्ञाचक्र

दोनों भौंहों के बीच अर्थात् भ्रूमध्य इसका स्थान माना गया है। इसे दो दलों वाला कमल के समान बताया गया है। इस चक्र के जागरण से योगी ब्रह्म शरीर में प्रवेश करता है। अहंकार की समाप्ति हो जाती है। प्रभुसत्ता का बोध होने लगता है। आज्ञाचक्र के जाग्रत होने का वास्तविक ध्येय है- शिवनेत्र का खुलना। इसका तात्पर्य है दिव्य दृष्टि का प्राप्त होना।

षटचक्रों में यही उपर्लिखित छः चक्र आते हैं परन्तु सहत्रार या सहस्रदल कमल को भी कुछ लोग सातवाँ चक्र मानते हैं।

सहत्रार चक्र

इसका स्थान सिर के मध्य में बताया गया है। इसका आकार हजार पंखुड़ियों वाले कमल के समान है। ब्रह्मज्ञानी इसी के द्वारा निर्वाण प्राप्त करते हैं।

चक्रों का वेधन

षटचक्रों का वेधन करते हुए कुण्डलिनी तक पहुँचना और उसे जाग्रत करके आत्मोन्नति के मार्ग में लगा देना अत्यंत दुष्कर कार्य है। चक्रों का वेधन ध्यान शक्ति के द्वारा ही किया जाता है। यह हम सभी जानते हैं कि हमारा मस्तिष्क एक प्रकार का बिजली घर है, और इस बिजलीघर की प्रमुख धारा का नाम "मन" है। मन की गति चंचल तथा बहुमुखी होती है। यह प्रत्येक क्षण उछल-कूद में व्यस्त रहता है। इस कारण उस विद्युत पुंज का एक स्थान पर केन्द्रीयकरण नहीं होता, जिससे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित हो सके। यदि उस शक्ति का एकीकरण हो जाता है, तथा एक स्थान पर संचित कर लिया जाता है, तो असाधारण से असाधारण कार्य सम्भव हो सकता है। ध्यान एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा मन की बिखरी हुई बहुमुखी शक्तियाँ एक स्थान पर एकत्रित होकर एक कार्य में लगती हैं। फलस्वरूप वही असाधारण शक्ति का श्रोत प्रवाहित हो जाता है।

षटचक्रों के वेधन की साधना करने के लिए अनेक ग्रन्थों में अनेक मार्ग बताये गये हैं। इन सभी मार्गों से उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। पर शर्त है कि उसे पूर्ण विश्वास, श्रद्धा, निष्ठा, तथा उचित निर्देशन में किया जाय।

●●●

पुस्तक सूची

क्र0 सं0	लेखक	पुस्तक	प्रकाशन	प्रकाशन वर्ष
1	2	3	4	5
01	अर्नाल्ड, इहरिट	आहार चिकित्सा	आरोग्य मंदिर प्रकाशन, गोरखपुर	-
02	अग्रवाल, गोपीनाथ	शाकाहार या मांसाहार फैसला आप स्वयं करें,	जैन बुक एजेन्सी, नई दिल्ली	1993
03	आत्मानन्द	योगासन,	आरोग्य मंदिर प्रकाशन	1987
04	आनंद, ओम प्रकाश	प्राणायाम की सही विधि	स्वस्थ साहित्य प्रकाशन कानुपर।	1993
05	" " "	षटकर्म,	स्वस्थ साहित्य प्रकाशन कानपुर।	1992
06	उपटोन, डोनाल्ड	दि इफेक्ट आफ फास्टिंग,	सत् सहयोग संघ, हैदराबाद	
07	उड्या के. एन.	स्ट्रेस एण्ड इट्स मैनेजमेंट,	मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन, दिल्ली।	
08	एलेक्जेण्डर, फ्रेन्ज	साइकोसोमैटिक मैडीसिन,	जार्ज एलेन एण्ड अनविन कं0 लंदन	1952
09	कूने, लुई (हिन्दी अनुवाद)	आकृति से रोग की पहचान	सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, दिल्ली।	1990
10	" " (हिन्दी अनुवाद)	नवीन प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली।	भारती भण्डार, इलाहाबाद	
11	" " "	दि न्यू साइंस आफ हीलिंग	किताविस्तान, इलाहाबाद	
12	क्लार्क, लिण्डा	हैण्डबुक आफ नेचुरल रेमेडीज फार कामन एलेमेन्ट्स,	1976	
13	क्लैपर, पी नेचुरल	गाइड टु बेटर हेल्थ		1990

1	2	3	4	5
14	केलाग , जे एच,	नेशनल हाइड्रोथैरैपी,	मार्डन मेडिसिन पब्लिकेशन	
15	कोहलर, एम.	दि सेक्रेट्स आफ लिजैक्सन्स	रूपा. कं. कलकत्ता	1992
16	केनपोन, कीथ आकूप्रेसर क्योर फार कामन		ओरियन्ट पेपर बैक्स दिल्ली	1971
17	कुलकर्णी, वी.एम.	ड्रगलेस प्रेवेन्सन एण्ड क्योर आफ क्रेस्ट डिजीजेज विद वाटर (डाइट्रोथैरैपी)	पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली	1993
18	गाँधी एम. के.	की. टु हैल्थ	नवजीवन पब्लिशिंग हाऊस, अहमदाबाद	1948
19	" " " "	नेचर क्योर	नवजीवन प्रकाशन अहमदाबाद	
20	गौड़, रामदास	स्वास्थ्य साधन	हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता	
21	गाला एण्ड गाला	रसाहार के द्वारा मुक्ति, तन्दुरुस्ती एवं रोग	नवनीत पब्लिकेशन्स लि0 अहमदाबाद	
22	गोविन्दन, एस.बी.	टेकनिक्स आफ मसांच,	सर्व सेवासंघ प्रकाशन, वाराणसी	1992
23	गौड़, गंगाप्रसाद नाहर,	प्राकृतिक आयुर्विज्ञान	आरोग्य सेवा प्रकाशन	1994
24	गोर, एम. एम.	एनाटामी एण्ड फिजियालोजी आफ योगिक प्रेक्टिस	–	
25	जग्गी, ओ. पी.	मेण्टल टेनसन एण्ड इट्स नेचर क्योर	ओरियन्ट पेपर बैक्स दिल्ली।	
26	जुस्सावाला, जे.एम.	नेचुरल डाइटेटिक्स,	विकास पब्लिकेशन्स हाऊस, मुम्बई	1992
27	जुस्सावाला, जे.एम.	की. टु नेचर क्योर	संगम बुक्स, मुम्बई	1983
28	" " " "	हीलिंग फ्राम विदइन	मानक तलास बम्बई	1966
29	जोशी, के0एस0	योगिक प्राणायाम	ओरियन्ट पेपर बैक्स दिल्ली	1992
30	जुस्ट, एडाल्फ (हिन्दी अनुवाद)	प्राकृतिक जीवन की ओर	आरोग्यमंदिर प्रकाशन गोरखपुर।	1951

1	2	3	4	5
31	डेविड, केरोल	दि कम्पलीट बुक आफ नेचुरल मेडिसिन्स	सुमित बुक्स	1980
32	दास, एस, पी. आदर्श	आहार	आरोग्य मंदिर प्रकाशन गोरखपुर।	1986
33	दास, भगवान	आयुर्वेदिक क्योर फार कामन डिजीजेज,	हिन्द पॉकेट बुक्स दिल्ली	1993
34	प्राइस, सी.एस.	इम्प्रूव योर आइज साइट (नेचुरल मैथेड्स)	गुडविल पब्लिकिंशग हाऊस दिल्ली	1994
35	पोकारना, के. एल.	सोशल विलीप्स, कल्चुरल प्रेक्टिस इन हेल्थ एण्ड डिजीज	रावत पब्लिकेशन्स, दिल्ली	1994
36	फादर नीफ	जल चिकित्सा	आरोग्य मंदिर प्रकाशन, गोरखपुर	1987
37	बाखरू, एच. के.	ए कम्प्लीट हैण्डबुक आफ नेचर क्योर	जैको पब्लिशिंग हाऊस मुम्बई,	1991
38	बाख्रू एच0के0	डाइटक्योर फार कामन डिजीजेज	जैको पब्लिशिंग हाऊस, मुम्बई	1993
39	बेदी, बी.एस.	डाइट क्योर्स मोर दैन ए डाक्टर	बी.एस. बेदी पब्लिशर्स	1991
40	ब्लाक के.	हेल्थ फार आल बाई 2000 ए.डी.	एशिया पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली	1989
41	भारतीय, जयप्रकाश	योगासन,	राजस्थान प्रकाशन, जयपुर	1981
42	मोदी, बिट्ठलदास	नेचर क्योर फार कामन	आरोग्य मंदिर, प्रकाशन गोरखपुर।	
43	मैकफेडेन, वर्नर	उपवास चिकित्सा		
44	मिल्स, साइनन	एलटरनेटिव्स इन हीलिंग	ग्रेन्ज बुक्स , लंदन	1988
45	मेरव्यान, लेन	विटामिन्स फार योर हेल्थ	गौरव पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली ।	1989

1	2	3	4	5
46	राबिन्सन, प्राइडफिट	नार्मल एण्ड थेरोप्यूटिक न्यूट्रीशन	आक्सफोर्ड पब्लिकेशन मुम्बई	1967
47	लिण्डलार, हेनरी	प्रेक्टिस आफ नेचुरल थेरा प्यूटिक्स	सतसाहित्य सहयोगी संघ, हैदराबाद	1990
48	वर्मा, जानकीशरण	रोगों की अचूक चिकित्सा	भारती भण्डार प्रकाशन, इलाहाबाद	1992
49	सुरेन, अतियोगी,	साइक्लोपीडिया आफ योग	सारू पब्लिशिंग हाऊस, मेरठ।	1992
50	स्वामी राम	योगसाधना,	साहित्य निकेतन कानपुर।	1984
51	’’	मन के आयाम	राज्यश्री प्रकाशन मथुरा।	1981
52	सत्यपाल	योगासन एण्ड साधना	पुस्तक महल दिल्ली,	1984
53	सिन्हा, फूलगेन्द्र	योगिक क्योर फार कामन डिजीजेज	ओरियन्ट पेपर बैक्स, दिल्ली	1992
54	स्वामी, कैवल्यानंद	योगासन ,	पापुलर प्रकाशन, बम्बई,	1965
55	स्वामी, कैवल्पानंद	प्राणायाम	पापुलर प्रकाशन बम्बई	1972
56	सारा थामस	मसाच फार कामन डिजीजेस	गाामा बुक्स लि0 लंदन	1992
57	सन्तवानी , एम. टी.	मैगनेटो थेरैपी फार कामन डिजीजेज	हिंद पाकेट बुक्स, दिल्ली	1982
58	सिंह, एस. जे.	हिस्ट्री एण्ड फिलासफी आफ नेचर क्योर ,	नेचर क्योर प्रिन्टेरियम, लखनऊ	
59	स्वामीनाथन्, एम	फूड एण्ड न्यूट्रीशन	दि बंगलौर प्रिंटिंग एण्ड पब्लिशिंग हाउस बंगलौर।	
60	शर्मा, लक्ष्मन	प्रैक्टिक्ल नेचुरोपैथी	नेचर क्योरसेनीटोरियम तमिलनाडु।	
61	शर्मा, हरद्वारीलाल	मानसिक स्वास्थ्य		

1	2	3	4	5
62	शर्मा , श्रीराम	गायत्री महाविज्ञान	युग निर्माण योजना, मथुरा	1993
63	श्री रजनीश	योग दर्शन, भाग 1-2	रजनीश फाउण्डेशन, पूना	1979
64	हीरालाल	साइंटिफिक नेचर क्योर	प्राकृतिक चिकित्सा परिषद दिल्ली।	1993
65	›› ›› ››	जल चिकित्सा	जन स्वास्थ्य प्रकाश, मगरवारा, उन्नाव ।	1964

●●●

अनुक्रमणिका

अ

अल्सर - 17, 18, 19, 23, 89, 92, 187, 267, 307, 311, 367, 382

अश्वगंधी - 328, 329, 340, 383, 389, 421, 422

अरब - 17, 18, 23

अथर्ववेद - 22, 24, 37, 38, 395

आ

आयोडीन - 299, 300, 340, 342, 392

आंवला - 322, 333, 338, 340

आहार चिकित्सा - 16, 19, 27, 141, 343, 387, 388

आँख स्नान - 15, 354, 363, 370, 392, 402, 415, 426, 428

उ

उपवास चिकित्सा - 16, 42, 43, 148, 155, 227, 340, 358, 383, 407

ऋ

ऋग्वेद - 22, 27

ऋचा - 23, 31, 34

ए

एम. वारा - 18, 19, 22

एलोपैथी - 2, 6, 35, 84, 101, 127, 146

ओ

ओस्टिओपैथी - 16, 17, 18, 330, 342, 403

क

कैंसर - 1, 8, 217, 325, 419

कपालभांति - 2, 181, 385

कुने - 3

कुंजल - 15

कटिस्नान - 15, 23, 28

कुलेन - 18, 22, 240, 336

कुरी - 18, 20, 21, 163, 376

क्राफोर्ड - 20, 21, 173, 357, 393

केलाग - 20, 21, 23, 163, 245

कुने - 22, 23, 27, 123, 240, 291, 340

कालरा - 2, 8, 35, 54, 118, 192, 239, 317

कार्बोहाइड्रेट - 291, 304, 307, 312, 398

कैल्शियम - 298, 299, 345

ग

गठिया - 1, 7, 53, 281, 291, 292

गुप्त रोग - 1, 45, 280, 315, 340, 387, 402
ग्रीस - 17, 19, 25, 142, 147
गांधी जी - 26, 27, 28, 29, 340, 341, 382, 440, 441

च

चीन - 17, 21, 27, 32, 161,
चक्र - 440, 441, 442, 442
चीरो चिकित्सा - 16, 18, 19, 34, 341

ज

जड़ी-बूटी चिकित्सा - 16, 17, 152, 154, 283, 284
जल चिकित्सा - 28, 112, 123, 267, 324, 390, 391
जान फ्लोवर - 18, 21, 149, 370
जान हनकाक - 18, 22, 24, 384
जैक्सन - 18, 21, 175
जस्ता - 299, 300, 373, 374, 403
ज्वर - 17, 21, 22, 87, 132, 167, 204, 211, 212, 287, 288, 297, 310, 383, 387, 394, 403, 411, 415
जे. राय जुस्सवाल - 3
जलनेति - 15, 47, 63, 115, 201, 227
जननीय स्नान - 15, 24, 29, 311, 325, 327

ट

टाइफाइड - 2, 7, 40, 53

ड

डॉ. मैनफेडन - 20, 21, 167, 253, 360, 363

त

त्राटक - 2, 167
तांबा - 299, 301, 373

थ

थियोमीन - 300, 301, 353, 370

द

द्यौति - 2, 220, 241, 247, 308, 367, 384

न

नौलि - 2, 117, 124, 293, 307, 347, 356, 389
नायसिन एसिड - 301, 302, 355
नीम - 321, 322, 337, 387, 403
नेनेविक्ट लुस्ट - 21, 23

प

प्रोटीन - 292, 293, 294, 310, 315, 326, 397, 440
पुनर्नवा - 324, 325
पायरोडाक्सीन - 301, 302, 340, 361, 402
प्रकृति - 41, 42, 67, 93, 104, 107, 183, 240, 273, 284, 287, 370, 371, 401

प्राकृतिक चिकित्सा - 28, 30, 31, 33, 37, 39, 46, 47, 52, 63, 87, 151, 221, 324, 327, 390, 394, 407, 424

प्रेसनीज - 22, 23, 197, 251, 257, 367

प्लिनी - 18, 20, 27, 28

फ

फासफोरस - 298, 300, 360, 389, 403

फोलिया एसिड - 301, 302, 363, 392, 408

फ्लोरीन - 299, 301, 372

फादर नीप - 18, 19, 21 374

ब

बेन्जामिल - 20, 22, 174, 251, 391, 397

बरनारडियो - 18, 21, 22

बेल - 323, 324, 373

ब्राह्मी - 325, 327, 328, 370, 372, 378

बवेरिया - 18, 19, 21

बेंजामिन हेरी - 4, 14

भ

भौतिक चिकित्सा - 16, 18, 21, 24, 220, 227, 351, 362, 424

भाव स्नान - 15, 17, 21, 22, 24, 289, 327, 333, 334

म

महावग्म - 25, 27

मुलैठी - 328, 333, 340

मिस्र - 17, 24, 31 237, 243

मिट्टी - 26, 27, 97, 104, 143,197,207, 397 से 401

मानसिक रोग - 45, 46, 107, 120, 145, 220, 222, 325, 346, 401

मालिश - 286, 287, 288, 287, 390, 391, 414, 421, 422

मालिश चिकित्सा - 16, 40, 147, 153, 224, 357, 382, 384

मृदा स्नान - 16, 18, 22, 25, 29, 267, 325, 327

मधुमेह - 1, 9, 10, 45, 115, 220, 295, 301

मलेरिया - 2

य

यंत्र चिकित्सा - 16, 330, 331, 332, 333 से 342 तक

योग चिकित्सा - 16, 17, 24, 89, 102, 167, 210, 274, 290, 387, 389, 408

र

रोम - 17, 22, 25, 37, 90, 91, 150, 157, 210, 217, 274

रंग चिकित्सा - 16, 17, 20, 21, 26, 151, 167, 265, 330, 392, 394

ल

लोइस - 3, 17

लयोन्स - 18, 19, 21, 374

लानजानी -18, 20, 21, 22

लोहा - 298, 301, 356, 362, 441

व

वस्ति - 2, 341, 246, 367, 382

वेद - 24, 27, 29, 40, 123, 140, 227, 315, 340, 376, 403

विश्वास चिकित्सा - 16, 143, 173, 253, 327, 342

विश्राम चिकित्सा - 16, 382, 383

व्यायाम चिकित्सा - 16, 173, 184, 274, 317, 320, 407

विद्युत चिकित्सा - 16, 17, 18, 19, 152, 163, 164, 374, 380

श

शंखपुष्पी - 326, 327, 330, 341, 382, 383

शतावर - 328, 329, 342, 356

ष

षटकर्म - 2, 380, 382, 384, 400, 411, 421

स

सोडियम क्लोराइड - 299, 300

संगीत चिकित्सा - 16, 322, 329, 340

सिंधु सभ्यता - 25, 28, 131

सूर्य किरण चिकित्सा - 16, 28, 238, 239, 240, 241, 367, 375, 380, 401

श्रोथ - 22, 150, 152, 275, 293, 350, 382, 421

ह

हैमरेन - 17, 19, 23, 187, 203, 224, 303, 367, 402

हृदयरोग - 1, 7, 216, 324, 415, 430

हरण - 329, 330

हिप्पोक्रेट्स - 17, 22, 157

क्ष

क्षय रोग - 1, 8, 63, 400

❑❑❑

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

चिकित्सा शास्त्र सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
वनौषधि निदर्शिका	डॉ. राम सुशील सिंह	230.00
भारतीय औषधियाँ	डॉ. संकटा प्रसाद	70.00
मानसिक स्वास्थ्य	डॉ. अनिल अग्रवाल	100.00
एनीमिया	डॉ. ए.के. त्रिपाठी	50.00
मधुमेह	डॉ. जितेन्द्र साधवानी	100.00
दाँतो की देखभाल	डॉ. जितेन्द्र साधवानी	55.00
मानव अंग रेखांकन विकिरण एवं छायांकन शरीर	प्रो. दिनकर गोविंद थत्ते प्रो. सुरेशचन्द्र	90.00
प्रोस्थेटिक एवं आर्थोटिक (कृत्रिम अंग कैलिपर)	प्रो. ए.के. अग्रवाल	155.00
ऊतकी परिचय	डॉ. विपिन चतुर्वेदी	230.00
प्रयोगात्मक भैषज विज्ञान एवं भैषजी (प्रयोगशाला पुस्तिका)	प्रो. आर.सी. सक्सेना	288.00
महिलाओं में मूत्र संक्रमण जटिल समस्या सरल उपाय	डॉ. दिवाकर दलेला	100.00
होम्योपैथिक आर्गेनान एवं दर्शन	डॉ. जितेन्द्र साधवानी	96.00
कैंसर : व्यवहारिक संकल्पना	डॉ. जितेन्द्र साधवानी	60.00
प्रोस्थेटिक एवं आर्थोटिक	प्रो. ए.के. अग्रवाल	155.00

सम्पर्क सूत्र

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - 226001

ISBN : 978-93-82175-59-9

मूल्य रु. 180=00